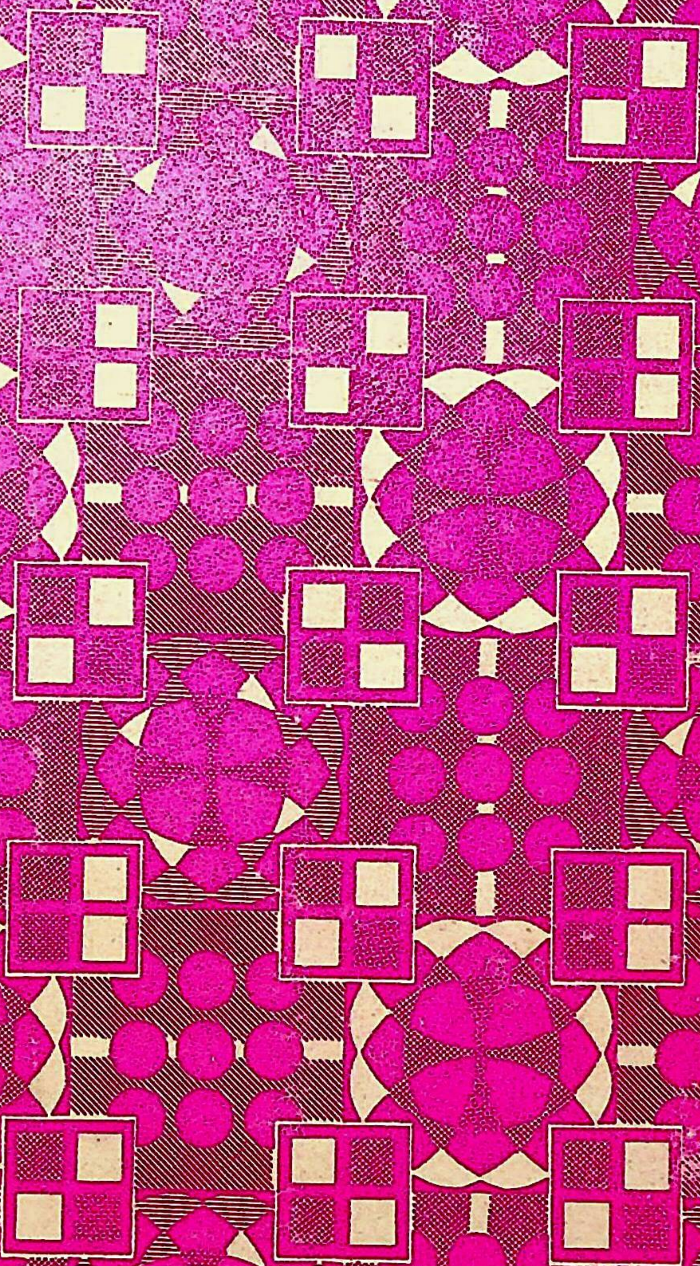

No- 2796

| | | |
|---|---|---|
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |

# सत्य दर्शन

मूल लेखक

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् कालिकानन्द स्वामी

अनुवादक

श्री गोपालचन्द्र वेदान्तशास्त्री

प्रकाशक

कालिकानन्द वेदान्त-आश्रम,

बी-१७/५५, तिलभाण्डेश्वर रोड,

वाराणसी ।

 १९५७ ई० [ मूल्य ५)

# सम्मतियाँ

महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथ कविराज एम० ए०, डी० लिट्० महाशय लिखते हैं :—

श्रद्धेय स्वामी श्रीयुक्त कालिकानन्द जी रचित "सत्यदर्शन" नामक ग्रन्थ पढ़ कर आनन्दित हुआ हूँ। इसका विषय-विन्यास, विचार-पद्धति, रचना-शैली और प्राञ्जल भाषा साधारण पाठक के उपयोगी है, जिज्ञासु विद्यार्थी के लिए तो यह परमोपकारी ही है। प्रौढ़ शिक्षित व्यक्ति भी इस ग्रन्थ के पढ़ने से उपकृत होंगे। धर्मजीवन में ज्ञातव्य अनेक तत्त्व ही इसमें सरल रीति से आलोचित हुए हैं। मैं आशा करता हूँ, धार्मिक समाज में यह समुचित आदर तथा प्रचार लाभ करेगा।

२ ए, सिगरा, वाराणसी।

श्रीगोपीनाथ कविराज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद्मभूषण डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एम. ए., डी. लिट् महोदय लिखते हैं—

परमहंस स्वामी कालिकानन्द जी महाराज की पुस्तक "सत्यदर्शन" पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। स्वामीजी ने बड़ी सरल और मनोहर शैली में अध्यात्म तत्त्व की गूढ़ बातों को समझाया है। जो लोग अध्यात्म तत्त्व के जिज्ञासु हैं उनके लिए पुस्तक बड़े काम की है। आज भौतिक विज्ञान की समृद्धि के युग में ऐसी पुस्तकों की बड़ी भारी आवश्यकता अनुभव की जा रही है, जो मनुष्य के आन्तरिक विकास में सहायक सिद्ध हों। स्वामीजी की पुस्तक से यह उद्देश्य सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष एवं भारती महाविद्यालय के प्राचार्य डा० राजबली पाण्डेय, एम० ए०, डी० लिट० महोदय लिखते हैं—

स्वामी कालिकानन्दजी के 'सत्यदर्शन' का दर्शन मुझे हुआ। यह केवल बौद्धिक अभ्यास से लिखी हुई पाठ्य पुस्तक नहीं है। वास्तव में यह स्वानुभूति का परिणाम है जो पात्र साधकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। स्वामीजी जैसे सन्त-महात्माओं के चिन्तन और साधना का फल जनता को प्राप्त होता रहे, यह सौभाग्य का विषय है। मेरे विचार में इस ग्रन्थ के अध्ययन से साधक की बहुत सी ग्रन्थियाँ और समस्यायें सरलता से सुलझ सकती हैं। साधना का शायद ही कोई ऐसा अङ्ग हो जिस पर प्रकाश इस ग्रन्थ में न डाला गया हो। व्यापक दृष्टि के साथ गम्भीर गवेषणाओं से यह कृति सम्पन्न है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि साधक और सामान्य जनता सभी इस ग्रन्थ-रत्न से पूरा लाभ उठायेंगे और समाज में इसका समुचित आदर होगा।

राजबली पाण्डेय

# भूमिका

मनीषा-सम्पन्न मनुष्य के मन में ऐसी चिन्ता समय समय पर समुदित होती है कि, "मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है ? सृष्टिकर्ता ने इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में अनन्त कोटि जीवों की सृष्टि किस उद्देश्य से की है ?" चिन्ताशील व्यक्ति कहेंगे---'कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं करता। यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान-स्वरूप व्यापक आत्मा के अनुस्यूत रहने से जड़-जगत के प्रत्येक कार्य में भी उद्देश्य परिलक्षित होता है।' सूर्य से उत्ताप विकीर्ण होता है---इसीलिए पृथ्वी तथा अन्यान्य ग्रहों के जीव जीवित हैं। वे ग्रह भी यदि प्रति-दिन घूम कर दिन-रात सम्पादित न करते, यदि उनके निवासी अविराम सूर्य-किरण का भोग करते या ग्रह के विपरीत अंश में रहने से बिलकुल सूर्यालोक न पाते तो भी जीवों का जीवन असहनीय हो जाता। सूर्य-रश्मि वायु को हल्का करके ऊपर उठा लेती है---इसी कारण वायु प्रवाहित होकर जीवों को आनन्द-दान करती है। जैसे समुद्र का जल वाष्प-रूप में ऊपर उठ कर मेघ-रूपमें परिणत होता है और वायु-प्रवाह से स्थल-भाग में आकर वृष्टि-रूप में पतित होकर धरित्री की उर्वरता सम्पादित करते हुए नदी-नालों के भीतर से प्रवाहित होता हुआ पुनः अपने उत्पत्ति-स्थान समुद्र में जा मिलता है, जीव भी उसी प्रकार सृष्टि का मूल सच्चिदानन्द-सागर परमात्मा से उत्पन्न होकर उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुजादि योनियों में अगणित बार जन्म ग्रहण करके देह-परिवर्तन करते करते क्रमशः उन्नत होते हुए अन्त में अपने उत्पत्ति-स्थान उसी सच्चिदानन्द-सागर में जाकर मिल जाते हैं। यही जीव की सब प्रकार के

शोक-तापों के बन्धनों से मुक्ति, यही जीव के जीवन का उद्देश्य और यही सृष्टि की सार्थकता है।

जीव में सत्ता यानी अस्तित्व, चित् ( चैतन्य ) यानी ज्ञान तथा आनन्द विद्यमान है। परन्तु जितना सत्, चित् और आनन्द उसके क्षुद्र अन्तःकरण में है, उससे उसे तृप्ति नहीं होती, वह उससे और भी अधिक अस्तित्व, अधिक ज्ञान और अधिक आनन्द पाना चाहता है। इसीलिए जीव चाहता है कि, "मैं कभी न मरूँ, अनन्त काल मेरा अस्तित्व विद्यमान रहे, मैं विश्व का सारा ज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ हो जाऊँ तथा निरवच्छिन्न आनन्द का भोग कर सकूँ।" जीव अनन्त सच्चिदानन्द-सागर से उत्पन्न हुआ था इसी कारण उसके अन्तःकरण के अन्तस्तल में अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की सूक्ष्म स्मृति विद्यमान है। इस हेतु उसे पाने के लिए ही वह सदा लालायित रहता है। जीव जितने दिनों तक अपने उत्पत्ति-स्थान में पहुँच कर उसे नहीं प्राप्त कर सकता उतने दिनों तक उसे किसी तरह भी शान्ति नहीं मिलती। इससे स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है कि, परमात्मा में, यानी अपनी परम सत्ता में लवलीन हो कर मोक्ष प्राप्त करना ही जीव के जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।

जीव मात्र के भीतर ऐसी स्वाभाविक अभिलाषा है कि, "मुझे सदा सुख-शान्ति मिले, दुःख-अशान्ति कभी न हो।" दुःख-निवृत्ति के उपाय भी वह अपनी बुद्धि के अनुसार निकाल लेता है। क्षुधा का उद्रेक हुआ तो वह उसे मिटाने के लिए कुछ खाता है। ऐसे ही पिपासा का दुःख दूर करने के लिए वह कुछ पीता है; भय पाने पर वह या तो शत्रु पर आक्रमण कर देता है या भाग कर अपनी रक्षा करता है; क्लान्ति से कष्ट होने पर वह बैठ कर विश्राम लेता है या पड़ा-पड़ा सोता रहता है। इन स्वाभाविक दुःख-निवृत्ति के उपायों के सम्बन्ध में स्वाभाविक ज्ञान मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों में समान है। परन्तु अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि अधिक होने के कारण मनुष्य उन उपायों से भी श्रेष्ठतर उपायों का आविष्कार कर लेता है। जैसे, रोग होने पर उसे दूर करने के लिए वह औषधि का सेवन करता है; हिंसक जन्तु, चोर, डाकू या शत्रु-सेना

के आक्रमण से आत्म-रक्षा करने के लिए वह गृह, महल या किला बना लेता है; मन में शोक उत्पन्न हुआ तो उसके निवारण के लिए वह सत्संग, सदालोचना या सद्ग्रन्थों का अध्ययन करता है। परन्तु उन लौकिक उपायों से सामयिक रूप से दुःख की निवृत्ति हो जाने पर भी वे ही सब शोक और दुःख पुनः उत्पन्न होकर क्लेश देते रहते हैं। भोजन के द्वारा क्षुधा की निवृत्ति होने से क्या हुआ ? कुछ घंटों के अनन्तर ही पुनः उसी प्रकार की क्षुधा उत्पन्न होकर दुःख देने लगती है। एक शत्रु का निपात होने से क्या हुआ ? पुनः दूसरे शत्रु के आक्रमण-भय से दुःख उत्पन्न होता है। प्रिय-वियोग-जनित शोक कुछ कम होते न होते पुनः किसी दूसरे प्रिय जन की मृत्यु से वैसा ही या उससे भी अधिक शोक का कष्ट सहन करना पड़ता है। इसी कारण ऋषियों ने आत्मतत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके आर्य-शास्त्रों में उसे लिपिबद्ध कर दिया है, उसे जान कर मनुष्य शोक-दुःखों के बन्धन से चिरकाल के लिए मुक्त होकर परमानन्द लाभ करते हैं। परन्तु शास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत में लिखे हैं; उनमें से तत्त्व-ज्ञान रूप अमृत का पान करना सब के लिए सुगम नहीं है, तथा तत्त्वज्ञ गुरु भी सहज में प्राप्त नहीं होते। इसी लिए परमहंस श्रीमत्कालिकानन्द स्वामी महाराज ने जनकृपा से उद्बुद्ध होकर यह "सत्य दर्शन" नामक ग्रन्थ सरल बंगला भाषा में लिखा है और मैंने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है। इसमें जिस ढंग से मनस्तत्त्व तथा आत्मतत्त्व का विस्तृत विवरण दिया गया है, ध्यान देकर पढ़ने से शिक्षित और विचारशील व्यक्ति अनायास आत्मज्ञान प्राप्त करके चिरकाल के लिए शोक-तापों के हाथ से मुक्त होकर अपना अपना जीवन शान्तिमय बना सकते हैं।

हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई आदि विभिन्न सम्प्रदायों के धर्मशास्त्र पृथक पृथक हैं, एक दूसरे के धर्ममत पर बिन्दु मात्र भी विश्वास नहीं करता। दूसरी ओर वेदान्त आदि दर्शन-शास्त्र सत्य सिद्धान्त प्रतिपादित कर सत्य तत्त्व प्रदर्शित करा देते हैं। इसी कारण उन्हें "दर्शन-शास्त्र" कहते हैं। जल पीने पर जिस प्रकार जीवमात्र की पिपासा मिट जाती है उसी प्रकार सत्य सिद्धान्त मनुष्य मात्र के लिए ही सत्य है। यह ग्रन्थ भी अकाट्य युक्ति-प्रमाणों के द्वारा

यथार्थ सत्य तत्त्व का दर्शन करा देता है, इसी लिए इसका नाम "सत्य दर्शन" रखा गया है। जो शास्त्र युक्तियुक्त है अर्थात् अनायास तत्त्व का निर्णय करा देता है, वही ग्राह्य है, नहीं तो युक्ति-रहित होने पर वेद भी अग्राह्य है।

आधुनिक रीति के अनुसार अधिकांश की सम्मति ही मान्य होती है। परन्तु प्राचीन प्रथा के अनुसार आध्यात्मिक विषय में सर्वसाधारण की सम्मति का कोई भी मूल्य नहीं है। एक ऋषि या एक महात्मा जीवन भर की साधना से जो सत्य सिद्धान्त अवगत होकर व्यक्त करते हैं, वही ग्रहणीय होता है। वायु को साधारण मनुष्य केवल 'वायु' करके ही जानते हैं, परन्तु एक वैज्ञानिक उसका विश्लेषण करके उसमें से कई प्रकार की गैसें निकाल कर वायु का यथार्थ स्वरूप दिखा देते हैं, उसी प्रकार सर्वसाधारण मनुष्यों ने जिस शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि की समष्टि को 'जीव' समझ रखा है, तत्त्वज्ञ महापुरुष त्रिविध शरीरों तथा पञ्च कोषों का विश्लेषण कर शुद्ध चिन्मय आत्मा का यथार्थ स्वरूप दिखा देते हैं।

संसार में आधि-व्याधि-शोक-तापों से तापित होकर जो लोग निरवच्छिन्न सुख प्राप्त करने की आशा से भजन-कीर्तन, लाखों बार माला-जप, राम, कृष्ण, काली, दुर्गा आदि देव-देवियों की मूर्ति की पूजा, निरामिष भोजन, उपवास, व्रतानुष्ठान, वेद-वेदान्तादि अशेष शास्त्रों का अध्ययन तथा काशी, गया, मथुरा, वृन्दावन आदि अनेक तीर्थों का पर्यटन आदि अनेक बाहरी धर्मानुष्ठान सुदीर्घ काल तक कर चुके हैं अथवा जिन धार्मिक मुसलमानों ने मक्का, मदिना आदि तीर्थ-स्थानों में अनेक बार जाकर विधि पूर्वक नमाज पढ़ा, खुदा, गाजी, पीर, पैगम्बर आदि की उपासना की, कुरान, जेन्द आदि अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा अपने धर्मशास्त्रानुसार अनेक प्रकार के धर्मानुष्ठान किये, परन्तु उन अनुष्ठानों से वे कुछ शान्ति नहीं प्राप्त कर सके और सत्य तत्त्व का निर्णय करने में असमर्थ होकर जीवन में हताश हो गये हैं—"यथार्थ सत्य क्या है ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? इस संसार में अकेला उलंग अवस्था में खाली हाथ आकर, असंख्य आत्मीय-स्वजनों से परिवृत तथा नाना प्रकार के शोक-दुःखों

से जर्जरित होकर समस्त धन-सम्पत्ति तथा प्रिय परिजनों को छोड़ कर फिर अकेला कहाँ चला जाऊँगा ? परमेश्वर क्या वस्तु है और वे कहाँ कैसे अवस्थित हैं, उनके साथ मेरा सम्बन्ध ही क्या है ? किस मार्ग का अवलम्बन करने पर उन परम पिता परमेश्वर को जान कर शान्ति-लाभ कर सकूँगा ?"—ऐसे ऐसे प्रश्न जिन्हें व्याकुल कर रहे हैं केवल वैसे सत्य-जिज्ञासु व्यक्ति ही इस "सत्य दर्शन" ग्रन्थ के अध्ययन के अधिकारी हैं। अल्पज्ञों का अज्ञान-नाशक ऐसा उत्तम ग्रन्थ भाषा में और नहीं है।

तीव्र आग्रह के साथ यह ग्रन्थ पढ़ते रहने से मन में स्वतन्त्र विचार का उदय होगा, साम्प्रदायिक कट्टरपन दूर होगा, वंश और समाज-प्रथा से उत्पन्न कुसंस्कार निःशेषित होकर चित्त निर्मल दर्पण के समान स्वच्छ हो जायगा और उस विशुद्ध चित्त में सच्चिदानन्दमय आत्मा का साक्षात्कार करके साधारण शिक्षित व्यक्ति भी पूर्णानन्द से जीवन-यापन करने में समर्थ होंगे।

—गोपालचन्द्र वेदान्तशास्त्री

रामापुरा, वाराणसी।

२८ फरवरी, १९५७ ई०

# विषय-सूची

नाम नहीं जानते परन्तु नेपोलियन की सारी वंशावली उनके कण्ठस्थ है। तुम्हारी स्थिति भी ठीक वैसी ही है। तुम स्वयं कौन हो उसकी खोज न करके लोगों के देखादेखी परमेश्वर का नाम सुन कर ही उनका दर्शन करना चाहते हो।

भक्त अपने शरीर पर इशारा कर कहता है—प्रभु! यह देह ही तो मैं हूँ, एक दूसरा "मैं" कहाँ से आयेगा?

महात्मा—बेटा! तुम अपने आन्तरिक स्वाधीन चिन्ता में तन्मय हो कर श्रवण करके मेरी बातों का उत्तर देना, नहीं तो केवल अपनी व्यवहारिक बुद्धि या वैषयिक चिन्ता-शक्ति द्वारा इसे समझ न सकोगे। 'मैं' और 'मेरा'—केवल इन दोनों शब्दों पर ही सारा संसार चल रहा है। जीवत्व के विकास के साथ ही साथ 'मैं' का अहंकार उत्पन्न होता है, उसके बाद उस 'मैं' से 'मेरा' शब्द पैदा होकर शब्द-स्पर्श आदि विषयों से जीव अपना सम्बन्ध जोड़ कर बद्ध होता है। संसार के मनुष्य से कीटाणु तक जीव मात्र के भीतर ही 'मैं हूँ' यह ज्ञान हर समय विद्यमान है। परन्तु 'मैं कौन हूँ', या 'कहाँ हूँ'—कोई भी इसकी खोज नहीं करता। धीरता से विचारने पर तुम्हें प्रतीत होगा कि—'मैं' कहने से केवल अकेले मेरी ही प्रतीति होती है, उसके साथ किसी दूसरी वस्तु की नहीं। अतः 'मैं' अकेला हूँ। और 'मेरा' या 'मेरे' कहने से अगणित वस्तुओं या व्यक्तियों का बोध होता है, जो 'मैं' से पृथक हैं। जैसे—मेरा मकान, मेरा छाता, मेरा जूता, मेरे लड़के, मेरी पत्नी आदि सभी मुझसे पृथक हैं। अब यहाँ केवल इस बात को ही याद रखना कि जहाँ 'मेरा' शब्द का प्रयोग होगा वहाँ उससे लक्षित वस्तु मुझसे भिन्न है। क्योंकि 'मैं' पृथक रह कर ही अन्य वस्तु या व्यक्ति को 'मेरा' कह कर उससे अपना सम्बन्ध जोड़ता है। अब तुम इन 'मैं' और 'मेरा' शब्दों को अपने शरीर पर प्रयोग कर मेरे साथ बातचीत करते रहो।

तुम कहते हो, तुम्हारा यह शरीर ही तुम हो। अच्छा बेटा, तुम्हारा यह शरीर जब अस्वस्थ होता है तब यदि कोई पूछे कि, 'तुम कैसे हो?' तो उसके उत्तर में तुम क्या कहोगे—'मैं शरीर अस्वस्थ हूँ' या 'मेरा शरीर अस्वस्थ है?'

भक्त—'मेरा शरीर अस्वस्थ है'—यही कहूँगा।

महात्मा—अब तुम अपनी ही बात से अच्छी तरह समझ सकते हो कि, बात करते समय सभी लोग 'मेरा शरीर' ही कहते हैं; 'मैं शरीर' कोई नहीं कहता। इस कारण 'तुम्हारा मकान' 'तुम्हारे लड़के', 'तुम्हारी पत्नी' जिस प्रकार तुमसे पृथक हैं उसी प्रकार तुम्हारा शरीर भी तुमसे पृथक है। अर्थात् तुम शरीर नहीं हो, शरीर से पृथक हो।

भक्त—प्रभु! आपकी बात से मुझे स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि मैं शरीर से अलग हूँ, परन्तु मैं हूँ कौन?

महात्मा—तुम कौन हो—इसे आगे कहूँगा। पहले मेरी बात सुनो। तुम्हारे इस शरीर में 'मन' नाम से एक वस्तु है, क्या इसका तुम्हें बोध होता है? अब तुम इस स्थूल शरीर को छोड़ कर सूक्ष्म मन पर ध्यान दो। मनुष्य के इस सूक्ष्म मन को 'सूक्ष्म शरीर' कहते हैं। जिस मन से तुम्हें इस स्थूल शरीर पर 'मैं' बुद्धि उत्पन्न हुई है, जिसके द्वारा तुम मान-अपमान, सुख-दुःख, अच्छे-बुरे आदि रूप से सारे संसार की उपलब्धि कर रहे हो, जो मन तुम्हारे जीवत्व का मूल है, बन्धन-मुक्ति का एकमात्र कारण है, वह सूक्ष्म मन भी तुम नहीं हो, वह भी तुम्हारा है। क्योंकि जरा सोच कर देखो, जब तुम्हारे मन में कोई क्लेश मालूम होता है, जब तुम्हारा चेहरा उदास हो जाता है तब यदि कोई आकर पूछे कि—'कहो जी, तुम्हें क्या हो गया है?' उसके उत्तर में तुम यही कहते हो कि—'मेरा मन अच्छा नहीं है' या 'मेरे मन में कुछ क्लेश है'। अतः यहाँ भी मन 'मैं' नहीं हुआ, वह मुझ से पृथक, मेरे सम्बन्धित एक वस्तु हुआ।

भक्त—आपकी बात से मैं समझ गया कि मेरा मन भी मैं नहीं हूँ। परन्तु प्रभु, इस मन से परे और तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है; तो मैं कौन हूँ? इतने दिनों तक जो 'मैं मैं' कह कर, मैं करता हूँ, मैं जाता हूँ आदि रूप से सदा ही मैं घमण्ड करता था उस मैं शब्द से क्या कोई भी वस्तु नहीं है? यही अब मेरी प्रधान चिन्ता का विषय हो गया है।

महात्मा—बेटा! अधीर न हो, तुम्हारा 'मैं' अवश्य ही है। तुम्हें अपने मन को छोड़ कर जिस ओर जाना होगा वह भी तुम्हारा मन ही बता देगा। मैं केवल बात से उस ओर इशारा कर दूँगा। पहले ही मैंने तुमसे कह दिया

है कि, मैं पृथक् रूप से हूँ। इस लिए अपनी वस्तु को मैं 'मेरा' कहकर बता सकता हूँ। अतः यह जो तुम्हारा मन है, इससे भी परे, मन से भी सूक्ष्म, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तुम्हारा 'मैं' आत्मा रूप से विद्यमान है और 'मैं' सबसे परे उस स्थान पर विराजमान रहने से मन को मेरा कह कर सम्बोधित कर रहा है। अतः तुम जो अपने मन से भी पृथक् यानी मनातीत हो उसे दृढ़ रूप से निश्चय करो। मनातीत सत्ता ही निरवयव, निरवच्छिन्न, अनन्त और चिन्मात्र है और वही 'मैं' या आत्मा, परमेश्वर, ब्रह्म, विष्णु, खुदा, गॉड आदि के नाम से प्रसिद्ध है। तुम्हारा मन उस 'मैं' को ध्यान करते हुए भी पकड़ नहीं सकता या तुम्हारे निज आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता। इसी कारण तुम्हारा मन इतने संसार-दुःख भोगते-भोगते बेचैन हो उठा है। इस विषयमें उपनिषद् का कथन है—**'अवाङ्मनसगोचरोऽयमात्मा'** अर्थात् यह आत्मा वाक्य और मन के अगोचर यानी परे हैं। इसका आशय यह है कि, तुम जो 'मैं' 'मैं' कह रहे हो वह परमात्मा-रूप 'मैं' वाक्य और मन के द्वारा ग्राह्य नहीं है। जो आत्मा-रूप 'मैं' तुम्हारी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में एक रूप से विद्यमान रहता है उसे नित्य कहते हैं। अतएव तुम्हारा 'मैं' या तुम ही यथार्थ में परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म या विष्णु हो यह दृढ़ रूप से जान लो।

भक्त—प्रभु! गहरी नींद या सुषुप्ति अवस्था में तो मैं पूर्ण अज्ञान में आच्छन्न रहता हूँ। उस समय कैसे 'मैं' रहेगा? जहाँ कुछ भी नहीं है वहाँ मैं-तुम का बोध कैसे होगा?

महात्मा—बेटा! सुषुप्ति अवस्था में तुम्हारा मन सारे विषय छोड़ कर, यहाँ तक कि तुम्हारे देह-ज्ञान का भी त्याग कर सो जाता है यानी परमात्मा में लवलीन हो जाता है, इस कारण उस अवस्था में देह की इन्द्रियाँ भी निष्क्रिय हो जाती हैं। परन्तु देह, इन्द्रिय, मन से अतीत सर्व-साक्षी-स्वरूप 'मैं' कभी सो नहीं जाता या अचेतन नहीं हो जाता। 'मैं' सदा ही चेतन है; इस लिए सुषुप्ति अवस्था में भी 'मैं' सचेतन रहता है। उस समय 'मैं' विद्यमान न रहता तो जाग्रत होने पर 'उस सुषुप्ति अवस्था में कुछ भी नहीं था'—यह साक्ष्य कौन देता? अतः समझना होगा कि, 'मैं' सुषुप्ति अवस्था में भी

सचेतन था। इस विषय में वेदान्त-दर्शन कहते हैं—"सुषुप्ति काल में एक मात्र अज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान रहता है, इस दृश्यमान संसार का ज्ञान नहीं रहता। आत्मा उस समय स्वयं ही अपने को जानता है, किसी दूसरी वस्तु को नहीं। न जानने का कारण यह है कि जिन से प्रपञ्च का ज्ञान होता है, वे इन्द्रियादि उस समय सुषुप्त अर्थात् क्रियाहीन रहते हैं। इससे समझ में आता है कि, मन ही इन्द्रियों को लेकर सुषुप्त हो जाता है; अलुप्त-चैतन्य आत्मा सुषुप्त नहीं होता। आत्मा नित्य ही जाग्रत है। सुषुप्ति-काल में आत्मा अज्ञान को उज्ज्वलित, प्रकाशित और प्रव्यक्त रखता है, इस कारण सुषुप्ति के भंग होने पर जीव मात्र ही 'मैं अज्ञान हो गया था'—ऐसी बात कहते हैं। अतः तुम जो मनातीत वस्तु हो उसी को अब दृढ़ता के साथ मन में धारण करो।

भक्त—प्रभु! आपकी कृपा से अब मैं समझ गया कि, मैं सचमुच ही मनातीत वस्तु हूँ; परन्तु मैं यथार्थ में ही एक अति क्षुद्र, एक नगण्य व्यक्ति कैसे परमात्मा, परमेश्वर या ब्रह्म हो सकता हूँ? यह तो एकदम असम्भव-सा प्रतीत होता है।

महात्मा—बेटा! इस विषय में वैदिक युग की एक कथा सुनो। एक समय उद्दालक मुनि का पुत्र श्वेतकेतु चारों वेद पढ़कर गुरु-गृह का अध्ययन समाप्त करके अपने घर लौट आया। तब पिता ने पुत्र से पूछा—श्वेतकेतु! क्या तुम्हारा अध्ययन समाप्त हो गया है?

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया—जी हाँ पिताजी, मैं चारों वेद पढ़ आया हूँ।

पिता ने फिर से पूछा—क्या तुमने चारों वेद पढ़कर ऐसी एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया है जिसके जानने से संसार की सारी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है?

श्वेतकेतु—यह सम्पूर्ण असम्भव, अशास्त्रीय और युक्ति-विरुद्ध बात है। क्योंकि एक वस्तु का ज्ञान होने से सारी वस्तुएँ कैसे जानी जा सकेंगी? एक के जानने से केवल एक का ज्ञान होगा, यही स्वाभाविक है।

पिता—बेटा! एक सुवर्ण का तत्त्व जानने से सोने का बना हार, बाला, कंकण कोई भी गहना हो, उसे देखते ही तुम्हें बोध होगा, वह दूसरे गहनों से नाम और रूप में पृथक होने पर भी सुवर्ण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं

है। एक मिट्टी का तत्त्व जान जाने से मिट्टी का बना कोई भी बर्तन तुम्हारे सामने आवे, उसे देखते ही तुम समझोगे कि, दूसरे बर्तनों से वह नाम और रूप में भिन्न होने पर भी मिट्टी के सिवाय और कुछ भी नहीं है। ठीक उसी प्रकार इस संसार के कारण ब्रह्म या आत्मा का तत्त्व जान लेने पर इस दृश्य प्रपञ्च का सारा तत्त्व जाना जा सकता है; तब तुम्हें प्रतीत होगा कि यह संसार ब्रह्म या आत्मा से भिन्न और कुछ भी नहीं है।

श्वेतकेतु—पिताजी ! वह ब्रह्म या आत्मा किस प्रकार और कहाँ हैं ?

पिता—'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'—हे श्वेतकेतु, तुम्हीं वह आत्मा या ब्रह्म हो।

श्वेतकेतु—मैं एक बहुत छोटा, तुच्छ शरीरधारी जीव हूँ, अतः मैं कैसे अनन्त विशाल ब्रह्म या आत्मा हो सकता हूँ ?

तब श्वेतकेतु के पिता ने दीर्घकाल तक उसे आत्मतत्त्व का उपदेश दिया और उसीसे श्वेतकेतु अपने आत्मा की उपलब्धि कर चिरशान्ति प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वेद-वेदान्त आदि का अध्ययन कर पण्डित होने पर भी श्वेतकेतु को 'आत्मा' या 'मैं' की उपलब्धि नहीं हुई थी। आत्मज्ञ पिता के निकट बार-बार आत्म-तत्त्व का श्रवण-मनन करने से ही श्वेतकेतु आत्मा की उपलब्धि कर सका था।

प्राचीन समय में उस वेद के ऋषि इसी उपाय से ब्रह्मज्ञ महात्मा के निकट तत्त्व का श्रवण कर आत्मज्ञान प्राप्त करके चिर-शान्ति लाभ करते थे—ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं है। अतः अभ्यास और वैराग्य आदि के न रहने के कारण तुम्हारा स्वरूप अभी ब्रह्मत्व प्राप्त नहीं हुआ है, इसी लिए अभी तक तुम अपने को छोटा और अज्ञ जीव समझ रहे हो। अपने को छोटा समझने से ही जीव छोटा हो जाता है। इस छोटेपन का त्याग करना ही होगा। ब्रह्मज्ञ गुरु का आश्रय ग्रहण कर वेद-वेदान्त की आलोचना करके यदि तुम अपने क्षुद्रत्व और जीवत्व का त्याग कर सको तो तुम भी श्वेतकेतु की तरह आत्मोपलब्धि कर चिरशान्ति लाभ कर सकोगे। बेटा, यह आत्म-तत्त्व किसी जाति या किसी भाषा में सीमाबद्ध नहीं है। मनुष्य मात्र को ही आत्म-तत्त्व की

प्राप्ति का सामर्थ्य और अधिकार है। आत्मज्ञ गुरु जब जिस भाषा में आत्म-तत्त्व कहते है, उसी का नामान्तर वेद है।

भक्त—प्रभु, आपकी बात से ही मैंने सभी का विश्वास कर लिया है। परन्तु मेरा अर्थात् मेरे आत्मा का स्वरूप क्या है, मेरा आकार कैसा है, किस प्रकार के रूप गुण आदि हैं, इसे जानने के लिए मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। इसलिए कृपया उसी का वर्णन कीजिये।

महात्मा—बेटा, इस समय सन्ध्या-काल उपस्थित हुआ है। इसलिए आगामी कल मैं इसका वर्णन करूँगा।

---

# 'मैं' या आत्मा का स्वरूप

महात्मा—बेटा, आज मैं तुमसे 'मैं' का तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व कहूँगा। इसी को लोग परमतत्त्व कहते हैं। इस 'मैं' के तत्त्व को जान सकने से दृश्यमान प्रपञ्च के सारे तत्त्व जाने जा सकते हैं। उस समय और किसी तत्त्व के जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यह तत्त्व ही सारे तत्त्वों का अन्तिम तत्त्व है और इसीलिए इसका नाम परमतत्त्व हुआ है। उस सर्वव्यापक और मनातीत वस्तु ही 'मैं' है, वह नाम-रहित है। क्योंकि वह एक और अद्वितीय वस्तु है। इस कारण उसका नाम कल्पना करने वाला कोई नहीं है। श्रुति में भी कहा है—**एकमेवाद्वितीयम्**। केवल शिष्य को समझाने के लिए ही ज्ञानी गुरुओं ने उसके नाना नामों की कल्पना की है। इस कारण आत्मा या 'मैं' के शास्त्रीय नाम हैं सर्वज्ञ, महेश्वर, परमेश्वर, परमपुरुष, परमात्मा, ब्रह्म, विष्णु, शिव, हरि आदि। यथार्थ में उनका कोई नाम नहीं है। वह अनाम हैं। उन शब्दों के द्वारा जो भेद प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं है, काल्पनिक है। वह सर्वज्ञ हैं—क्योंकि वह सबको जानते हैं, परन्तु कोई उन्हें नहीं जान सकता। वह महेश्वर हैं—क्योंकि वह सारे संसार के ईश्वर हैं। वह परमेश्वर हैं—क्योंकि वह सभी के ईशिता हैं। वह परमपुरुष हैं—क्योंकि उनसे

परे और कोई पुरुष नहीं है, वह सभी के आत्मा हैं। वह परमात्मा हैं—क्योंकि सभी जीवात्माओं से वह परे हैं। वह ब्रह्म अर्थात् बृहत् हैं—क्योंकि वह सबसे महान् हैं, उनसे बृहत्, असीम या अनन्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। वह विष्णु अर्थात् व्यापक हैं, क्योंकि वह सबको व्याप्त कर विराजमान हैं, उन्हें कोई व्याप्त नहीं कर सकता। वह शिव हैं क्योंकि वह सर्वमङ्गलमय तथा ज्ञान-स्वरूप हैं, केवल ज्ञान द्वारा ही उनकी उपलब्धि हो सकती है। अन्य अनेक प्रकार के कर्मों के द्वारा उन्हें प्राप्त करना सम्भव नहीं है। वह हरि हैं *, क्योंकि उन्हें जान सकने से ही जीव के जीवत्व और सारे शोक-ताप वह हरण कर लेते हैं। फिर किसी-किसी देश के लोग इस आत्मा को अल्ला, खुदा, गॉड, जिहोवा, जोव आदि अगणित नामों से सम्बोधित किया करते हैं।

भक्त—हम मूर्त्ति में तथा चित्र में अनेक देव-देवियों के रूप देखते हैं, परन्तु आपने आत्मा के जो अनेक नाम बताये हैं, उसका स्वरूप कैसा है, कृपा करके अब उसी का वर्णन कीजिये।

महात्मा—बेटा! इस आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप—सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से अतीत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पञ्च तन्मात्राओं से भी अतीत है, इस कारण उन्हें गुणातीत और रूपतीत कहते हैं। वह पाप-पुण्य, सुख-दुःख, भला-बुरा, सुन्दर-कुत्सित, द्वैत-अद्वैत इन सभी द्वन्द्वों से परे हैं। इसलिए उन्हें द्वन्द्वातीत कहते हैं। वह अज अर्थात् जन्म-रहित हैं। वह अक्षय अर्थात् उनका कभी किसी प्रकार का क्षय नहीं है। वह अव्यय अर्थात् व्यय-शून्य हैं। वह असीम और अनन्त हैं अर्थात् उनका कोई सीमा नहीं है। वह अनादि और अन्तहीन हैं। वह परिपूर्ण, संकल्प-विकल्प और संशय-विपर्यय से शून्य, निर्मल, आनन्द-स्वरूप तथा अखिलाधार हैं। इसीलिए वेदान्त कहते हैं—**अखण्डं सच्चिदानन्दम् अवाङ्मनस-गोचरम् आत्मानमखिलाधारम्** अर्थात् उस आत्मा को अखण्ड ( आदि

---

* हरि शब्द से कृष्ण मूर्ति नहीं समझनी चाहिए।

अन्तहीन ) सच्चिदानन्द *, मन वाणी से अगोचर तथा इस ब्रह्माण्ड के आधार-स्वरूप कहा है।

यह शान्त ब्रह्म वाक्य के अगोचर हैं, इसीलिए वाक्य के द्वारा उन्हें समझाया नहीं जा सकता, परन्तु वह परम सूक्ष्म योग-बुद्धि अर्थात् अनुभव के विषय हैं। यह सांख्य का पुरुष, वेदान्तवादी का ब्रह्म, विज्ञानवादी का विशुद्ध विज्ञान, शून्यवादी का शून्य, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि के प्रकाशक तथा शरीर में अवस्थित रहने के कारण वक्ता, अनुमन्ता, भोक्ता और द्रष्टा हैं।

---

* सत्+चित्+आनन्द—इन तीन शब्दों के मेल से सच्चिदानन्द शब्द बना है। इसलिए वेदान्त कहते हैं—"सद्रूपत्वं नाम, केनाप्यबाध्यमानत्वेन कालत्रयेऽप्येकरूपेण विद्यमानत्वमुच्यते। चिद्रूपत्वं नाम, साधनान्तरनिरपेक्षतया स्वयंप्रकाशमानं स्वस्मिन्नारोपित-सर्वपदार्थावभासकवस्तुत्वं चिद्रूपत्वमित्युच्यते। आनन्द-स्वरूपत्वं नाम, परमप्रेमास्पदत्वं नित्यनिरतिशयत्वमानन्दस्वरूपत्वमित्युच्यते।" अर्थात् "सत्स्वरूप"—जो किसी के द्वारा बाधित नहीं होता, तीनों कालों में एक-रूप रहता है, इस कारण वह सत् है। तीन काल शब्द से जन्म के पूर्व, जन्म के बाद वर्तमान तथा ध्वंस या मृत्यु के बाद—ये तीन काल समझने चाहिये। संसार के सारे पदार्थ और मनुष्य जन्म के पूर्व नहीं रहते तथा मृत्यु के बाद भी उनका अस्तित्व नहीं रहता, केवल जन्म के बाद मृत्यु तक सभी का अस्तित्व प्रतीयमान होता है, परन्तु सत् वस्तु का अस्तित्व तीनों कालों में समान रूप से विद्यमान रहता है। "चित्स्वरूप"—जो अन्य किसी प्रकार के साधन की अपेक्षा न रख कर स्वयं अपनी शक्ति से ही प्रकाशमान रहता है और अपने में आरोपित सारे प्रपञ्च का प्रकाशक है उसे चित्-स्वरूप कहते हैं। इसका भावार्थ यह है कि, जो स्वयं ही प्रकाशित है तथा दूसरी सारी वस्तुओं को प्रकाशित करता है वही चित् है। जैसे सूर्य। सूर्य को देखने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं ही अपना तथा सारे संसार का प्रकाशक है। "आनन्दस्वरूप"—जो नित्य निरतिशय परम प्रेमानन्द रूप है उसे आनन्द-स्वरूप कहते हैं।

आत्मा स्वयंप्रकाश है, किसी दूसरे के द्वारा प्रकाश्य नहीं है। इस विषय में केवल अपनी अनुभूति ही प्रबल प्रमाण है। वह बुद्धि आदि सूक्ष्म वस्तुओं के भी भीतर रह कर उन्हें प्रकाशित कर रहा है। वह साक्षात् अनुभूति-स्वरूप है, इस कारण उसी के द्वारा सारे पदार्थ अनुभूत होते हैं; परन्तु वह स्वयं अननुभवनीय है। बेटा! दृश्य कुछ भी नहीं है और दृश्य के अभाव के कारण द्रष्टा भी विलीन की तरह हो जाता है। मन इस प्रकार होने से, उस समय जो बोधमात्र अवशिष्ट रहता है वही बोध परमात्मा का स्वरूप है। अर्थात् जिस समय प्रपञ्च का भेद मिट जाता है, संसार अदृश्य हो जाता है, उस समय भी वह विराजमान रहते हैं। वह निरालम्ब सत्य वस्तु ही ब्रह्म है और वही ब्रह्म तुम हो। तुम हड्डी, मांस, रक्त आदि के बने जड़ पुतले नहीं हो। अपनी देह का मैं-पन जब मिट जाता है तभी जीवत्व का भी लय हो जाता है, उस समय जो नित्य और सत्य वस्तु विद्यमान रहती है वही ब्रह्म है और वही ब्रह्म तुम हो। अतः तुम्हारे जन्म-मृत्यु कहाँ हैं? ब्रह्म ही होगा तुम्हारा 'मैं' और तुम्हारा 'मैं' ही होगा ब्रह्म। ब्रह्म और तुम्हारे में कोई भेद नहीं रहेगा—दोनों मिल कर एक हो जायेंगे। बेटा! गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—"मुझे जानो, मेरा ध्यान करो, मुझ में तन्मय हो जाओ, सारे धर्मों का त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ, मैं ही सारे प्राणधारियों का एकमात्र शान्तिदाता हूँ" आदि। श्रीकृष्ण का 'मैं' शब्द भी और कुछ नहीं है या उनकी देह को लक्ष्य कर नहीं कहा गया है। इस सयय जो 'मैं' की बात तुमसे कह रहा हूँ ठीक उसी आत्मारूपी 'मैं' की बात ही श्रीकृष्ण ने कही है। परन्तु साधारण अल्पज्ञ मनुष्य श्रीकृष्ण के कथित उस 'मैं' शब्द से आत्मा या ब्रह्म वस्तु को न समझ कर श्रीकृष्ण की देह ही समझते हैं। तेजोविन्दु उपनिषद कहती है—

परं गुह्यमिदं स्थानमव्यक्तञ्च निराश्रयम्।
व्योमरूपं कलासूक्ष्मं विष्णोस्तत् परमं पदम्॥
उपाधिरहितं स्थानं वाङ्मनोऽतीतगोचरम्।
स्वभावभावनाग्राह्यं सङ्घातैकपदोज्झितम्॥

सर्वं तत् परमं शून्यं न परं परमात् परम् ।
अचिन्त्यं प्रबुद्धं तत्तु न च सत्यं न संविदुः ॥
मुनीनां तत्त्वयुक्तं तु न देवा न परं विदुः ।

अर्थात्—"जो इस हृदय रूप गुहा में अवस्थित रह कर भी समस्त संसार को धारण किये हुए हैं, जिन्हें जीव अपने अपने हृदय में अंश रूप से प्राप्त होकर पूर्ण रूप से अनुभव करते हैं, जो वाक्यातीत रूप से निर्दिष्ट हैं, जो निराश्रय तथा आकाश की भाँति सर्वगत हैं और जो सूक्ष्म रूप विष्णु के परम स्थान अर्थात् विश्राम-भूमि हैं वही परम ब्रह्म हैं। जो शरीर-रहित हैं परन्तु सभी पदार्थों के आश्रय हैं, जो वाक्य और मन से परे, समस्त वस्तुओं के ज्ञाता हैं, जिन्हें मिथ्या संस्कार-रहित स्वभाव-सिद्ध विशुद्ध भावनाओं के द्वारा जाना जाता है वह वाक्यातीत और गुणातीत शिव ही एकमात्र ध्येय हैं। वह सर्वात्मक तथा भावरूप हैं, वह शून्य की तरह अदृश्य होने के कारण शून्य हैं, परन्तु अभाव के कारण शून्य नहीं है। विषयों से श्रेष्ठ इन्द्रिय आदि भी उनका स्वरूप नहीं है क्योंकि वह आकाशादि से श्रेष्ठ तथा जाग्रतादि अवस्था से रहित हैं। लोग इस अचिन्त्यनीय सत्य-स्वरूप ब्रह्म को नहीं जान सकते, ऐसा नहीं, अभ्यास वैराग्य आदि के द्वारा वे जाने जा सकते हैं, मुनियों के तत्त्व-भाव के द्वारा ब्रह्म आदरणीय है। उनमें ब्रह्म-तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है इस कारण ब्रह्म उनके अति प्रिय हैं। परन्तु देवता उन्हें नहीं जान सकते ऐसा भी नहीं, वे भी तत्त्व-ज्ञान की सहायता से उन्हें जान सकते हैं।"
कैवल्योपनिषद कहती है—

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥

अर्थात्—"मैं आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् हूँ, यह विचित्र जगत् भी मैं (आत्मा) हूँ, मैं नित्य परिपूर्ण-स्वभाव, सभी का नियन्ता तथा ज्ञान और मङ्गल स्वरूप हूँ।"

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् ॥

अर्थात्—"मेरे हाथ नहीं हैं, पैर भी नहीं हैं परन्तु मैं अत्यन्त वेगशाली तथा ग्रहण में समर्थ हूँ, अतः मेरी शक्ति अपार है। मेरे चक्षु नहीं हैं तथापि

मैं प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। मेरे कर्ण नहीं हैं तथापि मैं सभी श्रवण कर रहा हूँ। मैं बुद्धि आदि से भिन्न होने पर भी सभी जान सकता हूँ। मुझे कोई नहीं जान सकता, परन्तु मैं स्वयं-प्रकाश हूँ, अतः मेरे अज्ञेय कुछ भी नहीं है।" बेटा ! आत्मा के विषय में वेदान्त में ऐसे असंख्य प्रमाण मिलते हैं।

इतना कह कर महात्मा अपने भाव में विभोर हो कर गाने लगे—

जगत-कारण, कारण-कारण,
अन्तविहीन आछो सर्वमय*।
भितरे वाहिरे आछो सर्व पुरे,
तबु अज्ञ जने देखिते ना पाय ॥

एइ जे बिश्व, तोमारइ दृश्य,
तोमातेइ स्थिति, तोमाते हय लय।
देखिये ना देखे, बुझिये ना बुझे,
विचार-बिहीन मनेर धाँधाय ॥

'आमि-आमि' करे, सब अज्ञ नरे,
के आमि कोथाय, बुझिते ना पारे।
आमि तोमाते, तुमि आमाते,
एकेरइ बिकाश जाने ज्ञानिचय ॥

अन्तरे सदाइ, देखिते जे पाइ,
तोमाते आमाते भेदाभेद नाइ।
प्रणमि तोमाय, प्रणमि आमाय,
प्रणमि आमाय, प्रणमि तोमाय ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

जगत कारण, कारण-कारण, अन्तविहीन हो सर्वमय।
भीतर बाहर हो सर्व स्थान, तो भी अज्ञ जन नहीं देखते।

---

* बंगला में दन्त्य स का उच्चारण तालव्य श की तरह है।

यह जो विश्व, तुम्हारा ही दृश्य, तुममें ही स्थिति, तुममें ही लय।
देख कर भी नहीं देखते, समझ कर भी नहीं समझते, विचार-
विहीन मन की भूलभुलैया में
'मैं मैं' करते सभी अज्ञ नर, मैं कहाँ, नहीं समझ सकते
मैं तुममें, तुम मुझमें एक का ही विकास ज्ञानी जानते हैं
अन्तर में सदा ही देखता हूँ, तुममें मुझमें भेदाभेद नहीं
प्रणाम तुम्हें, प्रणाम मुझे, प्रणाम मुझे, प्रणाम तुम्हें।

भक्त—प्रभु ! आप जो आत्मा या ब्रह्म को एक अद्वितीय कह रहे हैं, उस आत्मा को कोई कहता है द्वैत, कोई अद्वैत, कोई साकार और कोई निराकार। अतः किसका कहना सत्य है, मुझे समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा ! जिसके मन की कल्पना जैसी है, वह आत्मा को उसी रूप में समझता है और बोलता है। यथार्थ में आत्मा द्वैत और अद्वैत से पृथक्, साकार और निराकार से पृथक् तथा सगुण और निर्गुण से भी पृथक् है। वह सभी सीमाओं से परे है। केवल अज्ञानी शिष्य को समझाने के लिए ही 'अद्वैत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी लिए श्रुति कहती है—

केचिदिच्छन्ति चाद्वैतं द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

अर्थात्—"इस आत्मा को कोई अद्वैत समझते हैं और कोई द्वैत समझ कर द्वैत-भाव से ही इसकी उपासना करते हैं, परन्तु इनमें कोई भी आत्मा का यथार्थ तत्त्व नहीं जानता। क्योंकि आत्मा या ब्रह्म द्वैताद्वैत-विवर्जित है।" बेटा ! वह विदित से भिन्न और अविदित से ऊपर या पृथक् हैं। श्रुति और भी कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

"वाणी और मन जिसे न पाकर लौट आते हैं अर्थात् वाणी जिसके विषय में बोलने और मन जिसका मनन करने में असमर्थ है, वही ब्रह्म है।" श्रुति में एक कहानी है—एक समय वास्कली ने वाह्व मुनि से आत्मा का तत्त्व पूछा था। उसने कहा—"हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का अध्यापन कीजिये।" इसके उत्तर में वाह्व मुनि मौन हो रहे। कुछ क्षणों के बाद वास्कली ने दूसरी

और तीसरी बार भी ब्रह्म बताइये, ब्रह्म बताइये, इस प्रकार कहा। तब वाह्व मुनि कहने लगे—"मैंने यथार्थ उत्तर दे दिया है। परन्तु तुम नहीं समझ सके। यह आत्मा या ब्रह्म उपशान्त, वाणी और मन के अविषय, अखण्ड, एकरस और अद्वैत है। अभिप्राय यह है कि आत्मा मन और वाणी के अतीत होने से सोचने और बोलने के अयोग्य है, अतः मौन ही तुम्हारे प्रश्न का यथार्थ उत्तर है।"

भक्त—दयामय! सुनता हूँ यह आत्मा या ब्रह्म के चार पाद या अंश हैं। ब्रह्म एक और अखण्ड वस्तु है इस कारण उनके चार भाग किस प्रकार होते हैं?

महात्मा—जीव की जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाएँ ही ब्रह्म के चार पाद से कल्पित की गयी हैं। जाग्रत में ब्रह्मा, स्वप्न में विष्णु, सुषुप्ति में रुद्र और इन तीनों अवस्थाओं से परे तुरीय अवस्था में परमात्मा अधिष्ठित रहते हैं। जीव प्रतिदिन इन चार अवस्थाओं का भोग करता रहता है। इस कारण इन चार अवस्थाओं की ब्रह्म के चार पाद रूप से कल्पना की गयी है। वास्तव में ब्रह्म का कभी अंश नहीं हो सकता।

भक्त—प्रभु! आपने मुझे बताया है कि, परमात्मा रूपी 'मैं' एक है। 'मैं' कभी दो या दो से अधिक नहीं हो सकता। परन्तु लोग जो जीवात्मा और परमात्मा कहकर दो आत्माओं की बात प्रकट करते हैं इसका अभिप्राय क्या है?

महात्मा—एक दृष्टान्त लो। जैसे महाकाश और गृहाकाश। खाली स्थान मात्र का ही नाम आकाश है। दीवाल उठा कर जो गृह बनाया गया है उसके भीतर के खाली स्थान को गृहाकाश और बाहर जो असीम अनन्त शून्य पड़ा हुआ है उसे महाकाश कहते हैं। अब घर की दीवालों को तोड़ देने से उस गृहाकाश को दूसरे स्थान में जा कर महाकाश के साथ मिल जाने की आवश्यकता नहीं होगी। गृहाकाश पहले जहाँ जिस भाव से महाकाश के साथ मिलकर अवस्थित था अब गृह की दीवालों को तोड़ डालने के बाद भी ठीक उसी भाव से वहीं रहकर उस महाकाश के साथ एक हो गया है। वह जब तक दीवालों की सीमा के भीतर था तब तक दूसरों को समझाने की सुबिधा के

लिए उसका नाम 'गृहाकाश' दिया गया था। ठीक उसी प्रकार आत्मा एक ही वस्तु है परन्तु उस आत्मा के तत्त्व के विषय में अज्ञानी मनुष्य (अज्ञान मन) भ्रम से उस आत्मा को 'मैं जीव हूँ' ऐसी कल्पना करके मन के संस्कारों की दीवालों के बीच में सीमाबद्ध समझकर व्यवहार करते हैं।

अज्ञानी जीव के मन की इस अज्ञानता या संकल्प-विकल्प की दीवालों के टूट जाने से दिखाई पड़ता है कि, सर्वत्र व्याप्त परमात्मा के साथ अज्ञान-कल्पित जीवात्मा पहले जैसे और जहाँ था, मन की कल्पना के टूट जाने पर भी वह वहीं उसी भाव में अचल अटल रूप से विद्यमान है, वह न कहीं जाता है और न कहीं से आता है। अतः जीवात्मा और परमात्मा कभी गृहाकाश और महाकाश की तरह पृथक नहीं है। केवल अज्ञानी शिष्य को समझाने के लिए मन-उपाधि-युक्त आत्मा का 'जीवात्मा' रूप से प्रयोग किया जाता है। जैसे दर्पण में मनुष्य का प्रतिबिम्ब दिखा कर या जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र की ओर इशारा कर गुरु शिष्य से कहते हैं—"वह जो दर्पण में मनुष्य देख रहे हो या वह जो जल में चन्द्र दिखाई पड़ रहा है, वह मिथ्या है।" ठीक इसी प्रकार अज्ञानी शिष्य को उपदेश देते समय गुरु कहते हैं—"यह जो जीवात्मा देखते हो "यह मिथ्या है।" इस जीवात्मा शब्द के बिना शिष्य को आत्मतत्त्व समझाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। आत्मा सदा ही एक और अद्वितीय वस्तु है। यथार्थ में जीवात्मा नामक किसी पृथक आत्मा का अस्तित्व नहीं है। श्रुति-प्रमाण से भी जीव और ब्रह्म में अभेद ही प्रतिष्ठित हुआ है। तथापि मूढ़ लोग इस विषय में वृथा वितण्डा किया करते हैं। वेदान्त-दर्शन के भाष्य में भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—

**ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते, कृतकमनित्यञ्च मोक्षं कल्पयन्ति न्यायेन च न सङ्गच्छन्ते।**

"जो लोग जीव को पृथक् कहने का आग्रह करते हैं वे वेदान्त के अर्थ में विघ्न डालते हैं और मुक्ति के द्वार स्वरूप सम्यक ज्ञान को नष्ट करते हैं। वे मोक्ष को जन्य यानी उत्पाद्य समझते हैं, इसलिए उसे अनित्य कहते हैं। उनका यह मत युक्ति से रहित है।"

बेटा ! एक ही समुद्र जब पृथक्-पृथक् अंशों से छोटी-छोटी नदियों में प्रविष्ट होता है तब जिस प्रकार वह समुद्र नदी रूप से ही प्रतीयमान होता है, ठीक उसी प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म अज्ञान के कारण स्थूल दृष्टि से जीव-जगत् में छोटे-छोटे अंशों के रूप में परिदृष्ट हो रहे हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उपाधियों के द्वारा दोष-युक्त हो कर ब्रह्म जीव रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। जीव जब ध्यान-ज्ञान आदि साधनों के अनुष्ठान से दोष-रहित हो जाता तभी वह सारी उपाधियों से मुक्त हो जाता है। अर्थात् तब उसका जीव-भाव नहीं रहता। जीव-भाव के न होने से ही परम-भाव होता है। इसलिए उस समय जीवात्मा और परमात्मा में एकता सिद्ध होती है। इस विषय में श्रुति नदी के दृष्टांत से समझाती है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अर्थात्—"जैसे नदियाँ बहती हुई समुद्र में जाकर अपने नाम-रूप का त्याग करके उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानी भी अपना नाम-रूप छोड़ कर परात्पर परम पुरुष में लय प्राप्त हो जाते हैं।" समुद्र-प्राप्त नदी जिस प्रकार अपना नाम-रूप छोड़ कर समुद्र के साथ एक हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्त जीव भी अपना नाम-रूप का परित्याग कर परम पुरुष को प्राप्त होता है, अर्थात् परमात्मा ही हो जाता है। अतः नाम और रूप जीव के हैं, ब्रह्म के नहीं। जीवात्मा और परमात्मा का भेद 'उपाधि-कृत अर्थात् अविद्या-कल्पित देहादि-उपाधि-निमित्तक है। उपरोक्त श्रुति का ऐसा अर्थ समस्त वेदान्त-वादियों का स्थिर सिद्धान्त है। श्रुति और स्मृति दोनों ही इस सिद्धान्त को मानती हैं। श्रुति यथा—

सदेव सौम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।
आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम् ॥
इदं सर्वं यदयमात्मा।
नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति मन्ता।

"हे सौम्य ! इस सृष्टि के पहले केवल सत् ही था, जो एक ही और अद्वितीय है। आत्मा ही यह सब कुछ है। ब्रह्म ही यह सब कुछ है। यह सभी

आत्मा है। इस आत्मा से भिन्न कोई दूसरा द्रष्टा, श्रोता, मनन-कर्ता या विज्ञाता नहीं है।"

गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति।
क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्॥

"ये सभी वासुदेव हैं। हे भारत! सारे क्षेत्रों (शरीरों) के क्षेत्रज्ञ रूप से तुम मुझे ही जानना। सारे जीवों में मैं ही परमेश्वर-रूप से निवास कर रहा हूँ।"

जीवात्मा और परमात्मा के भेद-दर्शन की निन्दा करते हुए श्रुति फिर कहती है—

यो अन्यां देवताम् उपास्ते अन्योऽसौ
अन्योऽहमस्मीति, न स वेद,
यथा पशुरेव स देवानाम्।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

अर्थात्—"जो मनुष्य देवता को अन्य और अपने को अन्य समझ कर उपासना करता है, वह यथार्थ तत्त्व नहीं जानता। मनुष्य के बोझा ढोने वाले पशुओं की तरह वह पूजोपहार बहने वाला देवताओं के पशु के समान है। जो इस संसार में अपने को ब्रह्म से पृथक दर्शन करता, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात् बार-बार जन्ममृत्यु रूप नरक-यातना का भोग करता है।" भगवान् शंकराचार्य ने भी शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

अर्थात्—"करोड़ों ग्रन्थों में जो कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोक में कहता हूँ—ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या, जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं।"

भक्त—प्रभु! आप के कथनानुसार जीव परमात्मा का अंश होने पर उसके ज्ञान-ऐश्वर्य के लुप्त होने का कारण क्या है? जिस प्रकार अग्नि-कुण्ड

से कोई स्फुलिङ्ग ( चिनगारी ) निकल आने पर उसमें जलाने तथा प्रकाश करने की शक्ति अविकृत रहती है, उसी प्रकार जीव में भी परमात्मा की तरह ज्ञान-ऐश्वर्य का रहना उचित था।

महात्मा—बेटा! तुम्हारा कहना सत्य है सही, परन्तु देह-सम्बन्ध अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और विषयानुभव के प्रभाव में आने के कारण जीव का ज्ञान-ऐश्वर्य विलुप्त रहता है। जिस प्रकार दाह-शक्ति और प्रकाश शक्ति के रहते हुए भी काष्ठ के भीतर की या भस्म से आच्छादित अग्नि में वह लुप्त रहती है उसी प्रकार जीव में भी अविद्या-जनित नाम-रूप-कृत देहादि से सम्पर्क के कारण उसका ज्ञान-ऐश्वर्य तिरोभूत रहता है।

भक्त—प्रभु! इस संसार में बिना किसी उद्देश्य के कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार का कर्म नहीं करता। अतः यदि मैं अपने को जान सका, यानी सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा या ब्रह्म को समझ सका तो क्या फल होगा? उसके जानने की आवश्यकता क्या है?

महात्मा—बेटा! तुम सर्वत्र ही देखते हो कि प्राप्य वस्तु की शक्ति या गुण का बोध हुए बिना उस वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा बलवती ही नहीं होती। यह मन का स्वभाव है। उसका प्रमाण देखो—रुपये-पैसे से लोग आहार-विहार आदि के सब प्रकार के सुखों का प्रबन्ध कर सकते हैं। यह विषय अर्थात् रुपये की शक्ति और गुण तुम अच्छी तरह जान गये हो। इसी कारण धनोपार्जन के लिए प्राणपण से चेष्टा करते हो, परन्तु तुम अपने बचपन की बात याद करके देखो, जब तुम्हारी उम्र साल-दो-साल की रही हो, उस समय अगर किसी ने तुम्हारे हाथ में एक रुपया दिया, उस समय रुपये की शक्ति और गुण के विषय में ज्ञान न रहने के कारण उस रुपये को हाथ में लेकर तुम खलते, कभी उसे मुँह में ठूँस देते या उसे दूर फेंक देते थे। ठीक उसी प्रकार परमात्मा के स्वरूप और शक्ति का बोध रहने से ही तुम उनके दर्शन के लिए जी-जान से चेष्टा करोगे। परन्तु उस बोध के न रहने से उस शिशु की तरह तुम्हें भी आत्म-तत्त्व के श्रवण-मनन की आकांक्षा नहीं हो रही है।

तुम इस संसार में निरवच्छिन्न सुख, शान्ति या परमानन्द ढूँढ़ रहे हो

तथा याग-यज्ञ या मूर्ति आदि की पूजा के द्वारा परमेश्वर की खोज कर रहे हो परन्तु मेरे कथित इस आत्म-ज्ञान के प्राप्त होने से वह सभी प्राप्त हो कर शान्ति मिल सकती है। इस आत्म-तत्त्व के ज्ञान से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सारे देवदेवियों का तत्त्व तथा सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, कीट आदि विश्व के सभी वस्तुओं का तत्त्व आत्मज्ञ पुरुष के सामने हस्तामलक की तरह प्रतीयमान होने लगता है और इसी कारण ब्रह्मज्ञ को सर्वज्ञ कहते हैं। आत्मा से अभिन्न ब्रह्म-सत्ता में अज्ञान का आवरण पड़ा है, जिससे मनुष्य अपना दुःख-राहित्य और अपना ब्रह्म-स्वरूपत्व नहीं जानता; अपने को वह सुख-दुःख-भोक्ता, जन्म-मरण-शील साधारण जीव रूप में ही समझता है; इस ब्रह्म को जान सकने से ही वह अज्ञान दूर हो कर जीव को जीवन्मुक्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। यथार्थ में जिस वस्तु के प्राप्त होने से किसी दूसरी वस्तु के लाभ की आकांक्षा नहीं रहती; जिस सुख से सुखी होने पर कोई दूसरा सुख सुख-रूप से प्रतीत नहीं होता; जिस ज्ञान के होने से किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती उसे ही आत्मा जानना। क्योंकि आत्म-ज्ञान होने पर और किसी दूसरे प्रकार से लाभवान होने की इच्छा नहीं होती। उससे कोई भी लाभ श्रेष्ठ नहीं है। अतः दूसरे लाभ में साधक की प्रवृत्ति नहीं होती। जिसके दर्शन करने से संसार में और किसी वस्तु के दर्शन की इच्छा नहीं रहती; जिसका स्वरूप प्राप्त होने पर और कुछ होने की अभिलाषा नहीं रहती और जिसे जान लेने पर संसार में और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती; उसीको तुम आत्मा या ब्रह्म करके जानना। बेटा! यथार्थ में यदि कोई दुःख का एकान्त नाश करके अविच्छिन्न सुख या परम शान्ति लाभ करना चाहे तो वह केवल इस आत्म-ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। इसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस विषय में श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

अर्थात—"बाढ़ से सर्वत्र प्लावित हो जाने पर जिस प्रकार छोटे जलाशय में लोगों को कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ या आत्मज्ञ व्यक्ति

को सारे वेदों में कोई प्रयोजन नहीं रहता।" वेद-विहित अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, अश्वमेध आदि काम्य-कर्मों के द्वारा सकाम पुरुष को इहलोक और परलोक में छोटे-छोटे आनन्द प्राप्त होते हैं, परन्तु ब्रह्मज्ञ या आत्मज्ञ पुरुष अनन्त आनन्द लाभ करते हैं, जिसमें वे सारे आनन्द अन्तर्भुक्त हैं। इस कारण जो मनुष्य आत्मानन्द में मग्न है उसे कभी विषय-भोग के आनन्द की इच्छा नहीं रहती, बल्कि उसके सामने वह भोगानन्द अति तुच्छ है। इस विषय में वेदान्त भी कहते हैं—

प्रयोजनं तु, तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः, तत्स्वरूपानन्दावाप्तिश्च। तरति शोकमात्मवित्। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

अर्थात्—"आत्मा के विषय में अज्ञान की निवृत्ति और अपने आनन्दमय स्वरूप का अनुभव इन दो विषयों के लिए ही आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान का प्रयोजन है। आत्मज्ञ व्यक्ति ही अज्ञानकल्पित शोक से उत्तीर्ण हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ब्रह्म-भाव प्राप्त होते हैं अर्थात् वह ब्रह्म ही हो जाते हैं।"

स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते।
न मातृवधेन, न पितृवधेन, न स्तेयेन, न भ्रूणहत्यया,
न ह्यस्य पापं, न च कृशो मुखं नीलं वेति।

अर्थात्—"देवता हो या मनुष्य, जो आनन्द-स्वरूप मुझ (आत्मा) को अवगत होते हैं मातृवध, पितृवध, चोरी, भ्रूण-हत्या आदि किसी पाप-जनक कर्म से उनका पुण्य-फल विनष्ट नहीं होता। उनका शरीर दुर्बल या मुख म्लान भी नहीं होता।" अन्यत्र श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

अर्थात्—"उस परावर पुरुष या परब्रह्म दृष्ट (आत्मा से अभिन्न रूप से साक्षात्कृत) होने पर हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं और पाप-पुण्य के सारे कर्म-संस्कार क्षय प्राप्त हो जाते हैं।" अतः समझना चाहिए कि शास्त्रने भी केवल ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा ही जीव मुक्त हो जाता है ऐसा सिद्धान्त निर्धारित किया है, किसी दूसरे के द्वारा नहीं। इसी लिए श्रुति फिर से कहती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

अर्थात्—"ब्रह्म-ज्ञान के पहले साधक के हृदय में कामनाग्रन्थि रहती है, अर्थात् मन कामनाओं से पूर्ण रहता है, ज्ञान होने पर वह ग्रन्थि खुल जाती है, तब वह अमृत अर्थात् मुक्त हो जाता है। यहीं वह ब्रह्म प्राप्त होता है।" इसी लिए श्रुति, वाक्य का वर्जन करके त्रिलोकाधार ब्रह्म के जानने के लिए कहती है—

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

( कठोपनिषद्

अर्थात्—"सुबुद्धिमान व्यक्ति अशरीरी, नाशवान् प्राणिशरीर में अवस्थि महान् तथा सर्वव्यापक आत्मा को जान कर मुक्त हो जाते हैं।" पीठमाल तन्त्र में लिखा है—

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥
यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥

अर्थात्—"जिन्हें प्राप्त होने पर सभी प्राप्त हो जाते हैं, जिन्हें जानने से सभी जाने जाते हैं और जो सभी सुखों की अन्तिम सीमा है, उन्हींको ब्रह्म करके जानना। जिन्हें देखने पर और कुछ देखने योग्य नहीं रहता, जिनका स्वरूप प्राप्त होने पर पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना होता और जिन्हें जानने से और कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता, उन्हींको ब्रह्म जानना।"

बेटा! जिस प्रकार नदी अपने तीर पर स्थित वृक्षादि का मूल तक नष्ट करती है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञान भी मनुष्य के शोक-दुःख विषाद-विपत्ति आदि सभी अनर्थों के मूल-भूत अज्ञान को विनष्ट करके अपने आधार मनुष्य को कृतार्थ कर देता है। अतः केवल मात्र आत्मा ही नमस्कार्य, वही स्तुत्य, वही पूज्य तथा वही सारे देवताओं के ईश्वर हैं। इन्हींको तुम ज्ञातव्य पदार्थ का अन्तिम स्थान और महत्त्व की अन्तिम सीमा के रूप से जानना। इन परम देव परमात्मा के दर्शन से जरा, शोक और भय का समूल नाश हो जाता

है। जिस प्रकार भूने हुए बीज से अंकुर नहीं उगता, उसी प्रकार आत्म-तत्त्वज्ञ महात्मा में जीवत्व नहीं रहता अर्थात् वे जन्म-मरण आदि से रहित हो जाते हैं। इस कारण तुम भी सब जीवों में उसी एक आत्मा को जान लो तथा परम पद प्राप्त करो। वृथा बाहरी दृष्टि से मोह-मुग्ध न रहो। आत्मज्ञान-रहित मनुष्य गदहेके समान है। गदहा जिस प्रकार वृथा ही बोझ ढोता है उसी प्रकार आत्मज्ञान-रहित मनुष्य भी वृथा ही देह-भार ढोता फिरता है। आत्म-ज्ञान-रहित अज्ञानी मनुष्य को ही आत्म-घाती कहते हैं। इसी कारण भागवत में स्पष्ट रूप से कथित है—

नृदेहमिदं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

अर्थात्—"मनुष्य की देह सुदुर्लभ है, भव-समुद्र के पार उतरने की यही दुर्लभ नौका है। इस देह रूप नौका के कर्णधार हैं श्रीगुरुदेव। मैं (आत्मा) स्मरण मात्र से ही अनुकूल वायु के रूप में इसे चलाया करता हूँ। जो मनुष्य ऐसी देह और ऐसे कर्णधार पा कर भी आत्म-दर्शन के द्वारा संसार-समुद्र से उत्तीर्ण होना नहीं चाहता, वह आत्मघाती है।" तन्त्रशास्त्र कहते हैं—

चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम्।
न मानुष्यं विनान्यत्र तत्त्वज्ञानं प्रजायते॥
अत्र जन्मसहस्रेषु सहस्रैरपि पार्वति।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्॥
सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मनं तस्मात् पापतरोऽत्र कः॥
ततश्चाप्युत्तमं जन्म लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवम्।
न वेत्त्यात्महितं यस्तु स भवेदात्मघातकः॥
(कुलार्णवतन्त्र)

अर्थात्—"देही के चौरासी लाख शरीरों में मनुष्य शरीर के बिना तत्त्व-ज्ञान नहीं होता। हे पार्वति! जन्तुओं के सहस्रों बार देह-धारण के अनन्तर कदाचित् पुण्य-परिपाक से मनुष्य-देह प्राप्त होती है। मोक्ष के सोपान रूप इस मनुष्य-देह को प्राप्त हो कर जो आत्मा का उद्धार नहीं करता, उससे बढ़

कर पापी संसार में और कौन है ? इस प्रकार उत्तम इन्द्रिय प्राप्त करके भी जिसने आत्म-हित नहीं जाना वह आत्मघाती है ।" वेदान्त कहते हैं—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं,
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढ़धीः,
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

अर्थात्—"पुण्य के प्रभाव से दुर्लभ मानव-जन्म प्राप्त होकर उसमें भी पुरुष-देह तथा वेद-वेदान्त का ज्ञान प्राप्त होकर जो मूढ़ मानव अपने को दुःखमय संसार से मुक्त करने की चेष्टा नहीं करता वह ब्रह्म से भिन्न संसार की मिथ्या वस्तुओं का ग्रहण करने के कारण आत्मघाती कहलाता है ।"

भक्त—उस 'मैं' या आत्मा को किस प्रकार से मैं देख सकूँगा ?

महात्मा—आज रात अधिक हो गयी है । कल तुम्हें आत्म-दर्शन के विषय में उपदेश करूँगा ।

तब भक्त महात्मा को प्रणाम कर अपने स्थान को चला गया ।

---

# आत्मा या 'मैं' का दर्शन

दूसरे दिन सुबह भक्त ने कहा—दयामय ! आत्म-दर्शन के विषय में आज मुझे उपदेश दीजिये ।

महात्मा—बेटा ! पहले तुमसे जो मैंने मन के विषय में कहा है, उसी मन के बहुत समीप तुम्हारा 'मैं' या आत्मा विद्यमान है । अब तुम अपने 'मैं' को देखना चाहते हो, परन्तु वह इस चर्म-चक्षु से नहीं देखा जा सकता । यहाँ तक कि तुम्हारी इन्द्रियों या सूक्ष्म मन के द्वारा भी वह देखा नहीं जा सकता । इससे मैंने पहले ही बताया है कि आत्मा, मन और वाणी से अगोचर है । संसार के सारे विषय वाणी के द्वारा प्रकट किये जा सकते और सुख-दुःख आदि भाव भी मन के द्वारा समझे जा सकते हैं । परन्तु आत्मा का कोई रूप-गुण या आकार-प्रकार नहीं है । इस कारण वाणी या मन के द्वारा

उसे कैसे प्रकट किया जायगा ? इसी कारण ''मैं'' अर्थात् आत्मा बहुत दुर्बोध्य वस्तु है। इस विषय में श्रुति भी कहती है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः।
शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः॥
(कठोपनिषद)

अर्थात्—"यह आत्मा अनेक मनुष्यों के श्रवण के द्वारा भी लभ्य नहीं है और सुनने पर भी अनेक मनुष्य इसे जान नहीं सकते अर्थात् श्रवण का फल आत्म-ज्ञान साधारण मनुष्य के लिए सुलभ नहीं है।"

भक्त—प्रभु! आपकी बात सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। क्योंकि देह और मन द्वारा कोई भी जिन्हें जानने, समझने या देखने में समर्थ नहीं होता और लाखों मनुष्यों में भी कोई देख सकता है या नहीं उसमें सन्देह है, क्या ऐसी कोई वस्तु जगत् में रह सकती है ? अतः जो नहीं है, उस वस्तु की कल्पना अनुमान से क्यों करूँ ?

महात्मा—बेटा! देह-मन द्वारा 'मैं' की उपलब्धि न होने के कारण ही उस आत्मा या 'मैं' को 'अग्रहणीय' कहते हैं। यदि तुम कहते हो कि 'मैं नहीं हूँ' तो तुम्हारे इस वाक्य से ही प्रमाणित हो जाता है कि, तुम अपना अनस्तित्व स्वीकार कर रहे हो। स्वयं ही आपना अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, क्या ऐसा भी कोई जीव दृश्यमान जगत् में है ? 'मेरी जिह्वा नहीं है' कहना जैसे सम्पूर्ण असम्भव और झूठी बात है, 'ब्रह्म या 'मैं' नहीं है' यह भी उसी प्रकार असम्भव और झूठी बात है। क्योंकि यदि जिह्वा नहीं है तो वह मनुष्य किस प्रकार से 'मेरी जिह्वा नहीं है' ये शब्द उच्चारण करता ? ठीक उसी प्रकार 'मैं' विद्यमान न हो तो, 'मैं नहीं हूँ' यह बात कौन कहता ? 'मैं हूँ' यह बोध इस ब्रह्माण्ड के जीव मात्र को ही सर्वदा है और रहेगा। अतः अपना अस्तित्व अस्वीकार करना ही तुम्हारी सम्पूर्ण अज्ञानता है, इसीका नाम ही माया की पहेली है। 'मैं' या ब्रह्म नहीं है या मैं अपने को नहीं जानता, नहीं पहचानता, ऐसे सम्पूर्ण अयौक्तिक और अप्रामाणिक वाक्य कहने से लोगों के सामने तुम वातुल के रूप से परिचित होगे। इस विषय में वेदान्त ने भी कहा है—

असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।

अर्थात्—"ब्रह्म असत् अर्थात् अस्तित्वहीन या नहीं हैं, यह किसी प्रक भी प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि उससे वह स्वयं भी असत् ( अस्तित्वहीन हो जाता है, जो ब्रह्म को असत् (अस्तित्वहीन) के रूप में समझता है, उस अपना भी अस्तित्व नहीं रहता।" वह आत्मा तपस्या और कर्म से भी विज्ञ नहीं होता। आत्मा इस प्रकार भी नहीं है, उस प्रकार भी नहीं है। क्यों आत्मा इन्द्रियादि द्वारा गृहीत नहीं होता, उसी कारण वह अग्राह्य अर्थात् ग्रहणीय नहीं है। वह अदृश्य और अग्रहणीय है। मुण्डकोपनिषद् श्रुति ने कहा है—

**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा**
**ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।**

अर्थात्—"ब्रह्म को चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका रूप नहीं है; वाक्य से भी वह प्रकाश्य नहीं हैं। दूसरी इन्द्रियों से तपस्या या कर्मों से भी उन्हें नहीं पाया जा सकता। ज्ञान की प्रसन्नता द्वा चित्त विशुद्ध होता है, उसके बाद एकाग्रचित्त से ध्यान करके उस निरवय आत्मा देखा जा सकता है। कठोपनिषद कहती है—

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥**

अर्थात्—"इस आत्मा को वेदादि शास्त्रों के अध्ययन द्वारा लाभ नहीं किया जा सकता, धारणा-शक्ति से भी नहीं और बहुल परिमाण में शास्त्रों श्रवण से भी लाभ नहीं किया जा सकता। जो विद्वान् पुरुष परमात्मा को पा की इच्छा करते हैं, वह उसीसे अर्थात् प्राप्ति की उत्कट इच्छा द्वारा ही उ लाभ कर सकते हैं। क्योंकि आत्मा सर्वगत है, इसलिए नित्य प्राप्त है। केव अविद्या दूर होने से ही स्वरूप की उपलब्धि होती है। जिन्हें दूसरी वस्तुओं की आकांक्षा नहीं है और आत्म-लाभ के लिए तीव्र वासना है, आत्मा उन्हीं सामने अपना स्वरूप प्रकट करता है।"

**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्**
**एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम**

( कठोपनिषद

अर्थात—"इसी आत्मा को शारीरिक और मानसिक बलहीन व्यक्ति लाभ नहीं कर सकता। जिनका चित्त पुत्र, पत्नी आदि विषय में आसक्त है, उसकी आत्मा में एकाग्रता नहीं आती; ऐसे प्रमत्त व्यक्ति आत्म-लाभ करने में समर्थ नहीं होता। अथवा संन्यास-विहीन ज्ञान द्वारा अर्थात् मन के भोग-वासना और ममत्व-बुद्धि का सम्यक रूप से नाश न करके, केवल पुस्तक की विद्या द्वारा आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो विद्वान् आत्मबल, अप्रमाद, संन्यास और ज्ञान-रूप उपायों द्वारा आत्म-लाभ के लिए प्रयत्न करते हैं, उन्हीं का आत्मा सभी के आश्रयभूत ब्रह्म में प्रविष्ट होता है अर्थात् वही ब्रह्म-स्वरूप लाभ करते हैं।"

इन सब युक्ति-प्रमाणों से भी अब तुम्हारी समझ में आ रहा होगा कि, 'मैं नहीं हूँ' यह बात तुम कभी नहीं बोल सकते। यह प्रपञ्च दिखाई पड़ रहा है, यह कुछ भी नहीं है, यह स्वप्न-कल्पित वस्तुओं की तरह मिथ्या है। संसार में केवल "मैं" या आत्मा की सत्ता ही है, वही नित्य और सत्य है। बेटा! यह जो जगत् नामक महाभोग प्रतीयमान हो रहा है, वह सत्य हो या मिथ्या, जिस पर स्थित हो कर यह प्रकट हो रहा है, उस आधार-वस्तु को किस प्रकार शून्य या मिथ्या कहोगे? जिस प्रकार स्थिर जल में तरङ्गों का अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही विद्यमान है उसी प्रकार सर्वाधार परम-ब्रह्म में संसार की शून्यता और अशून्यता दोनों ही विराजमान हैं। वह स्वयं प्रकाश-पदार्थ है, दूसरे के द्वारा प्रकाशित नहीं, इस विषय में स्वानुभव ही प्रमाण है, यह आत्मा इतना सूक्ष्म है कि तुम्हारा मन उसकी धारणा नहीं कर सकता। यह आत्मा सर्वव्यापी और सर्वत्र समान भाव से विद्यमान है। उसी के अस्तित्व से हम सब का अस्तित्व है और उसी के प्रकाश से हम सब का प्रकाश। जिस प्रकार सूर्य अपना-पराया भेद न कर सर्वत्र समान भाव से किरणों का विस्तार करता है, आत्मा भी ठीक उसी प्रकार सर्वत्र समान भाव से विद्यमान रह कर सबका प्रकाश कर रहा है। परन्तु मन से भी सूक्ष्म होने के कारण वह मन के अगोचर होने पर भी वह अपने अनुभव-गम्य है। वह "मैं" सारे ब्रह्माण्ड तथा तुम्हारे देह-मन से भी परे है, उससे परे और कुछ नहीं है। इसी कारण उसका नाम परमात्मा दिया गया है। यह आत्मा

अज्ञानियों के सामने दूर से भी दूर, ज्ञानियों के निकट समीप से भी समीप है।

भक्त—आत्मा दूर से भी दूर और समीप से भी समीप किस प्रकार है ?

महात्मा—जिन लोगों ने आत्म-ज्ञान की साधना की है, वे ही जानते हैं कि, जिसे 'मैं' कहा जाता है वही आत्मा है; वह आत्मा या 'मैं' ही ब्रह्म है। अतः ज्ञानी जानते हैं कि, ब्रह्म-वस्तु उनके देह-मन-बुद्धि से भी अति निकट है, वह अपने सम्बन्धी सारे पदार्थों से भी अपना है, ब्रह्म ही साधक का 'मैं' है। जैसे 'मैं' को कोई छोड़ नहीं सकता वैसे ही सर्वात्मक ब्रह्म को भी कोई छोड़ नहीं सकता। परन्तु अज्ञानी के सामने वह दूर से भी दूर है। मान लो, यह पुस्तक मुझे ज्ञात है परन्तु यह आत्मा उससे भी अधिक ज्ञात है। क्योंकि पहले आत्मा को जान कर उसके भीतर से इस पुस्तक का ज्ञान प्राप्त करना होता है। यह आत्मा ही यथार्थ में 'मैं' है। संसार में जो कुछ हम जानते हैं उन सभी का ज्ञान प्राप्त करने के पहले 'मैं' को जानना पड़ता है। 'मैं' का ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य संसार में किसी वस्तु को नहीं जान सकता। अतः सारी वस्तुओं का ज्ञान उस 'मैं' या ब्रह्म के भीतर से ही प्राप्त करना होता है। यही ब्रह्म तुम्हारा आत्म-स्वरूप है। 'मैं' के अस्तित्व के बिना इस संसार में कोई क्षण भर के लिए भी श्वास लेने या जीवन धारण करने में समर्थ नहीं है। उन्हीं के अस्तित्व से हमारा और जगत का अस्तित्व है। परन्तु तुम ऐसा न समझो कि, वह किसी दूसरे स्थान में बैठ कर हमारे श्वास लेने या रक्त का संचालन करने का कार्य कर रहे हैं; वह तो हमारे आत्मा का आत्मा तथा अन्तर्यामी हैं।

भक्त—प्रभु ! आप की बात से मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर सका। यदि उस 'मैं' या आत्मा को शास्त्र के अध्ययन या जप, तप, ध्यान, धारणा आदि धर्म-कार्यों के द्वारा अथवा मन के भी द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सके तो समझना चाहिए कि वह आत्मा अप्राप्य वस्तु है और इसी कारण कोई उसका दर्शन नहीं पा सकता। अतः 'आत्मा' कहने से केवल एक शब्द या नाम मात्र ही है।

महात्मा—बेटा, 'भोजन करने से भूख मिट जाती है'—यह जिस प्रकार हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष करते हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के सब प्रकार के ज्ञान नाना रूपों से हमारे प्रत्यक्ष के ऊपर स्थापित हैं। अतः यह आत्मा या 'मैं'

भी अपरोक्ष * रूप से जीव मात्र के अनुभव-गम्य है। इस संसार में धर्म नाम से कोई वस्तु है या नहीं अथवा आत्मा या परमेश्वर है या नहीं इस विषय में अनेक मनुष्य अनेक तर्क-वितर्क करते हैं और तर्क में विजयी होने से लोग अपने को धार्मिक समझते हैं। परन्तु इसे धर्म, परमेश्वर, आत्मा, ब्रह्म या खुदा, गाड आदि किसी भी नाम से क्यों न कहा जाय, यह केवल तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं हो सकता, यह अपरोक्ष रूप से उपलब्धि करने का विषय है। कोई सम्भवतः कहेंगे—'ईश्वर हैं और वह हमारे अन्तर में ही विराजमान हैं' तभी उनसे पूछना चाहिए—'क्या आपने ईश्वर को देखा है ? और मुझे भी दिखा सकते हैं ?' जो कह सके—'हाँ, मैंने ईश्वर को अपरोक्ष रूप से जाना है और तुम को विदित करा सकता हूँ'—वही यथार्थ में धार्मिक हैं; उन्हींसे आत्म-तत्त्व या धर्म-तत्त्व जान लेना चाहिये। अन्यथा साधारण अज्ञानी मनुष्य के साथ तर्क करने से वृथा श्रम और अनिष्ट साधित होता है। इस सम्बन्ध में कठोपनिषद में आदेश है—**नैषा तर्केण मतिरापनेया।** अर्थात्—"अमूल तर्क के द्वारा आत्म-विषयक बुद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।" वेदान्त दर्शन में भी लिखा है—तर्काप्रतिष्ठानात्—"तर्क की कोई स्थिति नहीं है, अर्थात् किसी बुद्धिमान के द्वारा उपस्थापित तर्क उससे अधिक बुद्धिमान के द्वारा खण्डित हो जाता है और उससे भी अधिक बुद्धिमान के द्वारा वह तर्क भी निरस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में शास्त्र का विधान है—वेदशास्त्राविरोधिना यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः—"वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क के द्वारा जो विचार करता है, वही धर्म का स्वरूप जान सकता है।"

अतः ईश्वर, आत्मा या धर्म केवल वाक्य का विषय नहीं है। अथवा वह

---

* ज्ञान तीन प्रकार हैं—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष। विषय के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है; इन्द्रिय से बाहर की वस्तु का ज्ञान परोक्ष है, जैसे स्वर्ग, ईश्वर, विलायत ( जिसने विलायत न देखा हो उसके लिए ) आदि का ज्ञान। इन दोनों से भिन्न 'मैं हूँ'—यह स्वानुभव-गम्य ज्ञान अपरोक्ष है, इस में इन्द्रिय का सम्पर्क नहीं हो सकता या स्वर्ग ईश्वर आदि की तरह यह अनुभव के बाहर भी नहीं है।

किसी मत-विशेष को समर्थित करने का विषय नहीं है; वह केवल हमा अपरोक्ष रूप से अनुभव करने का विषय है। धर्म जभी अनुभूत होगा तभी तुम धार्मिक हो सकोगे। वह अपरोक्ष ज्ञान अन्तर्दृष्टि के बिना बहिर्दृष्टि से कभी नहीं हो सकता। इस आत्मा का दर्शन करना साधारण मनुष्य के लिए सहज नहीं है, इसी कारण तुम इसकी धारणा नहीं कर सक रहे हो। यह पथ बहुत दुर्गम है। इस बात को केवल मैं ही नहीं कहता, वेद के ऋषियों ने भी इसे कहा है। परमहंसोपनिषद में लिखा है—शम-दम-आदि साधन-सम्पत्तियुक्त महर्षि नारद ने भगवान हिरण्यगर्भ से पूछा—"भगवन! परमहंस का पथ अर्थात् आत्म-दर्शन का पथ क्या है?" इसके उत्तर में उन्होंने नारद को बताया—

**योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते।**

अर्थात्—"यह परमहंस-पथ (आत्म-दर्शन का पथ) अत्यन्त कष्ट से तथा अनेक जन्मों के पुण्य-परिपाक द्वारा प्राप्त होता है, यदि यह सहज-प्राप्य होता तो मायाभिभूत पत्नी-पुत्रादि-परायण सभी गृहस्थ इसे प्राप्त कर सकते। जो इस पथ का अवलम्बन करते हैं, वे त्रिकालानवच्छिन्न तथा नित्य परम पवित्र सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्थित हैं। अतः सर्वशास्त्रवित् पण्डित लोग उन्हें सर्व-वेदज्ञ पुरुष समझते हैं। इसी कारण वे संसार में महात्मा के नाम से कथित हैं।" श्रुति कहती है—

**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**
**दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।** (कठोपनिषद)

अर्थात्—"ज्ञानी लोग कहते हैं कि, वह आत्म-तत्त्व-ज्ञान-रूप-पथ तीखे छुरे के धार के समान अतीव दुर्गम है। इस कारण इसका अतिक्रमण करना दुस्साध्य है।" इस श्रुति-वाक्य के द्वारा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि, यह पथ अत्यन्त दुर्गम तथा दुरतिक्रमणीय है। फिर वेदान्त यह भी कहते हैं कि यह पथ दुर्गम होने पर भी मनुष्य को हताश नहीं होना चाहिए—

**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**
(कठोपनिषद)

अर्थात्—"अलसता का त्याग कर उठो, मोहनिद्रा से जागो, श्रेष्ठ आत्मज्ञ

के पास जा कर आत्म-ज्ञान प्राप्त करो।" बेटा! इस सत्य-स्वरूप आत्मा को केवल युक्ति-प्रमाण द्वारा बुद्धिपूर्वक जानने से काम नहीं चलेगा। इसका अपरोक्ष करना होगा। इस संसार को हम जिस प्रकार स्पष्ट रूप से देखते हैं तथा सुख-दुःख, शोक-ताप, मानापमान स्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं, उससे भी स्पष्ट रूप से आत्मा का अपरोक्ष करना होगा। तभी हमारे सारे दुःख-अशान्ति की परिसमाप्ति हो जायगी और हम मुक्त हो जायेंगे।

इस आत्मा का तत्त्व श्रवण करना भी साधारण मनुष्य के भाग्य में प्राप्त नहीं है। क्योंकि इस तत्त्व का वक्ता और श्रोता संसार में दुर्लभ है। यदि अपनी पूर्व-जन्मार्जित सुकृति के कारण कोई इस आत्मतत्त्व का श्रवण करता भी है तथापि उस प्रकार के सहस्रों श्रोताओं के भीतर एक व्यक्ति को भी उस श्रवण में रुचि उत्पन्न होती है या नहीं यह सन्देहास्पद है। फिर रुचि-पूर्वक श्रवण करने वालों के सहस्रों में एक व्यक्ति को भी उस आत्मा की उप-लब्धि होती है या नहीं यह भी सन्दिग्ध है। अतः सर्वसाधारण के लिए यह आत्म-तत्त्व श्रोतव्य और बोध्यव्य नहीं है। इसी कारण वेदान्त कहते हैं—

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा।
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

(कठोपनिषद)

अर्थात्—"इस आत्मा का वक्ता (उपदेष्टा) दुर्लभ है और इसके प्राप्त करने वाला मनुष्य भी कुशल अर्थात् लक्षों मनुष्यों में कदाचित् कोई एक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है। इस आत्मा को समझा सके ऐसे आचार्य तथा उनके द्वारा उपदेश-प्राप्त अपरोक्ष ज्ञानी श्रोता भी दुर्लभ हैं।" गीता में श्री कृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात्—"सहस्रों मनुष्यों में कदाचित् एक पुरुष इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। फिर उन प्रयत्नशील अनेक सिद्धों में कदा-चित् कोई एक व्यक्ति मेरे अर्थात् आत्मा के यथार्थ तत्त्व से अवगत हो सकता है।" गोस्वामी तुलसीदास जी कहते थे—

चलन चलन सब कोई कहे, पहुँछे बिरला कोय।
एक कनक और कामिनी, दुर्लभ घाटी दोय॥

अर्थात्—"आत्माराम के समीप उपस्थित होने के लिए सभी की आकां होती है, परन्तु काञ्चन और कामिनी इन दो घाटियों का अतिक्रमण किये बि कोई उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता।" अतः अब तुम समझ गये हो कि, आत्मा मनुष्य के अप्राप्य या अबोध्य नहीं है। किन्तु दुष्प्राप्य और दुर्बोध्य है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इतना कह कर महात्मा अपने भावा विभोर होकर गाना गाने लगे—

सबे तोमाय देखिबारे चाय
केहो अन्तर दिके नाहि ताकाय।
तुमि के, कि भावे, आछो हे कोथाय,
ना जेने खोंजे अन्धेर न्याय॥
दुनियाते अज्ञ नर आछे जारा
नराकृति पशु हय सत्य तारा।
तादेर धने जने हृदय बाँधिये
दुःखार्णवे भासे सदाइ॥
शक्तो कोरे बाँधि कोमरेते भैला
केउ कभु नाहि पाय पुकुरेरि तला।
सबे धन जनेर भैला हृदये बाँधिये
तोमाके धरिते हात बाड़ाय॥
भोगेर पिपासा सदा थाके मने
ताइ तोमार देखा पाय ना साधारणे।
(सबेर) आत्मारूपे तुमि आछो अन्तरयामी
तबु अज्ञ खुँजे नाहि पाय॥

इसका आशय इस प्रकार है—

सब लोग तुम्हें देखना चाहते हैं परन्तु कोई अन्तर की ओर नहीं ताकता। तुम कौन हो, कैसे और कहाँ हो इसे न जानकर अन्ध के समान खोजते

हैं। दुनिया में जो अज्ञान के अन्धकार में हैं वे सचमुच नराकृति पशु हैं। वे धन जन छाती में बाँध कर दुःखार्णव में सदा तैरते रहते हैं। कमर में बेड़ा कस कर बाँध कर कोई तालाब का तला नहीं पा सकता। सभी लोग धन जन का बेड़ा हृदय में बाँध कर तुम्हें पकड़ने को हाथ फैलाते हैं। भोग की प्यास सदा मन में रहती है इस कारण साधारण मनुष्य तुम्हारा साक्षात्कार नहीं पाते। सभी के तुम अन्तर्यामी आत्मा रूप से विराजमान हो, तो भी अज्ञ जन तुम्हारा पता नहीं पाते।

फिर से महात्मा कहने लगे—जैसे पाठशाला के शिशु को एम० ए० कक्षा के विज्ञान और दर्शन के विषयों का उपदेश देने से वह उसके सामने अबोध्य प्रतीत होता है, फलस्वरूप उस श्रोता बालक तथा उपदेष्टा शिक्षक दोनों का ही समय वृथा नष्ट होता है, उसी प्रकार इस आत्म-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व का विषय भी है। आध्यात्मिक जगत के अज्ञ मनुष्य के निकट इस तत्त्व को प्रकट करने से वृथा श्रम मात्र ही होता है। यहाँ तक कि अनधिकारी के सामने यह आत्म-तत्त्व प्रकट करने से अधिकांश क्षेत्रों में फल विपरीत ही होता है। इस तत्त्व को साधारण के दुर्बोध्य होने से ही वेद के ब्रह्मज्ञ ऋषियोंने प्रकाशित करने का बार-बार निषेध किया है। जैसे—

राज्यं देयं धनं देयं याचतः कामपूरणम्।
इदमष्टोत्तरशतं न देयं यस्य कस्यचित्॥
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै।
मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते॥
गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन।

( मुक्तिकोपनिषद )

अर्थात्—"याचक को राज्य दिया जाय, धन दिया जाय और उसकी अभिलाषा को भी पूर्ण किया जाय, परन्तु ये १०८ उपनिषदें जिस-तिस को नहीं देनी चाहिए; नास्तिक, कृतघ्न, दुराचारी, मेरे (निज आत्मा के) प्रति श्रद्धाहीन, शास्त्र-तात्पर्य-ज्ञान-रहित, गुरु-भक्ति-विहीन व्यक्ति को भी नहीं देनी चाहिए। गुरु-सेवा-परायण, हितकारी, स्वास्थ्यवान, मेरे (आत्मा के) भक्त, सच्चरित्र,

सत्कुलोत्पन्न, बुद्धिमान, शिष्य को सम्यक रूप से परीक्षा कर १०८ उपनिष की विद्या प्रदान करनी चाहिए। इन सब सूक्ष्मादपि सूक्ष्म विषयों में स साधारण का मन प्रभावित नहीं होता, इस लिए ही जगद्गुरु शङ्कराचार्य भी कहा है—

शठानां धूर्तानां अश्रद्दधानानां नास्तिकानामुत्पथ-
गामीनामेतां विद्यां न प्रकाशयेत् ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(अज्ञानबोधिनी

अर्थात्—"जो लोग शठ, धूर्त, अश्रद्धापरायण और उत्पथगामी उन लोगों के निकट यह अध्यात्म विद्या प्रकट नहीं करनी चाहिए। जिस देवताओं पर परम भक्ति है और गुरु के प्रति अविचलित श्रद्धा है, महा लोग उन्हीं लोगों के निकट आत्म-विद्या प्रकट करें।" इसका तात्पर्य यह है कि यह आत्म-विद्या सबों से कहने पर उसकी शक्ति नष्ट हो जायेगी, ऐसा नहीं ऊपरोक्त दोष-विशिष्ट व्यक्तियों के निकट इन सब कठिन विषयों का व करके वृथा मूल्यवान समय नष्ट करना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है

भक्त—प्रभु! आप की बात से यह समझ रहा हूँ कि, ज्ञानी महापुरु सभी को आत्म-तत्त्व रूप सदुपदेश प्रदान नहीं करते। साधुओं में तो पक्ष पात नहीं है और न शत्रु-मित्र का भेदभाव या बुरे-भले का विचार ही है तिस पर भी सभी को सदुपदेश देकर सभी का उद्धार वे क्यों नहीं करते?

महात्मा—बेटा! सूर्य की किरण सभी स्थानों पर समान रूप से पड़ती है परन्तु शीशे पर जिस प्रकार वह प्रतिबिम्बित होती है, मृत्तिका पर उस प्रका नहीं होती; क्या यह दोष सूर्य का है या मृत्तिका का? अत्यन्त दुर्भिक्ष होने प भी लोग मरुस्थल में शस्य उत्पादन करने क्यों नहीं जाते?

भक्त—सैकड़ों चेष्टाएँ करने पर भी, केवल बालूराशिमय उस मरुभूमि में शस्य उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वृथा चेष्टा करके लोग परिश्रम और बी नष्ट नहीं करते।

महात्मा—अनधिकारी शिष्य का मन भी ठीक उस मरुस्थल की तर

है, इसलिए सहस्रों चेस्टाएँ करने पर भी उस अनधिकारी शिष्य में ज्ञान की उत्पत्ति की कोई सम्भावना नहीं है। चुम्बक जिस प्रकार केवल लोहे को ही आकर्षित कर सकता है, लकड़ी-पत्थर आदि को नहीं, ज्ञानी गुरु भी उसी प्रकार अधिकारी शिष्य को ही आकर्षित कर सकते हैं। भौंरा जिस प्रकार तेलचट्टे को अपने स्वरूप में परिवर्तित कर सकता है, दूसरे कीटों को नहीं, ब्रह्मज्ञ गुरु भी उसी प्रकार अधिकारी शिष्य को ही अपना स्वरूप बना सकते हैं, अनधिकारी को नहीं। अतः तुम सावहित चित्त से मेरे उपदेशों को श्रवण करो।

भक्त—प्रभु! तो मैं किस प्रकार उस आत्मा का दर्शन-लाभ कर सकता हूँ?

महात्मा—तुम्हारे मन की अज्ञानता या माया का आवरण विदूरित होने से ही तुम अपने आत्मा का दर्शन कर सकोगे। अज्ञानता या भ्रमरूप परदे से आवृत रहने के कारण ही तुम अपने अन्तरस्थ आत्मा का दर्शन नहीं कर सक रहे हो। अर्थात् 'मेरा' कहने से जगत् में जितनी वस्तुएँ या जितने शब्द हैं, वे सब जब तुम्हारे मन से समूल उत्पाटित होंगे तभी तुम अपने 'मैं' या आत्मा को देख सकोगे, उससे पहले नहीं। एक समय राजर्षि जनक ने महामुनि अष्टावक्र को सम्बोधन करके पूछा था—"हे प्रभो! किस प्रकार मैं आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्ति लाभ कर सकता हूँ, कृपा कर उसका वर्णन कीजिये।" उसके उत्तर में अष्टावक्र मुनि ने कहा था—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि॥

(अष्टावक्र-संहिता)

अर्थात्—"यदि तुम इस शरीर से आत्मा को पृथक करके, उस चैतन्य-स्वरूप में अवस्थान कर सको, तो अभी सुखी, शान्त और बन्धन-मुक्त हो सकोगे।" बेटा! सत्य-स्वरूप परमात्मा किस प्रकार की वस्तु है, सत्य किसे कहते हैं, वह वे लोग कभी नहीं जान सकते, जो सर्वदा ही माया के स्वप्न में रह कर पिता-माता, पत्नी-पुत्र और धन-सम्पद आदि को अर्थात् इस

दृश्यमान व्यवहारिक जगत् को सत्य समझ रहे हैं। काम, क्रोध, लो आदि के वश में जिन लोगों का हृदय मत्त है, जिन लोगों की कामिनी स्त्री-बुद्धि है और किसी भी द्रव्य में ममत्व-बुद्धि है, उन लोगों का इस माया बन्धन नहीं छूटता। इस विषय में गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

अर्थात्—"अज्ञान (आवरण विक्षेपादि शक्तियुक्त अविद्या) के द्वा नित्य प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानरूपी परमात्मा के मेघाच्छन्नवत् आवृत रहने के कारण जीव अपने परमात्म-स्वरूप के दर्शन में असमर्थ हो कर माया के मोह में मु हो जाता है।" ब्रह्मज्ञ कबीरजी शिष्यों को उपदेश देते समय कहते थे—

या कारण जग ढूँढ़िया, सो तो घटहि माहिं।
परदा किया भ्रम का, ताते सूझे नाहिं॥

अर्थात्—"जगत के जीवगण जिन (परमेश्वर) का अन्वेषण क रहे हैं, वह तो शरीर के भीतर ही विद्यमान हैं, परन्तु भ्रम रूप परदे आवृत रहने के कारण, मनुष्य उनका अपरोक्ष नहीं कर सकते।" बेटा तुम कह रहे हो—'मैं उस ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त करूँगा।' अच्छा, या तो बताओ, आकाश को किस प्रकार प्राप्त करोगे?

भक्त—आकाश तो सभी जगह है, मेरे चारों ओर भी व्याप्त है।

महात्मा—परमात्मा, परमेश्वर या ब्रह्म कहाँ नहीं है?

भक्त—सुनता हूँ, वह सर्वत्र हैं।

महात्मा—तो फिर प्राप्त वस्तु को पाओगे कैसे? जैसा एक पक्षी वा को आश्रय करके आकाश में उड़ते हुए घूम रहा था और कह रहा था— "आकाश कहाँ है, आकाश कहाँ है? सुना है, आकाश सर्वव्यापी है, प कहाँ है वह आकाश, दिखाई तो नहीं दे रहा है?" तुम जैसे साधारण अज्ञानी मनुष्य भी ठीक उस पक्षी की तरह माया-स्वप्न में रह कर, इ ब्रह्माकाश में मन-रूप वायु को आश्रय करके उडते हुए घूम रहे हैं और क रहे हैं—"सर्वव्यापी परमात्मा परमेश्वर कहाँ हैं, ब्रह्म कहाँ है? कैसे औ कहाँ जाने पर वह मिलेंगे? हम लोगों की मुक्ति भी कहाँ है?" यह कहते हुए यहाँ-वहाँ शास्त्रों में, मन्दिरों में, जल में, स्थल में, अनेक तीर्थों में औ

देश-देशान्तरों में सभी जगह केवल उस आत्मा और मुक्ति को ढूँढ़ते हुए, वे घूम रहे हैं। इसी का नाम माया है। उस पक्षी की तरह तुम लोग माया के गोरखधन्धे में पड़ कर अज्ञानता से, स्वयं ही नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभाव आत्मा हो—यह नहीं जान पा रहे हो। बेटा! आत्मा या मुक्ति दूसरी जगह कहीं भी नहीं है, अपने भीतर ही सब हैं। अपनी बनायी हुई रस्सी से स्वयं ही अपने को बाँध कर, अब वृथा चिल्ला रहे हो। यह बन्धन अब तुम्हीं को काटना होगा, दूसरी किसी जगह से कोई आ कर तुम्हें इस बन्धन से मुक्त नहीं करेगा। किसी को भी ऐसी शक्ति नहीं है। यह कहकर महात्मा अपने भाव में विभोर होकर गाने लगे—

सारा जगतेते परम ईश्वर, खुँजिये कोथाओ पेले ना पेले ना।
ताँहार भितरे डुबे आछो तबु तोमार ज्ञान हलो ना हलो ना॥
पाखी जेमन सदाइ आकाशेते उड़े, निज भ्रमे चाहे आकाश देखिबारे
तेमनि तुमि आत्माकाशे घुरितेछो, मनेर धाँधाय आत्मार देखाजे हलोना
सर्वचिन्ताहीन हले जाहा रय, परम ईश्वर ताँहाकेइ कय।
ताइ बलि तुमि मनेर बाहिरे, ना गेले ताँहाके कोथाओ पाबे ना।

इसका आशय इस प्रकार है—

सारे जगत में खोज कर कहीं तुम्हें परम-ईश्वर का पता नहीं मिला, उन्हीं के भीतर तुम डूबे हुए हो, तो भी तुम्हें ज्ञान नहीं हुआ। पक्षी जैसे आकाश में उड़ते हुए आकाश को देखना चाहता है वैसे तुम भी आत्माकाश में घूमते हुए मन के धोखे से आत्मा को देखना चाहते हो। सर्व चिन्ताहीन होने से जो रहता है उसी को परम ईश्वर कहते हैं। इसलिए कहता हूँ, मन के बाहर गये बिना उनका पता नहीं मिलेगा।

भक्त—भगवन्! माया-बन्धन किसे कहते हैं और वह कैसे पैदा होता है?

महात्मा—बेटा! आत्मा के विषय में तुम्हारे मन की जो अज्ञानता है, अर्थात् वह परमात्मा परमेश्वर कौन वस्तु है और यह साढ़े तीन हाथ देहधारी तुम ही कौन वस्तु हो, इस विषय में तुम्हारे मन की जो सम्पूर्ण अज्ञानता है, इसी से तुम्हारा मन परमात्मा को विस्मृत हो कर, अपने इस स्थूल शरीर पर ही 'यह शरीर ही मैं हूँ' इसी प्रकार आत्म-बुद्धि या 'मैं' का अभिमान कर रहा

है। इस देहाभिमान को ही माया-बन्धन कहते हैं। इस विषय श्रुति कहती है—

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।

अर्थात्—"मनुष्य जब तक सशरीर अर्थात् शरीर को 'मैं ही शरीर इसी प्रकार अभिमान करता रहेगा तब तक वह सुख-दुःख से अर्थात् माया सीमा से उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा।"

भक्त—यह माया-बन्धन किस प्रकार से छिन्न होगा? और कौन छिन्न करेगा?

महात्मा—बेटा! तुम्हारे पिता, माता, भ्राता, भगिनी, पत्नी, पुत्र कितना ही घनिष्ठ आत्मीय क्यों न हो कोई भी तुम्हारा यह माया का बन्ध छिन्न नहीं कर सकता। यह बन्धन तुमने स्वयं ही डाला है, इसलिए तु स्वयं ही अपने ही हाथों इसे छिन्न करना होगा। इस विषय में वेदान्त कहते

ऋणमोचनकर्त्तारः पितुः सन्ति सुतादयः।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन॥

अर्थात्—"पुत्र श्राद्ध और तर्पण आदि के द्वारा पितृ-ऋण से मुक्त है हैं, परन्तु अपना बन्धन छिन्न करने के लिए स्वयं के सिवाय और कोई न है। अतः अपने को बन्धन से मुक्त करने के लिए स्वयं ही प्रय करना होगा।"

मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःखमन्यैर्निवार्यते।
क्षुधादिकृतदुःखन्तु विना स्वेन न केनचित्॥

अर्थात्—"मनुष्य के सिर के बोझ के कारण दुःख दूसरों के द्वा निवारित हो सकता है, परन्तु भूख-प्यास आदि के कारण कष्ट सभी की अपनी चेष्टा से भोजन-पान आदि के सिवाय किसी दूसरे उपाय से दूसरे के द्वारा प्रशमित नहीं हो सकता।" माया-बन्धन के मोचन के विषय में भी ठीक उस प्रकार अपने प्रयत्न से आत्म-ज्ञान को प्राप्ति के द्वारा उस बन्धन को काटना होता है, नहीं तो किसी दूसरे उपाय से या दूसरे के द्वारा वह बन्धन नहीं कटता। अतः अपने पुरुषकार द्वारा विवेक और वैराग्य के बल से आत्म ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान मिलने पर ही माया-बन्धन विदूरित हो जाता है।

भक्त—दयामय ! मैं किस पथ का अवलम्बन करने से वह आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकूँगा, कृपा-पूर्वक अब उसका ही वर्णन कीजिये।

महात्मा—बेटा ! मनुष्य उत्पन्न होते ही अपनी देह से पृथक इस दृश्यमान संसार को द्वैतभाव से देखता है। क्रमशः उमर की वृद्धि के साथ-साथ घर-द्वार, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि जो कुछ दिखाई पड़ता है, सभी को वह अपने शरीर से पृथक रूप से देखता है। इस प्रकार आहार-विहार में मन सदा ही बाहरी जगह के साथ द्वैत भाव से खेलने में मत्त रहता है। इस कारण अज्ञानावस्था में जीवन के प्रारम्भ में ही मनुष्य कभी अन्तर्जगत् के उस अद्वैत आत्म-ज्ञान की चरम अवस्था की उपलब्धि नहीं कर सकता। इसी कारण आत्म-ज्ञान-पिपासु व्यक्ति को पहले ही श्रोत्रीय (वेद-वेदान्तज्ञ) तथा आत्मज्ञ गुरु का उपदेश और वेदान्त आदि सत् शास्त्र का उपदेश शिरोधार्य करते हुए, तीव्र पुरुषकार का अवलम्बन करके ऐकान्तिक आग्रह के साथ ज्ञान-पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा, और साथ-साथ अपनी स्वाधीन बुद्धि (व्यवहारिक जगत् की वैषयिक बुद्धि नहीं, आन्तरिक सूक्ष्म बुद्धि), चिन्ता तथा विचार-शक्ति का विकास करना होगा। क्रमशः इस पथ पर चलते हुए उसे प्रतीत होगा, मानो सत्य की कुछ-कुछ उपलब्धि हो रही है। ज्ञान-विचार की जैसी शास्त्र प्रदर्शित प्रणाली है, उसे अपने गुरु के उपदेशानुसार सिर झुका कर मान लेना होगा, तथा शरीर-मन-वाणी के द्वारा गुरुदेव की सेवा में सदा रत रहना होगा, परन्तु यदि वह अपनी अज्ञानावस्था में बार-बार युक्ति चाहने लगे तथा अपनी वैषयिक बुद्धि के ऊपर निर्भर रह कर चलने लगे, तो उस शिष्य को सत्योपलब्धि या आत्म-ज्ञान-लाभ सुदूरपराहत ही रहेगा। अपनी सेवा के द्वारा गुरु को प्रसन्न कर क्रमशः उनसे देहतत्त्व, मनस्तत्त्व और आत्मतत्त्व जान लेना होगा। यहाँ विशेष रूप से स्मरण रखना होगा कि मनुष्य के मन के पुराने संस्कार नये संस्कारों को कभी आने देना नहीं चाहते। इस कारण पहले गुरु-मुख से तत्त्वोपदेश सुनते समय मन के पुराने संस्कारों के साथ नये संस्कारों का संग्राम चलता रहता है। उस संग्राम में युक्ति-प्रमाण के द्वारा, उन दोनों के भीतर जो विजयी हो सके, मन पर उसी का अधिकार हो जाता है। सत्य की ही विजय सुनिश्चित है। इस समय वह समझ सकेगा

कि सत्संग और गुरुदेव के संग में रह कर सदुपदेश श्रवण करते-करते मन ज्यों ज्यों नये-नये शुभ संस्कारों के द्वारा परिपुष्ट होगा त्यों-त्यों पुराने मि कुसंस्कार क्रमशः अन्तर्हित होते जायेंगे। सबसे पहले गुरु-वाक्य-श्रवण-कार्य ही प्रधान कर्तव्य मानना चाहिए, क्यों कि ठीक-ठीक श्रवण न होने से उ अनन्तर होने वाले मनन-कार्य नहीं चल सकता। इस कारण ज्ञान-राज्य उसका प्रवेश भी नहीं हो सकता। अतः ज्ञान-पिपासु व्यक्ति का पहले आत गुरु के समीप जाकर आत्म-तत्त्व का श्रवण करना कर्तव्य है। इस विषय भगवान् शङ्कराचार्य भी कहते हैं—

श्रवणं मननं ध्यानं ज्ञानानाञ्चैव साधनम्।

अर्थात्—"श्रवण, मनन और ध्यान ये तीन ही आत्मज्ञान के साधन हैं

भक्त—प्रभु! आप बार-बार कहते हैं, ठीक-ठीक श्रवण करना चाहि और श्रवण-कार्य सबको नहीं होता—इसका आशय मैं नहीं समझ सका, क्यों किसी से बात करते ही हम उसे सुन सकते हैं, तो इसमें ठीक-ठीक श्रवण क्या अर्थ है?

महात्मा—बेटा! मामूली श्रवण का नाम श्रवण नहीं है, क्यों उन्मत्त पुरुष के श्रवण के समान उसका कोई फल नहीं होता। अतः कि प्रकार का शब्द कान में पहुँचने से ही वह श्रवण नहीं कहा जा सकता बाहर का शब्द कर्ण द्वारा मन में संयुक्त होकर बुद्धि के समीप पहुँचता है, तब बुद्धि तन्मय होकर उस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में बार बार विच करने लगती है। इसी का नाम यथार्थ श्रवण है। और जहाँ श केवल कान में प्रविष्ट हुआ, पर मन या बुद्धि ने उस पर लवलीन हो उसके अर्थ के विषय में कुछ चिन्ता या विचार नहीं किया वहाँ जान चाहिए कि श्रवण का कार्य नहीं हुआ है। मान लो तुम अपने गाँव के कु प्रतिष्ठित पुरुषों के साथ किसी महात्मा के समीप बैठकर धर्म-विषय उपदेश सुन रहे हो। ऐसे समय रहीम नाम का एक मजदूर, जिसने दिन पहले तुम्हारे यहाँ कुछ काम किया था और जिसके कुछ पैसे बाकी आकर तुमसे बोला—"बाबूजी, मेरे पैसे दे दीजिये।" सुनते ही तुम्हारा म उस आदमी पर नाराज हो गया और तुच्छता के साथ तुमने उससे क

दिया—"अरे, तू यहाँ भी आ गया ! अब जा, कल आकर घर से ले लेना।" उसी समय तुम्हारे मन में ऐसा भाव उत्पन्न हुआ कि, यह आदमी कैसा दुष्ट है, इतने भद्र पुरुषों के सामने मामूली थोड़े से पैसे के लिए इसने मुझे अपमानित किया ! उधर तुम्हारा उत्तर सुनकर रहीम आगबबूला होकर कहने लगा—"आप कैसे आदमी हैं जी, आज सात दिन से आज दूँगा, कल दूँगा, कहकर टालमटोल कर रहे हैं और इधर हम पत्नी-पुत्र सहित दो रोज से फाका कर रहे हैं। इसलिए मेरे पैसे मुझे अभी मिलने चाहिए। पैसा बिना लिये मैं यहाँ से कभी न जाऊँगा।" रहीम के मुख से ऐसी बातें सुनकर तुम्हारे मन में क्रोध की आग भभकने लगी और तुमने क्रोध के आवेश में कह दिया—"अरे दुष्ट, मेरे असल और सूद की मद में तुझसे कितना लेना है, याद है ? उसमें एक पैसा देने का नाम नहीं, उलटे दो चार आने पैसे के लिए तू इतने भद्र पुरुषों के सामने मुझे अपमानित करता है ! अच्छा, मैं तुझे एक पैसा भी नहीं दूँगा, देखूँ तू क्या कर सकता है।" इधर रहीम एक तो भूख की ज्वाला से बेचैन था उसके ऊपर अपनी मेहनत की मजदूरी नहीं मिलेगी सुनकर आपेसे बाहर हो गया और अंगुली हिलाकर चिल्लाते हुए कहने लगा—"दुष्ट मैं हूँ या तू ? तेरे समान नारकी कौन है जो गरीब का दुःख नहीं समझता। तेरे ऐसा बेरहम और धोखेबाज आदमी मैंने कभी नहीं देखा, तेरे जैसे शैतान से मैं अपने पैसे जरूर वसूल करूँगा। तब देख लेना मैं कैसा रहीम हूँ।" ऐसे गाली-गलौज करते हुए वह वहाँ से चला गया। उसके थोड़ी देर बाद और कुछ समय तक धर्मचर्चा के अनन्तर सभा टूट गयी। तुम भी अपने घर की ओर चले। परन्तु तुम्हारे मन में रहीम की बातें चूभ गयी थीं, तुम सोचने लगे—'आज बड़ा ही कुप्रभात है, न मालूम आज किसका मुँह देखकर सो कर उठा था कि इतने विशिष्ट व्यक्तियों के सामने अपमानित होना पड़ा। मेरे सारे जीवन में जो नहीं हुआ था, आज वही हुआ।' इन बातों के विषय में तुम (तुम्हारा मन) चिन्ता कर रहे हो और साथ ही साथ रहीम की लाल-लाल आँखें और अँगुली हिलाना आदि का चित्र तुम्हारे मन-रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस तरह सोचते हुए तुम अपने घर गये। घर जाने पर भी निरन्तर उस रहीम की घटना के विषय में तुम तन्मय होकर सोच रहे थे। तुम सोचने लगे—

'रहीम ने तो मुझे अपमानित किया अब किस उपाय से उसका बदला चुकाउं
कल ही मैं अपने पावने के लिए नालिश कर दूँगा और डिग्री होने पर उस
जमीन-जायदाद, घर-दुआर सब निलाम पर चढ़ा कर खरीद लूँगा।' अब तु
विचार लो कि एक महात्मा के समीप बैठकर, रहीम को घटना के पह
और पीछे तुमने अनेक धर्म-तत्त्वों की बातें सुनी थीं। परन्तु उन सब
विषयों की बात या महात्मा की सुन्दर मूर्ति तुम्हारे मन में क्षण भर के लि
भी उदित नहीं हो रही है, बल्कि उसके स्थान में केवल रहीम की बात त
उसको क्रोध-भरी मूर्ति ही तुम्हारे मनोदर्पण में प्रतिभासित क्यों हो रही है
अतः स्पष्ट हुआ कि महात्मा की सभा में बैठकर जितनी बातें तुमने सुनी
उनमें केवल रहीम की बातों को ही तुम्हारे मन ने विशेष रूप से श्रवण कि
था। इसी कारण उसी में तन्मय होकर वह उस सुनी हुई बात का ही बार
मनन कर रहा है। दूसरी ओर पद्म-पत्र के जल के समान महात्मा के वाक्
रूप जल तुम्हारे मन-रूप पद्म-पत्र में लगा ही नहीं था, फलस्वरूप उसी स
वहाँ से ढुलक कर गिर गया था। अतः सिद्धान्त यह निकला कि, श्रुत विषय
सम्बन्ध में अपनी अनिच्छा से या अनजान में भी मन में बार-बार
चिन्ता होती रहती है उसी का नाम मनन है, साधारण चिन्ता का नाम मन
नहीं है। इसलिए शास्त्र का भी उपदेश है—"वह श्रवण श्रवण ही नहीं, जिस
अपने आप मनन नहीं होता।"

अतः निश्चय हुआ कि, महात्मा के पास जाने पर भी तुम्हें उनकी कि
बात का भी श्रवण नहीं हुआ, क्योंकि उस विषय में मनन नहीं हो रहा है
दूसरी ओर रहीम की बात का ही तुम्हें श्रवण हुआ है, क्योंकि बार-बार उस
का मनन तुम्हें इच्छा न रहते हुए भी हो रहा है।

मुमुक्षु व्यक्ति के अतिरिक्त किसी साधारण मनुष्य को गुरु-वाक्य और
वेद-वाक्य का उस प्रकार श्रवण नहीं होता। इस कारण मनन भी नहीं होता।
गुरु-वाक्य और वेद-वाक्य का श्रवण कर जब उस रहीम की बात की भाँति
तुम्हारा मन उसे ग्रहण करेगा तभी वह श्रवण मनन में परिणित होकर तुम्हारे
मनुष्य-जन्म को सफल करेगा। परन्तु उस मनन के प्रवाह में समय-समय पर
सांसारिक अनिवार्य कार्य से बाधा उत्पन्न हो सकती है। वह चिन्ता-प्रवाह

जब तैल-धारा के समान * अविच्छिन्न गति से चलता रहेगा, तभी उसे निदिध्यासन रूप से जानना चाहिए और यही उपासना की अन्तिम सीमा है। क्योंकि केवल श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा ही अधिकारी व्यक्ति आत्म-दर्शन कर कृतार्थ हो सकता है।

भक्त—भगवन् ! यदि कोई ज्ञान-पिपासु व्यक्ति गुरु-सुश्रूषा द्वारा मनोयोग के साथ तत्त्वोपदेश का श्रवण करता है तो क्या उस उपदेश के श्रवण-मात्र से ही उसे आत्म-दर्शन हो जायगा ?

महात्मा—महामते ! पूर्व पूर्व जन्मों में जो मनुष्य ज्ञान-राज्य में बहुत दूर तक अग्रसर हुआ था, उस प्रकार के उत्तमाधिकारी को एक बार श्रवण करते ही ज्ञान का स्फुरण या आत्म-ज्ञान का लाभ हो सकता है। परन्तु साधारण मनुष्यों को केवल एक बार तत्त्व-श्रवण से अनेक जन्मों की अज्ञानराशि किसी तरह भी दूर नहीं होती। उनका ज्ञान-लाभ समय सापेक्ष है।

भक्त—जैसे किसी के गले में सोने का हार रहने पर, जब तक उसे उस विषय में अज्ञानता रहती है, तब तक उसे सोने का हार है यह मालूम नहीं होता सही, परन्तु जब सुनने में आता है कि, गले में सोने का हार है, तभी सोने के हार का ज्ञान होता है। उसी प्रकार परमात्मा के विषय में जब तक अज्ञानता रहती है, तब-तक उनके विषय में उपलब्धि नहीं हो सकती, परन्तु बाद में क्या आत्म-तत्त्व-श्रवण मात्र से ही आत्मोपलब्धि होकर मोक्ष लाभ हो सकता है ?

महात्मा—बेटा ! इस स्थूल-नेत्र-दृष्ट वस्तु हार के विषय में कहते ही स्थूल नेत्र द्वारा वह दृष्टि-गोचर हो सकता है सही, परन्तु तुम्हारा आत्मा तो कोई मायिक जगत का स्थूल पदार्थ नहीं है कि, आत्म-तत्त्व श्रवण मात्र से ही इस जड़ चर्म-चक्षु के द्वारा उसे दृष्टिगोचर कर सकोगे। इस आत्मा को

---

* अर्थात् किसी पात्र से जल की धारा गिराते रहने से, वह बीच बीच में छिन्न हो जाती है, परन्तु उसी तरह तेल की धारा डालते रहने से वह कभी छिन्न नहीं होती, अविराम गति से और अविच्छिन्न भाव से ही जिस प्रकार बहती है, ठीक उसी प्रकार।

ज्ञान-नेत्र द्वारा दर्शन करना या उपलब्धि करना होगा। सर्वसाधारण ज्ञान-चक्षु का ही सम्पूर्ण अभाव है। अतः उस ज्ञान-चक्षु का प्रस्फुटित में ही सुदीर्घ समय का, ऐसा कि अनेकानेक जन्मों का भी प्रयोजन होता इसलिए श्रवण मात्र से ही सभी का मानस साक्षात्कार होगा, ऐसा नियम नहीं है। जो उत्तमाधिकारी हैं, उन्हें श्रवण-मात्र से ही आ साक्षात्कार हो सकता है, परन्तु मन्दाधिकारियों को वह किसी भी प्रकार नहीं होता। तुम अपने मन की जिस एकाग्रता-शक्ति को बहिर्जगत परिचालित कर बाहरी ज्ञान प्राप्त कर रहे हो, उसी एकाग्रता शक्ति को बहि से लौटाकर अन्तर्मुखी करना होगा। इसमें अनेक दिनों के अभ्यास आवश्यकता है। क्योंकि बाल्यकाल से ही तुम लोगों को केवल बाहरी वस्तु में मनोनिवेश करने की शिक्षा मिली है, अन्तर्जगत में मनोनिवेश करने शिक्षा नहीं मिली है। परन्तु, तुम लोग अति संक्षेप से और बहुत अल्प स में ही सिद्धि-लाभ करना चाहते हो, यह दुराशा मात्र है। पीठमाला त भी कहते हैं—

**आत्मा देहो मनो यत्र साधितं तच्च शिक्षितम्।**

"जिस शिक्षा से आत्मा, मन और देह इन तीनों का उत्कर्ष सा होता है, वही प्रकृत शिक्षा है।" हे सुव्रत! जगत् का कोई भी कार्य क्यों हो, क्या कभी कोई दीर्घ काल साधना न करके सिद्धि-लाभ कर सका है अतः एक विषय लेकर गुरु के आदेशानुसार दीर्घ काल साधना करने पर उस फल अवश्य ही प्राप्त होगा। इसलिए वेदान्त ने भी कहा है—

**अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति।**
**विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम्॥**

अर्थात्—"अनेक जन्म उपासना करने पर आत्मतत्त्व के विचार इच्छा होती है। उसके बाद विचार द्वारा माया (अज्ञान-संस्कार) के विनष्ट हो पर, स्वयं नित्यशुद्धरूप में अवस्थित होते हैं।" बेटा! केवल श्रवण ज्ञानोत्पत्ति का दृष्ट कारण है ऐसा नहीं, मनन और निदिध्यासन आदि दृढ़ता सम्पादनार्थ जो सब नियम पालन किये जाते हैं, वे भी ज्ञान कारण हैं। मनन आदि की दृढ़ता साधित न होने से कभी ज्ञान नहीं

सकता। इसलिए आसनादि भी ज्ञान के साधन हैं। जिन व्यक्तियों को तीव्र विचार-वैराग्य का और धारणा-शक्ति तथा गुरुवाक्य के सार मर्म की उपलब्धि करने की शक्ति का अभाव है, उन शक्तियों का अर्जन करने के लिए ही उन लोगों को बार-बार जन्म लेने का प्रयोजन है। इस विषय में सांख्यशास्त्र कहते हैं—

श्रवणमपि बहुजन्मकृतपुण्येन भवति।
तत्रापि श्रवणमात्रान्न वैराग्यसिद्धिः किन्तु साक्षात्कारात्।
साक्षात्कारश्च झटिति न भवति।
अनादिमिथ्यावासनाया बलवत्त्वात्। किन्तु योगनिष्ठया।
योगे च प्रतिबन्धबाहुल्यमित्यतो बहुजन्मभिरेव वैराग्यं
मोक्षश्च कदाचित् कस्यचिदेव सिध्यति।

अर्थात्—"बहु जन्मार्जित पुण्य के बल किसी पुरुष को विषय-भोग-जनित दुःखादि का श्रवण हुआ करता है, तथापि श्रवण-मात्र से वैराग्य सिद्ध नहीं होता। परन्तु दुःखादि का साक्षात्कार अर्थात् उपलब्धि होने से ही वैराग्य हुआ करता है। अर्थात् सांसारिक दुःखादि का श्रवण करने से उससे विरक्ति नहीं भी पैदा हो सकती। परन्तु दुःखादि का भोग करने से उस विषय में अनायास ही वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। यह दुःख-साक्षात्कार ( उपलब्धि ) भी शीघ्र नहीं होता। क्योंकि अनादि वासना सर्वदा बलवती है, वह वासना दुःख को दुःख के रूप में समझने ही नहीं देती। दुःख भोग करके लोग एक बार संसार से विरक्त होने पर भी कुछ दिनों के बाद वह वासना फिर उसे संसार में अनुरक्त बना देती है। केवल योगानुष्ठान के द्वारा ही दुःख का साक्षात्कार ( अनुभूति ) होकर वैराग्य उत्पन्न होता है। परन्तु इस योगानुष्ठान में भी अनेक विघ्न हैं। उन विघ्नों को दूर करने में भी अनेक जन्मों की साधना की आवश्यकता है। अतः अनेकानेक जन्मों के अनन्तर कदाचित किसी के भाग्य में वैराग्य और मोक्ष हो सकता है।" सुतरां एक बार जन्म होने से ही वैराग्य नहीं हो सकता। इसलिए पुनः पुनः जन्मों की आवश्यकता होती है!

बेटा! धान ऊपर के स्थित एक अति साधारण आवरण भूसी को दूर करके कोई भी एक आघात से उसके भीतर के चावल को निकालने में समर्थ नहीं

होता । इसलिए धान को ढेंकी में डालकर बार-बार अनेक आघातों से ऊपर के आवरण भूसी को छुड़ा कर चावल निकालना पड़ता है । अतः विचार करके देखो कि, तुम्हारे मन-रूप धान के, पहले के अनेकानेक जन्मों संस्कार-रूप अज्ञानता के राशिकृत आवरण क्या एक बार मात्र तत्त्व-श्रवण आघात से ही दूर हो सकता है ? वह सम्पूर्ण असम्भव बात है । अतः एक मात्र आत्मतत्त्व-श्रवण से ही आत्मज्ञान लाभ नहीं हो सकता । उपासना और निदिध्यासन ये दो शब्द, अन्तर्निहित आवृत्तिगुणविशिष्ट मानसी क्रिया में प्रयोजित होते दिखाई पड़ते हैं । किसी पदार्थ की चिन्ता या ध्यान मन की क्रिया के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है । अगर वह मन में बार-बार अवर्तित करके अर्थात् यत्नपूर्वक बार-बार मन में उत्थापित किया जाय, तो उसे ही 'आवृत्तिवि- गुण मानसी क्रिया' कहते हैं । इस प्रकार मानसी क्रिया को ही लोग उपासना कहते हैं, ध्यान कहते हैं, चिन्ता भी कहते हैं और शास्त्रकारगण उसी प्रकार आत्मविषयिणी मानसी क्रिया को निदिध्यासन कहते हैं । जिस प्रकार 'शिष्य गुरु की उपासना कर रहा है,' 'प्रार्थी राजा की उपासना कर रहा है' 'विरहिणी नारी पतिचिन्ता या पतिध्यान कर रही है' इत्यादि स्थलों में उपासना, ध्यान चिन्ता आदि शब्दों का ही प्रयोग होता है । अकस्मात् कभी एक बार स्मरण करने पर, वह ध्यान, चिन्ता, उपासना या निदिध्यासन नहीं कहा जाता । इसी

इसीसे समझना चाहिये कि, जब शास्त्र मे ध्यान, उपासना और निदि- ध्यासन शब्दों का प्रयोग हुआ है, तब उनमें बार-बार आवृत्ति अर्थात् बार-बार चिन्ता है ही । अतः एक बार मात्र तत्त्व के श्रवण या एक बार चिन्ता करने को ध्यान नहीं कहते, और ध्यान के बिना ज्ञान का भी लाभ नहीं हो सकता । जिस परिमाण में और जितने दिनों में मन हृदय में विनाश प्राप्त होता है अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ज्ञान के द्वारा ब्रह्म-विषयक ज्ञान होता है उतने दिनों तक और उस परिमाण में मन का निरोध ( वायु का निरोध नहीं ) करना होता है । मन का यह निरोध ही ज्ञान है, यही ध्यान है और यही मोक्ष का साधन है । अतः इसके समान पुरुषार्थ और कुछ भी नहीं है । मनोनिरोध के अतिरिक्त दूसरा जो कुछ है, वह केवल विवादकारी अभियोक्ताओं के अभियोग का विषय मात्र है, उसका उच्चारण करना केवल कण्ठश्र

मात्र है। शास्त्र-ग्रन्थों के भीतर उसके सिवाय और जो कुछ है, वह केवल शब्द-राशि मात्र है।

भक्त—प्रभु ! तत्त्वज्ञ महात्माओं का सत्सङ्ग करके आत्मज्ञान-लाभ होने पर ही यदि विषय-भोग-वासना निवृत्त होकर परम-शान्ति-लाभ होता तो यह जानकर समझकर भी मनुष्य महात्माओं के पास से परम शान्ति-दायक आत्म-ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त करते ?

महात्मा—बेटा ! इस जगत में जितने मनुष्य देख रहे हो, साधारणतया वे उत्तम, मध्यम और अधम ऐसी तीन श्रेणियों के हैं। उनमें से सर्वनिम्नस्तर के अधम मनुष्य केवल अपनी देह और अपने घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-रत्नादि एवं प्रकार के भोग्य पदार्थों को ही देखते हैं और अपने शरीर तथा भोग के उपकरण उन सब धनजनादि के कायम रहकर भोग के सहायक होने पर ही वे अपने को कृतार्थ समझते हैं। इसीलिए वे कल्पित मूर्त्तियों की पूजा करते हैं और उन मूर्तियों के निकट 'धन देहि, जनं देहि, यशो देहि', रव से धनैश्वर्य की प्रार्थना करते रहते हैं। देह, मन, आत्मा या दृश्यमान जगत्, इन सबों के मूल में कोई सूक्ष्म तत्त्व है, या उसका ज्ञान प्राप्त करना एकान्त कर्त्तव्य है, इस भाव की कोई बात ही उन लोगों के मनोराज्य में स्थान नहीं पाती। इसी प्रकार के किसी व्यक्ति को यदि आत्मतत्त्व की बात श्रवण करायी जाय, तो वह उसके कान में अत्यन्त अरुचिकर ही प्रतीत होगी। यदि कभी वे किसी से उस प्रकार की तत्त्व-कथा श्रवण भी करते हैं, तो वे सोचते हैं, 'इन बातों से हम लोगों को कोई भी लाभ नहीं है, क्योंकि इनसे धन-सम्पद के लाभ की कोई भी आशा नहीं है, अतः वृथा ही समय नष्ट करना है।' फिर कोई सोचता है कि, 'संसार के समस्त कार्यादि सम्पन्न करके इन सब बातों के श्रवण करने का मेरे पास समय ही कहाँ है ?' इस तरह नाना प्रकार से ही उस तत्त्वकथा का प्रत्याख्यान करके, वे जीवन भर केवल शिश्न (जननेन्द्रिय) और उदर की चिन्ता में तन्मय रहते हैं। इन शिश्नोदर-परायण मनुष्यों को लक्ष्य करके ही गोस्वामी तुलसीदासजी कहते थे—

तुलसी ये संसार में, कहाँ से भक्ति भेंट।
तीन बात से लटपट है, दमड़ी चमड़ी पेट॥

अर्थात्—"हाय हाय! संसार में लोग धन, शिश्न और उदर के इन तीनों की बात ही ओत-प्रोत भाव से सोचते-सोचते आठों प्रहर अतिवा कर रहे हैं। अतः हे तुलसी! इस भवधाम में रह कर कितने दिनों में कैसे भक्ति का दर्शन मिलेगा?" बेटा! जिस प्रकार रोगी बहुत दिनों के रोग-मुक्त होकर अन्न-पथ्य करते समय उत्तम चावल, दाल, रोटी, आदि मुँह में डालकर भी 'कड़ुआ' कहकर फेंक देता है, क्योंकि ये उसके मुँह में उस समय अत्यन्त विस्वाद ही लगते हैं; भवव्याधिग्रस्त वि भोगासक्त मनुष्य भी ठीक उसी प्रकार हैं। अर्थात् रोगी को जिस प्रकार मैं अरुचि होती है, विषय-भोगी को भी उसी प्रकार आत्मतत्त्व में अ होती है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति को जिस प्रकार विषयभोग में वैराग्य रहता है, पिपासु को भी उसी प्रकार आत्मतत्त्व में वैराग्य रहता है। इसी कारण भोग-पिपासुओं के लिए तत्त्वकथा स्वेच्छा से सुनना तो दूर की बात है, लोगों को तत्त्वकथा श्रवण कराना ही अत्यन्त कष्टसाध्य है।

भक्त—प्रभु! तो क्या उन अधम व्यक्तियों को तत्त्वज्ञान प्राप्त करके भी प्रकार से परम-शान्ति-लाभ नहीं हो सकता?

महात्मा—क्यों नहीं हो सकता? बेटा! अन्न-पथ्य में अरुचिग्रस्त रोगी क्या पथ्य सेवन कराने का प्रबन्ध नहीं किया जाता? अरुचिग्रस्त रोगी जिस प्रकार अन्न में रुचि उत्पन्न कराने के लिए थोड़ी भाजी, थोड़ी दाल, तिक्त, थोड़ा मछली का रसा या अमावट की चटनी आदि नाना प्रकार खाद्यों द्वारा भात खिलाकर, पहले दिन ५ कौर, दूसरे दिन ८ कौर, उसके और भी किसी नयी प्रकार की सुस्वादु तरकारी आदि प्रस्तुत कर १५ कौर खिलाया जाता है, तब उस रोगी को भी क्रमशः भात खाने में कुछ उत्पन्न होने लगती है; इसी प्रकार वह अरुचिग्रस्त रोगी जब प्राय महीने बाद पहले की तरह अपना स्वाभाविक खाद्यादि खाने में समर्थ होता तब क्रमशः उसका शरीर स्वस्थ और शक्तिशाली होनेपर उसके चित्त यथेष्ट आनन्द मिलता रहता है; इन भवव्याधिग्रस्त रोगियों के लिए भी प्रकार का प्रबन्ध करना होगा। इन रोगियों के लिए एकमात्र पथ्य और श वर्धक 'टानिक' औषध ही 'तत्त्वामृत' है। इस तत्त्वामृत के पान करने से ही

सर्वप्रकार की भवव्यधियाँ दूर होकर अमरत्व और चिरशान्ति का लाभ होगा, इसमें विन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है। परन्तु इस तत्त्वामृत में ही उन लोगों की सम्पूर्ण अरुचि है। जिस प्रकार ज्वर-मुक्त रोगी को पहले दिन भात खाने में तिक्त स्वाद ही अत्यन्त उपादेय प्रतीत होता है, इसीलिए उस समय उसे लड्डू आदि अति उपादेय मिठाई भी न देकर, उसमें रुचि उत्पन्न कराने के लिए उस तिक्त-स्वाद-विशिष्ट खाद्य की ही व्यवस्था की जाती है; उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ महात्मा भी माया-मोहग्रस्त, विषय भोग में अत्यन्त आसक्त, भवरोगियों के लिए उनके मन के रुचिकर विषय-सम्बन्धी नाना प्रकार की सुमधुर आख्यायिकाएँ प्रस्तुत करके, उनमें वह तत्त्वामृत मिश्रित करके उपदेश देते हैं। इन भवरोगियों को महात्माओं के साथ रहकर, उनके त्याग की महिमा देखते-देखते और भोग तथा त्याग के विषय के उपदेश थोड़ा थोड़ा करके श्रवण करते-करते क्रमशः त्याग और भोग में पार्थक्य के विषय में सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है और उन महात्माओं के निकट त्याग की बात सुनने से भी मन में कुछ रुचि उत्पन्न होती है। इसी तरह उन भवरोगियों के मन में जितना ही तत्त्वामृत पान करने की रुचि बढ़ेगी, महात्मा लोग भी ठीक उसी परिमाण में कल्पित आख्यायिका का अंश घटाकर उस तत्त्वामृत के भाग ही अधिक परिमाण में मिश्रित कर भवरोगी को पिलाते हैं, अर्थात् श्रवण कराते हैं। बेटा! इस तत्त्वामृत की मादकता की शक्ति अत्यन्त प्रबल है। सत्संग के गुण से एक बार उस भवरोगी के मन में ज्ञानामृत की मादकता चढ़ी है, सारे जीवन में भी वह मादकता किसी प्रकार भी छूटने की नहीं है। इसलिए तब वह उस भवव्याधि से मुक्त होकर चिर-शान्ति लाभ करता है। वेदान्त भी कहते हैं—

ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत।
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति॥

(जावाल-दर्शनोपरिषद)

अर्थात्—"जो व्यक्ति एक बार भी ज्ञानामृत-रस का आस्वादन कर चुका है, वह सभी कार्यों का त्याग कर उसके प्रति ही धावित होता है।"

भक्त—मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों का स्वरूप क्या है ?

महात्मा—मध्यम स्तर के व्यक्तियों के मन में इस प्रकार एक की धारणा कि, परमेश्वर या परमात्मा हैं और उन्हीं के द्वारा सृष्ट किया हुआ दृश्यमान जगत् है। अतः ये लोग जगत् और भगवान या परमात्मा दोनों को ही अपने मन की कल्पना के बल देखते हैं और उन दोनों से सम्बन्धित बातें भी बीच-बीच में श्रवण करते हैं। क्योंकि उन लोगों की कुछ रुचि भी है। सर्व शेष तृतीय सोपान के ज्ञानी एक मात्र परमात्मा या ब्रह्म को ही देखते हैं—जगत् नहीं देखते। जैसे तुम दर्पण के सामने खड़े होने पर उस दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब का जिस प्रकार कोई दूसरा अस्तित्व नहीं देखते, अपने अस्तित्व की ही प्रतिबिम्ब के आकार के रूप में उपलब्धि करते हो; उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ भी इस दृश्यमान जगत् का कोई पृथक अस्तित्व नहीं देखते, एक मात्र परमात्मा का ही अस्तित्व देखते हैं। इन ज्ञानियों की बात ही श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देते समय वशिष्ठ मुनि ने कहा है—

"ज्ञानी की दृष्टि में जगत् कहाँ है ? केवल अज्ञानी ही जगत् देखते हैं।"

(योगवशिष्ठ)

इस विषय में महर्षि अष्टावक्र ने भी राजर्षि जनक से कहा था—

> येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै।
> निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति॥
> येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्।
> किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति॥

अर्थात्—"जिसने विश्व देखा है, वह विश्व नहीं है यह बात विचार करे परन्तु वासनाहीन व्यक्ति विश्व को देखकर भी नहीं देखता। कामनाहीन व्यक्ति उस प्रकार देखकर भी अस्वीकार करना अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने नेत्रपात मात्र किया है, परन्तु उसमें निर्लिप्त है। जिसने परमब्रह्म को देखा है, वह 'अहं-ब्रह्म' की चिन्ता करे, परन्तु जो एकमात्र ब्रह्म या आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं देखता, ऐसे निश्चिन्त व्यक्ति और क्या सोचेगा ? बेटा ! आत्मा ही ब्रह्म है, यह बोध जिसको हुआ है, उसको किसी चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से कहा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ (गीता)

अर्थात्—"योग के त्रिविध अधिकारी हैं। कोई कोई ध्यान-योग के द्वारा बुद्धि में आत्मा का दर्शन करते हैं, ये उत्तम अधिकारी हैं। दूसरे कोई प्रकृति-पुरुष के विवेक-रूप सांख्य-योग द्वारा आत्मदर्शन करते हैं, ये मध्यम अधिकारी हैं। अपर साधारण व्यक्तिगण कर्मयोग से आत्मदर्शन करते हैं, ये अधम अधिकारी हैं।



---

# आत्मज्ञ गुरु और सत्सङ्ग का प्रयोजन

भक्त—प्रभु! आपकी बातों से मेरे यह समझ में आया कि, उस 'मैं' या आत्मा का दर्शन मिलना अति दुष्कर है। परन्तु यह सुनने में आता हैं कि, वेद के ऋषियों में बहुत से लोग आत्मदर्शन करके आत्मज्ञ हुए थे। अतः उन लोगों ने किस पथ का अवलम्बन करके और किस उपाय से उस आत्मा का दर्शन किया था तथा आप ही कैसी कार्यशक्ति के बल आत्मा का दर्शन कर रहे हैं कृपा पूर्वक अब आप उसका मुझसे वर्णन कीजिये।

महात्मा—बेटा! सद्गुरु की कृपा के बिना किसी प्रकार से भी आत्मदर्शन नहीं हो सकता। जिन्होंने वेद-वेदान्तादि का अध्ययन करके उसका सार मर्म ग्रहण किया है और आत्मोपलब्धि की है, ऐसे आत्मज्ञ गुरु की कृपा के बिना किसी भी प्रकार से किसी को भी आत्मदर्शन नहीं हुआ है और न हो भी सकता है। जन्म से हरिभक्त महामति प्रह्लाद को भी 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान लाभ करने केलिए पर्वत ऋषि के पास जाकर ज्ञान-योग सुनना पड़ा था। स्वयं श्रीकृष्ण को सैन्धव मुनि के पास वेदान्त अध्ययन करके आत्मतत्त्व श्रवण करना पड़ा था। श्रीरामचन्द्र जी को महर्षि वसिष्ठ के निकट और शुकदेव को राजर्षि जनक के निकट आत्मतत्त्व श्रवण करना पड़ा था। ऐसे दृष्टान्तों का अभाव नहीं है। अतः कोई कितना ही बड़ा ब्रह्मज्ञ या आत्मज्ञ क्यों न हो, श्रीगुरु की कृपा के

बिना कोई भी यह तत्त्व उपलब्ध नहीं कर सका और न कर सकेगा। वेदान्त में भी कहा है—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

(वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"सद्गुरु की कृपा के बिना शब्दादि विषयों का परित्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान दुर्लभ है और सहजावस्था अर्थात् आत्मस्वरूप में अवस्थान दुर्लभ है।" अतः जो सम्यक ज्ञान की कामना करते हैं, उन लोगों को बहुत दिनों तक गुरु-सेवा करनी चाहिये। इसलिए सांख्य दर्शन ने स्पष्ट ही कहा है—

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत्।

अर्थात्—(जिस प्रकार इन्द्र ने गुरु-सेवा और गुरु के उपदिष्ट वाक्य के तात्पर्य निर्णायक विचार द्वारा आत्मज्ञान लाभ किया था) "उसी प्रकार प्रणाम, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और गुरु-सेवादि अनेक दिनों तक करने पर सिद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। गुरु-सेवादि न करने से दूसरे किसी उपाय से प्रकृत तत्त्वज्ञान का लाभ नहीं हो सकता।" बेटा! सद्गुरु की कृपा के बल जिसके मन में जितना गुरुत्व अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह उतने ही परिमाण में उस गुरु के गुरुत्व अर्थात् महिमा की उपलब्धि कर सका है। तुम स्वयं गुरु न होने पर, अर्थात् तुम्हारे भीतर गुरुत्व उत्पन्न न होने पर, अपने गुरुदेव का गुरुत्व (अर्थात् जन्मदाता पिता से भी गुरु श्रेष्ठ-पिता क्यों हैं वह) किसी प्रकार से भी समझ न सकोगे। आत्मज्ञान के बल जगत में जो श्रेष्ठ गुरु का स्थान अधिकार कर गये हैं, वे श्रीगुरु की असीम शक्ति के विषय में क्या कह गये हैं, वह मन लगा कर सुनो। जगद्गुरु शङ्कराचार्य कहते हैं—

तथापि शक्यते नैव श्रीगुरोः करुणां विना।
अपरोक्षयितुं लोके मूढैः पण्डितमानिभिः॥
अन्तःकरणसंशुद्धौ स्वयं ज्ञानं प्रकाशते।
वेदवाक्यैरतः किं स्याद् गुरुणेति न साम्प्रतम्॥
आचार्यवान् पुरुषो हि वेदेत्येवं श्रुतिर्जगौ।
अनादाविह संसारे बोधको गुरुरेव हि॥ (तत्त्वोपदेश)

अर्थात्—"यद्यपि जीव-ब्रह्म के ऐक्यज्ञान के विषय में नाना प्रकार शास्त्र और वेद प्रमाणादि वर्तमान हैं, तथापि श्रीगुरु की कृपा के बिना पण्डिताभिमानी मूढ़ लोग कदापि अपरोक्ष ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। यदि कहो कि, 'अंतःकरण शुद्ध होने से ही परमब्रह्म का तत्त्व-परिज्ञान हो सकता है, अतः वेदवाक्य तथा श्रीगुरु की कृपा की आवश्यकता क्या है?' यह सज्जनों का अभिमत नहीं है। केवल पण्डिताभिमानी, तत्त्वज्ञान-विहीन व्यक्तियों का ही यह कहना है कि, 'एकमात्र वेद-वाक्यार्थ की पर्यालोचना करने से ही परब्रह्म स्वयं प्रकट होते हैं।' जो ब्रह्मविज्ञान-पारदर्शी हैं वे कदापि इसे स्वीकार नहीं करते। श्रुति में कथित है कि, इस अनित्य संसार में गुरु ही एकमात्र ज्ञानदाता हैं, गुरु के अतिरिक्त और कोई ज्ञान-दान नहीं कर सकता। आचार्यवान् पुरुष ही ब्रह्म-विज्ञान प्रदान कर सकते हैं, वे ही ब्रह्मविज्ञान लाभ के कारण हैं, क्योंकि, गुरु ही वेद-वाक्यार्थ के बोधक हैं। वेद-वाक्यों के अर्थ का बोध न होने पर, कुछ भी फल नहीं होता और गुरु के बिना उसके प्रकृत मर्म का बोध भी नहीं हो सकता। अतः इस अनित्य संसार में श्रीगुरु ही ब्रह्मविज्ञान-लाभ के कारण हैं।" गोस्वामी तुलसीदास जी कहते थे—

सबहि घट में हरि बसें, ज्यों गिरिसुत में ज्योति।
ज्ञान-गुरु चकमक बिना, कैसे प्रकट होति॥

अर्थात्—"जिस प्रकार पाषाण मात्र में ही वह्नि है, तद्रूप निखिल जीव-शरीर में ही परमेश्वर हरि विद्यमान हैं। परन्तु चकमक पत्थर के बिना दूसरे साधारण पत्थर में जिस प्रकार अग्नि का प्रकाश नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी गुरु के बिना भी साधारण मनुष्यों में परमेश्वर प्रकट नहीं होते। अतः आत्मज्ञ गुरु के उपदेश बिना, किसी भी प्रकार से आत्मदर्शन नहीं हो सकता।" आत्मज्ञ कबीर जी कहते थे—

क्या हिन्दू क्या मुसलमान क्या ईसाई जैन।
गुरु-भक्ति पूरन बिना ना पावे चैन॥ (कबीर)

अर्थात्—"क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, क्या जैन कोई भी धर्मावलम्बी व्यक्ति गुरु-भक्ति के बिना कभी भी आनन्द-लाभ करके मुक्ति नहीं पाता।"

गुरुभक्ति दृढ़ करके पीछे और उपाय।
बिन गुरु भक्ति मोह-जग कभी न काटा जाय ॥ (कबीर)

अर्थात्—"पहले गुरुभक्ति सुदृढ़ करो, उसके बाद दूसरे उपायों का अवलम्बन करना। यदि गुरुभक्ति दृढ़ न हो, तो संसार के माया-मोह को छिन्न करने का और कोई उपाय नहीं है।"

मोटे जब लग जाय नहीं झीने कैसे जाय ?
ताते सब को चाहिये नित गुरु-भक्ति कमाय ॥ (क

अर्थात्—"जब तक स्थूल बन्धन काटा नहीं जाता तब तक सूक्ष्म क किसी भी प्रकार से भी काटा नहीं जा सकता। अतः हर समय गुरु-भक्ति अ करके स्थूल बन्धन को काटने के लिए प्रयत्न करना सभी का कर्त्तव्य है।

समदृष्टि सद्गुरु किया, मेटा भरम बिकार।
जहँ देखूँ तहँ एकहि, साहेब का दीदार ॥ (क

अर्थात्—"सद्गुरु की कृपा से मेरे भ्रम-विकार आदि समस्त अपस होकर समदृष्टि मिलती है। मैं जिधर ही दृष्टिपात करता हूँ, उधर ही उ कृपा का परिचय मिलता है।"

भेदी लिया साथकर, दिनहि वस्तु लखाय।
कोटी जनम का पन्थ था, पलमें पहुँचा जाय ॥ (क

अर्थात्—"सद्गुरु ने उपदेश द्वारा तत्त्व-पदार्थ दिखा दिया है। गु प्रसाद से, अब कोटि जन्म का पथ एक पल में पहुँच सकता हूँ।"

कबीर गुरु-भक्ति बिन राजा गाधा होय।
माटी लादे कुम्हार की घास ना देवे कोय ॥ (क

अर्थात्—"कबीर कहते थे, गुरु-भक्ति-शून्य नृपति गधे के समान हैं। प्रकार गधे को कुम्हार की मिट्टी ढोकर ले जाना पड़ता है, परन्तु कोई उसे भी नहीं देता, उसे मैदान में चरकर खाना पड़ता है, गुरु-भक्ति हीन राजा उसी प्रकार है, जानना।" आत्मज्ञ दादू साहब गुरु से करबद्ध प्रा करते थे—

तीरथ बरत मैं न करूँ, करूँ देव न पूजा।
मनसा वाचा कर्मणा मेरे और न दूजा ॥ (दादू सा

अर्थात्—"हे गुरु ! देवार्चना या तीर्थ-व्रतादि दूसरे किसी धर्म कार्य में मेरी मति न हो। मैं कायमनोवाक्य से केवल तुम्हारी सेवा और अर्चणा कर सकूँ।"

पति की ओर निहारिये, औरन सों क्या काम ?
सभी देवता छोड़ कर, जपिये गुरु का नाम ॥ (दादू साहब)

अर्थात्—"केवल मात्र पति के ऊपर अर्थात् गुरु की ओर निहारते रहो, दूसरे किसी की भी आवश्वकता नहीं है। दूसरे सभी देवताओं को छोड़ कर केवलमात्र गुरुदेव का नाम जपो और उनकी सेवा करो।"

घट समुद्र लख ना पड़े, उठें लहर अपार।
दिल-दरिया समरथ बिना, कौन उतारे पार॥ (दादू साहब)

अर्थात्—"शरीर असीम सागर के तुल्य है, अर्थात् असंख्य बार शरीर धारण करना पड़ रहा है, उसका तट दिखाई नहीं पड़ता, फिर उसमें अपार तरङ्गें हैं, अर्थात् मन में नाना प्रकार की वासना-कामना आदि के भाव समुत्थित होते हैं। यह मन-रूप सागर सद्गुरुरूप सर्वशक्तिशाली कर्णधार के बिना और कौन पार करने में समर्थ होता है ?" बेटा ! ब्रह्मज्ञ गुरु की कृपा लाभ करना भी सभी के भाग्य में नहीं होता, सद्गुरु अति दुर्लभ हैं। इसीलिए वेदान्त कहते हैं—

दुर्ल्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

अर्थात्—"जगत में मनुष्यत्व ( ज्ञान-लाम ), मुमुक्षुत्व ( ज्ञान-लाभ की पिपासा ) और महापुरुष का आश्रय-लाभ, ये तीन ही दुष्प्राप्य हैं। पूर्व पूर्व जन्मों की प्रचुर सुकृतियों के बिना इनका लाभ करना सुदुरूह है।"

अतः शास्त्र-प्रमाण और गुरूपदेश के बिना विश्वास दृढ़ नहीं होता है। व्यास-पुत्र शुकदेव भी शान्ति सुख लाभ करने में समर्थ नहीं हुए थे—जब तक न गुरूपदेश प्राप्त कर सके थे। अतः जब तक न तुम्हारा मन परमज्ञान लाभ करने में समर्थ होता है, तब तक तुम गुरु-शुश्रूषा, साधु-संगत और सत् शास्त्र, इन तीनों के अभ्यास में तत्पर रहना। इस अभ्यास की तत्परता के फल-स्वरूप ही मनुष्य आत्मदर्शन लाभ करते हैं।

———

# गुरु-विचार

भक्त—प्रभु, आपके उपदेश सुनकर मेरे मन में बहुत दिन पहले का प्रश्न उदित हो रहा है। हमारे हिन्दू-समाज में 'गुरुता-व्यवसाय' के नाम एक व्यावसाय चल रहा है। अर्थात् एकमात्र शिष्यों का वित्ताहरण कर ही गुरुमहाशयगण अपने-अपने परिवार का प्रतिपालन करते हैं। और प्रकार से, किस कौशल से, शिष्यों के पास से कुछ आहरण कर सकेंगे, चिन्ता में वे गुरु सदा तन्मय रहते हैं। विशेषतया यह व्यवसाव गुरुओं शिष्यों के बीच में सुदीर्घकाल से वशंपरम्परागत चली आ रही है। यह गुरु व्यावसाय शास्त्रानुमोदित या युक्तियुक्त है या नहीं इस सम्बन्ध में मैं कुछ स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ।

महात्मा—बेटा! गुरु-शिष्य का सम्बन्ध शास्त्रनुमोदित है सही, परन्तु परम्परागत गुरु और वंशपरम्परागत शिष्य होने की प्रथा बहुत दिनों हमारे हिन्दू-समाज में चले आते रहने पर भी, वह शास्त्र-बहिर्भूत है। वेदान्त से आरम्भ करके, किसी भी शास्त्र में इस प्रकार वंशपरम्परागत गुरु-शि के होने का कोई विधान नहीं है। यह अशास्त्रीय और अयौक्तिक कुप्रथा हिन्दू-समाज में इस प्रकार बद्धमूल हो गयी है कि, यदि कोई पैतृक गुरु-कुल उपयुक्त दीक्षादाता गुरु न पा कर दूसरे किसी तत्त्वज्ञ महापुरुष को गुरु के पर वरण कर ले, तो समाज के अन्यान्य अज्ञानी व्यक्ति उसे धिक्कार देकर 'गुरुत्याग महापाप' अथात् पैतृक गुरु-वंश में कोई भी मूर्ख या चण्डाल प्राप्त अथवा पशु-तुल्य व्यक्ति ही क्यों न रहे, उसे ही गुरु-वरण करना हो यही है अज्ञानियों की धारणा। किस रूप से गुरु-विचार और शिष्य-विचार कर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करना होगा, उस सम्बन्ध में शास्त्रों ने अने स्थलों में ही विशेषरूप से उपदेश दिया है। तिस पर भी तुम लोग एक भी चिन्ता करके या शास्त्रादि अध्ययन करके समझने की चेष्टा नहीं करते गुरु और शिष्य का सम्बन्ध क्यों स्थापित किया जाता है? इसीलिए तुम लो

के समाज में यह कुसंस्कार इतना दृढ़बद्ध हो गया है। दूसरी ओर तुम्हारे अज्ञानान्ध गृही व्यावसायी गुरु लोग भी 'गुरुत्याग महापाप' बोधक दो चार श्लोक तोते की तरह कह कर, मूर्ख शिष्यों को नाना प्रकार से प्रबोध देकर अपने गुरुता-व्यवसाय को कायम रखते आये हैं।

भक्त—प्रभु! किस प्रकार व्यक्ति गुरु हो सकते हैं और क्यों हम गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वह आप से श्रवण करने की इच्छा करता हूँ।

महात्मा—एकमात्र त्यागी और विरागी ब्रह्मज्ञ पुरुष ही गुरु-पद-वाच्य हो सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। अतः ऐसे विरागी पुरुष के मन में छल,बल, कौशल आदि से शिष्य के वित्तापहरणरूप व्यवसाय में कभी स्पृहा उत्पन्न नहीं होती; इसलिए गुरुता कभी व्यवसाय नहीं हो सकती। व्यवहारिक जगत में जिस प्रकार स्कूल-कालेज के गुरु ( शिक्षक ) विद्याध्यापन द्वारा छात्रों का ज्ञानोदय करा देते हैं, पारमार्थिक जगत में भी उसी प्रकार दीक्षादाता गुरु शिष्यों को विवेक और विचारशक्ति उत्पन्न कर, तत्त्वज्ञान द्वारा ब्रह्मत्व या विष्णुत्व लाभ करा देते हैं। अतः एकमात्र ब्रह्मत्व प्राप्त होकर परम शान्ति लाभ करने के लिए ही ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के साथ इस प्रकार गुरु-शिष्य-सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। परन्तु वर्तमान काल के लोग इसके सम्पूर्ण विपरीत अवस्था धारण किये हुए हैं। प्रायः हिन्दू किसी ब्रह्मज्ञ महात्मा को देखते ही कहते हैं, 'यह ब्रह्मज्ञानी हैं, सन्ध्या-पूजा, देव-देवी की आराधना कुछ भी नहीं करते, अतः विरुद्धधर्मावलम्बी हैं।' यहाँ तक कि मैंने अपनी आँखों से देखा है कि, अनेक शिक्षित हिन्दू भी ऐसे ब्रह्मज्ञानी को नास्तिक समझकर, उनका उपदेश सुनने के लिए भी उनके पास नहीं जाते। अब सोचकर देखो कि, हमारे देश में वेद-वेदान्त की चर्चा बिलकुल न रहने से, आज भारत-वासी किस प्रकार अज्ञानान्ध हो गये हैं। एकमात्र इस वेदान्त-विज्ञान के अभाव से ही भारतवासी प्राण-हीन मृत-प्राय अवस्था में परिणत हो गये हैं।

भक्त—गुरु के पुत्र अनुपयुक्त होने पर भी वही गुरु होंगे और शिष्य का पुत्र अनधिकारी होने पर भी वही शिष्य होगा, इस प्रकार असंगत विधान शास्त्र में न हो तो लोग इस प्रकार वंशपरम्परागत गुरु-शिष्य-सम्बन्ध क्यों स्थापित करते हैं?

महात्मा—बेटा ! यह सहज में ही तुम लोग समझ सकते हो, अनुपयुक्त से जिस प्रकार शिक्षक का पुत्र शिक्षक, वकील का पुत्र वकील या जज का जज नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार गुरु का पुत्र भी वेद-वेदान्त और ब्रह्म से रहित होने से कभी गुरु-पद के अधिकारी नहीं हो सकता। अनेक में यह दिखाई पड़ता है कि, अनेक युगों पहले कहीं कोई व्यक्ति सिद्ध म हो गये थे, इस लिए अनेक युगों बाद भी अब उन्हीं के वंशधर सुचतुर व्यक्ति गुरु स्वयं अज्ञानान्ध होकर भी अज्ञानी गृहियों से 'मैं उस सिद्ध पुरुष का वं हूँ' कहकर परिचय देते तुए शिष्य-संख्या की वृद्धि कर अपने गुरुता-व्यवसाय मांग बढ़ा रहे हैं ! इसीलिए वे केवल कान फूँक कर दीक्षामन्त्र देकर शिष्य परित्राण कर रहे हैं ! भगवान नारायण ने वराह, मीन आदि अनेक रूप ध किये थे, क्या इसीलिए अभी उस मीन और वराह आदि के वंशधरों (म और शूकरों) की कोई पूजा करता है ? अतः सिद्ध महात्मा के वंश में पशु व्यक्ति जन्म ग्रहण करने पर उसी के पास से ही दीक्षा-ग्रहण करना होगा, विधि तुम लोगों को कहाँ मिली ? जिस प्रकार लोग जमींदारी, तालुकदारी भूसम्पत्तिका पुत्र-पौत्रादि उत्तराधिकारी के रूप में वंशपरम्परा से भोग-दखल रहते हैं, शिष्यवित्तापहारी लोभी गुरु भी ठीक उसी प्रकार नियम बना वंशपरम्परा से शिष्यरूप वित्त-भोग कायम रखते चले आ रहे हैं। स्थालों में केवलमात्र गुरु का ही दोष है ऐसा नहीं, शिष्य ही प्रधान दोषी क्योंकि शिष्य ही शास्त्रवाक्य की अवमानना करके, पुरुषानुक्रम से केवल गुरु पुत्र को ही गुरु-वरण करते चले आ रहे हैं। परन्तु यदि शास्त्रानुसार वि करके उपयुक्त गुरु को ही तुम लोग वरण करो, तो तब वे लोभी, अज्ञ (गुसाईं) भी समझेंगे कि, वास्तविक गुरुता की शिक्षा अर्थात् तत्त्वज्ञान ल करके ही गुरु बनना चाहिए !

भक्त—भगवन् ! गुरु-विचार किसे कहते हैं और किस प्रकार से ही निर्वाचन किया जा सकता, उस सम्बन्ध में हमें उपदेश प्रदान कीजिये।

महात्मा—वेटा ! जो शिष्य को स्वर्ग सुख का प्रलोभन न देकर, पूर्ण मु या निर्वाण मुक्ति के लिए आत्मतत्त्व का उपदेश देकर शिष्य के मन के अज्ञा न्धकार का नाश करने में समर्थ हैं और जिन्हें निस्सन्दिग्ध रूप से जीवा

और परमात्मा में अभेद-बुद्धि प्राप्त हुई है ; अर्थात् जो मन की सीमा के बाहर जाकर परमात्मा का अपरोक्ष कर सके हैं वे ही प्रकृत सद्गुरु हैं। जो दृष्टि और वचन के द्वारा शिष्यदेह में शिवशक्ति-समायोग कर सकते हैं, वे ही गुरुपदवाच्य हैं। परन्तु आजकल तीनों समय सन्ध्या-वन्दनादि और स्तव-स्तुति का पाठ करने से ही वह नैष्ठिक उच्चस्तर के गुरुदेव रूप से तुम्हारे समाज में गण्य होते हैं! शास्त्र कहते हैं—

कर्मी गुरुर्न कर्तव्यः कर्त्तव्यं महदाश्रयम्।
पाषाणे क्रियते नौकाः न तरन्ति न तारयेत्॥ (तन्त्रसार)

अर्थात्—"जो व्यक्ति सन्ध्या-वन्दनादि बाह्यिक कर्मकण्ड के अनुष्ठान में व्यापृत रहता है, उसका किसी भी प्रकार से गुरु के पद में वरण करना संगत नहीं है। क्योंकि वह अब तक कर्मकाण्ड के मार्ग पर ही चल रहा है, शेष सीमा पर नहीं पहुँचा है। इसीलिए जिन्होंने बाह्यिक कर्मादि का त्याग करके, ज्ञान-मार्ग में पहुँच कर आत्मज्ञान लाभ किया है, वैसे महान् व्यक्ति का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए। प्रस्तर से बनी नाव जिस प्रकार जल में तैरने में असमर्थ है, दूसरे किसी व्यक्ति का पार करना तो दूर रहे, खुद ही अपने भार से डूब जाती है, कर्मी गुरु भी उसी प्रकार शिष्य को मार्ग बतलाकर मायामय संसार-सागर का पार करके मुक्त करना तो दूर रहे, वह अपना मार्ग न पहचान सकने के कारण अज्ञानान्धकार में अन्ध हो कर कर्म-सागर में डूबा रहता है।"

भक्त—दयामय! किस प्रकार दोष-विशिष्ट व्यक्ति को गुरु नहीं किया जा सकता, उस सम्बन्ध में भी उपदेश देकर मेरे मन का अज्ञानान्धकार दूर कीजिये।

महात्मा—इस सम्बन्ध में भी शास्त्र में ही वर्णित है—

पशुं शठञ्च धूर्तञ्च तस्करञ्च विशेषतः।
धर्मार्थकाममोक्षार्थी गुरुत्वेन च नार्चयेत्॥
(नारदीयपुराण)

अर्थात्—"धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-कामी व्यक्ति, ज्ञानहीन, मूर्ख, शठ, धूर्त और विशेष करके चौर्यवृत्ति-अवलम्बी (चोर) की कभी गुरु के रूप में पूजा न करें।"

शिवत्री चैव गलत्कुष्ठी नेत्ररोगी च वामनः।
कुनखी श्यावदन्तश्च स्त्रीजितोऽप्यधिकाङ्गकः ॥
हीनाङ्गः कपटी रोगी बह्वाशी बहुजल्पकः।
एतैर्दोषविहीनो य सद्गुरुः शिष्यसम्पदः ॥ (नारदीयपु

अर्थात्—"श्वेतकुष्ठी, गलत्कुष्ठी, चक्षुरोगी, खर्वाकृति ( वामन ), कु रोगग्रस्त, कुत्ते की तरह दन्त ( दूर-दूर और नुकीला दन्ताग्र )-युक्त, स्त्री अधीन, एकविंशति अङ्गुली आदि अधिक अङ्ग विशिष्ट, अङ्गहीन, क रोगी ( दमा, तपेदिक आदि स्थायी रोगग्रस्त ), बहुभोजी, बहुवाक्य ( वाचाल, बकवादी ), इन दोषों से रहित सद्गुरु ही शिष्य के सम्पद हैं अ इन दोषों से रहित गुरु ही ग्रहण करने योग्य हैं।" रुद्रयामल में लिखा है—"ब्रह्मानन्द-रहित, रूपवर्जित ( जिसका चेहरा सुन्दर नहीं है, देखकर भक्ति-श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, शान्त-मूर्ति नहीं है ), निन्दित, रोगी ( कह तपेदिक, कोढ़ आदि रोगोंसे ग्रसित), क्रूर और महापातकी गुरु वर्जन करने है। शिवत्री ( सफेद कोढ़ वाला ), लोकहिंसक, सर्वदा अर्थग्राही, स्वर्ण-वि चोर, निर्बुद्धि, बहुत नाटे, श्यावदन्त ( कुत्ते की तरह दाँत वाले ), शा वर्जित, कलङ्क-विशिष्ट, नेत्ररोगी, परदारगामी, अशुद्ध-भाषी, स्त्रैण, अधिगु ( इकीस अङ्गुली विशिष्ट ), कपटाचारी, विनष्ट ( धर्मभ्रष्ट ), बहुजल्पक ( सुख की आशा से मन में अनेक जल्पना-कल्पना करता है ), बह्वाशी ( अधिक भोजन करता है ), कृपण, मिथ्यावादी, अशान्त, भक्तिहीन, बहु युक्त व्यक्ति की कभी किसी भी तरह से भी पूजा न करें अर्थात् गुरु के रूप वरण न करें।" हे सुमते ! अनेक शास्त्रों में ही इस प्रकार गुरु-विचार कर बाद में गुरुग्रहण करने के लिए बार-बार आज्ञा दी गयी है। शिष्य के वि पहारक गुरु इस भूमण्डल में अनेक ही हैं, परन्तु शिष्य के हृदय का ता अपहारक गुरु बहुत ही दुर्लभ है। ज्ञानमय अञ्जनशलाका द्वारा अज्ञा तिमिरान्ध जीव का चक्षु जिनके द्वारा उन्मीलित हुआ है, उन्हीं गुरु को प्रणा है। इसे याद रखकर, अर्थात् यहाँ तक गुरु का दायित्व समझकर साधक ब्रह्मज्ञानी पुरुषका ही गुरु रूप से वरण करें। उसके बाद केवल शिष्य भक्ति के प्रभाव से ही निश्चय सिद्धि-लाभ होगा।

भक्त—महात्मन् ! तो किस प्रकार के लक्षण-विशिष्ट व्यक्ति को गुरु किया जा सकता है ?

महात्मा—वही कह रहा हूँ, श्रवण करो। तंत्र-शास्त्र कहते हैं—

शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान्।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्॥
आश्रमध्याननिष्ठश्च तन्त्रमन्त्रविशारदः।
निग्रहानुग्रहशक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥ (तन्त्रसार)

अर्थात्—"स्थिरमना, जितेन्द्रिय, सद्वंशीय, विनयी, पवित्र-वेशधारी, शुद्धाचारी, ख्यातनामा, शुचि, दक्ष, उत्तम बुद्धिमान, आश्रमाचार-सम्पन्न, ब्रह्म-ध्यान में तत्पर, शास्त्रादि और मन्त्रादि में अभिज्ञ, निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ, ज्ञानी व्यक्ति ही गुरु के रूप में अभिहित होते हैं।" वेदान्त कहते हैं—

अयमधिकारी श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति।
(वेदान्तसार)

अर्थात्—"इस प्रकार अधिकारी शिष्य, वेद-वेदान्त-शास्त्रज्ञ और ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाकर उनका अनुगत बने।"

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥
(मुण्डकोपनिषद)

अर्थात्—"गुरु के उपयुक्त उपहार हाथ में लेकर, शिष्य अपना ज्ञान या आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए, वेद-वेदान्तादि-शास्त्रज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास उपस्थित हो। वह विद्वान् गुरु भी समीप में उपस्थित, प्रशान्तचित्त, जितेन्द्रिय शिष्य को विधिवत् ब्रह्मविद्या का उपदेश दें, जिससे उस अक्षर पुरुष को सत्य रूप में वह जान सके। गीतामुख से भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है :—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थात्—"आत्मज्ञान-सम्पन्न आचार्यों के पास जाकर, प्रणाम करके सेवा-शुश्रूषा करो और संसार के सम्बन्ध में विविध प्रश्नों की जिज्ञासा द्वारा आत्मज्ञान को जान लो। तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हारी सेवा से प्रीत होकर ब्रह्मतत्त्व-ज्ञान-विषयक उपदेश देंगे।" वेदान्त ने कहा है,—

उपसीदेत् गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम्।
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः॥

अर्थात्—"जो ज्ञानवान्, वेदवेत्ता, निष्कलुष, कामवर्जित, ब्रह्मविदों के हैं और संसार-बन्धन से परित्राण करने में समर्थ हैं, शिष्य तादृश गुरु के उपनीत होकर उनकी आराधना करके उन्हें प्रसन्न करे।"

ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्॥
तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्राह्वप्रश्रयसेवनैः।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेत् ज्ञातव्यमात्मनः॥

अर्थात्—"बाद में उन परब्रह्मगतैकप्राण, शान्तिगुणशील, काष्ठहीन-अग्नि-सन्निभ, अहेतुक कृपानिधि, भक्त और साधु के मित्र-स्वरूप गुरुदेव भक्ति के साथ उपासना करके नम्रता, विनय और शमादि द्वारा उन्हें प्रसन्न तथा उनका अनुवर्ती होकर अपना मनोगत वक्तव्य और ज्ञातव्य आत्मज्ञान वि प्रश्न करे।" इस सम्बन्ध में भक्तवीर तुलसीदास जी ने भी कहा है—

सद्गुरु पाये भेद बताये, ज्ञान करे उपदेश।
तब कोयला का मयला छूटे, जब आग करे परवेश॥

अर्थात्—"जिस प्रकार अग्नि में पतित होने पर कोयले की सारी (कुत्सित् काला रंग) विदूरित होकर, वह तेजोमय (अग्नि) के रूप में परि होता है, उसी प्रकार सद्गुरु के इस ब्रह्माण्ड के सभी कार्याकार्यों का (गुणागुण) जताकर, शिष्य को सुपात्र में परिणत करके ज्ञान के विषय सुष्ठु उपदेश प्रदान करने पर, शिष्य के हृदयस्थित (काम, क्रोध, लो मोहादि) समस्त मैल अपसारित होकर ज्ञानाग्नि प्रकाशित होती है।" गु नमस्कार के मन्त्र ही कहते हैं—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ( गुरुगीता )

अर्थात्—"अज्ञानरूप तिमिरान्ध व्यक्ति का चक्षु ज्ञानरूप शलाका द्वारा जो उन्मीलित कर देते हैं ( वही गुरु हैं ), उनको नमस्कार करता हूँ।"

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ( गुरुगीता )

अर्थात्—"अखण्ड मण्डलाकार में जो चराचर समस्त विश्व को व्याप्त करके विराजमान है उस ब्रह्म पद की प्राप्ति का पथ जो प्रदर्शन करा देते हैं ( वही गुरु हैं )। उनका नमस्कार करता हूँ।"

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ( गुरुगीता )

अर्थात्—"गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु, गुरु ही महेश्वर हैं और गुरुदेव ही परमब्रह्म-स्वरूप हैं; ऐसे गुरु को नमस्कार करता हूँ।"

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै इष्टदेवस्वरूपिणे ।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति विषं संसार-संज्ञकम् ॥ ( गुरुगीता )

अर्थात्—"गुरुदेव इष्टदेव-स्वरूप हैं; जिनके वाक्यरूप अमृत की शक्ति से, संसार-विष विनष्ट होता है, उन्हें प्रणाम करता हूँ।" अतः हे सुमते ! इन युक्ति-प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट ही समझ रहे हो कि, ब्रह्मविद व्यक्ति ही एकमात्र गुरु हो सकते हैं। मन्त्रविद व्यक्ति शिष्य का कान फूँक कर कभी गुरु नहीं हो सकता। इसलिए जो व्यक्ति अभी परा विद्या द्वारा ब्रह्मज्ञान लाभ नहीं कर सका है उसके द्वारा कैसे तुम लोगों के ज्ञानचक्षु के उन्मीलित होने की आशा से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करते हो ? अतः जो व्यक्ति सर्वदा अपने पत्नी-पुत्रादि भोग्य विषयों की चिन्ता में तन्मय रहता है, वह कभी गुरु के रूप में पूजित नहीं हो सकता; क्योंकि एक भोगी कैसे दूसरे भोगी का गुरु होगा ? शिष्य की अपेक्षा गुरु में अधिक गुरुत्व रहना चाहिए। नहीं तो किस गुण से वह पूजित होगा ? इसीलिए शास्त्र ने भी बार-बार कहा है—'शिष्य होगा भोगी और गुरु होंगे त्यागी।' भोगी शिष्य विषय-भोग में शान्ति न पाकर, अविच्छिन्न शान्ति के अन्वेषण में त्यागी गुरु के पास जाय और तब वह गुरु भी शिष्य के प्रति

कृपाकर नाना शास्त्रों और युक्तियों द्वारा उपदेश दें। 'त्याग से शान्ति, भो... शान्ति कभी नहीं' इस प्रकार शास्त्र के अनेक स्थानों में ही अनेक प्रकार आदेश और उपदेश हैं।

भक्त--प्रभु! आपके वाक्य और शास्त्रोपदेश द्वारा मैंने मन में ... करके देखा कि, वर्तमान युग में हमारे गुरु-पुरोहितों के वंश में पूर्वोक्त सद्‌गुण-सम्पन्न गुरु-पुरोहित का मिलना अतीव दुष्कर है, इसका कारण क्या ...

महात्मा--बेटा! ईसाइयों के पादरी साहब (गुरु) को बड़ा विद्वान ... पड़ता है, नहीं तो वह 'पादरी साहब' नहीं कहला सकता। हमारे हिन्दुओं ... प्राचीन काल में उस प्रकार का ही नियम था। उस काल में कोई मूर्ख या ... व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता था। परन्तु वर्तमान युग के गुरु-पुरोहितों के ... शास्त्रीय आदेशों के सम्पूर्ण विरुद्ध भाव से बरतने के कारण ही, दिन-प्रतिदिन ... अधःपतित हो रहा है। आजकल गुरु-पुरोहितों के वंश के लड़कों में जो ... तेजोवीर्यशाली, मेधावी और तीक्ष्ण बुद्धिमान हैं, अधिक अर्थोपार्जन की आ... से उनको बी० ए०, एम० ए०, एल-एल० बी० या आई० सी० एस० आदि ... कराकर जज या मैजिस्ट्रेट के कार्य में दिया जाता है। बाकी जो लड़के ... मूर्ख तथा ज्ञान-बुद्धि-मेधा-शक्ति-हीन, अकर्मण्य, अव्यवहार्य रूप में रहते ... गुरु-पुरोहित लोग उन्हें ही शिष्यों और यजमानों के चराने के कार्य में नि... करते हैं! क्योंकि गुरुवंश में कोई भी जघन्य, हीन प्रवृत्तिका, चण्डालत्वप्राप्त ... घोर विषयासक्त, अज्ञानी या मूर्ख होने पर भी, शिष्य के कान फूँक सकने से ... वार्षिक रुपये तथा शिष्य-रूप वित्त बहाल रहता है और उससे भी अधिक ... व्यक्ति के भी पुरोहित के स्वाँग में यजमान के घर जाकर पुष्प-पत्रादि देते ही ... से देवता आकर टपक पड़ते हैं! फलतः उस पुरोहित को भी दक्षिणा तथा सी... पिसान मिल ही जाता है। इस प्रकार शिष्यों और यजमानों से वसूल कर... अर्थोपार्जन करने में कुछ भी विद्या और बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती, ... उन गुरु-पुरोहितों को अच्छी तरह मालूम है। विशेषतया इस संसार में किसी ... व्यवसाय में कुछ न कुछ मूलधन और बुद्धि-शक्ति की आवश्यकता होती है ... उसका लाभालाभ भी अनिर्दिष्ट ही रहता है; परन्तु इस गुरुता और पौरोहित्य ... व्यवसाय में मूलधन की तो कोई आवश्यकता होती ही नहीं, बल्कि इसकी ...

सहज और बिन-पूँजी का व्यवसाय पृथ्वी में दूसरा नहीं है। इसमें नुकसान तो है ही नहीं, जो कुछ मिलता है वह सभी लाभ है। तुम लोग सर्वदा स्मरण रखना कि, जिस दिन से उक्त दोनों पन्थाओं द्वारा हमारे हिन्दुओं के धर्मजगत में व्यवसाय चलाया जा रहा है उसी दिन से हम व्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के सत्य मार्गों से भ्रष्ट हो कर, आज सम्पूर्ण मिथ्या का आश्रय ग्रहण करके शारीरिक और मानसिक तेजोवीर्यहीन होकर क्षुद्रादपि क्षुद्र कीट के तुल्य हो गये हैं। अतः उस प्रकार अकर्मण्य मूर्ख गुरु-पुरोहितों से तुम अपनी आत्मोन्नति की क्या आशा रख सकते हो?

भक्त—प्रभु! आपकी बात से अब अच्छी तरह समझ में आ गया है कि, केवल बाह्यिक तिलक, माला इत्यादि धर्म की ध्वजा देखकर ही जिस-तिस को गुरु करना उचित नहीं है, विशेष रूप से परीक्षा के पश्चात् उनका संग करके, बाद में उन्हें गुरु रूप से वरण करना होगा।

महात्मा—बेटा! तुम अपने मन में एक बार विचार करके देखो, मामूली एक मिट्टी की हाँड़ी खरीदते समय भी तुम उसे अच्छी तरह ठोंक-बजा कर उसके दोष-गुण का विचार कर लेते हो, ताकि वह फूटी या चिटकी हुई न हो और उससे अच्छी तरह काम चल सके। परन्तु सब से प्रधान जो गुरु-शिष्य-सम्बन्ध है, उस गुरु-ग्रहण के समय उनके द्वारा तुम्हारी आत्मोन्नति होगी या नहीं, उस सम्बन्ध में गुरु के गुणागुण की परीक्षा करके देखने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते! गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र आदि साधारण नदियों के खेवे से पार करते समय भी, तुम लोग नाव के मल्लाह को बार-बार अच्छी तरह पूछ कर परीक्षा करते हो कि, उसने और कभी इस नदी का खेवे से पारापार किया है या नहीं और अब तुम्हें लेकर वह जा सकेगा या नहीं! नदी में अधिक लहरें उठती दिखाई पड़ती हैं, अतः किस प्रकार से तुम उस पार जाओगे? इस तरह के अनेक प्रश्नों द्वारा वह उपयुक्त कर्णधार है या नहीं, इसका पता लगा लेते हो। फिर इस संसार-नदी का पार करने के लिए जब तुम गुरु-रूपी कर्णधार नियुक्त करते हो, तब उस भव-कर्णधार से कुछ भी पूछने की आवश्यकता नहीं समझते! यहाँ तक कि जो व्यक्ति जीवन भर में नाव पर चढ़ना तो दूर रहा कभी नाव का दर्शन तक नहीं किया है (अर्थात् आत्मतत्त्वालोचना करना

तो दूर की बात है, उसे कभी आत्मज्ञ व्यक्ति का दर्शन भी नहीं मिला। उसे ही तुम इस भव-नदी-पार करने के लिए कर्णधार नियुक्त करते हो। केवल अन्धों की तरह लोगों की देखादेखी, गुरु-वंश के होने पर ही उ रूप से वरण करते हो। अब यह समझ कर देखो कि, तुमने बिना वंशपरम्परागत गुरु-शिष्य-सम्बन्ध स्थापित करके, इस अशास्त्रीय और कार्य द्वारा कहाँ तक अपना अनिष्ट किया और अभी तक तुम कर रहे हो।

भक्त--प्रभु! आपका वाक्य सत्य है। कभी कभी हम लोगों में से कोई गुरु से आत्मतत्त्व के विषय में कुछ जानने के लिए दो एक प्रश्न पूछते तब गुरुदेव उसका उत्तर देने से अक्षम हो कर कहते हैं, "ये सब विषय संन्यासियों से मालूम कर लेना, मेरा केवल मन्त्र देना ही कर्तव्य है, इसी तुम्हारे कान में मन्त्र दे दिया, इसका जप करने से ही सब कार्य सम्पन्न हों

महात्मा-- बेटा! इसी लिए ही भक्तवीर तुलसीदासजी ने, गृही को वरण करने का निषेध कर कहा है--

जिसका गुरु होय गृही, और चेला गृही होय।
कीच कीच को धोये, दाग ना छूटे कोय॥

अर्थात्--"जहाँ गुरु और चेला दोनों ही गृही हैं, वहाँ कौन किसी मन की मैल धोयेगा? जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ धोने से दाग नहीं छूट उसी प्रकार जहाँ दोनों ही अज्ञान हैं वहाँ किसी के मन से मैल की दाग नहीं छूटती।" बेटा! आजकल तुम शिष्य लोग गुरु-ग्रहण के समय गुणागुणों का कुछ भी विचार न करके गुरु वरण करते हो, अतः उसका भी उसी प्रकार पाते रहते हो। दूसरी ओर ये व्यवसायी गुरु भी अनेक स्थलों छल, बल, या कौशल से, शिष्यों के अनिच्छा रहने पर भी, किसी प्र से शिष्य को शिक्षा देकर अपनी गुरुता का व्यवसाय बहाल रखने में सर्वदा रहते हैं। बहुत सी जगहों में ऐसा भी देखागया है कि, दीक्षादाता गुरु रेल, खाने, स्टीमर, जमींदार या महाजन की गद्दी या किसी दफ्तर में, कोई-कोई ना नौटंकी आदि की पार्टी में नौकरी करते हैं। उन गुरुओं के अपने-अपने कार्यों सर्वदा तन्मय रहने से, वे उन कार्यों के सम्बन्ध में ही विशेष पारदर्शिता करते हैं। क्यों कि, जो व्यक्ति जिस विषय में एकाग्र चित्त से तन्मय रहता

ह केवल उसी विषयों में ही अनुभव प्राप्त कर सकता है, यही संसार का स्वाभाविक नियम है। इस लिए वे गुरु तुम्हारे आध्यात्मिक विषय के प्रश्नों का उत्तर कहाँ से देंगे? उनका कभी आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में तन्मय होना तो दूर की बात है, वे भ्रम से भी एक बार उस परमार्थिक तत्त्व-विषय की चिन्ता ही नहीं करते। अतः दीक्षा देने के विषय में उनकी पुस्तक में लिखित एकमात्र ह्रीं क्लीं आदि शब्द ( मन्त्र ) उच्चारण करके शिष्य के कान में फूँ मारकर शिष्य-रूप सम्पत्ति बहाल रखने तथा वार्षिक अर्थोपार्जन करने के अतिरिक्त, उनमें दूसरी कौन सी क्षमता रह सकती है? शास्त्र भी कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

अर्थात्—"मनुष्य सर्वदा जिस विषय में चिन्ता करता है, उस विषय के प्रति उसकी आसक्ति होती है तथा वह उस विषय का ही अनुभव प्राप्त करता है।"

यादृशी भावना यस्य सिद्धिस्तस्य च तादृशी।

अर्थात्—"मनुष्य सर्वदा जिस विषय में चिन्ता करता है, उसका सिद्धि-लाभ भी उस विषय के अनुरूप ही होता है।" इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि, वे नौकरी करने वाले गुरु, कोई-कोई रेल या मोटर के किराये की सूची, कोई कोई प्रजाओं से मालगुजारी वसूल करना, कोई-कोई नाटक-नौटंकी में हुआजाकिया बनना और पार्ट बतलाना इत्यादि अपने-अपने कार्य-विषय में ही सिद्धि लाभ करके उसी में तन्मय रहते हैं। अतः वे शिष्यों को एतदतिरिक्त और किस विषय की शिक्षा देंगे? परन्तु अज्ञ शिष्यगण यह जानकर, देखकर भी पूर्वोक्त आफिस के बाबुओं से दीक्षा ग्रहण कर तत्त्वज्ञान लाभ करने के उद्देश्य से उनको गुरु-वरण करते हैं। इसीको कहते हैं, 'लोहार के यहाँ दही का बयाना देना।' लोहार के यहाँ दही तैयार करने का बयाना देना या कोयला बेचने वाले की दूकान पर रसगुल्ला खरीदने जाना, जिस प्रकार मूर्खता है, यह भी उसी प्रकार नहीं है क्या?

एक घटना स्मरण आयी,—किसी एक वैष्णव के घर में उनके गुरुजी (गोसाईं जी) आये। शिष्यने गुरुजी से पूछा—"प्रभु! हम जो कृष्णनामका जप करते हैं, उस कृष्ण का स्वरूप क्या है? यह हमें विषदरूप से समझा दीजिये।" तदुत्तर में गोसाईं प्रभुजी ने कहा—"ये जो श्रीकृष्ण की

मृण्मय या प्रस्तरमय मूर्तियाँ देख रहे हो, ये ही श्रीकृष्ण का स्वरूप है, ये ही उनकी चिन्मय देह या उनका सच्चिदानन्द रूप हैं।" गोसाईं जी के नानुसार अज्ञानी शिष्य ने भी वही समझ लिया। यह गोसाईं जी किसी के यहाँ के करिन्दा थे। अनतिदूर से उस गुरुजी का उत्तर मेरे कान मैंने मन ही मन हँस कर सोचा, हाय! वर्तमान समाज के अज्ञ के द्वारा देश की अज्ञानता की मात्रा दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं है। क्योंकि जिसको सच्चिदानन्द शब्द तक भी मालूम नहीं है, वह भी तिलक लगा कर, तुलसी की माला गले परम वैष्णव बनकर गुरु का काम कर रहा है। उस कारिन्दा (गुरु) ने कृष्ण की मृण्मय या प्रस्तरमय मूर्ति ही सिर्फ देखी है, इसीलिए शिष्य वही दिखा दी। कृष्ण की सच्चिदानन्द मूर्ति या विश्वरूप देखना रहे वह कल्पना से भी उसकी धारणा नहीं कर सका, तो शिष्य को क आयेगा? यह ठीक अन्धों के हस्ती-दर्शन की तरह हुआ।

भक्त—प्रभु, अन्धों का हस्तीदर्शन कैसा है? मैं समझ न सका।

महात्मा—किसी एक स्थान पर तीन अन्धे बैठे थे। इतने में उन किसी एक दूसरे आदमी के मुख से सुना, 'पास ही राजा का एक हा पड़ा हुआ है।' यह सुनकर तीनों अन्धों को हस्ती-दर्शन की इच्छा हुई उन लोगों ने उस व्यक्ति से कहा, "महाशय, यदि आप कृपा कर हम उस हाथी के पास पहुँचा दें, तो हम लोगों के हस्ती-दर्शन की सफल हो सकती है।" तब वह व्यक्ति उन तीनों अन्धों को मृत हस्ती के पहुँचा कर चला गया। वे तीनों अन्धे ही मृत हस्ती के किसी एक पर हाथ रखकर कहने लगे,—"इतने दिनों में हम लोगों के हस्ती-द इच्छा पूर्ण हुई।" एक ने कहा,—"पहले सोचा था, न मालूम हाथी बड़ा और कैसा एक जानवर है, परन्तु अब देख रहा हूँ कि, यह एक तरह है।" दूसरे ने कहा, "अरे वैसा नहीं, हाथी ठीक एक केले के तरह है।" बाद में तीसरे अन्धे ने कहा, "तुम लोग गलत कह रहे हो बिलकुल एक सूप की तरह है।" अर्थात् उन तीन अन्धों में, जिसका हाथी के पूँछ पड़ा था, वह हाथी को झाड़ू की तरह, जिसका हाथ

सूँड़ पर पड़ा था, वह हाथी को केले के पेड़ की तरह और जिसका हाथ हाथी के कान पर पड़ा था, वह हाथी को केवल सूप की ही तरह समझा था। इसी लिए अब उन तीनों अन्धों में उस बात पर घोरतर वादानुवाद होने लगा, क्योंकि वे सभी हस्ती के एकदेशदर्शी थे, सर्वदर्शी कोई भी नहीं था। बाद में एक दूसरे व्यक्ति ने जिनको चक्षु है, और जो हस्ती का पूर्णावयव देख सकते हैं, आकर उनका वह अमूलक विवाद मिटा दिया। हे सुमते, आजकल के गोसाईं (गुरु) महाशयगण भी ठीक उसी प्रकार अज्ञानान्ध होने से, कृष्ण का सच्चिदानन्द रूप, अर्थात् उनका आत्मरूप देखना तो दूर की बात है, समझ न सकने से कृष्ण की मृण्मय, प्रस्तरमय या धातव मूर्ति को ही सच्चिदानन्द रूप समझते हैं। अन्धों को जिस प्रकार हस्ती के सम्पूर्ण अवयवों के सम्बन्ध में कोई भी ज्ञान नहीं था, आज कल के बाजारू गुरु भी ठीक उसी प्रकार, कृष्ण के सच्चिदानन्द रूप या आत्मरूप के विषय में सम्पूर्ण अनभिज्ञ हैं। इन हीनवीर्य, तमोगुणी व्यवसायी ब्राह्मणों का वर्तमान सम्बल केवल त्रिगर्त में फुत्कार देना है। ये चूल्हा फूँक कर रन्धन का कार्य, शंख फूँक कर पूजारी का कार्य और शिष्य के कान फूँक कर गुरुता-व्यवसाय का कार्य करके, किसी प्रकार अपनी जीविका चलाते हैं। इन अज्ञानान्ध तत्त्वज्ञानहीन ब्राह्मणों को सम्बोधन करके ही भक्त वीर गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा,—

ब्राह्मण भया तो क्या भया, गले लपेटे सूत।
भाव भक्ति का मरम ना जाने, जैसा जङ्गली भूत ॥

अर्थात्—"तुम्हारा ब्राह्मण कुल में जन्म होने से क्या हुआ है? गले में केवल सूत्र-धारण किया है। यदि तुम आत्मा में श्रद्धावान् और ज्ञानवान् न हुए, या उनके विषय में कोई मर्म ही नहीं जान सके, तब तुम एक जंगली भूत हो।"

बेटा! ऐसे अनेक गुरु हैं जो धार्मिक कहला कर शिष्यों का धन हरण करने की चेष्टा करते हैं; परन्तु किसकी उपासना करनी होगी अर्थात् उपास्य देव का स्वरूप क्या है और किस भाव से वह उपासना करनी होती है आदि निर्दिष्ट गन्तव्य स्थान या सत्य पथ न जान कर भी, शिष्यों को उपदेश देकर कुमार्ग में भटका रहे हैं। दीक्षा-मन्त्र या ईश्वर प्राप्ति का उपदेश देने के लिए आजकल बाजार में अनेक व्यक्ति ही दिखाई पड़ते हैं, परन्तु दुःख की बात है कि, ईश्वर क्या वस्तु

है, उसे उनमें कोई भी नहीं जानता। शिष्य सम्भवतः ईश्वर का नाम सुन उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करता है और गुरु भी ईश्वर का नाम मात्र ही है, परन्तु प्राप्ति का उपाय बतलाने को तैयार है! साधना किसकी है, प्राप्त होगा, इसे समझने की कोई चेष्टा ही नहीं करता; पर सिद्धि के लिए सभी चले हैं। अतः बेटा! उठो, जागो और अपने पुरुषार्थ के द्वारा अज्ञानी का संग छोड़ आत्मज्ञ गुरु का आश्रय ग्रहण करके अपनी आत्म-शक्ति को जा

बेटा! मायामय संसार कैसा सम्पूर्ण विपरीत भाव धारण करता है, तुम जरा विचार करने से ही समझ सकते हो। प्राचीन समय में ए ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण ही गुरु रूप से पूजित होते थे। इसीलिए वह अज्ञानियों को पदेश देकर उनका ज्ञान-नेत्र खोल देने में समर्थ होते थे। और इस उसका सम्पूर्ण विपरीत भाव है। हिन्दू अब ब्रह्मज्ञ महात्मा को देख डरते हैं। क्योंकि उनकी धारणा है कि ब्रह्मज्ञान या आत्म-ज्ञान ना के सिवाय और कुछ नहीं है। वेद-वेदान्तादि सभी उच्च कोटी के शा जो आत्म-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व अकाट्य युक्ति-प्रमाणों द्वारा सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित किया गया है और वर्तमान युग में पृथ्वी के सभी मनीषी जिस का परम आदर के साथ ग्रहण कर रहे हैं, हमारे यहाँ उस वेदान्त श आलोचना का लोप-सा हो गया है, जिसके कारण ही हिन्दुओं की अधोगति हो रही है। इसी लिए अज्ञानान्ध ब्राह्मण गुरुओं के शिष्यों कुछ नहीं सूझता। यहाँ तक कि उन दृष्टि-शक्ति-रहित शिष्यों के साथ करने से देखा गया है कि, उनमें अधिकांश की ही धारणा है कि 'गुरु-ग्रहण एक सामाजिक प्रथा है। गुरु-ग्रहण न करने से समाज में निन्दा होगी भय से सामाजिक रीति के अनुसार दूसरों का अनुकरण कर गुरु जिस किसी आदमी से एक मन्त्र लेना ही होगा! अन्त में गृहस्थी के सा समाप्त करके, अवसर मिलने पर तुलसी या रुद्राक्ष माला में उस म १०८ बार जप करने से ही गुरु के ऋण से मुक्ति मिल जायगी! ए ब्राह्मणों की अधोगति से ही आज समाज की ऐसी दुर्दशा हुई है। वे स हैं कि ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने से ही ब्राह्मणत्व उत्पन्न हो जाता है। में ब्राह्मणत्व साधना के द्वारा अर्जित कर लेना होता है, यह कभी एक

गत धर्म नहीं है या जन्मगत संस्कार भी नहीं, यह बात अज्ञानी ब्राह्मण एक बार सोचकर भी नहीं देखते। साधारण मनुष्यों में ऐसी भ्रान्त धारणा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार जातियाँ हैं। उनसे कुछ उदार और आधुनिक शिक्षा से शिक्षित लोग समझते हैं—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जापानी, अमेरिकन आदि अलग अलग जातियाँ हैं। यथार्थ में इस प्रकार अयौक्तिक धारणा की कोई सार्थकता नहीं है। यथार्थ में जाति कहने से मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विभिन्न प्राकृतिक जातियाँ समझी जाती हैं। क्यों कि ये ऐश्वरी शक्ति माया के द्वारा कल्पित है, मनुष्यों के द्वारा नहीं, इस कारण मनुष्य उनका जाति-परिवर्तन नहीं कर सकते। अर्थात् मनुष्य चाहे तो वह पशु या पक्षी नहीं बन सकता। और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि मनुष्यों के द्वारा बनाये हुए पृथक-पृथक सम्प्रदाय मात्र हैं। इस कारण इच्छा मात्र से ही एक सम्प्रदाय का मनुष्य दूसरे सम्प्रदाय के अन्तर्मुक्त हो सकता है। और जापानी अमेरिकन जर्मन भारतवासी आदि भी पृथक्-पृथक् जातियाँ नहीं है; ये पृथक् पृथक् देश के निवासी मात्र हैं। अतः पृथ्वी भर के सारे मनुष्यों की एक ही जाति है। शास्त्र ने भी ऐसा ही कहा है। योग-दर्शन में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥

अर्थात्—"पूर्व जन्म के कर्म-संस्कार के अनुसार मनुष्य पशु पक्षी आदि जाति, आयु और सुख-दुःख-भोग होते हैं।" इस सूत्र के भाष्य में भगवान वेदव्यास ने लिखा है—'मानुषकश्चेकविधः' "सारे मनुष्यों की एक जाति है।" इस एक मनुष्य-जाति के भीतर व्यक्तिगत गुण और कर्म के अनुसार मनुष्यों ने ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्ण या श्रेणियाँ पृथक् पृथक् बना ली हैं—वे पृथक् पृथक् जातियाँ नहीं हैं। इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (गीता अध्याय ४)

अर्थात्—"सत्त्व, रजः और तमः इन तीन प्रकार के प्राकृतिक गुणों, शम, दम, शौर्य, सेवा आदि मानविक गुणों तथा विविध कर्मों के विभागानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों के धर्मों को ही मैंने बनाया है।"

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदि चार वर्णों को मनुष्यों ने ही बनाया है। प्र
गुण-कर्म ही ईश्वर-सृष्ट हैं। इस कारण मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति के
से इस शरीर में ही उच्च वर्ण प्राप्त कर सकता है। दूसरी ओर मानसिक क्रि
के अभाव से उच्च वर्ण भी निम्न वर्ण को प्राप्त हो सकता है। इस विषय
शास्त्रों में अनेक प्रमाण मिलते हैं। महानिर्वाण-तन्त्र कहते हैं—"सुवर्ण
पृथ्वी का दान करने से जो फल मिलता है, कुलाचार-निरत अर्थात् ब्रह्म-नि
व्यक्ति की पूजा करने से उससे कोटि गुणा अधिक पुण्य मिलता है।
चाण्डाल भी आत्म-ज्ञानी होता है, तो वह ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ है। परन्तु
ज्ञान-हीन होने से ब्राह्मण भी चाण्डाल से अधम हो जाता है" (महानिर्वाण
उ० ४, ४१-४२ श्लोक)।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात् तथैव च॥
तपोवीर्यप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षञ्चापकर्षञ्च मनुष्येष्विह जन्मतः॥
जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासात् भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।

(मनुस

अर्थात्—"तपस्या और शक्ति के द्वारा इस लोक में ही अनादि का
शूद्र ब्राह्मणत्व, ब्राह्मण शूद्रत्व, क्षत्रिय वैश्यत्व और वैश्व क्षत्रियत्व रूप उ
और अपकर्ष प्राप्त होते हैं। जन्म से शूद्र, संस्कार से द्विज, वेद-पाठ से
और ब्रह्म-ज्ञान से ब्राह्मण होते हैं।"

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्। (सांख्य-दर्श

अर्थात् —"कर्म-विशेष के भेद से शूद्रादि व्यक्तियों यानी चार वर्णों
पार्थक्य किया जाता है।"

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनु-संहि

अर्थात्—"इस भारतवर्ष के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से संसार के दूसरे देशों
सभी मनुष्य अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।" मनु की उक्ति से स्पष्ट

प्रमाणित होता है कि इस आर्यावर्त के निवासी ब्राह्मण पृथ्वी के सर्व श्रेष्ठ विद्वान्, ज्ञानी और गुणवान् थे। और आज कल तुम उन गुणों पर ध्यान न देकर केवल गले में सूत डाल अपने को ब्राह्मण कहकर वृथा ही घमण्ड करते फिरते हो। ॐ

---

ॐ महाभारत के भृगु-भरद्वाज-संवाद में लिखा है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय: पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मं नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥
जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः॥
शौचाचारपरो नित्यं विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यरतः स वै ब्राह्मण उच्यते॥
सत्यं दानं भयोऽद्रोह आनृशंस्यं कृपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

अर्थात्—"सृष्टि के आरम्भ में संसार में सभी मनुष्य ब्राह्मण थे, कोई वर्ण-भेद नहीं था। बाद में कर्मों से वर्ण-भेद हुए। जो लोग कामी, भोगप्रिय, क्रोधी, साहसी, स्वधर्म-त्यागी, रक्तांग यानी युद्धादि कार्य में नियुक्त हुए थे वे क्षत्रिय हुए। जो लोग गोपालन तथा कृषिकार्य में नियुक्त हुए वे वैश्य कहलाये और जो लोग हिंसा-परायण, मिथ्या-भाषण-प्रिय, शौच-भ्रष्ट हो कर सब प्रकार के कर्मों द्वारा जीविका चलाने लगे वे शूद्र हो गये। परन्तु जो लोग जातकर्मादि संस्कारों द्वारा पवित्र, वेदाध्ययन-युक्त, षट्कर्मों में अवस्थित, शौचाचार-परायण,

वर्तमान युग में भी शास्त्रयुक्ति के अनुसार कोई कोई शूद्र ब्राह्मणत्व
कोई कोई ब्राह्मण शूद्रत्व प्राप्त हो रहे हैं सही, परन्तु अब तो कलियुग
अज्ञानता या वर्वरता का युग है न ! इसीलिए शायद आजकल के सम
बिनाविचारे देवत्व या ब्राह्मणत्व प्राप्त शूद्र को ब्राह्मण मानने से इनकार क

---

यज्ञशेषान्न-भोजी, गुरु-प्रिय, नित्यव्रती, सत्यरत, दानशील, धर्मभीरु, द
कृपावान, तपोनिष्ठ थे वे ही ब्राह्मण रहे।"

जातो व्यासस्तु कैवर्तात् श्वपाक्याच्च पराशरः।
शुक्यात् शुकः कणादाख्यः तथोलुक्यात् सुतोऽभवत्॥
मृगीज ऋष्यशृङ्गोऽपि वसिष्ठो गणिकात्मजः।
मन्दपालो मुनिश्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते॥
माण्डव्यो मुनिराजस्तु मण्डुकीगर्भसम्भवः।
बहवोऽन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये शूद्रवद्द्विजाः॥

(भविष्यपु

अर्थात्—"महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास कैवर्त-कन्या से, महामुनि
चण्डाल-कन्या से, भगवान शुकदेव शुकी से, महर्षि कणाद उलुकी से,
ऋष्यश्रृङ्ग मृगी से, महर्षि वसिष्ठ वेश्या से, मुनिश्रेष्ठ मन्दपाल मल्लाह-क
महामुनि माण्डव्य मण्डुकी नाम्नी एक नीच कुल की स्त्री से जन्मे थे।
प्रकार ये लोग नीच वंश में उत्पन होने पर भी आत्मज्ञान के प्रभाव से ब्रा
प्राप्त हुए थे।" फिर एक ही पिता के पुत्र गुण और कर्म के अनुसार पृथक्
वर्ण प्राप्त हुए थे उसके भी अगणित उदाहरण हैं। जैसे—

वेणुहोत्रसुतश्चापि भर्गो नाम प्रजेश्वरः।
वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भृगुभूमिस्तु भार्गवात्॥
एते त्वङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे।
ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्यास्तयोः पुत्राः सहस्रशः॥ (हरि

अर्थात्—"वेणुहोत्र के पुत्र भर्ग नाम से राजा हुए। वत्सका वा
वत्सभूमि तथा भृगुमुनि का वासस्थान भृगुभूमि नाम से प्रख्यात हुए।

और चाण्डालत्व प्राप्त ब्राह्मण-तनय को भी ब्राह्मण मान उच्चासन देकर सम्मानित कर रहे हैं! इससे वे अपने ऊपर कलियुग का प्रभाव ही न जाहिर कर रहे हैं! इस समय पशुवत् अज्ञानी होने पर भी ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण के योग्य पूजा पा रहा है। और अन्य श्रेणी के लोग देवतुल्य होने पर भी समाज में उसको ब्राह्मण नहीं कहते। आजकल घर घर चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी, याज्ञिक

---

वंश के अङ्गिरस के पुत्र सहस्त्रों की संख्या में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्णों में विभक्त हो गये।"

दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिश्चित्रपुर्नृपः।
मैत्रायणस्ततः सोमो मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः॥ (हरिवंश)

अर्थात्—"क्षत्रिय दिवोदास के पुत्र राजा चित्रपु ब्रह्मर्षि हुए थे। उनके पुत्र मैत्रायण और सोम थे। उनके वंश के मैत्रेय लोग ब्राह्मण हो गये थे।"

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥ (हरिवंश)

अर्थात्—"राजा गृत्समद के पुत्र शुनक थे, इस शुनक के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण प्राप्त हुए थे।" कान्यकुब्ज के क्षत्रिय राजा विश्वामित्र तपस्या के बल ब्राह्मणत्व प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार कुरुवंश के राजा आर्ष्टिषेण के दो पुत्र थे—देवापि और शन्तनु। बड़े देवापि तपस्या करने चले गये और छोटे शन्तनु राजा हुए। शन्तनु के राज्यकाल में बारह वर्षों तक सूखा पड़ जाने से बड़े भाई देवापि ने शन्तनु के लिए यज्ञ किया था और तपस्या द्वारा ब्राह्मणत्व लाभ करने से देवापि स्वयं उस यज्ञ में पुरोहित हुए थे।

नाभागादिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ। (हरिवंश)

अर्थात्—"नाभागादिष्ट के दो पुत्र वैश्य होने पर भी ब्राह्मणत्व प्राप्त हुए थे।" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों के आपेक्षिक उत्कर्षापकर्ष से यथायोग्य वर्ण-परिणयन होता है। ब्राह्मण निकृष्ट कर्म-वश शूद्र तथा शूद्र उत्तम कर्म-वश ब्राह्मण हो सकता है। इस विषय में अनेक प्रमाण शास्त्रों में हैं। पराशर स्मृति में लिखा है—

के वंशज वेद और यज्ञ के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रहते हुए भी चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी और याज्ञिक कहलाते हैं! यह कलियुगी अज्ञानता की ही महिमा है।

अज्ञानान्ध स्वार्थी ब्राह्मणों ने उन शास्त्रादेशों की उपेक्षा करके ब्राह्मणत्व वंशपरम्परागत बना लिया है। दूसरों को धोखा देते हुए वे स्वयं ही धोखा खा गये हैं--इसका उन्हें पता ही नहीं है। इसी कारण आज समाज में ब्राह्मण भिक्षुक, दूसरे के मुखापेक्षी तथा सभी की घृणा के पात्र हैं।

---

शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्॥

अर्थात्—"यदि शूद्र शीलसम्पन्न और गुणवान् हों तो वह ब्राह्मण हैं, फिर ब्राह्मण क्रियाहीन होने से शूद्र से भी निकृष्ट होता है।"

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्ववृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्र तन्न भवेत् सर्वं तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

(महाभारत वन

अर्थात्—"शूद्र-वंश में जन्म होने से ही शूद्र नहीं होता, अथवा ब्राह्मण वंश में जन्मग्रहण करने से ही ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें ब्राह्मण के आचारादि लक्षित होते हैं वही ब्राह्मण हैं, और जिसमें वे लक्षित नहीं उसे शूद्र समझना चाहिये।"

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च॥
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

(महाभारत वन

अर्थात्—"शूद्रयोनि में जन्म लेकर सद्गुणयुक्त होने पर मनुष्य वैश्य और क्षत्रियत्व प्राप्त हो सकता है। परन्तु सरलता आदि ब्राह्मणोचित

समाज के ब्राह्मणादि वर्ण-चतुष्टय में जिस प्रकार ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार मानवदेह में मस्तक ही सर्वश्रेष्ठ है। अँग्रेज भी इसे Head (हेड्) कहते हैं। Head का अर्थ है श्रेष्ठांश। हमारे शास्त्रों ने भी नर-देह को चार भागों में विभक्त किया है। देह में मस्तक-भाग ब्राह्मण, हस्तद्वय क्षत्रिय, उदर से कमर तक अंश वैश्य और तन्निम्न पदद्वय शूद्र वर्ण है। शरीर में मस्तक (ब्राह्मण-भाग) के विकृत होने पर जिस प्रकार अन्यान्य अंश हस्तपदादि (अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि अंश) की शक्ति रहने पर भी उनसे

---

सम्पन्न होने से सभी श्रेणियों के लोगों में ब्राह्मणत्व उत्पन्न हो जाता है।"
कवष ऐलुष शूद्र थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल के बहुत से मन्त्र इन्हीं के द्वारा रचे गये हैं। शूद्र कवष ऋषि कहलाते थे। ऐसे अनेक शूद्र ऋषियों ने वेद-मन्त्रों की रचना भी की थी। तन्त्रशास्त्र कहते हैं—

एतैः कर्मफलैर्देवि ! न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥
ब्राह्मणो वाप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभाजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः॥
कर्मभिः शुचिभिर्देवि ! शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि च द्विजात् सेव्य इति ब्रह्मानुशासनम्॥
स्वभावं कर्म च शुभं यदि शूद्रेऽपि तिष्ठति।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः॥
न योनिर्नापि संस्कारः न श्रुतो न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥
सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विशिष्यते।
वृत्तस्थितश्च शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वेन पूज्यते॥
ब्रह्मस्वभावः कल्याणि ! समः सर्वत्र मे मतिः।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः॥
एतत्ते गुह्यमाख्यातं यथा शूद्रो भवेद्द्विजः।
ब्राह्मणो वा च्युतो धर्मात् यथा शूद्रत्वमाप्नुते॥

जगत का श्रृंखलानुसार कोई कार्य ही नहीं चलता ( इसका प्रत्यक्ष प्रमाण की उन्माद व्यक्ति ), हमारे हिन्दू समाज में भी वही हुआ है। समाज के ब्राह्मण-वर्ण में विचार-हीनता और अज्ञानता के कारण, उन ब्राह्मणों में वेदान्तादि की चर्चा लुप्त होने से ही वे अधः-पतित होकर, उन्माद के मस्तिष्क की तरह अकर्मण्य हो गये हैं। इसीलिए समाज के क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण समाज का कार्य करने में समर्थ रहने पर भी उन वर्णत्रय के मस्तिष्क चालक ब्राह्मण-वर्ण के विकृत भाव प्राप्त होने से, उन्माद के हस्तपदादि अंग-प्रत्यंग का

---

अर्थात् "हे देवि ! इन कर्म-फलों द्वारा हीन-जाति-कुलोद्भव शूद्र आगम-सम्पन्न और संस्कार-युक्त द्विज होता है और असद्वृत्तियुक्त ब्राह्मण भी सर्वसंकरत्व का भाजन होकर ब्राह्मणत्व परित्याग पूर्वक शूद्र होता है। हे देवि ! पवित्र कर्म द्वारा विशुद्ध-चित्त जितेन्द्रिय शूद्र भी द्विज हैं, सेव्य होते हैं; यह ब्रह्मा का अनुशासन है। शूद्र में भी यदि पवित्र स्वभाव और पवित्र कर्म दृष्ट हों, तो वह ब्राह्मणादि की अपेक्षा भी प्रशंसनीय है, यह मेरा मत है। जन्म, संस्कार, शास्त्रज्ञान, अथवा पंक्ति या श्रेणी भी ब्राह्मणत्व का कारण नहीं है, केवल पवित्र चरित्र ही कारण है। कल्याणि ! ब्रह्म सर्वत्र समान है, वह निर्गुण निर्मल ब्रह्म जिसमें ( जिसके मन में ) अधिष्ठित होते हैं, अर्थात् जिनके ज्ञान के विषयीभूत होते हैं, वे ही ब्राह्मण हैं, यह मेरा मत है। जिस प्रकार शूद्र ब्राह्मण होता है वैसे ब्राह्मण भी ब्रह्मण्य से च्युत होकर शूद्रत्व प्राप्त होता है, उस गुप्त बात को मैंने तुमसे कहा।" अन्यत्र पुनः कहते हैं—

न जातिः पूज्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः।
चण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

अर्थात्—"जाति अर्थात् वर्ण पूज्य नहीं है, कल्याणकारक गुण ही पूजा मिलती है। चण्डाल भी चरित्रवान होने पर विद्वान् उन्हें ब्राह्मण कहते हैं।" वर्णाश्रमियों में ब्राह्मण को श्रेष्ठ कह कर प्राचीन शास्त्रकारों ने निर्दिष्ट किया है। 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' अर्थात् वर्णचतुष्टय में ब्राह्मण ही गुरु और सर्ववर्ण-परिचालक हैं। यह ब्राह्मण कौन हैं ? 'ब्रह्मज्ञ एव ब्राह्मणः ? जो

की तरह वे सभी अकर्मण्य हो गये हैं। विचार करनेपर मालूम होता है, मनुष्य का जिस प्रकार मस्तिष्क के ठीक रहने से ही उनके अन्यान्य अंग-प्रत्यंग भी ठीक तरह कार्य करने में समर्थ होते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारे समाज का मस्तक ब्राह्मण वर्ण के ठीक होने से ही दूसरे वर्ण भी अपने अपने कार्य में ठीक तरह मनोनिवेश कर सकेंगे। अतः वर्तमान ब्राह्मण गुरु महाशयों को गुरुता की शिक्षा लेकर, तब उस गुरुता द्वारा गुरु बनना उचित है। एम० ए० या बी० ए० पास न करने से जिस प्रकार स्कूल के हेड मास्टर का पद नहीं मिलता, उसी प्रकार वेद-वेदान्त का तत्त्व अवगत न होकर ब्रह्म-विद्या लाभ न कर सकने से, वह कभी गुरु के रूप

---

को जानते हैं, जो ब्रह्मज्ञान में निर्विकल्प-चैतन्य हैं, जो आत्म-सत्ता में चिरकाल रत, तथा असत् प्रकृति-धर्म में उपेक्षाकारी और सदसद्विचार में परम विवेकी हैं, वही ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण-लक्षण-निर्देश करने में अनेक शास्त्र-वाक्य उद्धृत करके दिखाया जा रहा है—ब्राह्मण कौन और किस प्रकार हैं। शापग्रस्त राजा नहुष ने महाराज युधिष्ठिर से प्रश्न पूछा था—"हे महाराज युधिष्ठिर! मुझसे कहो, ब्राह्मण कौन हैं? और जगत् में जानने की वस्तु क्या है?" उसके उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था—

सत्य दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
वेद्यं सर्वं परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखञ्च यत्।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम्॥

(महाभारत वनपर्व)

अर्थात्—हे नागराज! सत्य, दान, क्षमाशीलता, निर्दोषता, तप और पाप कर्मों में घृणा जिसमें दिखाई पड़ते हैं वही ब्राह्मण हैं। जगत् के समस्त वेद्य पदार्थ ही दुःख-सुखवर्जित ब्रह्म हैं, जिस ब्रह्मपद को प्राप्त करने से कभी शोक करना नहीं पड़ता।"

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधियानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

में पूजित नहीं हो सकते। ये जो कलि के दूत गुरुकुल हैं, ये कुल-गुरु किस शक्ति के बल से ? किसके प्रसाद से ? शिष्य का कुलगुरु के रूप में मौरुसी पट्टा दिखाने से काम नहीं चलेगा। पूज्यपाद गुरुकुल में जो दुर्दिन दुर्गति के दिन आये हैं, उससे कुलगुरु कहना तो दूर रहा, उन्हें गुरुकुल में भी लज्जा मालूम होती है। आजकल गुरु के कुल के सन्तान नाटक में मजाकिया या नायक-नायिका बनते हैं। फिर वे ही दूसरे क्षण में शिष्य के मस्तक पर पद-स्थापन कर उनसे महाशक्ति की महा-मन्त्रपूत सचन्दन पुष्पाञ्जलि ग्रहण करते हैं। ये अज्ञानान्ध गुरु ही फिर शिष्य को गुरुनमस्कार में 'अज्ञानतिमिरान्धस्य' आदि पाठ कराकर शिक्षा देते हैं। हे वत्स! गुरु विचार के विषय में यही स्पष्ट रूप से जानना कि, जो व्यक्ति अतत्त्वज्ञ विफलभाषी पुरुष को गुरु के रूप में वरण करने के बाद प्रश्न करता है,

---

यथा पण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

(मनुसं...)

"जिस प्रकार काष्ठनिर्मित हस्ती या चर्मनिर्मित मृग नाम मात्र का हस्ती या मृग है, वेदहीन ब्राह्मण भी उसी प्रकार है। ये सभी केवल नाम मात्र धारण करते हैं। क्लीव का स्त्री-सहवास जिस प्रकार निष्फल है, गाय का गाय से संगम जिस प्रकार कोई फलदायक नहीं होता, अज्ञान शिशु को दान जिस प्रकार कोई काम का नहीं होता, उसी प्रकार वेदाध्ययनहीन ब्राह्मण भी किसी काम का नहीं है।" वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करके पराशर मुनि ने कहा है—

चत्वारो वा त्रयो वापि यद् ब्रूयुर्वेदपारगाः।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरैस्तु सहस्रशः॥　(पराशर-संहिता)

अर्थात्—"चार या केवल तीन वेदज्ञ ब्राह्मण जो व्यवस्था दें, वही धर्म संगत समझना चाहिये; दूसरे सहस्रों व्यक्तियों की बात भी धर्म नहीं है।" इस सम्बन्ध में मनु कहते हैं—

विषय में पूँछताछ करता है, वह व्यक्ति नितान्त निकृष्ट और मूढ़तम है। प्रमाणवित् और तत्त्वज्ञानी गुरु जिज्ञासित होकर यत्नपूर्वक जो कुछ कहते हैं, जो व्यक्ति उसका श्रवण नहीं करता, वह भी नितान्त अधम है। और जो व्यक्ति पहले गुरु की अज्ञता-विज्ञता की परीक्षा करके प्रश्न करता है, वह व्यक्ति ही बुद्धिमान और उत्तम है। जो मूर्ख शिष्य वक्ता ( गुरु ) का स्वभावादि परिज्ञात न होकर तत्त्व-जिज्ञासा में प्रवृत्त होता है, अर्थात् उपदेश ग्रहण करने की इच्छा करता है, वह मूर्ख बहुत ही अधम है तथा वह कभी परमार्थ-भाजन नहीं हो सकता। जो शिष्य गुरु के वाक्य का पूर्वापर समाधान करने में समर्थ है, उक्त-अनुक्त सभी प्रकार के तत्त्वों का ही विचार द्वारा ग्रहण और धारण करने में दक्ष है, ज्ञानी गुरु उस शिष्य के ही प्रश्न का प्रत्युत्तर देते हैं; पशुतुल्य अज्ञ अधम के प्रश्न का उत्तर नहीं देते। और जो गुरु प्रश्न-कर्त्ता का बोध-सामर्थ्य है या नहीं यह न समझकर सहसा अपात्र में अपना वक्तव्य कहते या उपदेश देते हैं वह गुरु भी विज्ञ समाज में मूर्ख के रूप में गण्य होते हैं। अतः तुम्हारे जैसे वेदान्त-तत्त्वहीन अज्ञानी गुरुओं और शिष्यों को अपने-अपने गुरु-शिष्य-सम्बन्ध स्थापित करते समय शास्त्रादेशानुसार जहाँ तक सम्भव हो एक दूसरे की परीक्षा के बाद यह सम्बन्ध स्थापित करने में कभी विस्मृत न होना चाहिये।

---

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः॥ ( मनुसंहिता )

अर्थात्—"वेद-वेदान्त में अनभिज्ञ दस लाख ब्राह्मण जहाँ भोजन करते हैं, उस श्राद्ध में वेदवित् एक ब्राह्मण भी यदि भोजनादि द्वारा प्रीत हों तो उन दस लाख ब्राह्मणों के भोजन का फल, धर्मतः उस एक ब्राह्मण के द्वारा ही निष्पादित होता है।"

# लोभी गुरु

भक्त—प्रभु ! आपके उपदेशों और शास्त्रवाक्यों से प्रतीत होता है आजकल हमारे गुरु लोग उन शास्त्रवाक्यों के विरुद्ध ही कार्य करते हैं। हमारे जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति उन्हीं के आदेश से काम करते हैं। इस विषय में एक घटना याद आयी जिसका मैंने स्वयं प्रत्यक्ष किया है।

किसी बड़े आदमी ने एक अच्छी गाय खरीदी, जो प्रतिदिन १०॥ सेर दूध देती थी। घर के सभी लोग उस गाय की सेवा करते थे। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी को वह प्रिय थी। ऐसे समय एक दिन उस कुल के गुरुजी उनके यहाँ आये। घर की स्त्रियों ने उस गाय के दूध-दही-मक्खन-मलाई से गुरुजी को खूब प्रसन्न किया। गुरुजी ने भोजनोपरान्त विश्राम करते समय शिष्य को अपने पास बुलाया और बात-बात में पूछा कि, ऐसा अच्छा दूध तुम्हें कहाँ से प्राप्त होता है। शिष्य ने अपनी गाय की बहुत प्रशंसा की। इससे गुरुजी के मन में लोभ उत्पन्न हुआ। शाम को टहलते हुए उस गाय के पास जा कर गुरुजी ने उसे देखा। उसका सुडौल शरीर और शान्त स्वभाव देख कर उसे हथियाने के लिए उनके मन में लोभ ने उथल-पुथल मचाना आरम्भ कर दिया।

दूसरे दिन सुबह गुरुजी ने शिष्य से कहा—"देखो बेटा! ब्राह्मण का दूध-घी बिना भोजन नहीं होता। धनाभाव के कारण गाय खरीदना कठिन है। तुम्हारी गुरुमाता को तथा मुझे भोजन में बड़ा कष्ट होता है। तुम्हारी यह गाय बहुत ही अच्छी है, दूध भी प्रचुर देती है। तुम इसे मुझको दे दो।"

सुनकर शिष्य ने अपने मन में थोड़ी देर सोच-विचार किया; और निश्चय किया कि, गुरुजी की आज्ञा का उल्लंघन करने से पाप लगेगा, और परिवार के लोगों पर तरह-तरह की विपत्तियाँ आ पड़ेंगी। उधर घर के लोग अपनी प्यारी गाय को छोड़ना नहीं चाहेंगे। ऐसी स्थिति में ऐसी ही एक

गाय खरीद कर गुरुजी को देना उचित होगा। ऐसा विचार कर उन्होंने प्रकाश्य में गुरुजी से कहा—"प्रभु! ऐसी ही एक दूसरी गाय खरीद कर शीघ्र ही आपको दूँगा।"

गुरुजी शिष्य की बात सुन कर बहुत अप्रसन्न हुए और बोले—"दूँगा या करूँगा कहने से देना या करना नहीं होता। यदि मन में देने की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो इसी को और आज ही दे डालो। गुरु की आज्ञा के पालन से अनन्त काल तक स्वर्ग में सुख मिलता है।"

शिष्य ने कहा—"प्रभु! बड़े शौक से मैंने इस गाय को खरीदा है। इस कारण यह मेरे बहुत आदर की चीज है। विशेष कर मेरे परिवार के सभी लोग इससे प्रेम करते हैं। यदि मैंने इसे आपको दे दिया तो घर के लोगों के मन में बहुत कष्ट होगा और वे मुझ पर बहुत असन्तुष्ट होंगे, जिससे मुझे उनकी कड़ी से कड़ी बातें सुननी पड़ेंगी। मेरी प्रार्थना है, आप महीना भर प्रतीक्षा कीजिये। मैं ऐसी ही एक अधिक दूध देने वाली गाय खरीद कर शीघ्र ही आपके घर पहुँचा दूँगा।"

इस पर लालची गुरु ने चिढ़ कर कहा—"शास्त्र की आज्ञा है कि, शुभस्य शीघ्रम्। शुभ कार्य शीघ्र कर डालना चाहिये। गुरुजी को गाभी दान करना भी एक शुभ कार्य है। इस कारण इस शुभ कार्य में विलम्ब करना अनुचित है। यदि तुम मुझे गाभी देने की इच्छा रखते हो तो आज ही इस गाय को मेरे साथ कर दो। मैं देखता हूँ—तुम 'दूँगा दूँगा' कह कर मुझे धोखा देने का बहाना कर रहे हो। और यदि इसको मुझे देने की इच्छा न हो तो साफ-साफ कह दो, मैं अभी चला जाता हूँ, पर गुरु की आज्ञा की अवहेलना करने की प्रतिक्रिया सहन करने के लिए तैयार रहना।"

गुरुजी की क्रोधपूर्ण बातें सुन कर धार्मिक शिष्य बहुत घबराने लगे। उन्होंने सोचा—'यही गुरुजी हमारे मकान से अब तक न मालूम कितनी अच्छी अच्छी चीजें ले गये हैं। तो भी मेरी बात पर आज इन्हें विश्वास नहीं हो रहा है। अब एक मामूली गाय के लिए इनके मन में दुःख देना उचित न होगा।'

बहुत सोच-विचार कर उन्होंने गुरुजी से कहा—"मैंने निश्चय कर लिया कि, यही गाय आपको दी जाय। आपकी इच्छा ही पूर्ण हो।"

सुनकर गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए और शिष्य को आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—"तुम्हारे जैसे धार्मिक और गुरुभक्त शिष्य के लिए यही उचित कार्य है। तुम्हारे पूर्वपुरुष बहुत दानी थे। उन्हीं के कुल में तुम पुत्र हो। तुम्हारा कल्याण होगा। तुम्हारे बाल-बच्चे सौ वर्ष तक जीयेंगे।"

उसी दिन दो नौकर गुरुजी के साथ जाकर उस गाय को उनके पहुँचा आये।

उस शिष्य के छोटे भाई एक बड़े सरकारी अफसर थे। एक बार वे बहुत ही कीमती पलंग अपने व्यवहार के लिए घर लाये। ठीक उसी समय गुरुजी शिष्यों को आशीर्वाद देने के लिए उनके यहाँ पधारे! शिष्यों ने सोचा कि, नये पलंग पर पहले पहले गुरुजी का ही बिस्तरा लगा दिया जाय। फिर उनके प्रसाद रूप से उसका व्यवहार किया जाय। अतः उस पलंग पर गुरुजी के ही सोने का प्रबन्ध किया गया। तीन दिनों तक गुरुजी उस सम्पन्न शिष्य के घर खूब पूड़ी मिठाई, रबड़ी-मलाई उड़ाते रहे तथा उस उत्तम पलंग पर लेट कर उसे हथियाने के उपाय सोचते रहे। तीसरे दिन जाने के पहले बड़े शिष्य को बुला कर गुरुजी ने कहा—"देखो बेटा! मेरे घर में एक भी पलंग नहीं है। तुम्हारा यह नया पलंग बहुत ही उत्तम है। इसको तुम मुझे दे दो। मैं हृदय से तुम्हें आशीर्वाद दूँगा।

शिष्य ने हाथ जोड़ कर कहा—"प्रभु! इस पलंग पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। मेरा छोटा भाई अपने व्यवहार के लिए इसे अभी-अभी खरीद कर लाया है। इस लिए इसके बारे में जो कुछ कहना है उसीसे कहियेगा।"

इधर गुरुजी को गाय दी गयी है—यह समाचार घर के सब लोग जान गये और इसके लिए सभी के मन में दुःख है। आज इस पलंग की माँग का समाचार सुन कर सब के मन में उस लालची गुरु के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। छोटे भाई शिक्षित मनुष्य थे। उन्होंने ऐसे लोभी गुरु से पिण्ड छुड़ाने का एक उपाय सोच निकाला।

थोड़ी देर बाद गुरुजी ने छोटे शिष्य को अपने पास बुलाया। उसने आ कर गुरु के चरणों में दंडवत् प्रणाम किया। गुरु ने कहा—"बेटा! तुम लोग कुल-परम्परा से हमारे कुल के शिष्य हो। तुम लोगों की सहायता से

हमारी जीविका चलती है। हमारे घर में जो कुछ चीज-वस्तुएँ हैं, सब तुम्हारे ही बाप-दादों की दी हुई हैं। इस समय हमारे घर में एक भी पलंग नहीं है। तुम जो इस नये पलंग को अबकी खरीद लाये हो इसे मुझको दे दो। तुम्हारा कल्याण होगा।"

शिष्य ने कहा—"प्रभु! मैंने अपने व्यवहार के लिए इस पलंग को साढ़े तीन सौ रुपये में खरीदा है। आज तक एक दिन भी इस पर सोया नहीं हूँ। क्यों कि मेरे घर आने के दिन ही आप हमारे यहाँ पधारे। आप को देख कर मन में अपार आनन्द हुआ; सोचा, नये पलंग पर पहले गुरुजी के चरण-धूल पड़ने से यह पवित्र हो जायगा और साथ-साथ मैं भी कृतार्थ हो जाऊँगा। इसी लिए इस नये पलंग पर आपके ही सर्व-प्रथम सोने की व्यवस्था की गयी थी। जो हो, अब आपके आदेश के विरुद्ध मैं कोई आपत्ति उठा नहीं सकता। क्योंकि दीक्षा-मन्त्र लेते समय ही रुपये-पैसे, जमीन-जायदाद, धन-जन आदि 'अपना' कहने योग्य जो कुछ था सभी आप के चरणों में सौंप चुका हूँ। अब 'अपना' कहने के लिए केवल आपके चरण-युगल का ही भरोसा है। और कुछ भी नहीं है। अतः पलंग आप ही ले जायँ।"

शिष्य प्रणाम कर चले गये। भोजनोपरान्त गुरुजी के जाने के लिए एक गाड़ी मँगवायी गयी। उस पर पलंग खोल कर लाद दिया गया। चावल दाल, गेहूँ, घी, तेल, नमक, वस्त्र आदि भी गाड़ी में लाद दिये गये। गुरुजी के जाने का समय आ गया। घर के लोग एक-एक कर के गुरुजी को दक्षिणा दे कर प्रणाम करके चले गये। अन्त में आये वही छोटे शिष्य। उनके पीछे-पीछे एक गँड़ासा लिये उनका खास नौकर रामा भी आया। छोटे शिष्य ने प्रणाम करके गुरुजी से कहा—"प्रभु! आप तो चले जा रहे हैं; हमें क्या दे जायेंगे? हम किसे ले कर रहेंगे? घर-दुआर, पत्नी-पुत्र, रुपये-पैसे सब ही तो आपके हैं। आप हमारे घर के सभी अच्छी चीजों को लिये जा रहे हैं। और भी जो इच्छा हो ले जा सकते हैं। हमें आपत्ति करने का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु हमारी एकमात्र सेवा की वस्तु है आपके वह पवित्र चरण-युगल। उन्हें हमें आप दे जायँ। गुरु के चरणों का अधिकार केवल शिष्यों को ही है। इस लिए आज आपके दोनों चरणों को मैं काट कर रख लूँगा तथा जीवन भर इन्हीं

की सेवा-पूजा करता रहूँगा ।"

इतना कह कर शिष्य ने दोनों हाथों से गुरुजी के दोनों चरणों को लिया और नौकर रामा से कहा--"रामा, देखता क्या है, झट इन दोनों को गँड़ासे से काट डाल ।"

रामा ने भी काटने के लिए गँड़ासा उठाया। देखते ही गुरुजी चिल्लाने लगे--"अरे मार डाला, मार डाला, इन हत्यारों ने मुझे मार डाला।"

गुरु की चिल्लाहट सुन कर सब लोग दौड़ कर वहाँ आये। पड़ोस के बहुत से लोग वहाँ आ कर इकट्ठे हुए। यह अजीब दृश्य देख कर सब दंग रह गये--छोटे शिष्य गुरु के पैरों को पकड़ कर खींच रहे हैं तथा नौकर को उन्हें काट लेने के लिए बार-बार डपट कर हुक्म दे रहे हैं। नौकर मालिक के हुक्म से काटने के लिए गँड़ासा उठाये खड़ा है। गुरुजी मृत्यु के भय से बेतहाशा चिल्ला रहे हैं।

सारी बातें समझ में आने पर कुछ लोग हँसने लगे और कुछ लोग गुरु की खिल्ली उड़ाने लगे।

गुरु ने सोचा कि यह छोटा शिष्य जिस प्रकार उद्दंड है उससे वह सचमुच मेरे पैरों को काट लेगा। उन्होंने रोते हुए कहा—"तू मुझे छोड़ दे। मैं पलंग नहीं लूँगा। तेरी गाय भी लौटा दूँगा। मैं फिर कभी तेरे यहाँ नहीं आऊँगा। अबकी मुझे माफ कर, मुझे छोड़ दे।"

परन्तु छोटे शिष्य गुरु के चरण नहीं छोड़ना चाहते थे। घर के लोग गुरु की चिल्लाहट से कातर हो कर उनके पैर छोड़ने के लिए उन्हें बहुत समझाने बुझाने लगे। बहुत देर तक समझाने पर छोटे शिष्य ने गुरु के पैर छोड़ दिये। उन्होंने गुरु से कहा--"आज आपके लिए शुभ मुहूर्त है। सबके कहने से मैंने आपको आज छोड़ दिया। फिर यहाँ आ कर अगर शिष्य की किसी अच्छी चीज को हथियाने का आपने लोभ किया तो मैं उसका बदला लिये बिना आपको नहीं छोड़ूँगा।"

उस दिन गुरु जी जान ले कर जो गये फिर वहाँ कभी न आये। लोभी गुरु को चतुर शिष्य से अच्छी शिक्षा मिली। किसी दूसरे शिष्य के घर जा कर भी उन्होंने फिर कभी लालच नहीं किया।

महात्मा—बेटा ! आजकल ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है । इसी लिए तन्त्र-शास्त्र ने कहा है—

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभस्तु गुरुर्देवि ! शिष्यतापापहारकः ।। (मायातन्त्र)

अर्थात्—हे देवि ! शिष्य के धन हरने वाले गुरु संसार में अनेक हैं परन्तु शिष्य के ताप ( आसक्ति, वासना, कर्मसंस्कार तथा अज्ञानजनित दुःख ) दूर करने वाले गुरु दुर्लभ हैं ।

वेदान्तनिष्णात आचार्य शंकर ने कहा है—

किं दुर्लभं ? सद्गुरुरस्ति लोके, सत्संगतिः ब्रह्मविचारणा च ।

अर्थात्—"जगत में दुर्लभ क्या है ? सद्गुरु, साधुसंग, और ब्रह्मविचार । ये तीन वस्तुएँ अत्यन्त दुर्लभ हैं । सौभाग्यवान् पुरुष के अतिरिक्त सर्वसाधारण के भाग्य में इनका संयोग नहीं होता ।" बेटा ! तत्त्वज्ञ महात्मा केवल शिष्यों के धन ले कर अपने सुख-विधान करने के लिए ही शिष्य-ग्रहण नहीं करते । अज्ञानी शिष्यों के प्रति कृपा करके उन्हें माया-बन्धन से मुक्त करने के लिए आत्मज्ञ व्यक्ति शिष्य ग्रहण करते हैं । इसलिए शास्त्र भी कहते हैं—

शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ।
शिष्याणां न तु कारुण्यात् स ज्ञेयः शिष्यसंग्रहः ।।

(मनुभाष्यमें मेधातिथि)

अर्थात्—"सुश्रूषा, लाभ, पूजा-प्राप्ति या यश की आकांक्षा से या अर्थ-प्राप्ति के लिए गुरु शिष्य का संग्रह नहीं करते । बल्कि शिष्य के प्रति दया कर के अधिकारी व्यक्ति को शिष्य करते हैं, इसी को शिष्य-संग्रह कहते हैं ।" तुम्हारे जैसे विचाररहित शिष्य घोर विषय-पिपासु अज्ञानान्ध गृहस्थ गुरुओं की बातों से जीवन भर हाय हाय करते हुए संसार-कानन में भटकते फिरते हैं । संसार में वेद-वेदान्तादि शास्त्रों में पारंगत ब्रह्मज्ञ गुरु अत्यन्त दुर्लभ हैं । परन्तु वैसे महात्मा यद्यपि अकस्मात् किसी के भाग्य से मिल भी जाते हैं तथापि शम, दम आदि गुण-युक्त प्रशान्त-चित्त व्यक्ति के अतिरिक्त साधारण मनुष्य उन्हें पहचानने या उनके शिष्य होने में समर्थ नहीं होते ।

———

# शिष्य-विचार

हे महामते ! इस दृश्यमान व्यवहारिक जगत् के विषय में ज्ञान प्राप्ति के लिए जिस प्रकार विद्यालय के शिक्षक गुरु-पद-वाच्य हैं उसी प्रकार पारमार्थिक तथा जगत् के परमतत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए दीक्षा देने वाले लोग ही समाज में गुरु नाम से परिचित हैं। विद्यालय के शिक्षक अनुपयुक्त हों तो जैसे उनके छात्र मेधा-शक्ति के रहते हुए भी शिक्षा के अभाव से उन्नति-लाभ नहीं कर सकते, आध्यात्मिक संसार के दाता गुरु भी यदि अनुपयुक्त हों तो मुमुक्षु शिष्य ज्ञान-पिपासा से छटपटाते दिन बिताते हैं अर्थात् तीव्र भोग-पिपासु और विषयासक्त अनुपयुक्त गुरु के हाथ में पड़ने पर उस मुमुक्षु शिष्य को मानसिक उन्नति होना तो दूर रहे, है, बल्कि उसकी और भी दुर्गति होती है। दूसरी ओर उपयुक्त गुरु के हाथ में यदि अनुपयुक्त शिष्य पड़ जाय तो उससे गुरु को अत्यन्त अशान्ति होती है। अतः शिष्य उपयुक्त, गुरु अनुपयुक्त ; फिर गुरु उपयुक्त, शिष्य अनुपयुक्त इन दोनों स्थलों में ही आशा के अनुरूप फल की प्राप्ति में व्यतिक्रम हुआ करता है। परन्तु जहाँ गुरु और शिष्य दोनों ही उपयुक्त हैं, वहाँ दैव और पुरुषार्थ के मणि-कांचन-संयोग की तरह अपूर्व फल परिदृष्ट हुआ करता है। वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करने के योग्य शिष्य कैसा होना चाहिये उस विषय में भी शास्त्रवाक्यों के प्रति ध्यान रख कर तुम्हें उस ग्रहण के लिए उपयुक्त शिष्य का स्थान अधिकार कर लेना होगा। गुरु शिष्य-ग्रहण के समय तीन प्रकार से शिष्य की योग्यता-अयोग्यता की परीक्षा करके उसके पश्चात् शिष्य ग्रहण करना होता है। अब मैं इसी विषय को बताऊँगा। क्योंकि तुम लोगों की धारणा है, कोई भी हाथ-पैर वाला मनुष्य ही शिष्य हो सकता है और केवल गुरु को ही योग्य होना चाहिये।

भक्त—प्रभु ! शिष्य-विचार किसे कहते हैं ?

महात्मा—बेटा ! आजकल समाचार-पत्रों के सम्पादकों की समालोचना रने वाला कोई नहीं है। परन्तु वे ब्रह्माण्ड भर के समालोचक हैं। ठीक उसी कार तुम्हारे शिष्य-लक्षण की भी समालोचना करने योग्य कोई मनुष्य नहीं खाई पड़ता। परन्तु शिष्य सभी गुरुओं के समालोचक हैं। सम्पादक की णित शतमुखी लेखनी के सामने खड़े हो कर उसके सम्बन्ध में एक भी बात कहने ग्य व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता। उसी प्रकार वर्तमान युग के वाक्यवीर शिष्यों सामने खड़े होकर गुरुओं को उनके विरुद्ध एक भी बात कहने का सामर्थ्य हीं है। क्योंकि गुरु एकमुख और शिष्य शतमुख हैं। गुरु बहुत हुआ तो संस्कृत दो-एक श्लोकों के द्वारा शिष्य को कोई बात समझाने की चेष्टा करते हैं, रन्तु शिष्य अंग्रेजी में उपहास के साथ उसे उड़ा देते हैं। गुरु को शिष्य गास्त्र की कसौटी पर जाँच लेते हैं, परन्तु गुरु को शिष्य की बनावटी चाल ख कर ही रह जाना पड़ता है। क्योंकि गुरु की पूँजी केवल आत्मज्ञान है और शष्य का बाहुबल—विज्ञान। आजकल तुम्हारे जैसे शिष्यों में ऐसी चर्चा फैली ई है कि 'यथाशास्त्र उपयुक्त गुरु कहीं नहीं मिलते।' इससे मालूम होता है के संसार में यथाशास्त्र शिष्यों की कमी नहीं है। परन्तु मैं यह नहीं समझ कता कि गुरु दुर्लभ है अथवा शिष्य ? सौ गुरुओं में एक सद्गुरु आज भी र्लभ नहीं है। परन्तु हजार शिष्यों में एक भी योग्य शिष्य का मिलना कठिन । उपयुक्त गुरु होने से जिस प्रकार योग्य शिष्यों का अभाव नहीं होता, उसी कार योग्य शिष्य होने पर भी उपयुक्त गुरु का भी अभाव नहीं होता। इसी ारण शास्त्र कहते हैं—

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

अर्थात्—"देवता, तीर्थ, द्विज, मन्त्र, दैवज्ञ, औषध और गुरु के सम्बन्ध जिसकी जैसी भावना है, सिद्धि भी उसीके अनुरूप ही होती है।" इसका ाशय यह है कि इन विषयों में जो जितना तन्मय होकर विचार करेगा, उसका ल भी उतने ही परिमाण में होगा। बेटा ! आजकल अनुपयुक्त गुरु कह कर प्रायः ोग उनके प्रति घृणा का कटाक्षपात करते हैं। परन्तु 'मैं उपयुक्त शिष्य हूँ या

नहीं' इसका विचार करने वाला मनुष्य संसार में दुर्लभ है। तुम्हें
विचार कर देखना उचित है कि तुम जिस परिमाण में उपयुक्त पात्र
गुरु मात्र को अनुपयुक्त समझना अत्यंत स्पर्धा का विषय और मूर्खता
है। आजकल के नयी रोशनी के युवक-युवतियों के मन में 'गुरु' शब्द
एक भ्रांत धारणा बद्धमूल हो गयी है कि—"तुषारमण्डित हिमाद्रि-शि
निर्जन गिरि-गह्वर में या लोकालय से दूर श्वापद-संकुल गम्भीर मह
झोपड़ी के भीतर बद्ध-पद्मासन, मुद्रितलोचन योगिराज बैठे हुए हैं।"
लिया, वे सद्गुरु हैं, किन्तु उनसे तुम्हें क्या लाभ ? अगाध समुद्र के
अनन्त रत्न सुसज्जित पड़े हुए हैं, परन्तु यदि डुबकी लगा कर उसे उठा
शक्ति न हो तो उससे तुम्हें क्या लाभ है ?

भक्त—प्रभु ! कैसा मनुष्य शिष्य होने का अधिकारी है, कृपा कर
का उपदेश दीजिये।

महात्मा—बेटा ! जो मनुष्य गुरु और ईश्वर में भेद ज्ञान न रख
को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर समझ कर निष्कपट हृदय से शरीर, म
के द्वारा गुरु की सेवा में संलग्न है तथा उन्हीं का आदेश परम क
समझ साधना में निरत रहता है, वही यथार्थ शिष्य है। यथार्थ जिज्ञा
ही उपदेश-ग्रहण के अधिकारी हैं। क्योंकि सर्व शास्त्रों का विधान है कि
हुए बिना किसी को उपदेश नहीं देना चाहिये, देने पर भी वह व्यर्थ हो
है। शान्तिगीता में लिखा है—

आत्मवासनया युक्तो बुभूत्सुर्व्यग्रमानसः।
संश्रयेत् सद्गुरं प्राज्ञं दम्भादिदोषवर्जितः॥
गुरुसेवारतो नित्यं तोषयेद् गुरुमीश्वरम्।
तत्त्वातीतो भवेत्तत्त्वं लब्ध्वा गुरुप्रसादतः॥

अर्थात्—"आत्मतत्त्व जानने के लिए तीव्र वासनायुक्त, संसार
विषय में जिज्ञासु, उन तत्त्वों के जानने के लिए आग्रहयुक्त तथा दम्भादि
वर्जित होकर शिष्य प्राज्ञ सद्गुरु की शरण ले। उसके अनन्तर गुरु-सेवा में

कर ईश्वर-बुद्धि से सदा उन्हें प्रसन्न रखे। इस प्रकार करने से केवल श्रीगुरु कृपा के द्वारा ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो कर तत्त्वातीत हुआ जा सकता है*। अतः मनुष्य ही सद्‌गुरु का शिष्य होने के लिए एकमात्र अधिकारी है और गुरु भी उसी के सामने अपने को प्रकट करते हैं। तन्त्रशास्त्र कहते हैं—

शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणक्षमः।
समर्थश्च, कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितो यतिः।
एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा॥
पुण्यवान् धार्मिकः शुद्धो गुरोर्भक्तो जितेन्द्रियः।
शिष्ययोग्यो भवेत् सो हि दानध्यानपरायणः॥ (तन्त्रसार)

अर्थात्—"जो मनुष्य शान्त, विनीत, शुद्धात्मा, श्रद्धावान्, धैर्यशील, कार्यदक्ष, सत्कुलोत्पन्न, बुद्धिमान, सच्चरित्र और आचारवान है उसीको शिष्य

---

* आत्मवासनयायुक्तः—आत्मज्ञान-लाभ करने या अपने को जानने के ऐका-न्तिक इच्छायुक्त। आशय यह है कि मनुष्य अपना सच्चिदानन्द-स्वरूप भूल प्रकृति के मोह में मुग्ध हो गया है। सदा ही 'मैं मैं' कर रहा है। जब 'मैं' का स्वरूप जानने के लिए मनुष्य का हृदय अत्यन्त व्याकुल हो जाता तभी उसे 'आत्मवासनया युक्तः' कहते हैं और यही सद्‌गुरु की शरण जाने का प्रथम अधिकार है। बुभूत्सुः—जिज्ञासु। संसार के घात-प्रतिघात सहते-सहते जिसे उसका तत्त्व जानने के लिए और संसाररूपी मरुस्थल के उस पार कोई चिरन्तन शान्ति-निवास है या नहीं उसे जानने के लिए जिसका चित्त अत्यन्त व्याकुल हो गया है, उसी को बुभूत्सु कहते हैं। व्यग्र-मानसः—आत्मतत्त्व जानने के लिए मानसिक व्यग्रतायुक्त। एकमात्र आत्मज्ञान के अतिरिक्त विविध वासना-जालों से जिसका चित्त-समुद्र उद्वेलित नहीं होता, वही व्यग्रमानस है। दम्भादिदोषवर्जितः—आसुरिक-भाव-रहित। दम्भ—ध्वजित्व; अभिमान—अपने में अति पूज्यत्व का घमण्ड; क्रोध—गुस्सा; पारुष्य—कठोरता; अज्ञान—विवेक का अभाव। इन सब दोषों से जो अपने को मुक्त कर सके हैं, वही योग्य शिष्य हैं।

रूप से ग्रहण करना कर्तव्य है। जो इन गुणों से रहित हो ऐसे व्यक्ति कभी शिष्य रूप से स्वीकार करना उचित नहीं है। जो मनुष्य पुरुष धर्मपरायण, शुद्धचित्त, गुरुभक्त, जितेन्द्रिय और दाता है तथा जिसका करण सदा ध्यान-निरत है, वही शिष्य होने का उपयुक्त पात्र है।" शिष्य-लक्षण के विषय में भी तन्त्रसार का विधान है कि—

पापिने क्रूरचेष्टाय शठाय कृपणाय च।
दीनायाचारशून्याय मन्त्रद्वेषपराय च ॥
निन्दकाय च मूर्खाय तीर्थद्वेषपराय च।
गुरुभक्तिविहीनाय न देयो मलिनाय च ॥

अर्थात्—"जो व्यक्ति पापी, हिंसा-परायण, शठ, कृपण, अति आचाररहित, मन्त्रद्वेषी, निन्दक, मूर्ख, तीर्थद्वेषी, मलिनचित्र तथा गुरुभक्ति है, उसे कदापि मन्त्रदान करना उचित नहीं है।" इन सब कारणों से अन्य और शिष्य एक दूसरे की उत्तम रूप से परीक्षा लेकर गुरु-शिष्य-सम्बन्ध करने के लिए शास्त्र आदेश देते हैं—

सद्गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत्। (सार

"गुरु या शिष्य का ग्रहण करने के लिए पहले एक साल तक एक में रह कर एक दूसरे के चरित्रादि की विशेष रूप से परीक्षा ले कर गुरु सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।" क्योंकि शिष्य के लिए गुरु को गम्भीर ग्रहण करना होता है। इसी लिए शास्त्र में निर्देश है—

राज्ञि चामात्यजो दोषः पत्नीपापं स्वभर्तरि।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुः प्राप्नोति निश्चितम् ॥ 'सार

अर्थात्—"मन्त्री के पाप करने से वह राजा में, पत्नी के पाप करने पति में और शिष्यकृत पाप गुरु में संक्रामित होता है।" इसी कारण आदि की परीक्षा लेने के अनन्तर शिष्य ग्रहण करना कर्तव्य है। इस शास्त्र-प्रमाणों की कमी नहीं है—❀

---

❀ आगमसार में लिखा है—

अलसा मलिनाः क्लिष्टा दाम्भिकाः कृपणास्तथा।

भक्त—प्रभु ! आपकी बातों से मुझे स्पष्ट ज्ञान हो गया कि हम शिष्य लोग अन्धे हैं और हमारे गृहस्थ धन-लोभी गुरुओं को भी आँख से नहीं सूझता। अतः हम दोनों ही दृष्टि-शक्ति-रहित हैं। अब हमारी दशा क्या होगी, इसे मैं निश्चित नहीं कर सकता।

महात्मा—वेटा ! गुरु और शिष्य दोनों ही यदि अज्ञानान्ध होते हैं तो उनकी दशा कैसी होती है, उसे ब्रह्मज्ञ कबीर जी बताते हैं—

जाको गुरु है अँधारा, चेला कहाँ कराय।
अन्धे अन्ध चेलिया, दोऊ कूप पराय॥

अर्थात्—"पथ-प्रदर्शक गुरु जिसके अन्धे हैं, उनके शिष्य क्या करेंगे। अन्धे के द्वारा चालित हो कर दोनों ही कुएँ में गिर कर मरते हैं।" एक स्थान में एक अन्धा दूसरे अन्धे के पास जा कर अपने अन्धेपन को छिपा कर अपने को पद्म-

---

दरिद्रा विलासी रुष्टा रागी च भोगलालसाः।
असूयामत्सरग्रस्ताः सदा पुरुषवादिनः।
अन्यायोपार्जितधनाः परदाररताश्च ये।
विदुषां वैरिणश्चैव त्याज्याः पण्डितमानिनः।
भ्रष्टाचाराश्च ये कष्टवृत्तयः पिशुनाः खलाः॥
बह्वाशिनः क्रूरचेष्टा दुरात्मानश्च निन्दिताः।
इत्येवमादयोऽन्येऽपि पापिष्ठाः पुरुषाधमाः।
एवम्भूताः परित्याज्याः शिष्यत्वे नोपकल्पिताः॥

अर्थात्—"जो मनुष्य आलसी, मलिन-चित्त, सदा क्लेशयुक्त, घमण्डी, कृपण, दरिद्र, चिररोगी, सदा रुष्ट, विलासी, विषयासक्त, भोगेच्छु, ईर्ष्यालु, दूसरे के गुणों में असहिष्णु, कठोरभाषी, अन्याय से धनोपार्जन करने वाला, व्यभिचारी, पण्डित-विद्वेषी, पाण्डित्याभिमानी, सदाचारभ्रष्ट, निन्दक, खल, बहुभोजी, हिंसक, दुःशील, निन्दित तथा इसी प्रकार के पापकार्य करने वाला नराधम कभी शिष्य रूप से ग्रहण करने योग्य नहीं है।"

लोचन कह कर दूसरे अन्धे को रास्ता दिखाते हुए ले चला। जंगलों में चलते हुए दोनों कुछ काँटों में पड़ गये परन्तु किसी तरह वहाँ से हट कर पद्मलोचन अन्धा दूसरे धमकते हुए बोला—"अबे अन्धे, क्या तुझे कुछ भी नहीं सूझता ! इ जा गिरा !" इतना कहते-कहते सामने के कूएँ में दोनों जा कर धड़ाम पड़े। तब दूसरे अन्धे से रहा नहीं गया, उसने कहा—"जैसे तुम पद्मलो मैं भी वैसा ही पद्मलोचन हूँ ! अर्थात् अब समझ में आया कि जैसे मैं हूँ वैसे ही तुम भी नेत्रहीन हो।" इसी प्रकार आजकल के अज्ञानी गुरु को एक दिन शिष्य कह बैठेगा—"जैसे आप पद्मलोचन हैं, मैं भी पद्मलोचन हूँ।" इसलिए जिस प्रकार एक अन्धा दूसरे अन्धे प्रदर्शक नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार यदि विषयासक्त गृहस्थ व्यक्ति आपस में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध स्थापित कर माया-नदी के पार लिए अर्थात् आत्मतत्त्व-लाभ रूप परमार्थिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर लिए चेष्टा करें तो वे दोनों ही एक दूसरे को लिपट कर उस माया-नदी मरेंगे। भक्त तुलसीदास ने भी कहा है—

> गुरु लोभी शिख लालची, दोनों खेले दाँव।
> दोनों बपुआ डूब मरे, चढ़ी पत्थर की नाँव॥

अर्थात्—"लोभी गुरु और भवसुख में एकान्त पिपासु शिष्य दोनों संसार-समुद्र उत्तीर्ण होने के लिए चलें तो अज्ञान रूप पत्थर की नाव हो कर इस संसार-समुद्र में डूब मरते हैं।" अतः तुम सदा ही याद र सद्गुरु अर्थात् ब्रह्मज्ञानी महापुरुष का आश्रय ग्रहण करने के लिए अपने उपयुक्त बनाना चाहिये।

———

# अनधिकारी शिष्य

भक्त—प्रभु ! आजकल हमारे देश के बहुत से लोग दूसरों को देख कर किसी संन्यासी के शिष्य हो जाते हैं। वे प्रायः समझते हैं कि संन्यासी महात्मा से दीक्षा लेने पर हम धन-जनों से पूर्ण हो कर सुख-शान्ति से दिन बिता सकेंगे।

महात्मा—बेटा ! सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करना विलास की वस्तु नहीं है, क्षणिक मनोवेग का कार्य भी नहीं। वह तो जीवन भर की साधना से प्राप्त ऐकान्तिक आकांक्षा का सुधामय फल है। क्षणिक आवेग से या दूसरों को देख कर अर्थात् लोग सद्गुरु के शिष्य रूप से सम्मान देंगे, इस लोभ से नाम, यश के आकांक्षावश अनेक अज्ञानी मनुष्य सद्गुरु के शिष्य होकर अपना काम बनाते हैं तथा सद्गुरु के शिष्यत्व का कितना अपमान करते हैं इसका वर्णन करना भी कठिन है। फिर अनेक सद्गुरु भी इस प्रकार के शिष्यों के बर्तावों से अनेक क्लेश उठाते हैं। सद्गुरु का आश्रय लेने से ही तुम सुख-शान्ति और नाम-यश के साथ धन-जनों से परिपूर्ण रहकर जीवन बिता सकोगे—ऐसी भ्रमपूर्ण धारणा तुम्हें कैसे उत्पन्न हुई ? वेद-वेदान्त से ले कर पुराणादि किसी भी शास्त्र में ऐसा एक भी उदाहरण दिखा सकते हो ? बल्कि धार्मिक लोग ही जीवन भर दुःख कष्ट से पीड़ित रहते हैं। किस प्रकार से तुम लोगों को त्याग के पवित्र मार्ग में अग्रसर करा सकेंगे, उसी की चिन्ता से हमें व्याकुल रहना पड़ता है तथापि तुम लोग अयोग्य वस्तु पाने की आशा से हमें परेशान कर डालते हो। योग्य अधिकार अर्जित किये बिना ही दूसरों का अनुकरण करते हुए सद्गुरु के शिष्य हो कर कितने ही व्यक्ति जीवन भर हाय हाय करते हुए मर रहे हैं, उसकी संख्या करना भी कठिन है। उनकी धारणा यह है कि सद्गुरु के शिष्य होते ही जीवन रूपान्तरित हो जायगा, परंतु यथार्थ वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। बीज कितना ही पुष्ट क्यों न हो, कितना ही सजीव क्यों न हो, यदि भूमि उत्तम रूप से जोती न गयी हो या भूमि ऊसर हो तो उस बीज से सुफल की आशा नहीं की

जा सकती। बहुत लोग अपने अधिकार या साधन-सम्पद् के प्रति ध्यान न कर केवल सद्गुरु की कृपा से क्षणभर में सब कुछ हो क्यों नहीं गया, इस सद्गुरु की कृपा के ऊपर कटाक्षपात करते हैं। मान लो, एक कक्षा में से छात्र पढ़ते हैं, उनमें एक तो प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ और दो-तीन सालों में भी ऊपर के दर्जे में न उठ सके; क्या यह विद्यालय के का दोष है या अनधिकारी छात्र का? शिक्षक तो सभी छात्रों को सम से उपदेश-दान किया करते थे। ठीक उसी प्रकार सद्गुरु की कृपा शिष्य के चित्त को जिस प्रकार आकर्षित कर सकती है, अनुपयुक्त किसी तरह भी उस प्रकार होने योग्य नहीं हो सकता। क्या यह गुरु है या शिष्य का? अतः अधिकार अर्जित कर तब सद्गुरु की शरण चाहिये? स्वयं अनधिकारी होने से उसके कारण गुरु के प्रति निरर्थक दोष न करके अपनी अयोग्यता के प्रति सदा दृष्टि रखनी होती है। क्योंकि तक अपने दोषों के ऊपर अपना ध्यान न जायगा, तब तक किसी तुम्हें उन्नति की आशा नहीं करनी चाहिये।

भक्त—प्रभु! हम अनेकों से सुनते हैं कि किसी आत्मज्ञ महात्मा ग्रहण कर सकने पर बाद में वही गुरु शिष्य को मुक्त कर ले जायेंगे। समय केवल गुरु की कृपा से ही सब कुछ हो जायगा, इसके लिए शि कुछ करना नहीं पड़ेगा। परन्तु अब आपकी बातों से समझ में आ ग योग्य शिष्य को सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करने पर भी शरीर, मन, वा आत्मोन्नति की चेष्टा करनी होगी।

महात्मा—बेटा! ऐसे अज्ञानियों की बात तुम्हें कहाँ मिली? आत्म की कृपा के बिना केवल शास्त्रों के अध्ययन से आत्मज्ञान नहीं होता—य सत्य है; परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए दृढ़ता के साथ अपने को प्रयत्न ही होगा। तुम्हारे भूख का कष्ट दूर करने के लिए क्या दूसरे के भोजन से काम चलेगा? तुम्हारे अपने प्रयत्न के द्वारा स्वयं भोजन किये बिना दूसरे उपाय से दूसरे के द्वारा जिस प्रकार क्षुधा की शान्ति किसी प्रकार भी हो सकती, ठीक उसी प्रकार परम शान्ति लाभ के लिए सद्गुरु का संग हुए अपने को ही विचार-शक्ति के द्वारा आत्मज्ञान लाभ करके स्वयं ही

बन्धन छिन्न करना तथा अपने को मुक्त करना होगा--यह तो मैं पहले ही तुमसे कह चुका हूँ। गुरुदेव मुक्त पुरुष हैं इसलिए उनका चरणस्पर्श कर मैं भी मुक्त हो जाऊँगा, ऐसा कभी नहीं हो सकता। वेदान्त कहते हैं--

पथ्यमौषधः सेवा च क्रियते येन रोगिणा।
आरोग्यसिद्धिर्दृष्टास्य नान्यानुष्ठितकर्मणा॥

अर्थात्--"रोगी स्वयं औषधि और पथ्य का सेवन करके ही आरोग्य प्राप्त कर सकता है। परन्तु दूसरे के द्वारा उस प्रकार के सेवन से नहीं।" जैसे किसी रोगी को किसी अनुभवी चिकित्सक के द्वारा स्पर्श करते ही उसी समय वह रोगी रोग-मुक्त नहीं होता, बल्कि उस चिकित्सक के आज्ञानुसार रोगी को औषधि-पथ्यादि का नियमित सेवन करके रोग-मुक्त होना पड़ता है। उसी प्रकार इस भव-व्याध-ग्रस्त माया-मोह से अभिभूत जीव के भी भव-व्याधि-चिकित्सक आत्मज्ञ महात्मा का गुरुके रूप से स्पर्श करते ही तत्क्षण ही उस शिष्य का आत्मज्ञान लाभ होकर मायापाश नहीं टूट जाता। शिष्य को गुरु के आदेश के अनुसार स्वयं श्रवण, मनन आदि के द्वारा भव-व्याधि से मुक्त होना पड़ता है। शिवसंहिता में लिखा है--

गुरुं सन्तोष्य यत्नेन यो वै विद्यामुपासते।
अविलम्बेन विद्यायास्तस्यः फलमवाप्नुयात्॥

अर्थात्--"जो यत्नवान् हो कर गुरु को प्रसन्न कर के उनके उपदेशानुसार ज्ञानानुशीलन करते हैं, वह शीघ्र ही उस विद्या का फल प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।" वेदान्त भी कहते हैं--

अविद्या-काम-कर्मादि-पाशबन्धं विमोचितुम्।
कः शक्नुयाद् विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि॥

अर्थात्--"ऐकान्तिक आग्रह के साथ अपने प्रयत्न के विना शतकोटि कल्पों में भी कोई अविद्या-काम-कर्मादि-रूप पाश-बन्धन (माया या अज्ञानता का बन्धन) छिन्न करने में समर्थ नहीं होता।" अतः सद्गुरु की आज्ञा के अनुसार स्वयं प्रयत्न किये बिना जीव को मुक्त करने में मुक्तात्मा भी समर्थ नहीं होते। इसलिए कहता हूँ, जब तक तुम अपने मन पर ध्यान

रखकर विचार द्वारा उसके दोषों के प्रति दृष्टि नहीं डाल सकोगे तो स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आ कर तुम्हारे उपदेष्टा होने पर भी तुम कभी प्राप्त नहीं कर सकते। गुरु उस अन्तर्जगत के दुर्गम पथ के प्रदर्शक हैं, वे ही तुम्हें वह पथ दिखा देंगे। यहाँ तक कि गुरु तुम्हारा हाथ पकड़ कर जायेंगे। परन्तु चलते समय केवल गुरु के ही आगे-आगे चलने से चलेगा, उनके साथ-साथ तुम्हें भी अपने पैरों के बल चलते रहना पड़ेगा। यदि तुम चल न सको तो कैसे उस पथ के उस पार जा कर मुक्त होगे? सब मनुष्यों की विचार-शक्ति और मेधा-शक्ति एक प्रकार की न होने विचार-रहित मनुष्य आत्मतत्त्व का उपदेश ग्रहण करने में असमर्थ हैं। भगवान श्रीकृष्ण, भगवान बुद्धदेव, चैतन्य महाप्रभु तथा ईसामसीह अवतारी पुरुष भी अपने आश्रित सभी व्यक्तियों को मुक्त नहीं कर सके। सांख्यशास्त्र कहते हैं--

न ह्यन्यथा निर्धर्मकमात्मस्वरूपं विशिष्य ब्रह्मणापि शब्देन स प्रतिपादयितुं शक्यते। शब्दानां सामान्यमात्र-गोचरत्वात्। आ स्तम्बपर्यन्तेष्वात्मन एकरूपत्वे तु प्रतिपादिते तदुपपत्त्यर्थं शिष्य मेव तावद् विवेचयति यावन्निर्विशेषे शब्दगोचरे स्वरूपे पर्यवस्य ततश्च निःशेषाभिमाननिवृत्त्या कृतकृत्यो भवति।

अर्थात्--"स्वयं ब्रह्मा भी केवल शब्द के द्वारा रूपातीत और गुणातीत धर्म-विरहित उस आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि केवल सामान्य मात्र का बोधक है। कीट से ले कर ब्रह्मा तक के आत्मा की रूपता प्रतिपादित होने पर भी उस एकरूपता को समझने के लिए शिष्य को ही विवेचन (मनन) करना होता है। विचार के बिना केवल शब्द-मात्र श्रवण होने से आत्मा की एकरूपता का ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता। 'आत्मा एकरूप है' आदि उपदिष्ट वाक्यों के साथ मन की एकता न तब तक शिष्य को तन्मय हो कर पर्यालोचना करनी होगी। उसके अनन्तर रूप से शरीर में 'मैं' अभिमान के निवृत्त होने से ही शिष्य कृतार्थ हो सके

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत्।

अर्थात्—"अनेक शास्त्रों के अध्ययन तथा गुरु की उपासना द्वारा सारभूत उपदेश ग्रहण करना चाहिये। जैसे शहद की मक्खी फूलों के केशरादि असार भाग का परित्याग कर सारांश शहद का ही ग्रहण करती है, उसी प्रकार उपदेश-वाक्यों के असार अंश का परित्याग कर सारांश का ही ग्रहण करना चाहिये।" अतः बुद्धिमान मनुष्य सब प्रकार के शास्त्रों से सारभाग का ग्रहण करें। इस विषय में मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—"जिस ज्ञान से परमार्थ साधित हो सकता है वैसे सारभूत ज्ञान के उपार्जन में यत्नवान् होना चाहिये। क्योंकि अनेक प्रकार के ज्ञान, साधन में विघ्न डालते हैं।" वेटा! जिस प्रकार तत्त्वज्ञान के लाभ करने के लिए उपदेश श्रवण करना आवश्यक है, उसी प्रकार गुरुवाक्य की मीमांसा भी आवश्यक है। सूक्ष्म विचार द्वारा गुरुवाक्य का तत्त्व-निर्णय न करके केवल गुरु का उपदेश श्रवण करने से तत्त्व-ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता। इसी लिए कहा गया है—

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृ ऋते विरोचनवत्।

अर्थात्—"विरोचन और इन्द्र दोनों ने प्रजापति का उपदेश श्रवण किया था। उनमें इन्द्र उस उपदिष्ट वाक्य पर विचार करके उसका आशय समझ कर उनके उपदेशानुसार साधन करते हुए तत्त्वज्ञान प्राप्त हुए थे और विरोचन प्रजापति के उपदेश-वाक्य का आशय न समझ कर साधन कर के भी आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हो सका था।" अतः गुरु के उपदेश पर भी विचार करना कर्तव्य है। गुरुजी किस अभिप्राय से कौन उपदेश दे रहे हैं उसका आशय निश्चित कर ज्ञान का साधन करना चाहिये। गुरुवाक्य का भावार्थ न समझ सकने से भ्रान्ति दूर हो कर तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हो सकता। क्योंकि गुरु के उपदेश-वाक्य के विविध अर्थ हो सकते हैं। अभी भी 'तत्त्वमसि' इस एक उपदेश-वाक्य के नाना प्रकार के अर्थ दिखाई पड़ते हैं। अतः गुरुवाक्य का तात्पर्य-निर्णय न करके केवल उपदेश-श्रवण से कोई भी कृतकृत्य नहीं हो सकता। इसके लिए विचार और ध्यान-धारणा-समाधि आदि साधन आवश्यक हैं, तभी यथार्थ फल प्राप्त हो सकता है, नहीं तो सभी वृथा श्रम मात्र है।

———

# गुरु और मन्त्र का त्याग

भक्त—प्रभु ! बार-बार गुरु बदलने से पाप होता है या नहीं ?

महात्मा—बेटा ! आजकल गुरुओं का अहंकार और शिष्यों की अज्ञा[illegible] ही धर्मोन्नति न होने के कारण हैं। मान लो, चंचल-चित्त धर्माधर्म-ज्ञा[illegible] किसी व्यक्ति ने एक गुरु से दीक्षा ली ; उसके थोड़े दिन बाद किसी एक अ[illegible] जादू दिखलाने वाले आदमी से अनेक मनुष्य दीक्षा ले रहे हैं देखकर उस[illegible] ने पूर्व गुरु और मन्त्र का त्याग कर फिर से इस नये गुरु से मन्त्र-ग्रहण कर[illegible] यदि इसी प्रकार कोई आदमी यथार्थ ज्ञान-पिपासु हुए बिना, बिना विचारे[illegible] का अनुकरण करते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए बार बार गुरु और मन्त्र[illegible] त्याग करता है तो अवश्य ही उसे पाप-भागी होना पड़ेगा। गृहस्थों में ऐसे[illegible] को भी मैं जानता हूँ जो सत्रह-अठारह बार विभिन्न गुरुओं से दीक्षा ले[illegible] पश्चात्ताप कर रहा है तथा कहता है 'किसी से भी कुछ न मिला'। अभी[illegible] नये गुरु करने की आकांक्षा है। परन्तु किसी गुरु के दिये हुए मन्त्रादि द्वा[illegible] वह कोई जप, तप आदि कार्य नहीं करता। स्वयं अज्ञानी होने से उसकी[illegible] ऐसी ही हुआ करती है। परन्तु यदि कोई ज्ञान-पिपासु शिष्य अपनी बु[illegible] भ्रम से किसी अज्ञानी गुरु का आश्रय ग्रहण करते हैं तो ऐसे स्थल में गुरु[illegible] मन्त्र का त्याग करने से कोई पाप नहीं लगेगा, बल्कि उसकी निरन्तर उन्न[illegible] होती जायगी। इस विषय में पूर्वाचार्यों का सिद्धान्त भी ठीक ऐसा ही है।

भक्त—प्रभु ! अपने कुल के अज्ञानी गुरु का त्याग कर किसी ब्रह्म[illegible] का आश्रय ग्रहण करने से भी लोग कहते हैं, "इसने गुरु-त्याग किया।" [illegible] आशय क्या है ?

महात्मा—अविचारी लोग ही ऐसा कहते हैं। जिसने किसी को गुरु[illegible] वरण नहीं किया है उसका गुरु-त्याग सम्पूर्ण असम्भव है। क्योंकि जिसका[illegible] नहीं हुआ है, उसका त्याग कैसे होगा ? और 'कुल-गुरु का त्याग नहीं करना[illegible]

इसका आशय यह है कि, अपने गुरुवंश में गुरु करने योग्य आत्मज्ञ व्यक्ति विद्यमान हो तो उनका त्याग कर नये गुरु का आश्रय-ग्रहण नहीं करना चाहिये। इसके सिवाय अपने गुरुकुल में शिष्य का ऐसा कोई स्वत्व नहीं है कि वह उसका त्याग न कर सके। अपने गुरु-वंश में गुरु करने योग्य वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति न हो तो भी उसीको गुरु करना होगा—शास्त्र का ऐसा आशय नहीं है। यथार्थ में गुरु किसे कहते हैं और मन्त्र क्या है, इसकी विस्तृत व्याख्या न जानने से उन बातों का असली अर्थ समझ में नहीं आयेगा। बृहद् धर्मपुराण में स्पष्ट रूप से लिखा है—"गुरुकुल में यदि वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति हो तो वह शिष्य से वयस में छोटे होने पर भी उन्हीं को गुरु रूप से वरण करना चाहिये अर्थात् ऐसे स्थल में गुरुकुल अविचार्य है।" इसके सिवाय केवल गुरुकुल के नाम से अयोग्य पात्र में आत्मसमर्पण करना कहाँ तक अन्याय कार्य है, वह ज्ञानी मात्र ही समझ सकेंगे। तुम लोग वयस में बड़े होने से ही वृद्ध कहते हो, किन्तु यथार्थ में वयस में छोटे होने पर भी ज्ञान में बड़े को ज्येष्ठ या वृद्ध कहते हैं। ज्ञान-ज्येष्ठता को ले कर ही ज्ञान-राज्य में साधना और शास्त्र का विचार है। इस लिए ज्ञानी व्यक्ति वयस में छोटे होने पर भी बड़े हैं और इस प्रकार से वे दीक्षा देने के अधिकारी हैं। अतः तुम्हें यहाँ स्मरण रखना होगा कि जिस पाण्डित्य के कारण उनसे दीक्षा लेनी होगी वह पाण्डित्य शास्त्राध्ययन-जनित या उपाधिमूलक नहीं है बल्कि, वह समस्त उपाधियों का मूल-नाशक है। व्यवहार-क्षेत्र में जो लोग पण्डितों के आदर्श रूप हैं आध्यात्मिक राज्य में उनमें से अधिकांश ही अनुभवहीन और अज्ञ हैं। अतः गुरुकुल में पण्डित शब्द से समझना चाहिये कि जिस ब्रह्मविद्या से गुरु का गुरुत्व है उस परा विद्या में पण्डित होना चाहिये। केवल धर्मशास्त्र की व्यवस्था या तर्क-शास्त्र का कूट विचार विद्या का परिचायक नहीं है अथवा अर्थ का दासत्व भी इसका उद्देश्य नहीं है। इस लिए शिष्य को देखना चाहिये कि समाज में पण्डित रूप से माने जाने पर भी वह ज्ञान-राज्य में सुविज्ञ हैं या नहीं। भारत के दुर्भाग्य से पेशेदार गुरुओं के अत्याचारों से हिन्दू समाज आज इतना अधःपतित है। क्योंकि इस प्रकार के छिपे डाकू गुरुओं के दल ने मन में यही सिद्धान्त स्थिर कर लिया है कि महाप्रलय पर्यन्त हम शिष्यों के सिर पर पाँव धर कर उनका

उद्धार करते और उनकी आय में से बराबर एक अंश ऐंठते रहेंगे। इस अधिकार को कौन छीन सकता है? हम कितने ही स्वेच्छाचारी अत्याचारी क्यों न हों, शिष्यों को उसके विचार करने का कोई अधिकार है। क्योंकि--'अविचार्यं गुरोः कुलम्'। मैं पूछता हूँ, ऐसा अधिकार उन्हें किसने? शास्त्र बार-बार कहते हैं—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥

( मनुभाष्य में मेधा

अर्थात्—"मधु-लोभी भ्रमर जिस प्रकार मधु-पान करने के लि फूल से दूसरे फूल में विचरण करता है, उसी प्रकार शिष्य भी तत्त्वोपदेश करने के लिए एक गुरु से दूसरे गुरु के पास जाय, इससे गुरुत्याग के कोई पाप नहीं लगता।"

कामाख्यातन्त्र में लिखा है---"ज्ञान के द्वारा ही जीव मोक्ष प्राप्त कर ज्ञान ही परम श्रेष्ठ है। अतः इस ज्ञान के प्रदान करने में जो समर्थ न ऐसे गुरु का त्याग ही करना चाहिये—जिस प्रकार अन्नाकांक्षी क्षुधार्त निरन्न गृहस्थ के घर में जाकर अन्न न मिलने के कारण उसी समय उस को परित्याग कर के किसी धनिक के गृह में जाकर अन्न भोजन करके क्षु शान्ति करता है। जिनमें ज्ञान देदीप्यमान है वैसे गुरु साक्षात् शिव हैं, इस कारण अज्ञानी गुरु को छोड़ कर ज्ञानी गुरु की शरण लेनी चा ज्ञान से धर्म, ज्ञान से अर्थ, ज्ञान से काम तथा ज्ञान से मोक्ष अर्थात् जीव तथा निर्माण मुक्ति का लाभ होता है। केवल ज्ञान ही परम वस्तु है, ज्ञा अपेक्षा श्रेष्ठ वस्तु संसार में कुछ नहीं है। ज्ञान के लिए ही मनुष्य देव उपासना करते हैं और ज्ञान ही तपस्या का अन्तिम फल है। अतः आत्म युक्त गुरु का भाग्य से दर्शन-लाभ होने पर शिष्य असमर्थ गुरु का त्याग तुरन्त उनकी शरण लेवें, यहाँ तक कि, इसमें काल-विचार की भी अपेक्षा है। केवल शिष्य की सम्पत्ति का ग्रहण करने वाला गुरु निन्दनीय है।" समझ लो कि गुरुकुल यदि अविचारणीय ही होता तो इस प्रकार के विचार

में किस लिए विहित हैं ? सभी शास्त्र-वचनों से यह एक ही बात सिद्ध होती है कि 'ऐसे दोषी गुरु का वर्जन ही करना चाहिये।' अतः 'अज्ञानी गुरु का त्याग कर ज्ञानी गुरु का आश्रय नहीं लेना चाहिये'—शिष्यों की ऐसी भ्रान्तिपूर्ण धारणा उनकी आत्मोन्नति के लिए मुख्य विघ्नकारी है। मामूली विचार से भी तुम समझ सकते हो कि बचपन में जिस गुरु से तुमने ककहरा सीखा था, क्या कालेज में जाकर डिग्री कक्षा में पढ़ते समय भी उसी गुरु से शिक्षा पायी थी ? नहीं, हर ऊँची कक्षा में शिक्षक बदलते गये थे। वहाँ जिस प्रकार पाठशाला छोड़ कर कालेज में जाने पर शिक्षक बदलने से कोई पाप नहीं लगा, इस आध्यात्मिक जगत में भी ठीक उसी प्रकार गृहस्थ भोगी गुरु को छोड़ कर त्यागी ब्रह्मज्ञ गुरु के ग्रहण में कोई पाप न हो कर पुण्य ही सहस्र गुना अधिक होगा। अतः गुरु-त्याग के विषय में शास्त्र का तत्त्व जान कर शिष्य को अपने कल्याण के लिए सावधान होना चाहिये।

भक्त—प्रभु ! बहुत से लोग ऐसे भी कहते हैं, यदि कुलगुरु अर्थात् वंश-परम्परा से गुरु-शिष्य सम्पर्क निर्धारित न रहे तो दूसरे गुरु आ कर हमारे वंश का मन्त्र-बीज कैसे जानेंगे ?

महात्मा—बेटा मन्त्र-बीज कभी एक वंश की सभी सन्ततियों के लिए निर्दिष्ट नहीं रह सकता। अतः वह केवल अज्ञानी की उक्ति है। पहले अनेक बार कहा गया है कि गुरु-शिष्य-विचार के बिना किसी तरह भी वह सम्पर्क स्थापित नहीं किया जा सकता। वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ गुरु केवल हिन्दू ही क्यों, मुसलमान, ईसाई आदि किसी भी धर्म वाले क्यों न हों, उनका आश्रय ग्रहण करने से वह गुरु उन लोगों के मन्त्र-बीज का भी निर्वाचन कर सकते हैं। एकमात्र ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने से ही विश्व के सारे विषयों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसी कारण ब्रह्मज्ञ व्यक्ति को सर्वज्ञ कहते हैं। ब्रह्मज्ञ पुरुष के मन की अवस्था या मानसिक शक्ति कैसी असीम है वह आध्यात्मिक जगत के अज्ञानी शिशु-रूप साधारण मनुष्यों की धारणा में नहीं आती। इसी लिए वे वैसा प्रश्न उठाया करते हैं।

भक्त—दयामय ! फिर कोई कोई कहते हैं, हमारे पूर्व पुरुष सभी वैष्णव थे और वे वैष्णव-मन्त्र से ही दीक्षित हुआ करते थे। अब मैं उस वैष्णव कुल का पुत्र हो कर यदि किसी शाक्त वंश के महापुरुष को गुरु रूप से ग्रहण करता हूँ तो

क्या वह मुझे वैष्णव धर्म के अनुसार विष्णु-मन्त्र दे सकेंगे ? और यदि वैष्णव वंश का हो कर भी शाक्त-मन्त्र लेता हूँ तो क्या उस शाक्त-मन्त्र से कार्य-सिद्धि होगी ? अपने वंश के मन्त्र-बीज को छोड़ कर दूसरे बीज-मन्त्र से मेरा साधन-भजन नष्ट न हो जायगा ?

महात्मा—वेटा ! पहले भी हमारे देश में आधुनिक युग के समान शाक्त, सौर, वैष्णव आदि अनेक छोटे छोटे सम्प्रदाय थे, परन्तु उन में खान-पान-विवाहादि के विषय में आपस में कोई भेद-भाव नहीं था ; इसलिए उस जमाने में लोगों में एकता का बन्धन सुदृढ़ था। इसलिए धर्मोन्नति होती थी। अब उन सब शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदायों में छोटी छोटी शाखा-प्रशाखाएँ निकली हैं, उनमें खान-पान आदि के विषय में अनेक भेद होने के कारण एकता का बन्धन टूट गया है ; आपस में मिल कर धर्मालोचना की शक्ति भी नष्ट हो गयी है। साधन-भजन आदि कार्य कभी भी वंशगत नहीं हो सकता। अतः माता-पिता की रुचि के अनुसार पुत्र को भी साधन-भजन करना होगा, यह युक्ति-विरुद्ध बात है। आज तक किसी भी शास्त्रकार ने ऐसे अयौक्तिक विषय का विधान नहीं किया है। मान लो, पिता खटाई पसन्द करते हैं और उसी से उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है, परन्तु क्या उसी कारण उनके अम्लरोगग्रस्त पुत्र को भी अपनी अनिच्छा से भी खटाई खानी ही होगी ? पिता घी खाकर प्रसन्न होते हैं, परन्तु पुत्र घृत की गन्ध भी सहन नहीं कर सकता और उस से भी बीमार पड़ता है, क्या तो भी उस पुत्र को घी खाना ही होगा ? कोई शास्त्र या व्यक्ति ऐसी असंगत विधि का विधान नहीं दे सकते। यथार्थ में खटाई, घी, आमिष या निरामिष किसी भी प्रकार का खाद्य क्यों न खाय, का लक्ष्य स्वास्थ्य की उन्नति करके शरीर को स्वस्थ रखना है। और भी देखो, स्कूल-कालेज में जो छात्र अध्ययन कर रहे हैं, उनमें जो चित्र-विद्या में निपुण है यदि उसके पिता की रुचि के अनुसार उसे चित्रांकन छुड़ा कर वकालत पढ़ने दिया जाय अथवा जिस छात्र के मन में व्यवहारिक विषय-बुद्धि की तीव्रता दिखाई पड़ती है उसे यदि वेद-वेदान्त पढ़ने में बाध्य किया जाय तो उससे कोई भी कार्य सिद्ध न होगा। जिस प्रकार रुचि के विरुद्ध कोई खाद्य खाने से स्वास्थ्य की उन्नति न हो कर उल्टे शरीर रुग्ण ही हो जाता है, उसी प्रकार मन

रुचि के विरुद्ध किसी विषय का अध्ययन करने से भी उसकी मानसिक उन्नति न हो कर वृथा समय और धन का नाश ही होता है। इन विद्यार्थियों में कोई किसी विषय का अध्ययन क्यों न करे सभी का लक्ष्य अध्ययन के द्वारा ज्ञानार्जन करके धन कमाना है। अतः इस स्थूल जगत में स्वास्थ्योन्नति या ज्ञानार्जन जब मन की रुचि के विरुद्ध कुछ भी नहीं होता, तब पारमार्थिक जगत में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विषय की साधना साधक के निज मन की रुचि के विरुद्ध कैसे हो सकती है? जहाँ केवल मन की सहायता के बिना किसी भी दूसरे प्रकार से साधन-भजन नहीं चल सकता, वहाँ अपने मन की रुचि की तिलाञ्जलि देकर केवल माता-पिता या पितामह की रुचि के ऊपर निर्भर रह कर अथवा उनके अनुरोध से कभी कोई साधन-भजन नहीं चल सकता। शास्त्र ने भी ऐसी आज्ञा नहीं दी है। ऊपर-कथित छात्रों में जो जिस चीज का क्यों न अध्ययन करे, उन सभी का लक्ष्य एक ही है। साधन-भजन के मार्ग में भी शाक्त या वैष्णव जो जिस प्रकार से उपासना करे सभी का अन्तिम लक्ष्य—आत्मज्ञान के द्वारा चिरशान्ति प्राप्त करना है। अतः वैष्णव का पुत्र वैष्णव ही रहेगा या शाक्त का पुत्र शाक्त ही रहेगा—शास्त्रों में ऐसा कोई निर्धारित नियम नहीं है। हर एक मनुष्य अपनी अपनी रुचि के अनुसार—वैष्णव का पुत्र शक्ति-मन्त्र या शाक्त का पुत्र वैष्णव-मन्त्र में दीक्षित हो सकता है, शास्त्रों का यही आशय है।

भक्त—प्रभु! यदि कोई ज्ञान-पिपासु शिष्य पहले किसी अज्ञानी गृहस्थ गुरु से मन्त्र-दीक्षा लेकर उससे तत्त्वज्ञान लाभ की कोई आशा न रहने से किसी तत्त्वज्ञ महापुरुष से मन्त्र-दीक्षा लेता है तो क्या वह पहले का लिया हुआ मन्त्र छोड़ देगा?

महात्मा—बेटा! बचपन में जब तुम किसी कक्षा से उत्तीर्ण होकर ऊपर की कक्षा में उठे थे; उस समय क्या तुम निम्न कक्षा की उन्हीं पुस्तकों को पढ़ते थे? या उन्हें छोड़कर तुमने नयी पुस्तकों का नये शिक्षक से पढ़ना आरम्भ किया था?, यह भी ठीक उसी प्रकार है अर्थात् पूर्व मन्त्र छोड़कर नये गुरुदेव से प्राप्त नये मन्त्र द्वारा ही उन्नत प्रणाली की ध्यान-धारणा करनी होगी।

भक्त—लोग कहते हैं "दीक्षा ग्रहण के अनन्तर 'शिक्षा-गुरु' शिक्षा-मन्त्र (शब्द) कान में देते हैं।" यह शिक्षा-मन्त्र क्या चीज है?

महात्मा—बेटा ! शिक्षा कभी भी एक शब्द नहीं हो सकती, क्या उसे शिष्य के कान में डालकर गुरु चले जायँ तथा शिष्य हाथ में माला ले उसी का जप किया करे, यह सम्पूर्ण असम्बद्ध उक्ति है । जिस प्र... कार्य करना होगा अर्थात् ध्यान-धारणा करते समय जिस प्रकार आ... करना होगा और सदा अपने मन के प्रति विशेष दृष्टि रख कर आहा... आदि विषयों में विचार कर चलना होगा, प्रति दिन थोड़ा-थोड़ा करके उन सब विषयों को समझा देना ही 'शिक्षा' है । आजकल जो सुचतुर ... गुरु शिक्षा-मन्त्र कान में फूँक कर अज्ञानी शिष्यों से धन पैदा कर लेते ... सम्पूर्ण युक्ति-विरुद्ध और शास्त्र-विगर्हित है । एकमात्र निस्पृह ब्रह्मज्ञ ही यथार्थ में गुरुपद-वाच्य हैं और वही शिक्षा-दीक्षा के विषय में शिष्य ... योग्य उपदेश देकर कृतार्थ करने में समर्थ हैं ।

---

# दीक्षा और मन्त्र की व्याख्या

भक्त—प्रभु ! हमलोग जो दीक्षा ग्रहण करते हैं, इस 'दीक्षा' शब्द ... क्या है ? अर्थात् दीक्षा किसे कहते हैं, उस सम्बन्ध में उपदेश दीजिये ।

महात्मा—गौतमीय तन्त्र में लिखा है—

दीयते ज्ञानमत्यन्तं क्षीयते कर्मवासना ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥

अर्थात्—"जिससे तत्त्वज्ञान का उदय होकर आसक्ति, वासना, कर्म... अज्ञानजनित क्लेश दूर होते हैं उस ज्ञान के प्रदान को ही शास्त्रज्ञ मुनि... कहते हैं ।" गुरुगीता में लिखा है—दीक्षा शब्द का अर्थ है—'दी... अर्थात् दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पापकर्माणि—"जो परम ज्ञान (आत्म... प्रदान करता है और पापराशि ( अज्ञान-पुंज ) का क्षय करता है उ... दीक्षा कहते हैं ।" अतः आत्मज्ञ गुरु से दीक्षा ग्रहण करना मनुष्य...

का ही कर्तव्य है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। और पूर्वकथित शास्त्र-वचनों से भी तुमने समझा होगा कि केवल मन्त्रोच्चारण-पूर्वक शिष्य का कान फूँकना ही दीक्षा नहीं है।

भक्त—प्रभु! मन्त्र किसे कहते हैं?

महात्मा—बेटा! मन के चिन्ताहीन होने से ही मनुष्य को शान्ति मिलती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है—सुषुप्ति (स्वप्नहीन निद्रा)। जिस कौशल के अवलम्बन करने से मन जाग्रतावस्था में भी सुषुप्ति की तरह निश्चिन्त होकर शान्ति प्राप्त कर सकता है, उसी का नाम 'मन्त्र' है। मन में आत्मज्ञान की प्राप्ति न होने तक वह चिन्ता, भय आदि का त्याग कर किसी तरह से भी सुषुप्ति के समान निश्चिन्त नहीं हो सकता। अतः आत्मज्ञानप्राप्ति के लिए आत्मज्ञ महापुरुष से जो तत्त्वोपदेश सुना जाता है, उसी का नाम 'मन्त्र' है। शास्त्र भी कहते हैं—

मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः।

अर्थात्—"जिसके मनन (चिन्ता-प्रवाह से) से मनुष्य मुक्त होते हैं, उसीका नाम मन्त्र है।" छन्दोमंजरी की व्याख्या है—

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसार-बन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धै मन्त्र इत्युच्यते ततः॥

अर्थात्—"जिसके द्वारा विश्व के सारे विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है और संसार-बन्धन से मुक्ति मिलती है, एकमात्र उसी को मन्त्र कहते हैं।" अन्यत्र भी है—

मनः त्रायते इत्यर्थः।

अर्थात्—"जिसके द्वारा मन त्राण पाता है अर्थात् मन का लय होता है, उसी का नाम मन्त्र है।" अतः शिष्य के मन को संसार-बन्धन से मुक्त करने की शक्ति जिन वाक्यों में है केवल उन्हीं को मन्त्र कहते हैं। उसके सिवाय, स्पष्ट-अर्थ-रहित कोई शब्द बार-बार उच्चारण करने से ही उसे मन्त्र नहीं कहते। वैदिक युग में शिष्यों को मुक्त करने के लिए चार वेदों में चार महावाक्य प्रचलित थे। जैसे—सामवेद में तत्त्वमसि (तुम ब्रह्म हो), यजुर्वेद में अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ), ऋग्वेद में प्रज्ञानं ब्रह्म (प्रकृष्ट अर्थात् नित्य निरवच्छिन्न ज्ञान ही ब्रह्म है) और अथर्ववेद में अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है)। परन्तु अब उस

प्रकार के ज्ञानगर्भ महामन्त्रों का लोप करके ह्रीं, क्लीं आदि नये नये म
सृष्टि करके जो जिसको भुलवा देकर कान फूँक सकते हैं, वही उसके गु
हैं ! शिष्य उन मन्त्रों का अर्थ न समझ कर जीवन भर जप करके भी कों
नहीं पा रहे हैं । शास्त्र कहते हैं--

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं जो न जानाति साधकः ।
शतलक्षप्रजप्तोऽपि तस्य मन्त्रो न सिद्धति ॥

( महानिर्वाण

अर्थात्—"जो सावक मन्त्र का अर्थ और मन्त्र की शक्ति नहीं
कोटि बार जप करने से भी उसका वह मन्त्र सिद्ध नहीं होता ।"

---

# गुरु-शिष्य की घनिष्ठता

भक्त—करुणामय ! आप की वात और युक्ति से मैं समझ गया कि
शिष्य-सम्बन्ध ही संसार में सब से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

महात्मा—वेटा ! केवल मैं ही ऐसी बात कहता हूँ, ऐसा नहीं । इस
में शास्त्र का क्या सिद्धान्त है, ध्यान देकर सुनो । शिवसंहिता कहती है—

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् शिष्यैः प्रसेव्यते ॥
गुरु-प्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ॥

अर्थात्—"गुरु ही पिता, गुरु ही माता और गुरु ही देवता हैं । इसी
साधक लोग शरीर, मन, वाणी से गुरु-सेवा करते हैं । यदि गुरु सन्तुष्ट होते
सारे शुभ फल प्राप्त हो जाते हैं । इस कारण सदा गुरु-सेवा करनी चाहिये ।
सेवा के बिना कभी शुभ फल की आशा नहीं की जा सकती ।" ज्ञानसं
तन्त्र कहते हैं—

न च विद्या गुरोस्तुल्यं न तीर्थं न च देवता।
गुरोस्तुल्यं न वै कोऽपि यद्दृष्टं परमं पदम्॥
न मित्रं न च पुत्राश्च न पिता न च बान्धवाः।
न स्वामी च गुरोस्तुल्यं यद्दृष्टं परमं पदम्॥
एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत्॥

अर्थात्—"जो गुरु शिष्य को परमपद का दर्शन कराते हैं, विद्या, तीर्थ, देवता आदि कुछ भी उनके समान नहीं है। वैसे गुरु के समान मित्र कोई नहीं ; पुत्र, पिता, बान्धव, पति आदि कोई भी उनके समान नहीं है। जो गुरु शिष्य को एक अक्षर (क्षय-रहित) ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्रदान करते हैं संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे उनको प्रदान करके उनके ऋण से मुक्त हुआ जा सके।" वेदान्त कहते हैं—

अर्थे व्याकरणाद् बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते।
स्यात् कृतार्थत्वधीर्यावत् तावद् गुरुमुपास्व भोः॥ (पञ्चदशी)

अर्थात्—"यदि शास्त्रों का अध्ययन कर व्याकरण आदि के द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर सके हो तो भी उस ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार (अपरोक्ष रूप से उपलब्धि) करना अवशिष्ट रह जाता है। अतः जब तक आत्म-साक्षात्कार द्वारा अपने को कृतार्थ ज्ञान न हो तब तक गुरु की उपासना करते चलो।" वैष्णव शास्त्र का भी कहना है—

गुरु त्यज गोविन्द भजे, वह पापी नरक में मजे।

बेटा ! गुरु का इस प्रकार पूज्यभाव क्यों हुआ ? यथार्थ में जिस गुरु की कृपा से परमपद उपलब्ध होता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति होती है—जो अज्ञान-तिमिरावृत चक्षु, ज्ञानाञ्जन-शलाका से उन्मीलित करके दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं तथा संसार के त्रिताप रूप विष की ज्वाला की शान्ति करते हैं, संसार में उनसे बढ़ कर और कौन गरीयान, महीयान और आत्मीय हो सकते हैं ? इसीलिए कहता हूँ बेटा ! मेरी बातों पर तुम विशेष मनोयोग के साथ विचार कर देखो कि गुरुदेव के साथ शिष्य का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है और गुरु शिष्य का कैसा उपकार करते हैं।

भक्त—प्रभु ! आपने बताया—'इस ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई वस्तु जिसका दान कर गुरु के ऋण से शिष्य मुक्त हो सकें, इसका आशय समझ सका।

महात्मा—बेटा ! अधिकारी शिष्य को गुरुदेव ब्रह्मत्व या विष्णुत्व देते हैं। इस ब्रह्मत्व के लाभ होने से मनुष्य को क्या उपकार होता है हो ? इस ब्रह्मत्व के लाभ होने से ब्रह्माण्ड में किसी भी वस्तु का लाभ अधिक नहीं प्रतीत होता। यहाँ तक कि संसार के किसी भी प्रकार शोकताप उन्हें विचलित नहीं कर सकता। इस विषय में श्रुति कहती है—

तरति शोकम् आत्मवित्। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

अर्थात्—"आत्मज्ञ व्यक्ति शोक-सागर उत्तीर्ण होते हैं। ब्रह्मज्ञ ब्रह्म ही हो जाते हैं।" गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

अर्थात्—"इस आत्मज्ञान के समान मन के शोधक पवित्र वस्तु इस में नहीं हैं।" अतः आत्मज्ञान की प्राप्ति से जो परमानन्द का भोग होता है संसार के सारे धन-रत्नादि का भोग उसके कोटि भाग का एक भाग भी है। इसी कारण वेदान्त-शास्त्र बार बार कहते हैं—तत्त्वज्ञान देने वाले को उस ज्ञान-दान के बदले सारी पृथ्वी का दान करने पर भी उऋण नहीं हुआ जा सकता।

भक्त—प्रभु ! आपकी बात से मैंने समझा कि आपके कथित लक्षण योग्य गुरु का मिलना बहुत ही कठिन है। अतः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिलने से क्या जीवन में किसी दूसरे व्यक्ति को गुरु नहीं बनाया जा सकता

महात्मा—बेटा ! एक प्रचलित जनश्रुति है कि, "मूर्ख वैद्य यम के सद क्यों कि, मूर्ख चिकित्सक रोगी की व्याधि और औषधि की शक्ति का नि करने में असमर्थ है। इस कारण वह जैसी-तैसी दवा खिलाकर रोगी को लय भेज देता है। अतः उपयुक्त चिकित्सक के न मिलने तक रोगी को विचार-बुद्धि के अनुसार जहाँ तक हो सके सेवा और सुपथ्य आदि के द्वारा से रखने का प्रबन्ध किया जाना चाहिये, तथापि कभी मूर्ख चिकित्सक के

उसे नहीं देना चाहिये। इस गुरु-शिष्य-सम्बन्ध के स्थल में भी ठीक वैसा ही समझना चाहिये। माया-मोह से अभिभूत भव-व्याधिग्रस्त शिष्य उपयुक्त श्रोत्रिय (वेद-वेदान्तज्ञ) और ब्रह्मनिष्ठ गुरु रूप सुचिकित्सक के न मिलने पर भी कुचिकित्सक गृहस्थाश्रमी विषयी अज्ञानांध मनुष्य को गुरु बना कर उसकी बात से कुमार्ग में भटकते हुए अपना अमूल्य जीवन वृथा नष्ट न करे। जब तक सद्गुरु न मिले, तब तक सत्संग में रह कर धर्मग्रन्थों का अध्ययन करे और अपनी विचार-बुद्धि से उन ग्रन्थों में लिखित उपदेशों के अनुसार आहार-विहार आदि में जहाँ तक सम्भव हो, संयम की चेष्टा करे और ब्रह्मज्ञ गुरु के लिए व्याकुल चित्त से निरन्तर प्रार्थना करते रहे। इससे निश्चय ही यथासमय उपयुक्त गुरु मिल जायेंगे और इसे भी तुम निश्चय जानना कि, यथार्थ में मुमुक्षु (पिपासु) व्यक्ति को इस संसार में गुरु का अभाव नहीं होता। इस विषय में एक घटना बतलाता हूँ, सुनो। कोई एक ब्राह्मण-कुमार सामाजिक संस्कार के वश गृहस्थ गुरु से दीक्षा लेकर हिमालय के किसी एकान्त स्थान में जा साधन करने लगे। साधन करते समय कुछ विषयों में उनके मन में सन्देह उपस्थित होने से चित्त अधीर होने लगा। स्वयं उन समस्याओं का समाधान न कर सकने के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो कर वह व्याकुल चित्त से समय बिताने लगे। कुछ दिन इस तरह बीत जाने पर वह लगातार तीन रातों में स्वप्नयोग से किसी महात्मा के निकट उन साधन-रहस्यों का उपदेश प्राप्त हो कर धन्य हुए। उनके सारे संशय मिट गये। उसके बाद वह अति शीघ्र साधन-मार्ग में उन्नति लाभ करने में समर्थ हुए थे। इतना कह कर महात्मा अपने भाव में तन्मय हो कर गाना गाने लगे—

गुरु भव-कर्णधार।
गुरु बिना त्रिजगते आपन नाहि आर।
धन जन जतो देखो, सकलइ प्रतिबन्धक।
भवदुःख निबारिते, गुरु जेनो सार॥
पिता माता गुरुजन, सब हते गुरु प्रधान।
गुरु कि धन सेइ जाने, ज्ञान हयेछे जार॥

पण्डित हयेओ घुरे मरे, पथ नाहि पाय शास्त्र पड़े।
ज्ञानी गुरु नाहि जार तार पथ अन्धकार ॥
माटि पाथर दिये छेड़े, गुरु पूजले भक्ति भरे।
सर्व शक्ति मिले ताते, आनन्द अपार ॥
मुमुक्खु विरागीगणे, थाके सदा गुरुर ध्याने।
( ताँदेर ) गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु महेश्वर ।

इसका आशय इस प्रकार है—

गुरु भव कर्णधार,
गुरु बिना त्रिजगत में अपना नहीं और ॥
धन जन जितना देखो, सभी प्रतिबन्धक।
भव-दुःख-निवारण में गुरु ही हैं सार ॥
माता पिता गुरुजन सब से गुरु ही प्रधान।
गुरु क्या धन वही जानता जिसे हुआ है ज्ञान ॥
पंडित हो कर भी भटकता है शास्त्र पढ़ कर भी पथ नहीं पाता॥
ज्ञानी गुरु जिसे नहीं मिले उसका पथ अन्धकारमय है ॥
मिट्टी पत्थर छोड़ कर भक्ति से गुरु पूजने पर।
सब शक्ति मिल जाय, उसमें आनन्द अपार ॥
मुमुक्षु विरागी सब रहते सदा गुरु का ध्यान धर।
उनके गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु और गुरु ही हैं महेश्वर ॥

———

# गुरु-सेवा

भक्त—भगवन् ! हम तो स्कूल-कालेजों के शिक्षकों को मासिक थोड़ा-थोड़ा वेतन देकर उनसे ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु आध्यात्मिक जंगत के त्यागी गुरु को किस प्रकार वेतन आदि दिया जायगा ? और गुरु-सेवा किसे कहते हैं तथा किस प्रकार से गुरु की सेवा करनी होती है, अब मुझे उसी का उपदेश दीजिये ।

महात्मा—बेटा ! गुरु के निकट अपनी स्वतंत्र बुद्धि का त्यागकर अन्धे के समान पूर्णरूप से अपने को सौंप देना होगा । दूसरों से सब सम्पर्क छोड़कर सर्व प्रकार से गुरु के अधीन होना होगा । उनके प्रति अविचलित श्रद्धा और अकपट भक्ति के साथ शरीर-मन-वाणी से उनकी सेवा करनी होगी । ऐसे ब्रह्मज्ञ गुरु को केवल साधारण रुपये-पैसे देकर उनसे कुछ प्राप्त करना सम्भव नहीं । उन्हें तुम लोगों को बहुत कुछ देना होगा । देवता-ज्ञान से उनकी भक्ति-श्रद्धा करनी होगी । वह ब्रह्मज्ञ पुरुष कुछ नहीं माँगेंगे, परन्तु उनके देहधारण के उपयोगी आहार-विहार वस्त्राच्छादन आदि विषय की आवश्यकताओं पर तुम्हें ध्यान रखकर चलना होगा अर्थात् उनके बिना माँगे ही तुम लोगों को उनके अभावों की पूर्ति कर देनी होगी । इसी तरह एकाग्र-चित्त से ब्रह्मज्ञ गुरु की सेवा करते-करते यदि उनके मन में प्रविष्ट होकर शिष्य का स्थान अधिकार कर सको, तभी उनसे अमूल्य निधि ज्ञान-रत्न प्राप्त कर सकोगे । अतः उस समय श्रीगुरु की कृपा से परमात्मा के लाभ करने में अधिक विलम्ब न लगेगा । गुणयुक्त, योग्य अधिकारी शिष्य सद्गुरु का आश्रय ग्रहण पूर्वक गुरु-सेवा-निरत होकर ईश्वर-बुद्धि से उनको प्रसन्न करें । संसार में जितने प्रकार के पाप हैं, उसमें एक भी गुरुवाक्य-लंघन की अपेक्षा बड़ा नहीं है । गुरु-सेवा का अर्थ है—'गुरु का प्रिय कार्य सम्पादन ।' जिसके करने पर गुरु प्रसन्न होते हैं, वही गुरु की सेवा है । गुरु के मन के उद्देश्य के प्रति लक्ष्य न रख कर अपनी बुद्धि के अनुसार गुरुजी को प्रसन्न करने के लिए जो कर्म किया जाता है, वह गुरु-सेवा नहीं है—आत्म-सेवा है ! यथार्थ में गुरु-सेवा करने के लिए गुरु के चित्त में अपना चित्त मिला देना होता है । शिष्य को अपने मन से गुरु का मन समझना होता है, अन्यथा गुरु-सेवा नहीं होती । श्रीगुरु के मुख से कुछ प्रकट न करने

पर भी जो शिष्य उनके मन का भाव समझ कर उसके अनुकूल कर्म करता है वही उत्तम शिष्य है और वही प्रकृत गुरु-सेवा है। इस प्रकार के उत्तम शिष्य के ऊपर ही श्रीगुरुदेव की अमिय-करुणा-धारा अजस्र धाराओं से बरसा करती है। गुरुदेव के प्रति—'स्वयं ईश्वर मनुष्य का रूप धारण कर मेरे उद्धार के लिए मेरे सम्मुख उपस्थित हुए हैं'—ऐसी धारणा शिष्य को अपने मन में रखनी होती है।

अतः गुरु को साधारण मनुष्यों के समान न समझ कर, उन पर ईश्वरत्व का आरोप करके अर्थात् 'वही ईश्वर हैं' ऐसे ज्ञान से हृदय को पूर्ण कर गुरु-सेवा कर सकने से तथा उनकी कृपा के द्वारा तत्त्वज्ञान लाभ कर सकने से ईश्वर की सरूपता प्राप्त करके तत्त्वातीत हो जाओगे, यह ध्रुव सत्य है।

---

# आत्मतत्त्व का अधिकारी

भक्त—प्रभु ! आत्मज्ञ गुरु के निकट उपस्थित हो कर आत्मतत्त्व के लिए प्रार्थना करते ही क्या वह मुझे तत्त्वोपदेश प्रदान करेंगे ?

महात्मा—बेटा ! तत्त्वज्ञान-लाभ के अनधिकारी व्यक्ति को वह उपदेश नहीं देते। इस लिए उपयुक्त अधिकारी होने से ही आत्मज्ञ गुरु शिष्य को यथार्थ उपदेश देते हैं।

भक्त—किस प्रकार का आदमी आत्मतत्त्व सुनने का अधिकारी है?

महात्मा—वेद-वेदान्त का अध्ययन कर जिसने उनका आशय समझ लिया है, इस या पूर्व जन्म में काम्य कर्म और शास्त्र-निषिद्ध कर्म का त्याग कर शान्त और निर्मल-चित्त हो कर तत्त्वज्ञान-लाभ के सहायक साधन-चतुष्टय का अभ्यास किया है, वही यथार्थ अधिकारी है। रोगी, बहुत अधिक भोजन करने वाला और वृद्ध, इन तीन प्रकार के मनुष्य आत्मतत्त्व के सम्पूर्ण अनधिकारी हैं और विचार-शक्ति-रहित व्यक्ति सभी विषयों के अनधिकारी है।

भक्त—भगवन् ! काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म किसे कहते हैं ?

महात्मा—स्वर्ग-सुख की कामना से जो कर्म शास्त्रों में विहित हैं, उन्हें काम्य कर्म कहते हैं। जैसे—ज्योतिष्टोम याग, सोमयाग, राजसूय यज्ञ

और नरक-भोग या अन्य किसी प्रकार के अनिष्ट के हेतु हैं, इसलिए जिन कर्मों का शास्त्रों में निषेध है, वही निषिद्ध कर्म हैं। जैसे—ब्रह्महत्या, चोरी, परपीड़न आदि।

भक्त—प्रभु! साधन-चतुष्टय क्या-क्या हैं?

महात्म—१—कौन वस्तु नित्य (सत्य) और कौन वस्तु अनित्य (मिथ्या) है, इसका विचार। २—इस लोक में तथा परलोक या आगामी जन्म में पुण्य कर्मों के सुख-भोग में वैराग्य। ३—अपने मन में शम, दम, उपरति, तितिक्षा समाधान और श्रद्धा, इन छः गुणों का उद्रेक और ४—मुमुक्षुत्व यानी मुक्त होने की तीव्र इच्छा। इन चार प्रकार के मानसिक व्यापारों को साधन-चतुष्टय कहते हैं। ये आत्मतत्त्वज्ञान के सहायक हैं, इस कारण इन चार प्रकार के साधनों के न रहने से अधिकारित्व पूर्ण नहीं होता।

भक्त—नित्यानित्य-वस्तु-विचार कैसा है?

महात्मा—हे महामते! एक अद्वितीय ब्रह्म ही नित्य (सत्य) तथा अन्य सभी अनित्य हैं—इस प्रकार के विचार या विवेकज्ञान को नित्यानित्य-वस्तु-विचार कहते हैं। इस विचार के दृढ़तर होने से अपने आप ही इहलोक और परलोक के सुख-भोग के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। इस लोक में प्रयत्न से प्राप्त धन-जनादि भोग्य विषय जिस प्रकार अनित्य (विनाशी) है, उसी प्रकार प्रयत्न-साध्य पारलौकिक विषय भी नश्वर है। विषयों का नश्वरत्व तथा आनन्दमय ब्रह्म का नित्यत्व और पूर्णत्व जान सकने से मनुष्य के मन में स्वाभाविक रूप से ही इस नश्वर सुख के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है।

भक्त—भगवान्! शम, दम आदि छः गुणों का स्वरूप क्या है?

महात्मा—महामते! अन्तरेन्द्रिय मन के संयम को शम कहते हैं। आत्मतत्त्व के श्रवण आदि के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों से मन को निरुद्ध करने का नाम शम है। पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को बाह्य इन्द्रिय कहते हैं। आत्मतत्त्व के श्रवणादि के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों से इन दस बाह्य इन्द्रियों के निग्रह को दम कहते हैं। मन में विषय-भोग की प्रवृत्ति निवृत्त होने पर भी पूर्व संस्कार वश कभी कभी प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। अतः जिससे मन में फिर वैसी विषय-प्रवृत्ति

न उत्पन्न हो सके, विषयों के दोष दिखा कर मन को वश में रखने
उपरति है। उपरति का अभ्यास क्रमशः बढ़ते बढ़ते जब विषय-वासना
रूप से विनष्ट हो जाती है, तभी मन संन्यास अवस्था प्राप्त कर
परित्याग-पूर्वक संन्यासी हो जाता है। मृत्यु न हो, इस सीमा तक शं
आदि का सहन कर तथा मान-अपमान हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व (
युगल भाव) आदि का भी सहन कर उन विषयों में अविचलित
नाम तितिक्षा है। आत्मा में मन की एकाग्रता अर्थात् सदा विमल
में बुद्धि का संलग्न रहना ही समाधान है, परन्तु मन के चंचल
समाधान या समाहित भाव नष्ट हो जाता है। गुरु और वेदान्त वाक्य
विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। इन सब गुणों से युक्त अधिकारी
ही ब्रह्मज्ञ गुरु आत्मतत्त्व का अवश्य उपदेश देते हैं। दूसरी ओर
चित्त विषयानुराग आदि दोषों से दूषित है उसे उपदेश-ग्रहण का भी
नहीं है। सांख्यदर्शन में लिखा है—

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत्।

अर्थात्—"जिसका चित्त, धन, जन, पशु, वित्त आदि विषयों
राग दोष से मलिन है, उस चित्त में उपदेश रूप बीज अंकुरित नहीं हो
जैसे—अज नामक किसी राजा की प्यारी पत्नी इन्दुमती के देहा
अनन्तर वह प्रिया-विरह-शोक से एकदम अधीर हो गये थे। तब उन्हें
वसिष्ठ मुनि ने अजराज का शोक दूर करने के लिए अनेक प्रकार के
दिये, किन्तु राजा इतने अधिक शोक से अभिभूत हो गये थे
का उपदेश उनके हृदय में प्रविष्ट ही नहीं हो सका और न तो वह
प्राप्त कर सके। इस प्रकार जिसके चित्त में विषयानुराग बद्धमूल हो
शत-शत उपदेशों से भी उसमें ज्ञानोत्पत्ति की आशा नहीं है।" इसी
साधनों में विषय-वैराग्य को सब से श्रेष्ठ स्थान दिया गया है।

वेदान्त कहते हैं—

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता॥

अर्थात्—"विवेकवान्, वैराग्ययुक्त, शम-दमादि-गुण-समन्वित, मुमुक्षु व्यक्ति ही ब्रह्म-जिज्ञासु होने का योग्य पात्र है।" योगिवर घेरण्ड मुनि अपनी घेरण्ड-संहिता में कहते हैं—

विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः।
दिने दिने यस्य भवेत् स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः॥

अर्थात्—"प्रति दिन थोड़ा थोड़ा करके विद्या, गुरु और आत्मा के प्रति जिसके मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा क्रमशः ज्ञान का उदय होता है समाधि-योग-साधन के लिए वही योगी पुरुष यथार्थ अधिकारी है।"

भक्त—प्रभु! बहुत से लोग कहते हैं कि विवाहित पुरुष और स्त्री को आत्मतत्त्व-लाभ का अधिकार नहीं है, क्या यह सत्य है?

महात्मा—हे महामते! यह अज्ञानियों की कल्पना मात्र है। प्राचीन काल में प्रायः ऋषि-मुनि तत्त्वज्ञान प्राप्त कर कृतकृत्य हो वन में चले जाया करते थे। परन्तु कोई कोई आत्मज्ञ व्यक्ति राज्यशासन भी किया करते थे। भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, दिलीप, मनु, शुकदेव आदि ब्रह्मनिष्ठ ऋषि वनवासी तथा जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि ब्रह्मज्ञ पुरुष राज्य-शासक थे। पाताल के निवासियों में भी कुछ लोग आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके थे। महाराजा बलि, सुहोत्र, अन्धक और प्रह्लाद उसके उदाहरण हैं। हम ने देखा है, नीच कुल के मनुष्यों में भी कोई-कोई व्यक्ति आत्मज्ञानी हो गये हैं और देवताओं में भी बहुत से मोहान्ध हैं। अतः किसी भी श्रेणी का मनुष्य क्यों न हो, आत्मतत्त्व लाभ का अधिकार और सामर्थ्य सभी को है। अनेक ऋषि-मुनि विवाहित हो कर पत्नी-पुत्र-परिजन आदि में रह कर ही आत्मज्ञ या ब्रह्मज्ञ हुए थे। वर्तमान युग में भी अनेक महापुरुष विवाहित जीवन में ही ब्रह्मतत्त्व प्राप्त कर कृतकृत्य हो गये हैं। जिनके पति-पत्नी-संलाप वेदान्त-शास्त्र में रह कर अगणित मनुष्यों को अनादि काल से ज्ञानालोक प्रदान कर रहा है, उन महर्षि याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ—कात्यायनी और मैत्रेयी नाम से थीं। वेदान्त के श्रेष्ठ ग्रंथ 'योगवासिष्ठ रामायण' में जिन्होंने श्रीरामचन्द्र को आत्म-तत्त्वोपदेश दिया था उन वसिष्ठ मुनि के सौ पुत्र थे। इस प्रकार विवाहित अवस्था में ब्रह्मतेज से दीप्तिमान अगणित मुनियों के उदाहरण शास्त्रों में हैं।

और भी देखो, गौतम बुद्ध राजपुत्र थे और उनकी पत्नी गोपा के गर्भ से एक पुत्र का जन्म भी हुआ था। उसके बाद उन्होंने राज्य का परित्याग कर सन्यास ले लिया था। बंगाल के गौरांग महाप्रभु ने क्रमशः दो विवाह किये थे, अन्त में गृहस्थ-आश्रम का परित्याग भी कर दिया था। भक्त वीर गोस्वामी तुलसीदास स्त्रैण थे। उनके एक पुत्र भी हुआ था। बाद में वह भी साधु हो गये थे। परमहंस रामकृष्णदेव ने चौबीस वर्ष की अवस्था में स्वयं देख सुन कर सारदामणि देवी से विवाह किया था। काशी के विभूति-स्वरूप उन्नत महात्मा तैलंग स्वामी भी प्रथम जीवन में विवाहित थे। ऐसे महात्माओं के उदाहरणों का अभाव नहीं है। नारीजाति में भी लोपामुद्रा, विश्ववारा, गार्गी, मैत्रेयी, देवहूती, सुलभा, आत्रेयी, सरस्वती आदि अनेक विदुषियाँ ब्रह्मवादिनी थीं। ऊपर-कथित व्यक्तियों में अनेकों ने ही प्रथम जीवन में विषय-भोग करके उसके अनन्तर त्याग की शक्ति प्राप्त कर परमतत्त्व का लाभ किया था। इसी लिए वे आज संसार में सभी के नमस्य हैं। अतः विवाह करने से ही जीवन भर पत्नी के मोह में मत्त रह कर ब्रह्मचर्य-विहीन हो पशुवत् आचरण करना होगा, ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता। विवाहित व्यक्तियों के लिए भी ब्रह्मचर्य-रक्षा का विधान है। इस कारण विवाहित होने से ही आत्मतत्त्व का अनधिकारी होना पड़ेगा, ऐसी कोई युक्ति नहीं है। वह साधारण अज्ञानी मनुष्यों के मन का कुसंस्कार मात्र है। कोई अपना स्वरूप जानना चाहे तो शास्त्र उसका निषेध नहीं कर सकते। बल्कि, पत्नी-पुत्र आदि परिवेष्टित गृहस्थ को भी आत्मतत्त्व श्रवण करने के लिए शंकराचार्य विधान दे गये हैं—

साधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावेऽपि गृहस्थानामात्मानात्मविवेकविचारे क्रियमाणे सति तेषां प्रत्यवायो नास्ति, किन्त्वतीव श्रेयो भवति।

अर्थात्—"साधन-चतुष्टय-सम्पत्ति-रहित होने पर भी यदि गृहस्थ लोग आत्मानात्म-विवेक-विचार करते हैं तो उससे उन्हें पाप नहीं लगता बल्कि अत्यन्त मंगल ही साधित होता है।" महर्षि वसिष्ठ मुनि ने भी रामचन्द्र से कहा था—"हे रामचन्द्र, मनुष्य यदि अल्प विचार भी करता है और उससे यदि उसका थोड़ा-बहुत भी चित्तनिग्रह होता है तो भी उसका जन्म सफल है, क्योंकि हृदय में यदि विचार का बीज बोया जाता है तो कालान्तर में अभ्यास

के परिपाक से वह शत-शत शाखाओं से युक्त विस्तीर्ण वृक्ष के रूप में परिणत हो सकता है। जो पुरुष वैराग्यपूर्वक विचार करता है, अशेष सद्गुण उसे आश्रय करते हैं।" ( योग वासिष्ठ, उपशम प्रकरण, ९२ सर्ग, १-३ श्लोक ) अतः सिद्धान्त निश्चय हुआ कि स्त्री-पुरुषों में विचार के द्वारा जिसके मन में जब वैराग्य का उदय होगा, तभी वह आत्मदर्शन प्राप्त कर परमानन्द भोग कर सकेगा।

---

## सत्सङ्ग की असीम शक्ति

भक्त—दयामय, किस उपाय से विषयानुराग और भोग-पिपासा मन से विदूरित कर मनोभूमि को परिष्कृत किया जा सकता है, कृपापूर्वक इस दास को उसी का उपदेश दीजिये।

महात्मा—बेटा! आत्म-पिपासा ही सब प्रकार की भोग-पिपासाओं का नाशक है। जिनमें भोग-पिपासा निवृत्त हो कर विषयानुराग मन से तिरोहित हो गया है, ऐकान्तिक आग्रह के साथ उनका संग करने से क्रमशः भोग-पिपासा निवृत्त होकर आत्म-पिपासा उत्पन्न होती है। यदि कोई नये घी को दीर्घकाल के पुराने घी में परिणत करना चाहे, तो उस घी को किसी बर्तन में रख छोड़ने से २० साल के बाद उसमें पुरातनत्व-शक्ति उत्पन्न होगी। परन्तु यदि पहले से ही उस नये घी के साथ थोड़ा सा पुराना घी मिला कर रख दिया जाय तो दिखाई पड़ेगा कि ३ या ४ सालों के बाद ही उसमें उस २० साल की पुरातनत्व-शक्ति उत्पन्न हो गयी है। यहाँ पुराने घी के सम्पर्क से जिस प्रकार नये घी में अति शीघ्र पुरातनत्व-शक्ति उत्पन्न हो सकी है, ठीक उसी प्रकार भोग-पिपासा-रहित वैराग्यवान् महात्मा का संग करने पर उनकी शक्ति के प्रभाव से घोर विषयासक्त व्यक्ति भी थोड़े दिनों में अपने मन में विचारशक्ति का उद्रेक कर भोग-पिपासा की निवृत्ति करने में समर्थ हो सकता है। महापुरुष मात्र ही सत्त्वगुण के आधार हैं। इस कारण उनका सत्संग ही मोक्ष या नित्यधाम-प्राप्ति का सोपान है। बेटा! सद्गुरु की कृपा से सत्संग में रह कर उन महापुरुषों के मुख से वेदवाक्य और युक्तिविचार द्वारा देहतत्त्व, मनस्तत्त्व और

विषयों के दोष सुनते-सुनते विषय-भोग-वासना मन से विलुप्त हो कर अन्तःक
पवित्र होता है और क्रमशः आध्यात्मिक वार्ता के श्रवण में रुचि उत्पन्न हो
मनुष्य पूर्णाधिकार प्राप्त करता है। इस सत्संग की महिमा तुम्हें कहाँ
बताऊँ, इसकी शक्ति असीम है। सत्संग सर्वसंगनिवर्तक है। सत्संग के प्र
से जिन्होंने महत्त्व प्राप्त किया है, केवल वे ही इसकी शक्ति जानते हैं।
महान् व्यक्तियों का उपदेश क्या है, सुनो। सत्संग ही साधन-भजन या परमा
की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसीलिए शास्त्र भी कहते हैं—'साधुसं
रह कर सदुपदेश श्रवण करते समय यदि तुम्हारे नित्य-कर्म सन्ध्यावंदन आ
का समय भी उपस्थित होता हो तो साधुसंग छोड़ कर नित्य-कर्म करने के लि
जाओगे तो महापापभागी होना पड़ेगा।' मुसलमानों के धर्मग्रन्थों में भी
ऐसा ही उपदेश है—'पाँच आलिम (आत्मज्ञ महापुरुष) जिस स्थान
बैठ कर मार्फती (आत्मतत्त्व) विषय की वार्ता करते हैं उसे सुनते हुए नमा
का समय होने पर भी वह स्थान छोड़ कर नमाज पढ़ने नहीं जाना चाहि
जाने से गुणाह (पाप) होगा।'' इसका आशय यह है,—सन्ध्यावंदन करने
नमाज पढ़ने के समय तुम्हारा मन कहाँ रहता है, उसे जरा याद करो।
कण्ठस्थ रहने से पूर्वसंस्कारवश सन्ध्यावंदन या नमाज के मन्त्र तुम
मुँह से पढ़ते जाते हो सही, परन्तु तुम्हारा मन उस समय कभी बाजार
जा कर सौदा खरीदने या कभी विद्यालय में जा कर छात्र पढ़ाने में लग गया
इस लिए जब तक तुम सन्ध्या-मन्त्र या नमाज पढ़ते हो, तब तक तुम्हारा
यथार्थ में वह सब कार्य कुछ भी नहीं करता, किसी का सौदा खरीदने
किसी का छात्र पढ़ाने का कार्य ही करता है। अतः प्रतीत होता है कि तुम्
उन मन्त्रों में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिससे अपने मन को बाजार जा
सौदा खरीदने के कार्य से या अन्य किसी प्रकार की चिन्ता से निवृत्त रख
केवल सन्ध्यावंदनादि कार्य में ही ध्यानस्थ रख सके। दूसरी ओर जरा
लो, तुम हिन्दू हो या मुसलमान, जब तक साधु पुरुषों के साथ धर्मतत्त्व
आलोचना करते रहोगे, उनकी बातों में इतनी आकर्षणीय शक्ति है कि
तक वे तुम्हारे मन को वे घर-द्वार, पुत्र परिवार, धन-जन आदि विषयों की
भुला कर केवल उन्हीं के सदुपदेश श्रवण के कार्य में ही नियुक्त रखेंगी।

सहज में ही समझ सकते हो कि शास्त्र क्यों बार-बार साधु-संग करने की आज्ञा देते हैं और साधु-संग की शक्ति कितनी असीम है।

बेटा, तुम मेरे पास बैठे हो तो यहाँ केवल आध्यात्मिक विषयों की ही चर्चा हो रही है, जिससे मन पवित्र तथा चित्त प्रसन्न हो रहा है। इसके विपरीत यदि तुम किसी दिन घण्टे भर के लिए किसी भंगियों की बस्ती में जा बैठो तो उनकी हर समय मुँह से निकलने वाली गाली-गलौज सुन कर तुम्हारा चित्त तुरन्त मलिन हो जायगा। इसी कारण सत्पुरुषों और शास्त्रों ने नीच जाति के लोगों से सम्पर्क न रखने का उपदेश दिया है। उनके संस्पर्श से शरीर अपवित्र होने पर नहा-धो लेने से शरीर की पवित्रता फिर लौट आ सकती है, परन्तु मन में जो उनके अश्लील भाषणों से अपवित्र भाव प्रविष्ट हो गये हैं, जीवन भर के प्रयत्नों से भी उसको मन से नहीं निकाल सकते। ऋषियों ने स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर ( मन ) की शुद्धि को ही विशेष महत्त्व दिया है। इस कारण अपने मन के पवित्र भाव को बनाये रखने के निमित्त क्षण भर के लिए भी असत्-संसर्ग नहीं करना चाहिये।

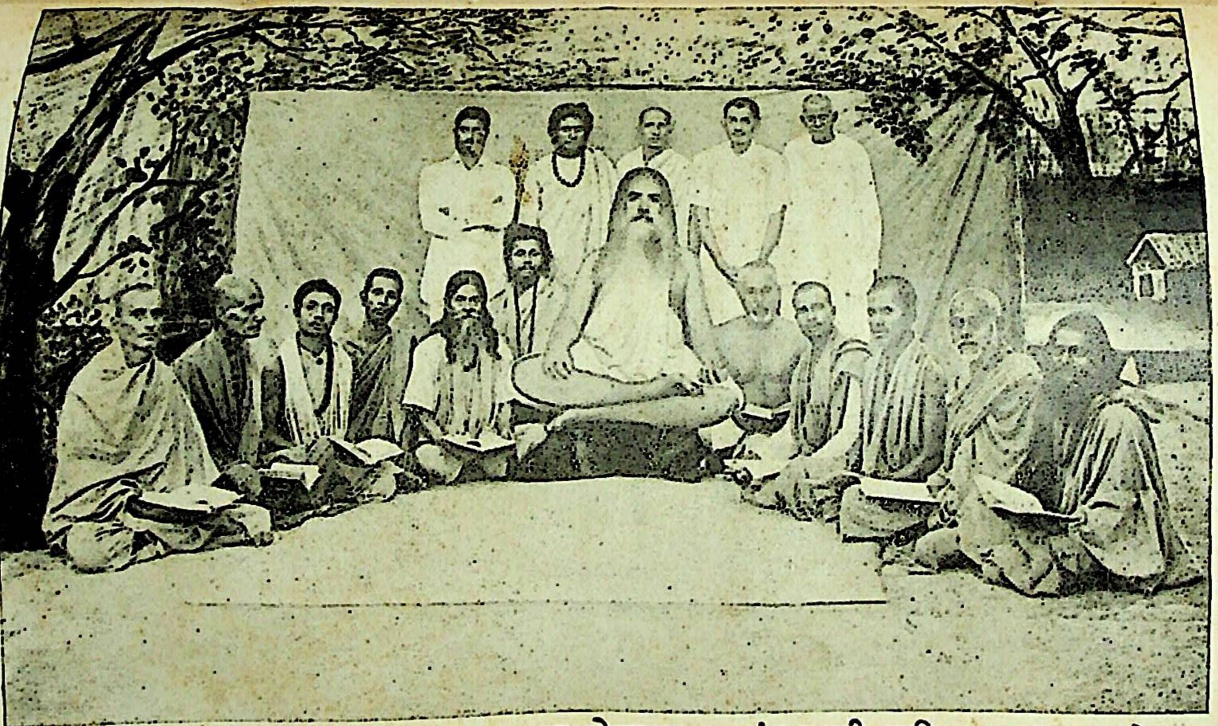
बेटा ! केवल मात्र साधुसंग ही मनुष्य के भव-सिन्धु उत्तीर्ण होने का प्रबल सहायक है। महापुरुषों के संसर्ग से शून्य स्थान जनता से पूर्ण होता है, मृत्यु उत्सवमयी हो जाती है तथा आपद् सम्पद् का रूप धारण करती है। जो मनुष्य सदा साधुसंग रूप निर्मल और शीतल जल में स्नान करता है, उसे फिर, तीर्थ-दर्शन, तपस्या या यज्ञानुष्ठान की आवश्यकता ही क्या है ? इस सत्संग रूप औषध से दरिद्रता, दुःख, मृत्यु आदि महान् व्याधियाँ समूल विनष्ट हो जाती हैं। अतः तुम भविष्य और भूत की चिन्ता छोड़ कर निज पुरुषार्थ के बल प्रसन्न चित्त से अपने कर्तव्य कार्य करते हुए भी प्रति दिन सत्संग करते चलो। चित्त रूप महाव्याधि की चिकित्सा के लिए अपना पुरुषार्थ ही एकमात्र स्वादिष्ट महौषधि है। जब तक परमानन्द की प्राप्ति न हो, तब तक निरन्तर पूर्ण प्रयत्न से विचार करते रहो। सत्संग की महिमा से ही विचार-शक्ति उत्पन्न होती है। विचार-निर्मल-हृदय महापुरुषों के संसर्ग से जो कुछ लाभ होता है, अनेक शास्त्रों की चर्चा और पुण्य कार्यों के

अनुष्ठान से भी वह नहीं मिल सकता। अतः विचार ही सत्संग देने वाली बुद्धि उत्पन्न करता है, इस विषय में कुछ भी संशय नहीं है। इस विचार से जो पद मिलता है, वह पद किसी प्रकार के पुण्य कार्य से भी नहीं मिल सकता। किसी प्रकार की क्रिया या पुण्यकार्य वह फल नहीं दे सकता। अतः दृढ़ उद्यम से चित्त को बलपूर्वक गुरु-उपदेश के श्रवण, शास्त्र और साधुसंग में संयोजित करते रहो। तुम अभिमान छोड़ कर, शाश्वत, कैवल्य के प्रति लक्ष्य रख कर अपने मोक्ष-योग्य जन्मादि लाभ के उद्देश्य से सज्जनों की सेवा में सदा निरत रहो। यदि सज्जन-सेवा नहीं करते हो तो तपस्या, तीर्थ, दान, व्रत, नियम, शास्त्र किसी के द्वारा भो संसार-सागर उत्तीर्ण होने की सम्भावना नहीं है। जिनकी सेवा करने से लोभ, मोह, क्रोध दिन पर दिन क्षीण होते जाते हैं और शास्त्रानुसार आहार-विहार आदि स्वकर्म में रत रहा जाता है, उन्हीं को तुम सज्जन समझना। उसके अनन्तर उन आत्मतत्त्ववित् महात्माओं के संसर्ग से इस दृश्य प्रपंच का अत्यन्ताभाव क्रमशः तुम्हारे चित्त में ज्ञानारूढ़ होता रहेगा। बेटा! जो लोग महानुभव ( आत्मज्ञ ) हैं, उन्हीं के संसर्ग से, नाविक से नौका प्राप्ति की तरह, संसार-समुद्र-लंघन को युक्ति ( योग और उपाय ) मिलती है। जिस देश में आत्मतत्त्वज्ञ मनुष्य नहीं हैं तथा फलवान् और उत्तम छायायुक्त सज्जन रूप वृक्ष भी नहीं मिलते, उस देश को तुम मरुस्थल के समान समझना। बुद्धिमान व्यक्ति उस देश में निवास नहीं करते। भगवान् शंकराचार्य भी कहते हैं—

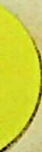
क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका।

अर्थात्—"क्षण भर के लिए भी यदि साधुसंग किया जाय तो भव-सिन्धु उत्तीर्ण होने के लिए वह नौका-स्वरूप हो जाता है।" साधुसंग के प्रभाव से ही रत्नाकर दस्यु वाल्मीकि मुनि बन गया था। बंगाल के डाकू और शराबी जगाई-माधाई दो भाई गौरांग महाप्रभु के साथी परम भक्त नित्यानन्द के संसर्ग से साधु हो गये थे। इस प्रकार की घटनाओं की कमी नहीं है। वैष्णवों के धर्मग्रन्थ में भी लिखा है—

सत्संग सत्संग सर्वशास्त्र विधि।
लाभ मात्र सत्संग होय सर्वसिद्धि॥



काशीधाम के सन्न्यासी तथा गृहस्थ भद्रमहोदयगण परमहंस स्वामी कालिकानन्द महाराज के पास उपस्थित होकर वेदान्त शास्त्र द्वारा आत्म तत्व समझ रहे हैं।



अर्थात्—"साधुसंग करने के लिए सभी शास्त्रकारों ने आदेश दिया है, क्योंकि सत्संग के प्रभाव से मनुष्य के सब कार्य सिद्ध होते हैं।" गोस्वामी तुलसीदास जी शिष्यों को उपदेश देते समय कहा करते थे—

संगत कीजिये साधु की अन्त करें निबाह।
शठ का संग न कीजिये अन्त होय बिनाह॥

अर्थात्—"सदा साधुसंग करना कर्तव्य है, क्योंकि साधु के संसर्ग से चित्त संयत होकर परम शान्ति रूप निर्वाण मोक्ष की प्राप्ति के योग्य होता है। पाखण्डियों का संग कभी न करे, क्यों कि उससे मन क्रमशः व्याकुल हो कर सभी सुखों का नाश हो जाता है।"

संगत कीजिये साधु की हरे औरन की व्याधि।
संगत कीजिये नीच की आठों पहर उपाधि॥

अर्थात्—"साधुसंग दूसरों की भव-व्याधि दूर करता है और असाधुसंग करने से आठों प्रहर ( जीवन भर ) उपाधि ( शान्ति के अभाव से अशान्ति ) में रहना पड़ता है।" अतः साधुसंग का आश्रय लेना सर्वथा कर्तव्य है।

एक घड़ी आधी घड़ी आधीहु में आध।
तुलसी, संगत सन्त की हरे कोटि अपराध॥

अर्थात्—"हे तुलसी, एक घण्टा, आधा घण्टा या कम से कम चौथाई घण्टा भी यदि साधुसंग किया जाय तो वह असंख्य अपराधों ( अज्ञान रूप पापों ) के हरण करने में समर्थ होता है।" सत्संग दो प्रकार के हैं। किसी ब्रह्मज्ञ महापुरुष का संग ही सत्संग है, इसे ही प्रधान सत्संग कहते हैं। वर्तमान समय में इस प्रकार के ब्रह्मज्ञ महापुरुष का संग प्राप्त होना सब के लिए सम्भव नहीं है। इस कारण उसके स्थान में सद्ग्रन्थों का संग या अध्ययन दूसरे प्रकार का सत्संग कहलाता है।

बेटा! संसार में दो प्रकार के वृद्ध दिखाई पड़ते हैं—एक शरीर से वृद्ध और दूसरे ज्ञान से वृद्ध। केश पक जाने से जो वृद्ध हैं, वे केवल वायु के द्वारा ही वृद्ध हुए हैं। और जो ज्ञान में वृद्ध हैं, उन्हें ही यथार्थ वृद्ध कहते हैं। शिशु का शरीर वृद्धों का संग करने से उसी समय बुढ़ापा नहीं

पा सकता। परन्तु वयस अधिक होने पर भी जिसका मन शिशु के स… अज्ञान से आच्छन्न है, वह यदि ज्ञान से वृद्ध किसी ज्ञानी महापुरुष का … करता है तो वह थोड़े ही दिनों में ज्ञानवृद्ध हो जा सकता है। … पूर्व जन्म के महान पुण्य के प्रभाव से जिसका मन विचारशील और स्वाभावि… वैराग्यवान् है गुरुवाक्य श्रवण के द्वारा वह केवल विचार के बल ही विष… भोग से निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार का मनुष्य प्रथम श्रेणी का साधक… इस प्रकार का व्यक्ति लाखों में एक मिलना भी कठिन है। और विच… वैराग्यवान् गुरु के साथ रह कर उनका उपदेश श्रवण करते हुए विषय के … के समय जो विचार के साथ भोग करता है उसकी भोग-पिपासा भी क्रम… निवृत्त हो जाती है। परन्तु विचार के बिना कभी भी भोग-पिपासा की शां… नहीं होती।

भक्त—प्रभु ! भोग के द्वारा ही यदि भोग-वासना की निवृत्ति होती… हम लोगों के अनेक भोग करने पर भी भोग-वासना की निवृत्ति क्यों नहीं हु… अग्नि को बुझाने के उद्देश्य से यदि उसमें कोई घी डाल दे तो वह न … कर उल्टे भभक कर जल उठती है। ठीक उसी प्रकार हमारी वासना रूप अ… में निरन्तर विषय रूप घी डालते रहने से वह न बूझ कर दिनों दिन बढ़ती… जा रही है। इसका कारण क्या है ?

महात्मा—हे महामते ! तुम लोग जो धन-जन आदि विषयों का … करते हो उसका नाम 'उपभोग' है। इस उपभोग से भोग-पिपासा की … निवृत्ति नहीं हो सकती। इस लिए इसे यथार्थ भोग नहीं कहते। ब्रह्मज्ञ… और वेद के वाक्य श्रवण कर मन में जो विचार-शक्ति उत्पन्न होती है … विषयों के भोग के समय उस विचार-शक्ति को मन में लाना होगा। इस प्र… के विचार के साथ जब मन विषय भोग करने लगता है तब विचार के द्वा… उस विषय का क्षणिकत्व और नश्वरत्व दोष देख सकने से मन अपने आ… विषय-भोग से निवृत्त हो जाता है अर्थात् विषय में वैराग्य उत्पन्न होता है… इसी कारण शास्त्र कहते हैं—

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। (महाभार…

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये।
विज्ञाय सेवतश्चौरो मैत्रीमेति न चौरताम्॥ (पञ्चदशी)

अर्थात्—"काम्य वस्तुओं के उपभोग से कभी वासना की निवृत्ति नहीं होती। घृत की आहुति पा कर जैसे अग्नि वर्धित होती है, उसी प्रकार भोग से वासना की वृद्धि ही होती है और विचार के द्वारा भोग्य वस्तुओं का अनित्यत्व जानकर भोग करने से वह शान्ति का ही कारण होता है। जिस प्रकार स्वभाव जानकर सेवा करने से चोर भी मित्र हो जाता है।" मान लो, किसी गाँव में सन्ध्या समय एक गृहस्थ के घर एक अतिथि आया। गृहस्थ उसे देख कर जान गये कि यह वही आदमी है जो एक बार चोरी करके सजा पा चुका है। परन्तु सन्ध्या-समय अतिथि के रूप में आने के कारण गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए उसे खिला-पिलाकर एक बाहरी कमरे में उसके सोने का प्रबन्ध किया गया। अपने घर के दरवाजे में भीतर से ताला भर दिया गया और घर के भीतर बत्ती जला रखी गयी। अतिथि चोर था, वह गृहस्थ की होशियारी को समझता गया। इस कारण उसके घर से कुछ चुराने का उसे मौका न मिला। सुबह उठ कर जब वह जाने लगा तब गृहस्थ के सामने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए बोला—"आप बहुत सावधान हैं, इस प्रकार अनजान आदमी के लिए सावधानी रखनी ही चाहिये। मैं आपका अपरिचित था। आपने घर के भीतर के दरवाजे में ताला लगा दिया था, बत्ती भी जला रखी थी, ऐसी सावधानी उचित ही हुई है। भविष्य में भी यदि इसी प्रकार कोई आदमी आ जाय तो यदि आप इसी प्रकार की सावधानी रखा करेंगे तो कभी आप को धोखा नहीं खाना पड़ेगा।" चोर को जान कर उसकी सेवा करने से वह चोरी तो कर ही नहीं सका, उल्टे मित्र की तरह उत्तम परामर्श दे गया। यदि उस आदमी को गृहस्थ चोर न जानते तो सम्भवतः उस रात को उन्हें अनेक वस्तुओं से हाथ धोना पड़ता। इसी प्रकार माया-कल्पित भोग्य वस्तुओं को मिथ्या जान कर जो इनकी सेवा करता है यानी इनसे व्यवहार रखता है उसके मन को वे विषय कभी मोह-मुग्ध नहीं कर सकते, बल्कि उसके सामने अपना मिथ्या स्वरूप प्रकट कर मित्र की तरह उसको भोग-वासना से मुक्त कर देते हैं।

जिस भोग में विचार का लेश मात्र भी नहीं रहता उसे 'उपभोग' कहते हैं

और ज्ञानी लोग विचार के साथ जो विषय-भोग करते हैं, वही यथार्थ भोग-शब्द-वाच्य है। इस कारण उनमें भोग-पिपासा की वृद्धि न होकर विचार पूर्वक भोग से प्रारब्ध कर्म क्षय प्राप्त हो जाता है। इसी कारण अज्ञानियों को यौवन, जीवन, धन, जन आदि यथेष्ट रहने पर भी विचार और ज्ञान न रहने से उन भोगों के द्वारा केवल दुःख का ही अनुभव होता है और ज्ञानी उन सम्पदों का भोग ज्ञान के साथ करते हैं, इस कारण प्रचुर आनन्द पाते हैं और बाद में भी 'भोग से कर्म का क्षय हुआ' समझ कर मन में बहुत शान्ति का अनुभव करते हैं। बेटा! ज्ञानियों का संग किये बिना किसी तरह भी मन में विचार-शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। इस कारण मनोनिवृत्ति भी नहीं होती और मनोनिवृत्ति हुए बिना आत्मज्ञान प्राप्त हो कर मनुष्य परम शान्ति भी नहीं पा सकता। इस लिए जगद्गुरु शंकराचार्य भी कहते थे—

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः।

अर्थात्—"विषयों से मन की वासना निवृत्त होने से ही परम शान्ति प्राप्त होती है।" यहाँ तक कह कर महात्मा मौन धारण करके आत्मस्थ हो गये। इस समय पश्चिमाकाश में दिनमणि भी अस्ताचल चले गये देख कर भक्त यथाशक्ति स्वर्ण-मुद्रा, वस्त्र और फल-मूल उनके चरणों में रख कर दण्डवत् प्रणाम करके अपने स्थान को चला गया।

---

## देहतत्त्व

भक्त—प्रभु! आप ही तो ब्रह्मज्ञ और सर्वज्ञ हैं। अतः आप से ही देहतत्त्व और मनस्तत्त्व का स्वरूप जानना चाहता हूँ। इस कारण कृपा पूर्वक मेरी मनोवासना पूर्ण कीजिये।

महात्मा—बेटा! देहतत्त्व का वर्णन करता हूँ, ध्यान दे कर सुनो। इस दृश्यमान जगत में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि असंख्य जीवों के शरीर और मन हैं, उनमें तुम भी एक हो। अतः उन असंख्यों की ओर देख कर केवल अपने शरीर और मन के विषय में विचार करने से ही अ

असंख्यों का तत्त्व समझना तुम्हारे लिए सहज हो जायगा। मान लो, तुम्हारे मकान के सामने एक कुआँ है। उस कूएँ का जल दूषित हुआ है या नहीं, इसे परीक्षा के द्वारा जानने के लिए उस कूएँ के सारे जल को उठा कर जाँचने की आवश्यकता नहीं होती। उसमें से थोड़ा-सा जल उठा कर किसी डाक्टर को देने से वह अपने रासायनिक परीक्षागार में ले जा कर उस जल का विश्लेषण करके उसका दोष-गुण बतला देते हैं। इसी प्रकार माया-कल्पित इस संसार के असंख्य जीवधारियों में से एक का तत्त्व जान सकने पर ही सभी जीवों का स्वरूप जाना जा सकता है। इस कारण जब तक मनुष्य अपने शरीर और मन के प्रति ध्यान न दे कर अथवा अपने शरीर और मन पर विचार-शक्ति की परिचालना न करके भ्रम से केवल अपने शरीर और मन के बाहर की ओर दृष्टि रखकर बाहरी जगत के विचार द्वारा सत्य-मिथ्या का निर्वाचन तथा उनका तत्त्व हृदयंगम करने की चेष्टा करता है तब तक वह किसी वस्तु का स्वरूप नहीं समझ सकता। क्योंकि मन में अन्तर्दृष्टि या विचारशक्ति के उत्पन्न हुए बिना मनुष्य में मनुष्यत्व ही नहीं उत्पन्न होता। मनुष्यमात्र को ही इस प्रकार बाहरी विचार करते फिरने का अभ्यास हो गया है। अतः तुम अब अपने शरीर मन पर दृष्टि रख कर अन्तर्दृष्टि से मेरी बात का श्रवण और विचार करते रहो।

यह जो हड्डी-मांस से गठित तथा दुर्गन्धयुक्त मल-मूत्र का आधार स्थूल शरीर है, यह परिवर्तनशील और ध्वंसशील है—यह तुम अपनी आँखों से प्रति दिन ही देख रहे हो। तुम्हारे जन्म-ग्रहण के बाद से ही यह शरीर शैशव, बाल्य, यौवन, प्रौढ़त्व और वार्धक्य आदि अवस्थाओं में परिवर्तित होता जाता है, इसकी तुम प्रत्यक्ष उपलब्धि कर रहे हो। फिर जन्म के बाद किसी भी समय यह शरीर ध्वंस ( मृत्यु ) प्राप्त हो जाता है, यह भी दूसरे मनुष्यों के शरीरों में तुम प्रति दिन प्रत्यक्ष कर रहे हो। विशेषतः तुम्हारा यह जड़ ( अचेतन ) शरीर स्वयं कोई काम-काज नहीं कर सकता। क्योंकि इसमें अपनी कोई चेतना-शक्ति नहीं है। यदि चेतना-शक्ति होती तो निद्रित या मूर्छित अवस्था में अथवा मृत्यु के बाद भी यह शरीर काम कर सकता। इस कारण देहस्थित मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह जब कुछ चेतन हो

जाता है, तब उसी से देह सचेतन की तरह काम करने लगती है। यह पंचभूतात्मक है अर्थात् मिट्टी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच से ही इसकी उत्पत्ति है और यह अनेक दोषों से युक्त है। इस देह का नाश पर भी अर्थात् शरीर से मन का वियोग होने पर भी तुम्हारे मन का नाश न होता। देह का नाश होने पर मन अपनी शक्ति से पूर्व कर्म-संस्कारों के अनुसार नयी देह बना लेता है।

भक्त—प्रभु ! इस देह का नाम शरीर क्यों हुआ ?

महात्मा—इसमें छः भावों का विकास होता है, जैसे—जायते अस्ति वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते तथा विनश्यति। अर्थात् यह शरीर पहले जन्म ग्रहण करता है, विद्यमान रहता है, वृद्धि प्राप्त होता है, परिवर्तित होता है, क्षय-प्राप्त होता है और अन्त में विनष्ट हो जाता है। इन छः भावों के द्वारा शीर्ण हो जाने के कारण ही इसे 'शरीर' कहते हैं। बाल्य, कौमार, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाओं के द्वारा भी यह क्रमशः शीर्ण हो जाता है, इस कारण भी इसका नाम 'शरीर' हुआ है।

भक्त—इसे देह क्यों कहते हैं ?

महात्मा—आध्यात्मिक ( रोगादि ), आधिभौतिक ( चौर, सर्प आदि जनित ) और आधिदैविक ( वज्रपात ग्रहादिजनित ) इन त्रिविध दुःख रूपी अग्नि के द्वारा यह सदा ही दग्ध होता रहता है। इस कारण इसे देह कहते हैं। बेटा ! अब रात हो गयी है, आगामी कल तुम्हें मनस्तत्त्व के विषय में विस्तारित बताऊँगा।

महात्मा की यह बात सुनकर भक्त उन्हें [प्रणाम कर अपने स्थान को चला गया।



# मनस्तत्त्व

प्रातःकाल का समय है। वसन्त का मलय पवन धीरे धीरे प्रवाहित हो रहा है। हिमालय-शिखर पर अपने आश्रम के आँगन में ब्रह्मज्ञ महात्मा बैठे हुए हैं। ऐसे समय भक्त आकर महात्मा को प्रणाम करके सामने बैठ गया। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उसने कहा—"हे प्रभु, आपने कहा था कि, आज मनस्तत्त्व की व्याख्या करेंगे। अतः कृपा करके उसका वर्णन कीजिये।"

महात्मा—बेटा! तुम अपने इस शरीर पर दृष्टि देकर अन्तर्दृष्टि से इसकी छानबीन करके देखो, तुम्हें दिखाई पड़ेगा कि, तुम्हारे इस शरीर में शरीर से भिन्न 'मन' नामक एक सूक्ष्म वस्तु है, जिससे तुम हर समय सुख-दुःख, भले-बुरे, मान-अपमान, शोक-ताप आदि भावों का अनुभव करते हो। यही मन तुम्हारे शरीर का मालिक और चालक है। इस लिए मन की चेतना से ही शरीर चेतन की तरह सब काम करता है। तुम्हारे शरीर में जो आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक्, हाथ, पैर, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (लिंग) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—ये दस तुम्हारे-शरीर रूपी मकान के जंगले के समान हैं। मन रूपी मालिक तुम्हारे इस शरीर रूप मकान के भीतर बैठकर इन दस जंगलों से काम करता रहता है।

तुम लोग अपनी ज्ञानेन्द्रियों से जो इस संसार का प्रत्यक्ष अनुभव करते हो, वास्तव में केवल शरीर के इन बाहरी इन्द्रियों से तुम्हारे बाहरी जगत् के प्रत्यक्ष करने का काम पूरा नहीं होता। ये बाहरी पाँच इन्द्रियाँ यथार्थ में इन्द्रिय नहीं हैं, ये केवल बाहरी विषयों को भीतर ले जाने के यन्त्र मात्र हैं। यथार्थ इन्द्रिय-शक्ति मस्तिष्क के स्नायु केन्द्र में ही विद्यमान है। मान लो, तुमने एक शब्द सुना। यहाँ बाहरी कान ने उस शब्द को लेकर मस्तिष्क-स्थित इन्द्रिय-केन्द्र में पहुँचा दिया, उसके बाद उस इन्द्रिय ने उसे लेकर मन को सौंपा। वह मन भी वाहक मात्र है। उसने उस शब्द को और भी भीतर ले जाकर बुद्धि के सामने पहुँचाया। तब बुद्धि उसके सम्बन्ध में निश्चय करती है कि, वह किसका शब्द है और वह

अच्छा है या बुरा। इस बुद्धि ने भी फिर उस शब्द को और भी भीतर ले जा सबके साक्षी, सबके प्रभु आत्मा के सामने सौंप दिया। उसके बाद जिस क्रम वह शब्द भीतर गया था उसके विपरीत क्रम से फिर बाहर आया, यानी बुद्धि में, उसके बाद मन में, उसके पश्चात् मस्तिष्क-केन्द्र में, उसके अनन्तर बा यन्त्र कान में। तभी वह शब्द-ज्ञान पूर्ण हुआ। दूसरी ओर किसी मनुष्य के की शक्ति-युक्त दोनों कान रहने पर भी यदि उसके मस्तिष्क-केन्द्र की इन्द्रिय हो जाय तो वह कुछ भी सुन न सकेगा। फिर मस्तिष्क में मन का संयोग न पर भी श्रवण-कार्य सम्पन्न न होगा। मान लो, तुम बहुत ध्यान से कोई समा पत्र पढ़ रहे हो, ऐसे समय तुम्हारे पास वाली घड़ी में टन टन शब्द से दस गये, पर तुम सुन न सके। इसका कारण क्या है? तुम्हारा मन उस समय के साथ संयुक्त नहीं था। ठीक उसी ढंग से, पूर्वोक्त रीति से हमारी हरेक इं के कार्य होते रहते हैं। ये कार्य इतनी जल्दी सम्पन्न होते हैं कि, एक के शतांश समय भी न लगता होगा। इसलिए साधारण व्यक्ति उसे स नहीं सकता।

हमारे बाहरी यन्त्र तथा मस्तिष्क-केन्द्र-स्थित इन्द्रियाँ इस स्थूल शरी हैं, परन्तु मन और बुद्धि इस स्थूल शरीर से अलग हैं। इस स्थूल शरी अलग होने के कारण ही उनका नाम 'सूक्ष्म शरीर' है। कोई कोई स इसे 'आध्यात्मिक शरीर' भी कहते हैं। बेटा! इस संसार में ब्रह्मा से स्थावर वृक्षादि तक सभी जीव उस प्रकार के दो-शरीर-धारी हैं। एक मनोमय और दूसरा शरीर मांसमय है। मनोमय शरीर बहुत ही चंचल द्रुत क्रियाशील है। मांसमय शरीर स्थूल, धीर-गति-युक्त और स्वयं कार्य में असमर्थ है। इस कारण यह बहुत तुच्छ है। मांसमय शरीर का सफल नहीं होता, पर मनोमय शरीर की सारी चेष्टाएँ सफल होती हैं। तुम जिसे "मैं" या "आत्मा" कहते हो वह इन सभी से परे हैं। ये शरीर और मन सम्पूर्ण विभिन्न वस्तुएँ होने पर भी साधारण मनुष्य इन्हें ही वस्तु समझते हैं। दूध और जल दो पृथक् वस्तुएँ हैं, परन्तु मिलाने जैसे वे किसी प्रकार का भेद न रखकर ओतप्रोत होकर मिल जाते हैं, वैसे तुम्हारा मन भी इस स्थूल शरीर को ग्रहण कर, इससे अपना कोई भेद न

कर तथा एकदम शरीरमय होकर एक हो गया है। इसीलिए कहा है—शरीर और मन नीर-क्षीरवत् अवस्थित हैं।' तुम्हारा मन अज्ञान के कारण अपनी स्वतन्त्रता भूल कर, इस स्थूल शरीर के साथ ओतप्रोत भाव से मिलकर "यह शरीर ही मैं हूँ" इस प्रकार ज्ञान से हर समय इस शरीर का व्यवहार कर रहा है। मैंने पहले जिस आत्मा यानी "मैं" का स्वरूप बताया है उस आत्मा की शक्ति से ही मन शक्तिमान् है। विषय छोड़कर आत्माभिमुख होने से मन स्वयं ही आत्मस्वरूप प्राप्त होता है। तुम्हारा मन इस बात को एकदम भूलकर तथा जो जड़ शरीर मन की शक्ति से ही चलता है, जो शरीर मन की आज्ञा बिना पग भर भी नहीं चल सकता, वह शरीर ही मानों उसका शक्तिदाता है और उस शरीर की शक्ति से ही मानो वह स्वयं शक्तिमान हो रहा है—ऐसी भूल धारणा उसने कर ली है। इसी का नाम "आत्मविस्मृति" यानी अपने को भूल जाना है। इस आत्मविस्मृति से ही इस संसार में मन जीव बन गया है और शोक, ताप तथा दुःखभोग का एकमात्र कारण हो गया है। जरा सोच कर देखो—तुम्हरा मन हर समय यही ख्याल करता है कि, यह स्थूल शरीर मैं हूँ, यह शरीर जो कुछ करता है वह सब मैं ही करता हूँ, जो काम वह करने में असमर्थ है मैं उसे कदापि नहीं कर सकता—यानी शरीर से भिन्न तुम्हारे मन की अपनी कोई शक्ति है या रह सकती है, वह उसे कभी सोच भी नहीं सकता। परन्तु बिजली की शक्ति या किसी दूसरी प्रबल शक्ति की बात तुम क्यों न कहो इस मन की तरह सूक्ष्म तथा प्रबल शक्ति युक्त तीव्र वेगवाली कोई भी वस्तु आज तक कोई भी वैज्ञानिक आविष्कृत नहीं कर सके हैं, इसलिए तुम्हारे मन के अपने विचार से यह आत्मविस्मृति दूर होने पर मन का जीवत्व नष्ट होकर उसे शिवत्व की प्राप्ति होगी। इस विषय में पीठमाला तन्त्र का कहना है—

भ्रान्तिबद्धो भवेज्जीवो भ्रान्तिमुक्तः सदाशिवः।

अर्थात्—'भ्रम या मिथ्याज्ञान से बद्ध होने पर ही जीव और भ्रम से मुक्त होने पर ही वह जीव शिव होता है।" तुम्हारे जैसे साधारण मनुष्यों का मन शरीर के पूर्णतया अधीन है, इसलिए तुम्हारी मनःशक्ति का विकास बहुत थोड़ा ही होने पाता है—अर्थात् अधिकांश मनुष्य पशु-भावयुक्त मन लेकर ही जीवन

बिता रहे हैं। पशु-पक्षी आदि से उनके मन में संयम की शक्ति कुछ भी नहीं मालूम होती। मन पर इस प्रकार संयम की शक्ति प्राप्त किये बिना तुम इन सब विषयों को समझ ही नहीं सकोगे।

भक्त—महात्मन्! आपका उपदेश सुनने से मुझे बहुत ही आनन्द हो है। किस प्रकार के शक्तिशाली व्यक्ति इस स्थूल शरीर से मन को अलग उस मन की शक्ति की उपलब्धि करने में समर्थ होते हैं, कृपया उसी का कीजिये।

महात्मा—दूध और जल मिला कर हंस के पास ले जाते ही वह उसमें से भाग को छोड़कर दूध ही पी लेता है। मिले हुए दूध और जल-भाग छोड़ भाग पृथक् कर लेने में जिस प्रकार एकमात्र हंस ही समर्थ है, किसी दूसरे में वह सामर्थ्य नहीं है, ठीक उसी प्रकार पहले कहे हुए मिलित शरीर और से मन को अलग करके उस मन की शक्ति का अनुभव करना साधारण का कार्य नहीं है। अपने पुरुषार्थ से देहतत्त्व और मनस्तत्त्व अच्छी तरह कर जिन्होंने अपनी आत्मा की उपलब्धि की है, वही परमहंस पुरुष इस दे जल से मन रूप दूध को अलग करके मन की शक्ति का अनुभव कर पर प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं, कोई दूसरा आदमी नहीं। यह काम लिए दुस्साध्य है, पर एकदम असाध्य नहीं है।

भक्त—प्रभु! आप जो इस मन की बात कह रहे हैं यह मन कौन व इसकी किस किस विषय में क्या क्या शक्ति है, अब उसी बात को विस्त साथ मुझे समझा दीजिये।

महात्मा—हे सुबुद्धे! अति जटिल मनस्तत्त्व समझने के लिए तुम्हारी व्यवहारिक बुद्धि से काम न चलेगा। अपने मन पर विशेष दृष्टि रख कर, चिन्ता में लवलीन होकर अनुभव-शक्ति से तुम्हें इस मन का तत्त्व सुनना हो इस मन को ही शक्ति, माया, प्रकृति, जगज्जननी, अज्ञान, अविद्या, चित्त कहते हैं। जिस शक्ति से 'नहीं' वस्तु 'है' रूप से प्रतीत होती है, उसी का मन है। मैजिक या जादू का ऐसा चमत्कार है कि, जिस वस्तु का कुछ अस्तित्व नहीं है, युक्ति-तर्क से जिसका किसी तरह किसी प्रकार का कोई अस्तित्व नहीं मालूम होता, पर वह वस्तु मानो सचमुच ही 'है' ऐसा प्रत्यक्ष

रही है। यह मनःशक्ति भी ठीक उसी प्रकार की है। अब सोचो, यह कैसी अद्भुत शक्ति है! इस मनःशक्ति की समष्टि का नाम ही माया है। यह मन और माया एक ही वस्तु है—क्षुद्र और व्यापक—इतना ही भेद है। ब्रह्माण्डके सारे मनों की समष्टि को ही माया कहते हैं। जैसे—आम का पेड़ और अमराई। आम का पेड़ कहने से अलग अलग एक एक पेड़ व्यष्टि रूप से प्रतीत होता है, और अमराई कहने से सारे पेड़ समष्टि रूप से समझ में आते हैं। अतः समझ लो कि, मनों के बाग का नाम ही माया है। इस मन और माया के कार्य ठीक एक ही प्रकार हैं। 'नहीं' वस्तु को 'है' करके दिखाना, या मिथ्या को सत्य रूप से प्रतीत कराना यानी भ्रम प्रदर्शन कराना ही मन का स्वभाव या शक्ति है। आगे चलकर तुम और भी समझ सकोगे कि, इस मन के सभी कार्य आश्चर्य-कारक हैं। अब तुम अपने मन पर दृष्टि डालो। तुम्हारे शरीर में एक मन है न?

भक्त—जी हाँ, है।

महात्मा—तुम्हारा मन कितना लम्बा है? दो हाथ, दस हाथ या दस मील? और वह गोल है या चौकोर अथवा चौरस? वह मनुष्य के आकार का है, या पशु-पक्षी के आकार का, वृक्ष के आकार का है या गृह-क्षेत्र के आकार का? इस तरह इसका कोई आकार बता सकते हो?

भक्त—मन का इस प्रकार कोई आकार-प्रकार नहीं है। इसलिए उसे मैं बता भी नहीं सकता।

महात्मा—तुम्हारा मन स्त्री-जाति का है या पुरुष-जाति का, बता सकते हो?

भक्त—जी नहीं, वह भी मैं नहीं बता सकता।

महात्मा—तुम्हारा मन काला है या सफेद, लाल, पीला या नीला यानी कौन रंग वाला है, बता सकते हो?

भक्त—मन का कोई रंग नहीं है। जब वह जिस रंग के पास जाता है तब वह वही रंग प्राप्त कर लेता है—मानो बहुरूपिया है।

महात्मा—तुम्हारा मन कौन वस्तु पाने से सुखी होता है और कौन वस्तु पाने से दुःखी होता है, बता सकते हो?

भक्त—उसकी भी कोई निश्चयता नहीं है। विचार करके देखने से पता लगता है कि, जिस वस्तु को पाकर मन आज सुख पाता है, दूसरे ही दिन उस

वस्तु पर उसको अश्रद्धा हो गयी । पूड़ी-मिठाई आदि उत्तम खाद्य वस्तु भी लग
तीन-चार दिन खाने से उसमें अरुचि उत्पन्न हो जाती है । क्योंकि पहले म
उसे खाकर कुछ आनन्द प्राप्त हुआ था, उसके बाद ज्यों ही एक एक दिन
लगा त्यों ही थोड़ा थोड़ा करके उस उत्तम पुष्टिकर भोजन में भी मन को अ
और अश्रद्धा उत्पन्न होने लगी । ठीक इसी प्रकार सभी विषयों में देखता हूँ
के सुख-दुःख या शान्ति-अशान्ति की कोई निर्दिष्ट वस्तु नहीं है ।

महात्मा—बेटा ! तुम कहते हो तुम्हारे मन का कोई आकार-प्रकार न
तो क्या मन निराकार है ! निराकार होने से वह शरीर के भीतर रहता
तुम्हारा यह स्थूल शरीर जब साकार है तब उसके भीतर स्थित मन कैसे नि
हो सकता है ? विचार से दिखाई पड़ता है—मन साकार है, परन्तु उसका
आकार ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता । यह बहुत आश्चर्य की बात है न ? अ
अतिरिक्त तुम्हारा मन है पर वह स्त्री है या पुरुष, उसका भी ठिकाना नहीं
यह भी तो एक आश्चर्यजनक बात है । फिर तुमने कहा, तुम्हारा मन बहुरू
है, उसका लाल, काला आदि कोई निर्दिष्ट रूप ही नहीं है, मन रूप-रहि
परन्तु संसार में रूप-रहित कोई वस्तु ही नहीं है । अतः यह भी एक आश्चर्य
बात है न ? उसके बाद तुमने कहा है, मन के सुख-दुःख की भी कोई नि
वस्तु नहीं है । तो उस मन की कोई स्थिरता ही नहीं है । वह अस्थिर
संसार में सभी वस्तुओं की थोड़ी बहुत स्थिरता अवश्य ही है । परन्तु दि
पड़ता है—मन नामक एक वस्तु है, पर उसकी कोई स्थिरता नहीं है—य
तो एक महान् आश्चर्य का विषय है । जिसका कोई आकार नहीं, जाति नहीं,
नहीं यानी कुछ भी नहीं है ऐसा मन तुम्हारे भीतर है, यह मैं कैसे मान लूँ !

भक्त—नहीं प्रभु ! मुझमें मन अवश्य ही है । अपने इस मन से मैं
दुःख, भला बुरा, हित-अहित सभी समझता हूँ ; इस मन से दृश्यमान
संसार को देखता हूँ ( समझता हूँ ) । अतः मेरे मन के रूप, गुण, 'आ
प्रकार आदि का वर्णन मुँह से न कर सकने पर भी 'मन है' इस रूप में
ही मैं उसकी उपलब्धि करता हूँ । इसलिए 'मुझमें मन नहीं है' यह बा
किसी तरह मान नहीं सकता ।

महात्मा—बेटा ! तुम लोग अपनी आँख से संसार को देखते हो,

अपनी आँख को नहीं देख सकते, यह भी ठीक उसी तरह की अवस्था है। मन से इस ब्रह्माण्ड का तुम लोग अनुभव करते हो, परन्तु उस मन को तुम देख नहीं सकते या उस मन के बारे में कुछ कह भी नहीं सकते—यह भी तो एक आश्चर्य की बात है। जिस दिन तुम इस मन को देख सकोगे, यानी मन के हाथ, पैर, आँख, कान आदि अंशों की उपलब्धि द्वारा तुम उसका प्रत्यक्ष कर सकोगे उसी दिन तुम्हारा मन तुम्हें साथ लेकर परमात्मा के पास पहुँचा देगा और उनके साथ एकदम मिला देगा। इसलिए कहता हूँ, अब तुम अपने मन को पहचानने के लिए शरीर-मन-वाणी से चेष्टा करो। बेटा! केवल परमात्मा का ही अस्तित्व है और किसी का अस्तित्व नहीं है। मन नामक किसी वस्तु का पृथक् अस्तित्व न रहने पर भी, तत्त्वज्ञान के पहले इसका अस्तित्व इतने अधिक स्पष्ट रूप से अनुभूत होता है कि, उसका वर्णन करना भी कठिन है।

भक्त—प्रभु! इस माया या मन की उत्पत्ति कहाँ से हुई, मुझे समझा दीजिये।

महात्मा—हे सुबुद्धे! हम लोग जो माया या मन शब्द का उच्चारण करते हैं, इस माया की उत्पत्ति कहाँ से होती है उस विषय में विशेष ध्यान लगाकर विचार न करने पर केवल कुतर्क से उसकी उत्पत्ति का कारण जाना नहीं जा सकता। बहुत लोग इस मन का तत्त्व जानने के लिए आते हैं, परन्तु वे अपने मन के ऊपर जरा भी ध्यान न देकर केवल कुतर्क का जाल ही फैलाते हैं; इस कारण वे कुछ भी समझ नहीं सकते। बेटा! ये सब अपने मन की उपलब्धि करने के विषय हैं।

जिसकी उत्पत्ति है उसी का विनाश है; और जिसकी उत्पत्ति नहीं है, उसका विनाश भी नहीं है यही सिद्धान्त है। मान लो, यह जो स्वच्छ आकाश में मिथ्या नीला रंग दिखाई पड़ रहा है, इसकी उत्पत्ति या विनाश कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। यह मिथ्या नीला रंग अनादि काल से प्रतीत होता आया है और होता रहेगा। इसका अस्तित्व नहीं है, तो भी यह 'है' इस रूप में प्रकट हो रहा है। ठीक इसी तरह संसार के जीवों की माया यानी मन की उत्पत्ति और विनाश नहीं है, परन्तु यह अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। यह माया आकाश के नीले रंग की तरह मूल में मिथ्या है; परन्तु सत्य रूप से भ्रम पैदा करने

में समर्थ है। जिस प्रकार आकाश स्वच्छ होने पर भी अस्तित्व-रहित नीले रंग द्वारा आवृत हो रहा है और अनादि काल से ही वह मनुष्य की आँखों की ओर रहकर भी नीला प्रतीत हो रहा है; ठीक उसी तरह निर्दोष आत्मा भी अनादि काल से मिथ्या मन रूप माया के द्वारा आवृत होकर अनन्त काल तक संसार के जीवों की दृष्टि से परे विराजमान है। फिर देखो, आकाश नीला दिखाई पड़ने पर जिस प्रकार वह नीला नहीं होता या नीले रंग से निर्लिप्त रहता है; जितना ऊपर उठोगे उतनी ही उसकी स्वच्छता प्रकट होती जायगी; उसी तरह निर्दोष ब्रह्म मनुष्य की दृष्टि से सदा माया या संसार के रूप में प्रकट होने पर भी वे कभी उससे आवृत या उसमें लिप्त नहीं होते। जितना ही विचार करोगे उतना ही तुम्हारा मन ब्रह्माकाश में उठता रहेगा और तुम्हें दिखाई पड़ेगा कि, निर्दोष ब्रह्म में माया या संसार नहीं है। और भी देखो, तुम ऊपर की ओर दृष्टि डालकर जहाँ आकाश को नीला देख रहे हो अब उस नीले रंग के पास जाकर देखो तो मालूम होगा कि, सचमुच ही वहाँ नीला रंग नहीं है, वह तुम्हारी दृष्टि का भ्रम मात्र था; वहाँ स्वच्छ आकाश विराजमान है। अतः उस समय, पहले देखा हुआ वह नीला रंग तुम्हारे सामने ध्वंस प्राप्त हो गया न ? यह माया या माया-कल्पित संसार भी ठीक उसी प्रकार है। इस समय तुम्हारी अज्ञानावस्था में यह माया या संसार सचमुच ही सत्य रूप से प्रतीत हो रहा है, इसके आगे क्रमशः ब्रह्म-विचार द्वारा जितना ही तुम ऊपर उठते रहोगे और माया के तत्त्व की खोज करते रहोगे उतना ही तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा और दिखाई पड़ेगा माया या संसार नामक किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। अतः उस समय तुम्हारी माया तुम्हारे सामने ध्वंस प्राप्त हो जायगी। इस कारण माया या अज्ञान को अविनाशी नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञान-नाश्य है अर्थात् ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है—ठीक उसी तरह जैसे प्रकाश के द्वारा अंधकार विनष्ट होता है।

बेटा ! माया या मन ( अज्ञान ) का वास्तव में कोई रूप नहीं है। जिस प्रकार बरफ धूप के उत्ताप से गल जाता है, उसी तरह माया के द्वारा अभिभूत किसी मनुष्य के 'माया या मन क्या है ? इसका विचार करूँ' इस प्रकार उसे देखने की चेष्टा करते ही उसकी वह माया नहीं रहती, गल कर गायब हो जाती है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में स्थित कोई मनुष्य 'स्वप्न क्या है विचार करूँ' इस

प्रकार चिन्ता करने लग जाय तो स्वप्न उसके सामने से गायब हो जाता है। उसी प्रकार यह माया या अज्ञान भी विचारवान् पुरुष को छोड़ जाता है। अतः माया या अज्ञान क्या है? माया का स्वरूप कैसा है? माया कोई वस्तु है या अवस्तु? इस प्रकार विचार करने से माया लुप्त ही हो जाती है। अंधकार का रूप क्या है अथवा अंधकार क्या चीज है इसका निर्णय करूँगा ऐसा सोचकर यदि कोई दीया जलाता है तो अंधकार दिखाई नहीं पड़ता। क्यों कि, दीये के प्रकाश से अंधकार नष्ट हो जाता है, इसलिए अंधकार कैसा है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। अतः जैसे दीये के प्रकाश से अंधकार का नाश होता है और उसका स्वरूप निर्णीत नहीं होता वैसे ही विचार के द्वारा माया का समूल नाश हो जाता है और उसका स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता। विचार से माया का स्वरूप देखने की चेष्टा करते ही वह गायब हो जाती है। इस कारण मन या माया अवस्तु है।

भक्त—प्रभु! आपने पहले युक्ति से बताया है कि 'जिसकी उत्पत्ति नहीं है उसका नाश भी नहीं है।' अब आपकी बात से मालूम होता है की माया की उत्पत्ति नहीं है, पर नाश है; यह कैसी आश्चर्यकारक और असम्भव बात है?

महात्मा—बेटा! मेरी बात बिलकुल सत्य है, कुछ भी मिथ्या नहीं है। पहले तो तुम्हें मैंने बताया है कि माया का खेल सभी आश्चर्यजनक है। यह विषय बहुत जटिल है, इसलिए तुम सहज में इसे समझ नहीं सके। यह हर एक मनुष्य के अपने मन की उपलब्धि का विषय है। भाषा से इसे प्रकट नहीं किया जा सकता। इसीलिए माया को वेदान्त-शास्त्र में अनिर्वचनीया कहा है। महर्षि अष्टावक्र से आत्मतत्त्व सुनते-सुनते जब राजर्षि जनक का मायामोह छूट गया तब उन्होंने माया के अद्भुत कार्यों से आश्चर्य-चकित होकर कहा था—

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः पर।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः॥

(अष्टावक्र-संहिता)

अर्थात्—"अहो! मैं निरञ्जन शान्त नित्य ज्ञान-स्वरूप और प्रकृति (मन) से परे हूँ! अब तक मिथ्या माया-मोह के जाल में मैं वृथा ही फँसा हुआ था।"

इस माया की आश्चर्य-कारकता या अनेक रूप प्रकट करते हुए वेदान्त में क गया है—

तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥

(पञ्चदशी)

अर्थात्—(इस प्रकार अनुभव-युक्त माया को असत् भी नहीं कहा जा सक फिर ज्ञान के द्वारा माया का नाश हो जाता है इसलिए उसे सत् भी नहीं क जा सकता, ज्ञान-दृष्टि से सदा ही माया लुप्त हो जाती है, इसलिए उसे केव 'तुच्छ' कहा जा सकता है।) "माया को तीन प्रकार से व्यक्त किया जा सक है जैसे—श्रुति विचार से 'तुच्छ', युक्तिदृष्टि से 'अनिर्वचनीय' और लौकि स्थूल अज्ञान-दृष्टि से 'वास्तविक'।" यहाँ फिर से सहज दृष्टान्त देता हूँ, इस तुम यह विषय अच्छी तरह समझ सकोगे। जब तुम्हें रज्जु (रस्सी) में स का भ्रम होता है तब वहाँ यथार्थ में ही साँप है ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता और साँप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। थोड़ी देर बाद जब तुम्हें रस्सी का ज्ञ उत्पन्न हो जाता है। तब तुम्हारा पूर्व-दृष्ट वह साँप ध्वंस-प्राप्त हो गया न तुम्हारे इस रस्सी-ज्ञान के बाद अगर मैं तुमसे पूछूँ कि तुमने अभी जो सर्प दे था, वह कहाँ से और कैसे पैदा हुआ था? अब वह कैसे ध्वंस प्राप्त हो गया तो तुम अवश्य कहोगे कि 'यहाँ साँप पैदा ही नहीं हुआ, इसलिए उसका नाश कैसे होगा? वह मेरे मन से कल्पित साँप मात्र ही था।' अर्थात् जब त अज्ञान तब तक ही साँप है, ज्ञान होने पर साँप नहीं है—केवल कल्पना म ही है। अतः अब तुम्हें साफ मालूम हो गया कि सत्या रज्जु में तुम्हें जैसे स का भ्रम हुआ था, सत्य ब्रह्म में भी उसी प्रकार मिथ्या माया या संसार क भ्रम हो रहा है। वेदान्त में यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है और मैं भ इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। माया या मन की स्थूल अवस्था ही संसा और सांसारिक विषय है। फिर संसार की सूक्ष्म अवस्था ही मन है। अर्था यह सारा बाहरी संसार सूक्ष्म मनोराज्य का स्थूल विकास मात्र है; इसलि सर्वत्र सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य करके जानना। इसी कारण म में विषय और विषय में मन हर समय संलग्न रहता है। मन मेरा दरवान है

क्योंकि वह मुझे सारे संसार का समाचार देता है। मन ही विश्वात्मा है, यानी संकल्प के द्वारा वह विश्वरूप हो जाता है। मन जिस समय जिसकी कल्पना करता है, उसी समय वह दिखाई पड़ता है। मन ही कीट, पतंग, स्थावर, जंगम, पहाड़, वायु आदि की कल्पना करता है। यह मन ही जीव, चित्त, बुद्धि, अहंकार आदि नाम धारण करता है। ऐसे मनस्तत्त्व में ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय है। मन स्वयं अपनी चिन्ता से उन आकारों में प्रकट होता है। इसलिए यह संसार संकल्प के सिवाय और कुछ नहीं है। स्वप्न जिस प्रकार है, इस संसार का दर्शन भी उसी प्रकार है। अथवा मनःकल्पित राज्य जिस प्रकार है, यह संसार भी उसी प्रकार का है। इसे हम ब्रह्म का मनोराज्य करके जानते हैं। अगर ये सब परमार्थ की दृष्टि से देखे जायँ तो ये कुछ भी नहीं हैं, ऐसा प्रतीत होगा, और अविचार की दृष्टि से देखने पर ये सैकड़ों शाखाओं में विस्तृत मालूम होते हैं। वेद, वेदार्थ, सृष्टिक्रम, प्रलय के नियम, शास्त्रीय कार्य, उपासना, उसके अधिकारी प्राणिगण, उनकी कामनायें, कर्म, जन्म, मृत्यु, जीवन आदि सभी इस मन रूप अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अधिक क्या कहूँ, अविद्या या माया के कार्यों की संख्या का निर्णय और वर्णन करने में भी हम असमर्थ हैं। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भी शरीर अविद्या-मूलक हैं। इसलिए कहा जाता है कि, चित्स्वरूप आत्मा ब्रह्मादिकों के भी पिता हैं। संसार में जितने नाम हैं वे सभी आत्मा के नाम हैं, जितने प्रकार के ज्ञान हैं उन सभी के जनक आत्मा हैं। अतः आत्मा ही सब कुछ हैं। वे ही वन्दनीय हैं, वे ही पूजनीय हैं, जो मनुष्य उनका स्वरूप जानते हैं उनके सामने वे प्रत्यक्ष हैं।

बेटा! अपने जीवत्व की कल्पना भ्रान्ति मात्र है, इतना जान लेने से ही संसार-भ्रम समझ में आ जायगा, इसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस जीव-भाव से ही जन्म, मृत्यु आदि का भय उत्पन्न होता है। जीव अपने को नहीं जानता केवल इसी कारण संसार में उसे दुःख भोगना पड़ता है। केवल सांसारिक पदार्थों की आलोचना से संसार-भ्रम समझ में नहीं आयेगा। इसलिए मन ही एकमात्र विचारने का विषय है। तुम अपने मन के दोष-गुणों का विचार करने पर यह दृश्यमान जगत मन का कल्पना-प्रवाह है उसे स्पष्ट ही अनुभव कर

सकोगे। जो विचार द्वारा अपने मन को समझ सके हैं संसार की भ्रांति के
उन्हीं की समझ में आ सकती है, इस कारण संसार के सभी जीवों के म
इनके सामने जड़ के समान प्रतीत होते हैं। अपना मन स्थिर न हो
से दूसरे के मन की चंचलता दिखाई नहीं पड़ती। परमात्मा में माया
अज्ञान की शक्ति के प्रभाव से नाम और रूप का स्वांग रचकर यह संसार प्र
हो रहा है। वास्तव में यह आत्मा से पृथक् नहीं है। इसलिए आत्मा इस अज्ञा
में संसार रूप से प्रतीयमान हो रहे हैं। जिस प्रकार प्रकाश के बिना छाया न
दिखाई पड़ती, छाया का नाश भी नहीं होता, उसी प्रकार आत्मज्ञान बि
अज्ञान दिखाई नहीं पड़ती, वह नष्ट भी नहीं होता। अतः यह माया या अ
(अज्ञान) कहाँ से उत्पन्न हुआ, तुम्हें इसकी खोज करने की आवश्यकता नहीं
'मैं माया (अज्ञान) को कैसे नष्ट कर सकूँगा' तुम निरन्तर इसी का विचार कर
रहो, क्योंकि यह माया या अविद्या रूप व्याधि जिस स्थान से और जिस प्रका
से आयी क्यों न हो, प्रकाश के द्वारा अंधकार के समान, विचार से उसक
विलय होना निश्चित है।

भक्त—हे ब्रह्मवित्श्रेष्ठ! आपने पहले कहा है—एक आत्मा के सिवा
कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अतः यह माया या अज्ञान किसका है?

महात्मा—बेटा! यह अज्ञान क्या है? केवल भ्रम-ज्ञान मात्र है। य
मिथ्या-ज्ञान एक प्रकार का रोग है, विचार इसकी शान्ति के लिए जादू के समा
है। रस्सी में साँप का बोध या सूखे पेड़ में मनुष्य का ज्ञान जिस प्रकार भ्रम है
उसी प्रकार आत्मा को देह रूप में या ब्रह्म को संसार रूप में देखना भी भ्र
मात्र है। रस्सी कभी साँप नहीं होता और न पेड़ ही मनुष्य होता है, उसी तर
आत्मा या ब्रह्म संसार नहीं बन जाते वह अपने ही स्वरूप में विराजमान हैं।
केवल बीच में द्रष्टा के आत्म-स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। ठीक इसी प्रका
अज्ञान से ही संसार भासमान होता है। जिस प्रकार किसी ऊँचे स्थान से गि
कर किसी का पैर टूट जाने से वह कितनी ऊँचाई से गिरा, वह स्थान कहाँ है
उस समय वेला कितनी थी, किस काम के लिए वह वहाँ चढ़ा था आदि प्रश्न
निरर्थक हैं। क्योंकि उससे उस आदमी का टूटा पैर अच्छा नहीं होगा, बल्कि
उस समय चिकित्सक बुलाकर उसका इलाज कराना ही बुद्धिमान् मनुष्य का

कर्तव्य है। इस अज्ञान का विषय भी वैसा ही है—यह कहाँ से और कैसे पैदा हुआ इत्यादि प्रश्न निरर्थक हैं; क्योंकि मुझे भ्रम हुआ है, ऐसा ज्ञान होने पर फिर उसका भ्रम नहीं रहता। जिस प्रकार तुम्हारी स्वप्नावस्था में 'मैं स्वप्न देख रहा हूँ'—इस प्रकार ज्ञान होते ही स्वप्न टूट जाता है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान को देख सकने से ही वह गायब हो जाता है। इसलिए अज्ञान किसका है ऐसा प्रश्न निरर्थक है।

भक्त—भगवन्! जिससे इस अनेक दोषों की खान विश्व का विस्तार हुआ है, उस प्रबल प्रभावशाली मन का स्वरूप क्या है, उसके विषय में विस्तार के साथ मुझे बतलाइये।

महात्मा—हे महामते! मन का कोई रूप दिखाई नहीं पड़ता, केवल उसका नाम ही सुनाई पड़ता है और उससे एक प्रकार का ज्ञान भी होता है। आकाश की तरह मन का कोई आकार या रूप नहीं है, भ्रम-ज्ञान ही उसका आकार है। अर्थात् जो शरीर के भीतर और बाहर वस्तु के रूप में प्रकट होता है उसी का नाम मन है। इसके सिवाय मन का कोई दूसरा आकार नहीं है। अथवा संकल्प ही मन है। जिस प्रकार तरलता से जल भिन्न नहीं है, उस प्रकार मन भी संकल्प से अलग नहीं है। सत्य हो या मिथ्या, वस्तु के रूप में प्रकट होना ही मन है और यही मन लोक-पितामह 'ब्रह्मा' है। आतिवाहिक (कल्पनामय) शरीरधारी लोक-पितामह ब्रह्मा शास्त्रों में 'मन' नाम से कथित हुए हैं और ये ही हमारे स्थूल शरीर में ज्ञान प्रदान करते हैं। अर्थात् मन की चेतना से ही शरीर की चेतना या दृश्यमान जगत् का प्रकाश है। इसके सिवाय वस्तुतः दृश्य या जगत् करके कोई चीज पैदा ही नहीं हुई है। बेटा! मन क्या है? मन भावमय है, जो पूर्वानुभूत विषय की विकल्पना या विभावना है, उसके अतिरिक्त मन कोई चीज नहीं है। आत्मा सदा चिद्रूप हैं। तो भी सदा प्रकाशमान रहते हुए भी 'मैं आत्मा को नहीं जानता' इस प्रकार का विपरीत ज्ञान जिसके द्वारा होता है और कर्ता न होकर भी जो 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है उसी को तुम 'मन' रूप से जानना। जिस प्रकार गुणी गुण-रहित नहीं होता, उसी प्रकार मन भी कल्पनात्मक क्रिया-शक्ति से रहित नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि और उष्णता अभिन्न है, उसी प्रकार कर्म और

मन तथा मन और जीव अभिन्न है, वही संकल्प रूप मन फल-जनक कर्म द्वारा अपने संकल्प-शरीर को नाना रूपों से फैलाकर इस मायामय संसार अनेक रूप से विस्तृत कर रहा है। यथार्थ में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कल्पना, स्मृति, वासना, विद्या, प्रयत्न, इन्द्रिय, प्रकृति, माया—ये सभी के ही दूसरे नाम हैं, फलस्वरूप अकेला मन ही उन विभिन्न भावों से अपने संसार में फैला रहा है। एक ही आदमी जिस प्रकार कर्म-भेद से रसोइ पाठक, पुजारी आदि नाना प्रकार के नाम धारण करता है उसी प्रकार मन कर्म-भेद से नाना उपाधि धारण करता है। संक्षेप में, मन ही ब्रह्म में भास संसार का बनाने वाला है, क्योंकि मन ही सुर, नर, दानव, यक्ष, गन्धर्व, आदि रूपों में स्थित है। हम मानस प्रत्यक्ष से देखते हैं, मन गृह, क्षेत्र, सम्पत्ति और बन्धु आदि विचित्र रूपों से विराजमान है और धातु, लकड़ी, कीड़े, मकोड़े आदि के शरीर, रूप में प्रतीयमान हो रहा है। वेश ! रस्सी सर्प-भ्रम, सूखे वृक्ष में भूत का भ्रम, इन स्थलों में जिस प्रकार उस देखने वाले का मन कल्पना से साँप तथा भूत सृष्टि करता है और उसे समझ सकने पर भयभीत होकर दौड़ने लगता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म में जगत-भ्रम के स्थान में द्रष्टा ( मनुष्य ) का मन कल्पना जगत-सृष्टि करके स्वयं उसे न समझ सकने पर धन-जन के शोक और ताप से छटपटाता है। अतः सुर-नर-तृण-लतादि विचारणीय नहीं हैं, केवल मन ही विचारने योग्य वस्तु है। मन ही संसार को विस्तृत कर रहा है, इसलिए मन का अभाव होने पर केवल अद्वय परमात्मा ही अवशिष्ट रहते हैं। आत्मा सर्वातीत हैं, पर सर्वगत और सर्वाश्रय हैं। उन्हीं के प्रभाव मन विश्व के रूप में प्रधावित हो रहा है। मन ही कर्म और शरीर तथा अन्य सभी वस्तुओं का कारण है। यही मन जन्म-मृत्यु प्राप्त करता है। पीठमाला तन्त्र में वचन है—

मनः करोति कर्माणि मनो लिप्यते पातकैः।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥

अर्थात्—"मन ही कर्म करता है और मन ही पाप में लिप्त होता है। फिर वही मन परमात्मा में तन्मय होने से पाप या पुण्य उसे छू भी नहीं सकता।"

बेटा! जीव के जीवत्व का एकमात्र मूल कारण ही यह मन है। मनुष्य के स्थूल शरीर में जिस प्रकार हाथ, पैर, आँख, कान आदि अंग-प्रत्यंग मिलकर एक शरीर की सृष्टि हुई है, उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, हिंसा, द्वेष आदि मिलकर इस मन का शरीर बना है। अंग-प्रत्यंग छोड़ देने से जैसे शरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, वैसे ही मन के इन रिपुओं को छोड़ देने से वह लुप्त हो जाता है। सत्त्व, रजः और तमः इन तीन गुणों से ही मन या उन रिपुओं की सृष्टि होती है, इसलिए मन को त्रिगुणमयी प्रकृति ही कहते हैं। मन का सत्त्वगुण सुख की, रजोगुण कर्म की और तमोगुण विरक्ति की सृष्टि करके जीव को संसार में फँसा लेता है। इसलिए शास्त्र कहते हैं—

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ( सांख्य-दर्शन )।
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि व्यक्तं
तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ( सांख्या-कारिका )।

अर्थात्—"ये मन आदि व्यक्त पदार्थ और उन सभी के मूल कारण प्रधान (प्रकृति) त्रिगुणमय, ज्ञानरहित, विषय, साधारण, अचेतन और प्रसवधर्मी* हैं, परन्तु पुरुष ( आत्मा ) इन सबसे विपरीत यानी पृथक् और निर्लिप्त है।" बेटा! हमारी यह स्थूल देह स्वयंप्रकाश नहीं है, मन के प्रकाश से ही इस देह का प्रकाश है। जब तक मन रहता है, तब तक देह का प्रकाश है, मन के चले जाने से देह का प्रकाश नहीं रहता, क्योंकि जब मन मस्तिष्क की स्नायु-इन्द्रिय में युक्त नहीं रहता तब दर्शन, श्रवण आदि किसी भी इन्द्रिय का कार्य नहीं होता। यदि देह स्वयं-प्रकाश होती तो निद्रित और मृत व्यक्ति की देह भी क्रियाशील होती। अतः मन के प्रकाश से ही देह का प्रकाश सिद्ध हुआ। फिर यह मन भी स्वयंप्रकाश नहीं है, वह जड़ है क्योंकि मामूली कारण से क्षण-क्षण में उसका परिवर्तन होता है। परिवर्तन जड़ वस्तु का ही स्वधर्म है। आत्मा के प्रकाश से मन का प्रकाश है। मन के ऊपर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह

* नित्य नये नये विषय-वासनाओं का प्रसव ( सृष्टि ) करना ही जिसका स्वभाव है, उसे प्रसवधर्मी कहते हैं।

इसका जड़त्व घटाकर इसे चेतन की तरह काम करने योग्य बना देता है। ल
टेन के भीतर की आग का प्रकाश जिस प्रकार शीशे की चिमनी के भीतर
बाहर आकर अंधेरे घर को प्रकाशित कर देता है, हमारे भीतर के आत्मा
की चेतना शक्ति भी उसी तरह मन-रूप स्वच्छ चिमनी के भीतर से अचेतन
देह-गृह को चेतन की तरह कर देती है। रात में सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा
संयोग से हमारे ऊपर आ पड़ने पर हम उसे सूर्य का प्रकाश न समझ कर
का प्रकाश समझते हैं। उसी प्रकार परमात्मा की चेतना मन के द्वारा शरीर
व्याप्त होने से समझ न सकने के कारण हम उसे मन की चेतना ही मानते
हैं। इसी कारण मन कभी सबल और कभी दुर्बल, फिर कभी उसका अभाव
भी दिखाई पड़ता है। स्वयंप्रकाश वस्तु का प्रकाश कभी नष्ट नहीं होता। प्र
देखो, जैसे—चन्द्रमा स्वयं स्वयंप्रकाश नहीं है, वह सूर्य से प्रकाश उधार ले
हमें प्रकाश देता है। इसीलिए चन्द्र-प्रकाश की ह्रास-वृद्धि होती है। परन्तु
स्वयंप्रकाश है, इस कारण उसके प्रकाश की कभी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। 
ही आनन्दस्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और अस्तित्व-स्वरूप एकमात्र आत्मा
प्रकाश है, इसलिए उसका कभी परिवर्तन या ह्रास-वृद्धि नहीं होती
इस आत्मा के प्रकाश से ही मन का प्रकाश है। हम मन के भीतर
से जिस प्रकाशक चैतन्य का प्रकाश पा रहे हैं वह मन का निजी प्रकाश
है, वह उस स्वयंप्रकाश आत्मा का ही प्रकाश है।

संसार में मनुष्य या जीव का अस्तित्व इस मनःशक्ति के द्वारा ही विद्यमान
है। जिस प्रकार भाप के बल रेलगाड़ी चलती है उसी प्रकार तुम्हारे मन
शक्ति से तुम्हारा यह स्थूल शरीर चलता है और इस पर 'मैं ही यह शरीर
इस प्रकार 'अहं-बुद्धि' स्थापित करके मन भीतर रह कर भाप की तरह
करता रहता है। 'मैं मनुष्य हूँ' इस धारणा से ही तुम्हारा मन पशुओं के
न मिलकर दूसरे मनुष्यों के दल में मिलता है। 'मैं पापी और असत् हूँ'
धारणा से ही मन पुण्य कर्म करता है। इस तरह मन सदा ही इस शरीर
'मैं हूँ' इस प्रकार अस्तित्व समझकर इस शरीर के द्वारा संसार के सारे
करता है और मन की यह शक्ति व्यापक रूप से सर्वत्र काम कर रही है। 
ब्रह्माण्ड में ऐसा तिल परिमाण स्थान भी नहीं है जहाँ किसी न किसी प्रकार

जीव का अस्तित्व नहीं है। उन सभी जीवों में एक-एक 'मन' अवश्य ही है, इसलिए मनोवृत्तियाँ भी हैं। अतः यह मन सर्वव्यापक होकर भी एक-एक शरीर में 'अहं-बुद्धि' से कार्य कर रहा है, इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

भक्त—भगवन्! आपने पहले बतलाया है—'सत्त्व, रजः, तमः इन तीन गुणों के द्वारा ही मन की सृष्टि हुई है, तो क्या जीव के सभी मनों में ये तीन गुण विद्यमान हैं?

महात्मा—हाँ बेटा! जीव के सभी मनों में वे तीनों गुण विद्यमान हैं। जिस प्रकार तुमलोग चावल, दाल और जल इन तीनों वस्तुओं को मिलाकर खिचड़ी पकाते हो, परन्तु उनमें से एक चीज को छोड़ देने से जैसे किसी तरह खिचड़ी नहीं बनती, ठीक उसी प्रकार उन तीनों गुणों से ही मनकी सृष्टि होती है। उनमें से एक को भी छोड़ देने से मन का अस्तित्व ही नहीं रहता। गुण का अर्थ है रस्सी। बड़ी-बड़ी नावों को खींचने वाली रस्सी तो तुमने देखी ही होगी, वह बहुत मोटी न होने पर भी बहुत मजबूत है। सत्त्व, रजः, तमः मन के ये तीन गुण यानी तीन महीन रस्सियाँ हैं। इन रस्सियों के द्वारा ही तुमलोग इस संसार में आबद्ध हो रहे हो। विचार रूप शस्त्र से इन गुणों का बंधन काट कर गुणातीत यानी मन से परे ब्रह्म-भाव प्राप्त होना ही जीव की मुक्ति है।

भक्त—प्रभु! हमलोग तो समझते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र, बुद्धदेव या दूसरे अवतार और आत्मतत्त्वज्ञ महात्मा सभी सत्त्वगुणी थे; उनके मन में रजोगुण या तमोगुण जरा भी नहीं था।

महात्मा—बेटा! स्वयं भगवान् ही हों या ज्ञानी, अज्ञानी क्यों न हो ये तीन गुण सभी के भीतर ही रहते हैं। उनमें जिसके मन में जिस गुण की अधिकता दिखाई पड़ती है उसे लोग वही गुणी कहते हैं—यही स्वाभाविक है। एक दृष्टान्त दे रहा हूँ, शास्त्र में कहा गया है कि, 'सर्वशुक्ला सरस्वती' यानी सरस्वती के सभी शुक्लवर्ण हैं।' परन्तु उसी सरस्वती के केश कृष्णवर्ण हैं, चक्षु की दोनों भौंहें और आँखों की पुतलियाँ भी काले रंग की हैं। अतः सरस्वती सर्वशुक्ला क्यों कही जाती हैं? उनके शरीर के अधिकांश स्थान शुक्ल वर्ण अर्थात् सफेद रंग के हैं, इसीलिए कृष्ण वर्ण थोड़ा-बहुत रहने पर वे सर्वशुक्ला ही कही जाती है। अतः अब यही प्रमाणित हुआ कि, शुक्ल वर्ण का अंश

अधिक रहने से ही सरस्वती सर्वशुक्ला कही गयी हैं। ख्याल करो, 'ब्राह्मण-
नामक गाँव में क्या शूद्र नहीं रहते? मान लो कि, उस गाँव में ५० घर
हैं, उनमें ४ घर गृहस्थ शूद्र के भी हैं और बाकी ४६ घर गृहस्थ ब्राह्मण के
अतः ब्राह्मणों की अधिकता रहने के कारण ही, केवल ४ घर शूद्र गृहस्थ रहने
भी, उस गाँव को 'ब्राह्मण-गाँव' कहा जायगा। मन के उन तीनों 'गुणों'
बारे में भी वैसा ही समझना चाहिये। यानी जिनके मन में सत्त्वगुण का
अधिक है, वे सत्त्वगुणी, रजोगुण की अधिकता रहने से रजोगुणी और तमो
की अधिकता से तमोगुणी कहलाते हैं। तुमने जिन महात्माओं के नाम
उनके मन में तमोगुण की मात्रा इतनी अल्प थी कि, साधारण मनुष्य
जान ही नहीं सकता। जैसे,--मन भर जल में एक तोला नमक मिला
उसका स्वाद लेने से 'उसमें नमक है' उसकी उपलब्धि कोई नहीं कर सकता
परन्तु परीक्षा करने पर उस जल में से नमक निकलता है। यह भी ठीक
प्रकार है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है--

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥

अर्थात्--"संसार में या स्वर्ग के देवताओं में भी ऐसा कोई नहीं है
प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से छुटकारा पा सके।"

एक ही मन, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चार अवस्थाओं में चार
से कार्य करता है, इसलिए श्रुति करती है--"कामाद्या नानाविधा वृत्ति
नुक्रम्याह एतत् सर्वं मन एव।" अर्थात्--"कामादि नाना प्रकार की
तथा चित्त बुद्धि आदि सभी मन हैं, अन्य कुछ भी नहीं है।"

भक्त--भगवन्! मन चार अवस्थाओं में कैसे कार्य करता है यह मैं
न सका।

महात्मा--जिस समय तुम्हारा मन कोई वस्तु या दृश्य देख कर संकल्प-विकल्प
या सन्देह-संशय करने लगता है, मन की उस अवस्था का नाम 'मन' है।
तुमने एक बाघ देखा। उसे देखते ही मन में संदेह पैदा हुआ कि 'यह बाघ है
गीदड़? मन की इस प्रकार संदिग्ध अवस्था को ही 'मन' कहते हैं। दूसरे

वही मन विचार से निश्चय करता है कि, यह बाघ है। मन की इस अवस्था का नाम 'बुद्धि' है। इस बुद्धि से बाघ निश्चय करते ही वही मन चित्त रूप से आकर अपनी पूर्व स्मृति जगाकर तुम्हें स्मरण करा देता है कि 'बाघ भयंकर जन्तु है और वह मनुष्य को खा डालता है।' मन की इस स्मरण शक्ति का ही 'चित्त' है। इसके बाद मन अहंकार रूप से आकर पूर्वाभ्यस्त संस्कार से बोल उठता है, 'मैं मनुष्य हूँ, बाघ मुझे खा जायगा' इतना कहते ही डर से दौड़कर तुम्हारा मन तुम्हें भगा ले जायगा। 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार मन का देहाभिमान ही 'अहंकार' है। मन की इन चार अवस्थाओं की क्रिया इतनी जल्दी हो जाती है कि मामूली आदमी इसे समझ नहीं सकता। उसी प्रकार तुम्हारे मन की जो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अवस्थाएँ हैं उन चारों वृत्तियों को समष्टिरूप से 'अन्तःकरण' कहते हैं। इस अन्तःकरण का ही दूसरा नाम 'जीव' है।

भक्त—दयामय, आपने कहा है, 'देह और मन नीर-क्षीर-वत् ओतप्रोत भाव से मिले हुए हैं।' अतः देह का नाश होने से मन भी तो नष्ट हो जायेगा?

महात्मा—बेटा! इस हड्डी-मांस के बने हुए स्थूल शरीर की मृत्यु होने से भी उस जीव रूपी सूक्ष्म देह मन की मृत्यु या नाश नहीं होता। मन की भोग-वासना का भी कोई परिवर्तन नहीं होता। मनुष्य के शरीर की मृत्यु के समय मन में विषय-भोग की जो तीव्र वासनाएँ विद्यमान रहती हैं, उन संस्कारों के साथ ही मन फिर से दूसरा नया शरीर तैयार कर देता है। मान लो, एक आदमी सारंगी बाकर गाना गा रहा था, इसी समय एकाएक उसके बाजे का तार टूटकर बाजा बेकाम हो गया। इसीलिए क्या उसके साथ ही साथ उस गायक के गाने की शक्ति भी नष्ट हो जायगी? ऐसा कभी नहीं हो सकता। सारंगी टूटकर चूर-चूर हो जाने पर भी उस गायक के गाने की शक्ति ज्यों की त्यों विद्यमान रहेगी और आवश्यकता होने से वह गायक एक नया दूसरा बाजा तैयार कर लेगा। ठीक उसी प्रकार तुम्हारे मन रूपी गायक के देह रूपी बाजा टूट जाने पर भी मन की शक्ति ज्यों की त्यों विद्यमान रहेगी और बाद में वही मन कोई दूसरा शरीर धारण कर लेगा। हे सुबुद्धे! मन देह से पृथक् है। जैसे केले के पेड़ को चीरने से छिलके के सिवाय और कुछ नहीं मिलता उसी प्रकार इस स्थूल शरीर को चीरने पर

भी खून-मांस-हड्डी के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। अतः तुम मन
जीव रूप से जानना। यह मन रूप चित्त ही पुरुष या कर्त्ता है। उनके
जो कुछ किया जाता है, यथार्थ में वही कार्य है। मनुसंहिता कहती है—
कृतं कृतं लोके, न शरीर-कृतं कृतम्। अथात्—"मनुष्य मन द्वारा जो
करता है वही वास्तविक कर्म है ? पर स्थूल शरीर द्वारा जो किया जाता है
नहीं है। यह मेरा स्थान है, यह मैं हूँ, ये मेरे अंग-प्रत्यंग हैं, यह मेरा
इस प्रकार मन ही सब कुछ उल्लेख करता है। एकमात्र मन ही जीव से
न्तर नाम प्राप्त होकर उस जीव का अनुगामी होता है। उसके बाद अहं
वशीभूत होकर अभिमान से वह स्वयं नाना रूप प्राप्त करता है।
स्थूल शरीर यथार्थ में शरीर नहीं, यह बात हर समय याद रखना। जिस
कुम्हार मन की कल्पना के बाद घट, घड़ा आदि बनाता है, मन उसी
संकल्प मात्र से नया शरीर बना लेता है। मन ही सारे जीवों के सुख-दुख
का शरीर है। यह मांसमय शरीर सुख-दुख-भोग का आधार नहीं है।
सुख-दुख-भोग तथा कामना-वासना का आधार है। इसलिए कहता हूँ, इस
मय शरीर को तुम मन की कल्पना मात्र है, ऐसा निश्चय करना।
मृत्यु देखकर महात्मा कबीर जी कहते हैं—

मन मरे न माया मरे, मर जाय शरीर।
आशा तृष्णा नहीं मरे, कहे दास कबीर॥

इसका भावार्थ यह है कि,—"मनुष्य की मृत्यु से उसके मन या
विषय-भोग की वासना और आशा कुछ भी नहीं नष्ट होता, केवल
स्थूल शरीर ही मर जाता है। कबीर जी ने इसी बात को कहा है।
महामते ! मृत्यु क्या है ? जिस प्रकार तुम अपने फटे-पुराने कपड़ों को
दे कर नये वस्त्र पहनते हो, उसी प्रकार मन भी इस पुराने और जीर्ण
को छोड़कर फिर नया शरीर ग्रहण कर लेता है। पुराने वस्त्र पहनने में
प्रकार तुम्हारे इस स्थूल शरीर का रंग नहीं बदलता और न आँख, कान
इन्द्रियों की ह्रास-वृद्धि ही होती है, पहले की तरह सब ज्यों के त्यों ही रह
ठीक उसी प्रकार पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण करने में

भी काम, क्रोध, हिंसा, द्वेष, आदि का या अज्ञानता और संसार आदि का हानि-लाभ नहीं होता, सब ज्यों के त्यों पहले की तरह ही रहते हैं। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है :—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः।

अर्थात्—"जीव इस शरीर को छोड़कर परलोक सिधारते समय तैजस या लिंग शरीर ग्रहण करता है। सूक्ष्म-भूत-जात वह लिंग-शरीर स्वरूप में तथा प्रमाण में दोनों प्रकारों से ही सूक्ष्म है। जीव सूक्ष्म नाड़ी-मार्ग से निकलता है, इसलिए वह बहुत सूक्ष्म है। प्रमाण में सूक्ष्म होने के कारण ही उसका संचार होता है और स्वरूप से सूक्ष्म यानी बहुत स्वच्छ होने के कारण उसमें आघात नहीं लगता और वह अदृश्य भी रहता है। इस स्थूल जगत् में कोई भी वस्तु उसकी गति को रोक नहीं सकती और जब वह इस स्थूल शरीर से प्रयाण करता है तब उसे कोई देख भी नहीं सकता।"

नोपमर्देनातः ( ब्रह्मसूत्र )

अर्थात्—"वह मन अत्यन्त सूक्ष्म होने से स्थूल शरीर के उपमर्दन से मर्दित नहीं होता।" इसका आशय यह है कि, स्थूल शरीर के छिन्नभिन्न या दग्ध होने से सूक्ष्म शरीर यानी मन को जरा भी हानि नहीं पहुँचती।

अस्यैव चोपपत्तेरेष उष्मा! ( ब्रह्मसूत्र )

अर्थात्—"जीवित शरीर का स्पर्श करने से जो उष्णता अनुभूत होती है, वह उसी तैजस सूक्ष्म शरीर की ही उष्णता है।" याद करो, मृत शरीर की स्थूलता, गुरुता, रूप आदि के रहते हुए भी उसमें उष्णता नहीं रहती। उष्णता केवल जीवित शरीर में ही रहती है, मृत शरीर में नहीं। इसी से समझ सकते हो कि इस दृश्यमान स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी है और उसी सूक्ष्म शरीर में उष्णता रहती है। बेटा! मृत शरीर में सूक्ष्म शरीर नहीं रहता, वह स्थूल शरीर छोड़कर चला जाता है। इसी कारण मृत शरीर ठण्डा मालूम होता है। यह बात श्रुति में भी कथित है :—

उष्ण एव जीविष्यन् शीतो मरिष्यन्।

अर्थात्—"उष्णता है इसलिए यह जीवित है और शीतल हो गया

इसलिए यह मृत है।" और लोगों का व्यवहार भी देखो—किसी की मृत्यु होने पर लोग कहते हैं—'इसका देह-त्याग हो गया।' या 'इसने शरीर छोड़ दिया'। परन्तु कोई नहीं कहता, 'इसका मन त्याग हो गया।' सचमुच ही मन-रूप जीव इस देह का त्याग करके चला जाता है, इसलिए लोग 'देह-त्याग' शब्द का प्रयोग करते हैं। अतः देह और प्राण-वायु छोड़कर मृत्यु के बाद भी मन जीवित रहता है—यही सिद्धांत है। ये सब विषय बहुत सूक्ष्म हैं; सूक्ष्म विचार से ज्ञान-नेत्र के द्वारा देखने पर ही समझ में आ सकते हैं; परन्तु स्थूल विचारवाले अज्ञानियों के लिए यह बुद्धि के बाहर की बात है।

भक्त—हे भगवन्! हमारा यह दुःख-कष्ट कहाँ से उत्पन्न हुआ है?

महात्मा—बेटा! मन को, आत्मज्ञान (अर्थात् अपने विषय में सम्पूर्ण ज्ञान अर्थात् मैं कौन हूँ? कहाँ से आकर यहाँ पर जन्म लिया है? किस लिए जन्म लिया है? फिर शरीर छोड़कर मैं कहाँ जाऊँगा? कैसे जाऊँगा? इत्यादि ज्ञान) के न रहने से, उस अज्ञानता के कारण ही मन नाना प्रकार की कल्पना करता रहता है। उस कल्पना से ही दुःख-अशान्ति उत्पन्न होती है। यदि मन अपने तत्त्व के विषय में ठीक ठीक उपलब्धि कर सके, तब फिर दुःख-अशान्ति का लेशमात्र भी विद्यमान नहीं रह सकता। उसका प्रमाण महापुरुषों के मन द्वारा प्रत्यक्ष करो। आत्मज्ञ महापुरुष के मनमें उनके अपने तत्त्व के विषय में सम्यक् रूप से अनुभव हो रहा है और वह प्रत्यक्ष देख रहा है कि 'मैं परमात्मा सर्वव्यापी होकर सब प्रकार के रूपों में सर्वत्र एक निर्विकार अवस्था में विराजमान हूँ।' यह मन ही तुम्हारे सुख-दुःख का एकमात्र कारण है, तुम्हारा हानिकारक शत्रु, यदि संसार में कोई है तो वह तुम्हारा मन ही है। मन स्वयं ही सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति पैदा करके फिर स्वयं ही उसका भोग करता है। मन सदा ही भ्रान्तिमय या मोहमय है। इसलिए भ्रम में पड़कर तुम-जैसे मनोराज्य के मनुष्य संसार के चारों ओर दौड़-धूप कर हैरान हो रहे हो। तुम किस ओर जाओगे, किस ओर जाने से अभ्रान्त मार्ग पर चलकर अपने गन्तव्य स्थान में पहुँच कर शान्ति प्राप्त कर सकोगे, इसका निर्णय नहीं कर सकते, बल्कि और भी थककर 'हा हतोऽस्मि' कहकर चिल्लाते हो। क्यों ऐसा भ्रम पैदा हुआ उसका मूल कारण भी तुम समझ नहीं सकते।

पागल जिस प्रकार अपनी बेचैनी और अशान्ति का कारण कहाँ से उत्पन्न हो रहा, उसका निर्णय किसी तरह भी नहीं कर सकता तुमलोगों की अवस्था भी ठीक उसी प्रकार है। पागल यह नहीं समझ सकता कि, उसके अपने मस्तिष्क से ही यह रोग उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार तुम जैसे मनोराज्य के संसार-रोग-युक्त जीव भी नहीं समझ सकते कि अपने ही मन से इस संसार-रोग की उत्पत्ति हो रही है, अर्थात् भ्रान्ति और मोह की सृष्टि होने से तुमलोग निरन्तर दुःख-कष्ट के अपार सागर में वृथा हाथ-पैर पटक रहे हो। पागल जिस प्रकार दौड़-धूप करता हुआ कभी किसी पर प्रसन्न होकर हँसता है, फिर किसी पर नाराज होकर उसे मारने को भी उतारू हो जाता है, पुनः कभी किसी को गाली देता है या बुरा-भला कहता है, उसी प्रकार तुम-जैसे मनोराज्य के विभ्रान्त प्राणी भी लोगों के साथ व्यवहार करते समय आवश्यकता के अनुसार किसी पर तुष्ट और किसी पर रुष्ट होते हो। 'अपने मस्तिष्क से ही यह रोग पैदा हुआ है'—इसे समझ सकने से ही पागल चिकित्सक के द्वारा अपने मस्तिष्क को नीरोग करने की चेष्टा करता। ठीक उसी प्रकार, 'अपना मन ही इस संसार-रोग का मूल कारण है'—यदि तुमलोग इसे समझ सकते तो सत्संग में रह कर आत्मतत्त्वामृत रूप औषधि सेवन करके इस रोग से आराम होने की चेष्टा करते।

एक दिन एक खेल देखकर मेरे मन में बहुत आनन्द हुआ था। केश के समान महीन एक तार लटक रहा है, उस तार से लगभग दो इंच नीचे दो कचकरे के पुतले आमने-सामने रहकर नाच रहे हैं। स्थूल दृष्टि से उन पुतलों के साथ उस तार का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता था, यही खेल का आश्चर्यजनक विषय था। वे दोनों पुतले जीवित मनुष्य की तरह कभी कुश्ती लड़ रहे हैं और कभी अलग होकर नाच रहे हैं, परन्तु उस महीन तार की सीमा छोड़कर वे इधर-उधर निकल नहीं जा रहे हैं क्योंकि उस तार के आकर्षण से ही वे नाच रहे हैं। ऐसा दृश्य देखते ही मेरे मन में मनोराज्य के अज्ञानी जीवों की बात याद आ गयी। यानी संसार के जीव ठीक इसी तरह मन रूप बहुत महीन तार के नीचे रह कर उस मन रूपी तार के आकर्षण से अपार सुख-दुःख के भीतर इस संसार में नाना प्रकार से नाच रहे हैं। परन्तु किसी तरह भी वे उस मन रूपी तार या माया की सीमा के बाहर नहीं जा सकते। वे दोनों

पुतले जब तक उस महीन तार के बीच में रहते हैं, तभी तक दिखाई पड़े मानों वे जीवित मनुष्य हैं, आपस में गुत्थमगुत्था और मारपीट कर रहे जिसका अन्त नहीं हो रहा है। परन्तु यदि कोई उन पुतलों को पकड़ कर तार की सीमा से बाहर ले जाकर रख देता है तो उस समय दिखाई पड़ेगा, एकदम प्राणहीन निर्विकार अवस्था में पड़े हुए हैं। उस समय उनकी चंचल नाच या मारपीट का चिह्न भी नहीं रहता। तुम-जैसे मनोराज्य के जीव भी ही हो। जब तक महीन मन रूपी तार की सीमा (यानी माया या अज्ञान रा के भीतर रहोगे तब तक देखोगे, तुम एक दूसरे से ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, रिपुओं के वश होकर मार-पीट, लड़ाई-झगड़ा आदि कर रहे हो; किसी भी शान्त नहीं हो रहे हो। परन्तु यदि कोई आत्मज्ञ महात्मा तुम में से किसी ज्ञानोपदेश से पकड़कर उस मनोराज्य या मन-तार की सीमा से बाहर ले जा तो उस समय दिखाई पड़ेगा कि, वह मनुष्य भी विचार-वैराग्य के प्रभाव से पुतलों की तरह निर्विकार अवस्था प्राप्त हुआ है।

यदि किसी मनुष्य पर भूत सवार होता है तो, वह मनुष्य अपने को बिल्कु भूल जाता है, अर्थात् भूत उसके शरीर में प्रविष्ट होकर उसकी पूर्व स्मृति कर उस भूत का ही नाम-धाम कहलाता रहता है। उस समय वह आदमी फलाना हूँ' यह नहीं बोलता। यहाँ तक कि, अपने मकान और बाल-बच्चों गाली देता है और कहता है, 'मैं तेरी गरदन तोड़ दूँगा, यह मकान और दर एक हाथ से तोड़ डालूँगा' इत्यादि। संसार के अज्ञानी जीव भी ठीक इसी प्र प्रलाप बकते रहते हैं। मन रूपी भूत के सवार होने के कारण ये लोग अपने भूल कर दूसरे लोगों को हानि पहुँचाने के लिए उतारू हो जाते हैं। क्रो अहंकार आदि इसी मन-भूत के धर्म हैं। भूत सवार होने पर जैसे मनुष्य शरीर में २०।२५ आदमियों की ताकत मालूम होती है, २।४ आदमी उसे नहीं रख सकते, मानो मतवाला हाथी है; उसी प्रकार साधारण मनुष्य आपस में दम्भ, अहंकार, क्रोध आदि में अभिभूत होकर उछल-कूद मचाते उस अवस्था पर विचार करने से मालूम होता है, वे यथार्थ में ही भूताविष्ट उन्माद है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। मानो उन मनुष्यों पर भूत स हुआ है। वे अपने-अपने मन-भूत की शक्ति से ही संसार-क्षेत्र में ऐसी ताण्ड

लीला करते हुए वृथा ही वितण्डा कर रहे हैं। तुम-जैसे साधारण मनुष्य भी उसी भाव युक्त मन को लेकर संसार में विचरण करते हैं। इसीलिए तुम्हारा मन अनेक शोक-दुःख कष्ट भोग रहा है और हाय-हाय करके चिल्ला रहा है। इस तरह जो जीव मनोराज्य या मायाराज्य में घूम रहे हैं, वे मन के भीषण प्रभाव में पड़कर कभी आत्मा की स्थिरता को देख नहीं सकते। पृथ्वी पर का मनुष्य जिस प्रकार अपने को पृथ्वी के साथ घूमता हुआ नहीं समझता, बल्कि पृथ्वी को ही स्थिर देखता है, उसी प्रकार मनोराज्य के भ्रान्त मानव अपन को मन के द्वारा प्रवंचित नहीं समझते। वे मन के छल से प्रवंचित होकर अपने को एकदम अभ्रान्त समझते हैं, जिस प्रकार कोई निरा मूर्ख आदमी अपने को बुद्धिमान् समझ कर घमण्ड करता है।

'माया, मन या शैतान—एक ही वस्तु है और तुम-जैसे साधारण मनुष्य उसी शैतान के राज्य में निवास कर रहे हैं, इसलिए तुमलोग शैतान के राज्य के ही आदमी हो। प्रजा जब जिस राजा के अधीन रहती है, तब उसे उसी राजा के कानून मानने पड़ते हैं। इस मन रूपी शैतान के राज्य में तुम्हारे जैसे जो अविचारी लोग निवास कर रहे हैं उन्हें भी इस मन रूपी शैतान के कानून—धूर्तता, कपट, छल, ईर्षा, द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि के सभी नियम मानने पड़ते हैं। माया के मोह में पड़कर तुमलोग उसी शैतानी बुद्धि के द्वारा परिचालित होकर संसार में शान्ति पाना चाहते हो। यद्यपि तुमलोग कहते हो 'हम लोग भगवान् के राज्य में निवास कर रहे हैं।' तथापि यथार्थ में वह भगवान् का राज्य नहीं है, तुमलोग अन्यायी मन रूप शैतान के राज्य में रह रहे हो—भगवान का राज्य है ज्ञान-राज्य। उस राज्य में मन की समता, स्थिरता, सरलता, अकपटता, अप्रतारणा आदि हर समय विद्यमान हैं, इस कारण वह स्थान ज्ञानालोक से प्रकाशमान है। भगवान् के राज्य में कभी ठग, धूर्त, हिंसक आदि शैतान घुस नहीं सकते। विवेक रूप शस्त्र हाथ में लेकर ज्ञान रूप प्रहरी हर समय वहाँ खड़ा रह कर पहरा दे रहा है। बेटा! वास्तव में तुम्हें अपना प्रभु बन कर संसार के बाहर यानी मनोराज्य के बाहर जाना होगा। अतः उठो, जागो, अपने को मुक्त करो, प्रकृति के नियमों के राज्य (मनोराज्य) के बाहर चले जाओ; तभी

तुम सुख-दुःख, भला-बुरा, आनन्द-निरानन्द आदि द्वन्द्वों से अतीत हो कर द्व
तीत अपने ( आत्मा ) की अपरोक्ष रूप से उपलब्धि कर सकोगे।

शरीर में 'अहं = मैं' ज्ञान और देहातिरिक्त अन्य भोग्य वस्तुओं में '
इस प्रकार अभिमान या ज्ञान रहने का नाम 'अविद्या' या 'अज्ञान' है। जीव
अविद्या की ही उपासना और सेवा करते हैं। इसीलिए क्रमशः इसमें उन्हें
या द्वेष पैदा होता है। अर्थात् उस अज्ञान से मन के अनुकूल विषय में राग
असक्ति तथा प्रतिकूल विषय में द्वेष या विरक्ति उत्पन्न होती है। फिर उन वस्तु
के नाश की सम्भावना होते ही भय और मोह उत्पन्न होता है। इस प्रकार अं
अनर्थमय अविद्या-प्रभेद हम सभी के अनुभव-सिद्ध हैं अर्थात् हम सभी अवि
बंधन से बद्ध या आवृत हैं।

भक्त—प्रभु ! आपने कहा है, 'वह परमात्मा परब्रह्म मन-वाणी से
हैं।' अगर वे मन-वाणी से परे हैं तो मनुष्य इन्द्रिय और मन के बाहर
जायेंगे ?

महात्मा—बेटा ! ध्यान लगाकर सुनो। मन-वाणी के अगोचर परमा
के तत्त्व का हमें इन्द्रिय से अतीत देश में जाकर ही अनुभव करना होगा।
सीमाबद्ध और देश-काल-निमित्त के अधीन है। अतः वह उस सीमा के
नहीं जा सकता। परन्तु ज्ञान, विचार और बुद्धि की सहायता से मन के अत
स्थान में जाने की शक्ति हर मनुष्य को है। केवल योगाभ्यास के द्वारा ही
शक्ति जाग्रत होती है। तुम लोगों में कोई भी उछल कर मन के बाहर नहीं
सकता। इस कारण धर्म क्या चीज है यह भी नहीं जान सकता और न आ
की उपलब्धि ही कर सकता है। धर्म केवल व्याख्यान देने की वस्तु नहीं है
वह प्रत्यक्ष उपलब्धि का विषय है और मन की सीमा के बाहर जाकर ही उस
अनुभव करना होता है।

भक्त—प्रभु ! कैसे मैं शैतान मन की शैतानी समझ कर उस शैतान
हटा कर ज्ञान-राज्य या भगवान् के राज्य में पहुँच सकूँगा, कृपा करके उसी
उपदेश कीजिये।

महात्मा—बेटा ! तुम लोग पृथ्वी पर रह कर उसका घूमना देख नहीं स

केवल चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र घूम रहे हैं और पृथ्वी स्थिर है, यही देखते हो। परन्तु यदि पृथ्वी का घूमना देखना चाहो तो पृथ्वी के बाहर उस चन्द्र-मण्डल में जाना होगा। उस समय तुम देख सकोगे कि, सचमुच ही पृथ्वी कैसे तीव्र वेग से घूम रही है और चन्द्रमा इस पृथ्वी के समान स्थिर है। उसी प्रकार माया-राज्य या मन रूप शैतान का राज्य छोड़कर उसके बाहर आत्म-राज्य यानी ज्ञान-राज्य में प्रवेश न कर सकने से कोई भी उस मन की चंचलता, धूर्तता, छल, कपट, भ्रम-प्रमाद और आत्मा की स्थिरता, निर्विकार तथा शान्त भाव समझ नहीं सकता। और भी देखो, पृथ्वी के बाहर दूसरे स्थान में जाकर महाकाश में पृथ्वी का भीषण वेग से घूमना देख कर साधारण मनुष्य का दिमाग चकरा जायगा और उसकी बुद्धि स्तब्ध हो जायगी और किसी तरह वह स्थिर नहीं रह सकेगा। ठीक उसी तरह इस माया-राज्य से निकल कर आत्म-सूर्य का तेज दर्शन करके स्थिर रहना भी साधारण मस्तिष्क और साधारण बुद्धि की शक्ति का काम नहीं है। इसलिए वेदान्त में कहा गया है—"नायमात्मा बलहीनने लभ्यः।" अर्थात् 'बलहीन ( मनः-शक्ति-रहित ) व्यक्ति कभी आत्मज्ञान प्राप्त करने या आत्म-दर्शन करने में समर्थ नहीं हो सकता।' इसी कारण बौद्धशास्त्र भी वैसे आत्मज्ञ या ब्रह्मज्ञ व्यक्तियों को 'महाबल' कह कर सम्बोधित करते हैं और वेदान्त उन्हें 'महात्मा' कहा करते हैं। अतः विवेक और विचार के बल से ही तुम अपने मन की शैतानी समझ सकोगे और उस समय तुम अपने अशेष शक्तिशाली मन को वश में रखकर योगाभ्यास में संलग्न रहने से ही तुम्हारा आत्मदर्शन रूप परम पुरुषार्थ साधित होगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

जगद्गुरु शंकराचार्य कहते थे—'जितं जगत् केन ? मनो हि येन।' अर्थात्—'किसने संसार को जीत लिया है ? जिसने मन को जीता है।' गोस्वामी तुलसीदास जी कहते थे—

राजा करै राज्य वश, योद्धा करै रण जइ।
अपने मन को वश करै जो, सबको सेरा होइ॥

अर्थात्—'जो राज्य के रिआयों को वश में रख सकते हैं वही राजा है और

जो अपनी वीरता से युद्ध में जय प्राप्त कर सकते हैं वही योद्धा हैं। परन्तु जो दुर्जय मनको वश में रख सकते हैं वह संसार में सबसे श्रेष्ठ है।'

भक्त—प्रभु ! आपने जो शक्ति या बल की बात बतायी है वह किसका बल शरीर का या मन का ?

महात्मा—मन का बल है। मन के बल (विचार-शक्ति) के न रहने से कोई भी मनुष्य केवल आत्मज्ञान ही क्यों, व्यवहारिक या पारमार्थिक किसी प्रकार का ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकता। बेटा ! यह मन या माया किसको आकर्षित करती है जानते हो ? जिसकी शारीरिक और मानसिक दुर्बलता बहुत अधिक है उसको मन अपने वश में कर लेता है। कहावत भी है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' अर्थात् जिसमें शक्ति अधिक है देश भर में सभी उसके अधीन रहते हैं। अन्तर्जगत् के साधन-मार्ग में भी ठीक वैसा ही है। इस मार्ग में चलने के लिए हाथी के समान शरीर का बल और सिंह के समान मन का बल आवश्यक है। अर्थात् अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होने के लिए हाथी की तरह शरीर की शक्ति यानी उत्तम स्वास्थ्य और सिंह की तरह मानसिक तेज (पुरुषकार के द्वारा सदसत्-विचार शक्ति) रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए साधारण मनुष्य इस मार्ग में नहीं आ सकता। जिनके मन बहुत अधिक दुर्बल और भयभीत हैं उनको भूत सहज में दबा लेता है और जो लोग भूत के अस्तित्व में बिलकुल विश्वास नहीं रखते उनमें मन की शक्ति बहुत प्रबल है, उन पर सवार होना तो दूर की बात है उन्हें देखते ही भूत भाग जाता है। यह माया या मन-भूत भी वैसा ही है। वह ब्रह्मचर्य रहित और विचार-वैराग्यहीन दुर्बल व्यक्ति की दुर्बलता देख कर ही उसे दबा लेता है और उसपर अपना अधिकार जमा लेता है। भूत सवार होने पर मनुष्य पहले की तरह अपनी स्वाभाविक अवस्था में नहीं रहता, वह अपने व्यक्तित्व को भूलकर नवागत भूत की आज्ञा के अनुसार अस्वाभाविक भाव से काम-काज, अहार-विहार आदि करता है। इस मन के वशीभूत मनुष्य भी ठीक उसी प्रकार है। वह भी अपना स्वरूप भूल कर अज्ञान के कारण मन की आज्ञा से अपने को मायिक वस्तुओं के साथ ममता की साँकल ('मेरा' इस प्रकार की बुद्धि) के द्वारा दृढ़ता के साथ बाँधकर उस बन्धन की यातना से विह्वल

रहता है। बाहरी जगत् में काम करते समय तुम जिस प्रकार ध्यान के साथ तीव्र 'अहं-बुद्धि' से काम करते हो, यदि उसकी चौथाई पुरुषकार भी लगाकर ध्यान के साथ अन्तर्जगत् की ओर दृष्टि डालते तो तुम्हारे सब कार्य सिद्ध हो जाते। याद रखना बाहरी जगत् की अपेक्षा अन्तर्जत् और भी प्रबल युद्ध-क्षेत्र है। वहाँ तीव्र पुरुषकार के साथ संग्राम न कर सकने से कोई भी उस युद्ध में विजयी नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति बार-बार कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' बेटा! हमें विशेष रूप से याद रखना होगा कि अज्ञान के कारण ही हम इतने दुर्बल हैं और इस दुर्बलता के कारण ही हम भ्रम में पतित हो जाते हैं। सत्य ही धर्म है। उस सत्य को कायम रखने के लिए क्या बहिर्जगत् और क्या अन्तर्जगत् सभी स्थानों में संग्राम की आवश्यकता है। ख्याल करो, तुम्हारे मकान की सीमा के भीतर पासवाले पड़ोसी ने आकर जबर्दस्ती कुछ स्थान दखल कर लिया। अब अपनी उस सत्य सीमा कायम रखने के लिए तुम्हें उस आदमी के विरुद्ध युद्ध न करना होगा? अन्तर्जगत् में भी ठीक वैसा ही है। सत्य-स्वरूप आत्मा ही तुम्हारा एकमात्र आश्रय-स्थान तथा शान्तिधाम है। परन्तु तुम्हारा मन उस आत्मा को छोड़कर बाहरी इन्द्रियों के द्वारा तुम्हें बाहर ले जाकर अनन्त शोक-दुःख प्रदान कर रहा है। अतः तुम्हारी शान्ति के नाशक परम शत्रु मन के साथ संग्राम करके ही, मनको हरा कर (यानी वश में करके) तुम्हें अपने आत्मस्वरूप में या शान्तिधाम में पहुँचना होगा। इसीलिए वेदान्त कहते हैं—

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्धयति भूतले॥
मूर्च्छितो हरति व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां धत्ते ब्रह्मत्वं रसचेतसि॥

(वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"रस (पारा) और मन स्वभावत ही चंचल हैं। रस और मन को वशीभूत कर सकने से संसार में कुछ भी असिद्ध नहीं रहता। पारे को मूर्छित कर लेने पर उससे रोग दूर होता है, वह मृत होने से दूसरे का प्राण-

दान करता है। बद्ध होने पर उसकी सेवा से मनुष्य आकाश में उड़ सकता है, उसी प्रकार जो विशुद्ध ज्ञान-रूप पारा सेवन कर नीरोग हो गये हैं और चित्त को निर्मल कर सके हैं, उन्हीं के चित्त में ब्रह्मभाव प्रकट होता है।" वेद, आयुर्वेद में लिखित प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार पारा मूर्छित, मृत और बद्ध होता है उसी प्रकार वेदान्त में कथित गुरु-वाक्य, सत्संग और ब्रह्म-विचार द्वारा मन वशीभूत होता है। यही मन इन्द्रियों के प्रभु है। अतः मन के वशीभूत होने से ही इन्द्रियाँ भी वश में आ जाती हैं।

भक्त—दयामय! आपने कहा है कि 'देह में अहं-बुद्धि रहने तक किसी तरह आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होगा।' अतः इस समय आप कैसे कहते हैं कि अहं-बुद्धि न रहने से यानी पुरुषकार का आश्रय किये बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता?" "मैं करूँगा' ऐसी अहं-बुद्धि से पुरुषकार का आश्रय लेकर आत्म-तत्त्व की चिन्ता करने से हानि तो न होगी? ऐसी अहं-बुद्धि रहने से भगवान् पर निर्भरता कहाँ रही और शरीर पर अहंकार ही कैसे नष्ट होगा? मेरे मन में बदा हो और भगवान् की कृपा मुझपर रहे तो आत्मतत्त्व की चिन्ता एवं ज्ञान-प्राप्ति अपने आप हो जायेगी। नहीं तो पुरुषकार के द्वारा मैं क्या कर सकता हूँ? यही मेरा दृढ़ विश्वास है।

महात्मा—बेटा! जिस प्रकार विष से विष नष्ट होता है अथवा पैर में काँटा गड़ जाने से दूसरे काँटे की सहायता लेकर उसे निकाल डालना होता है, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध अहं-बुद्धि के द्वारा ही मलिन अहं-बुद्धि का नाश करना होता है। हे सुबुद्धे! अहंकार त्रिविध है। उनमें दो प्रकार उपादेय और एक प्रकार हेय यानी परित्याज्य है। तीनों प्रकार के अहंकार का विषय मैं आपको बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। 'मैं ही सारा ब्रह्माण्ड हूँ, मैं ही अच्युत परमात्मा हूँ, मेरे सिवाय संसार में अणुमात्र वस्तु भी नहीं है'—इस प्रकार के उत्तम भाव को प्रथम अहंकार कहते हैं। ऐसा अहंकार बंधन का कारण नहीं है बल्कि मोक्ष का कारण है। यह जीवन्मुक्त पुरुष में ही विद्यमान रहता है, दूसरे में नहीं। 'मैं संसार की सारी वस्तुओं से अलग स्वतंत्र चेतन और परम सूक्ष्म हूँ', इस प्रकार के ज्ञान को दूसरा अहंकार कहते हैं। यह भी बन्धनकारक नहीं है

बल्कि क्रमशः मनुष्य इससे मोक्ष की ओर ही अग्रसर होता है। यह भी विचारवान् ज्ञानी पुरुष में ही रहता है। और 'मैं हाथ-पैर वाला मनुष्य हूँ'—इस प्रकार का निश्चय निरा मिथ्या-ज्ञान है। इस प्रकार मिथ्या अभिमान रूप अहंकार तीसरा है। यह बहुत ही तुच्छ है और शास्त्रज्ञान-रहित अज्ञानी मनुष्यों में ही ऐसा अहंकार दिखाई पड़ता है। यह अहंकार परम शत्रु तथा विशेष प्रयत्न से त्यागने योग्य है। इस दुष्ट अहंकार से ग्रसित होकर ही मनुष्य नाना प्रकार की विपत्तियों में फँस कर अनन्त दुःख भोगते रहते हैं। अतः अब तुम अपने मन पर ख्याल करके देखो—तुम इस शरीर पर सदा ही 'अहं' (मैं) बुद्धि रखकर पुरुषकार के साथ संसार के सब काम करते हो या नहीं? अहं-ज्ञान नहीं है ऐसा प्राणी संसार में एक भी न मिलेगा। उनमें अज्ञानी इस स्थूल शरीर पर अहं-बुद्धि से पुरुषकार के साथ बाहरी जगत् में काम करते हैं और विचार-परायण मुमुक्षु लोग अपने मन पर अहं-बुद्धि से पुरुषकार के साथ अन्तर्जगत् में काम करते हैं। शरीर को अलग समझ कर मनुष्य अपनी मनःशक्ति पर जिस अहं-बुद्धि को स्थापित कर कार्य करते हैं उसी का नाम 'आत्म-निर्भरता' है। अर्थात् अपनी शक्ति पर अपनी निर्भरता को ही आत्म-निर्भरता' कहते हैं। इस आत्म-शक्ति पर निर्भर न रहने से संसार में कोई भी उन्नत नहीं हो सकता। प्राचीन ऋषि-महर्षि और महात्मा लोग इस आत्म-शक्ति में अहं-ज्ञान के द्वारा अपने शरीर पर की अहं-बुद्धि को नष्ट करके आत्म दर्शन यानी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त किया करते थे। अतः अन्तर्जगत् में जो आत्म-शक्ति पर अहं-ज्ञान से पुरुषकार है वही मनुष्य के मोक्ष का कारण है। तुम्हें इस आत्म-शक्ति की उपलब्धि नहीं है। तुम्हारे मन में तमोगुण फैल कर मन को दुर्बल कर देता है। इसलिए तुम डरपोक कायर की तरह 'भगवान् की कृपा होने से होगा' केवल मुँहसे इतना शब्द कहकर ही चैन पाते हो। सोचकर देखो, क्या तुम धन कमाने के लिए किसी स्थान में जाते समय अथवा बाजार जाने या भोजन करने के समय 'भगवान् की कृपा होने से होगा' कहकर चुप-चाप बैठे रहते हो? बल्कि तीव्र पुरुषकार के साथ उन कार्यों में संलग्न हो जाते हो। केवल आत्मतत्त्व की चिन्ता के समय ही 'भगवान् जो कुछ करेंगे वही होगा' ऐसा कहकर हाथ-पैर समेट चुपचाप बैठे रहते हो, ऐसा करने से आत्म-प्रवञ्चना होती है।

भक्त--प्रभु ! हम तुच्छ जीव नराधम और पापी हैं, हमें कुछ भी करने की शक्ति नहीं है। यदि भगवान् करते हैं तभी सब कार्य सफल हो सकते हैं। ऐसे ही तो हमारे गुरु लोग हमें उपदेश दिया करते हैं।

महात्मा--बेटा ! तुम्हारे भगवान् कहाँ से आकर तुम्हारा काम करेंगे? क्या वे मथुरा, वृन्दावन या कैलाश से आवेंगे? वे तो अन्तर्यामी हैं, आत्मा रूप से तुम सभी के भीतर रहकर काम कर रहे हैं या तुम लोगों से काम करा रहे हैं। इसपर तुम्हें बिल्कुल विश्वास नहीं है। इसलिए भगवान् पर तुम्हारी निर्भरता केवल मौखिक बात ही मात्र है। स्वार्थी अज्ञानी ही ऐसा उपदेश दिया करते हैं कि--'तुम महापापी और नराधम हो, तुम्हें कुछ भी करने की शक्ति नहीं है।' इसीलिए तुमलोग जीवन भर हाय-हाय करते हुए दुःख भोगते रहते हो। इस प्रकार के उपदेश देनेवालों के उपदेश से अज्ञानता और प्रतारणा ही प्रकट होती है। यथार्थ आत्मज्ञ लोग संसार में धर्मपिपासुओं को आत्मतत्त्व का ही उपदेश देते हैं, वे बाहरी धर्मानुष्ठान के लिए उपदेश नहीं देते। क्योंकि आत्मतत्त्व तथा बाहरी धर्मानुष्ठान, प्रकाश और अन्धकार की भाँति सम्पूर्ण विपरीत हैं। वेदान्त भी कहते हैं--

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।

(कठोपनिषद्)

अर्थात्--"अविद्या (कर्म या बाहरी उपासना) और विद्या (आत्मज्ञान) ये दोनों अत्यन्त दूर-विपरीत (अर्थात् पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं की भाँति विरुद्ध) हैं और उनका फल भी पृथक् पृथक् पूर्णतया विपरीत हैं। (कर्म या उपासना का फल वासना अर्थात् संसार और आत्मज्ञान का फल मोक्ष है)।"

बेटा ! अपने को या किसी दूसरे को कभी दुर्बल या नराधम न समझो। अगर हो सके तो लोगों की भलाई करो और दूसरे के मन में उत्साह भरकर उनका कल्याण करो। किसी को पापी कहकर उसकी हानि न करो। अपने को दुर्बल न करो। यदि पाप नाम से जगत् में कोई चीज है तो ऐसा कहना बड़ा भारी पाप है कि--'मैं तुच्छ जीव महापापी और दुर्बल हूँ, तथा दूसरे भी छोटे जीव महापापी और दुर्बल हैं।' इस प्रकार से मनुष्य को केवल उसकी दुर्बलता स्मरण करा देने से उनका कोई उपकार नहीं होता। दुर्बलता दूर

मन में शक्ति-संचार के लिए बलकारक औषध सेवन करओ। मान लो तुम रुग्ण हो गये हो। ऐसी स्थिति में मैं तुमसे कहूँ कि, तुम निरन्तर—'मैं रोगी हूँ, बहुत दुर्बल हो गया हूँ, मेरे बचने की अब कोई आशा नहीं है'—ऐसा सोचते रहो; तो क्या उससे तुम उस रोग से मुक्त हो सकोगे? कभी नहीं! बल्कि उसके विपरीत भाव से 'मैं नीरोगी हूँ' ऐसी भावना से तुम रोग से मुक्त हो सकोगे और वही युक्ति और शास्त्र से भी उचित प्रतीत होता है। इसलिए मैं कहता हूँ बेटा! शास्त्रीय पुरुषकार, उत्तम प्रज्ञा और सद्युक्ति का अवलम्बन कर संसार-चक्र के नाभी स्वरूप चित्त को निरुद्ध करना चाहिए। यथायोग्य पुरुषकार से अलभ्य कुछ भी नहीं है। इसलिए दैव-परायण न होकर पौरुष-परायण होना ही कर्त्तव्य है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वरुण आदि देवता जो कुछ कर सकते हैं, मैं भी उसे कर सकता हूँ, इस प्रकार की दृढ़ भावना रखनी चाहिए। ऐसी दृढ़ भावना के द्वारा ही तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे।

हे सुबुद्धे! तपस्या ही कहो और देवता ही कहो, किसी से कुछ होने का नहीं है। दूसरे स्थान में कहीं कोई देवता भी नहीं है, जो तुम्हारे चिल्लाने से कृपा-परवश होकर कोई देवता आकर तुम्हें कुछ शक्ति या धन जन आदि दे देंगे। यह निश्चय जान लेना कि, अपने प्रयत्न रूप प्रदीप्त चैतन्य-शक्ति ही वह तपस्या और देवता होकर फल प्रदान करती है। अपने विचार-ज्ञान के प्रयत्न के अतिरिक्त कोई दूसरा फलदाता नहीं है; इसे जान कर जो चाहो वही कर सकते हो यानी जिस फल की इच्छा करोगे पहले से उसी के अनुसार कार्य करना होगा। ऐसा करने से अवश्य ही उस फल का अनुभव हो सकेगा। जो नियति पुरुषकार के रूप में परिणत हो जाती है, उसी नियति का फल आगे दिखाई पड़ता है। अतः बुद्धिमान् लोग 'भाग्य में जो कुछ बदा है वही होगा' ऐसा सोचकर पुरुषकार का त्याग नहीं करते। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय महावीर अर्जुन में भी ऐसे ही प्रबल तमोगुण के प्रभाव से मानसिक दुर्बलता और कायरता उत्पन्न हो गयी थी। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपनी आत्म-शक्ति जाग्रत कर उस आत्म-शक्ति पर निर्भर रहते हुए युद्ध करने के लिए उपदेश देकर कहा था—

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

अर्थात्—"हे पार्थ! मनुष्यत्व-हीन न हो जाओ। यह तुम्हारे जैसे ... के लिए उपयुक्त नहीं है। हे परन्तप! क्षुद्र हृदय वालों के योग्य इस दु... का परित्याग कर उठ खड़े हो जाओ, अर्थात् युद्ध में व्यापृत हो जाओ।" ... अर्जुन को आत्म-शक्ति का अनुभव हो गया था और उन्होंने कहा था—

त्वया हृषीकेश! हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

अर्थात्—'हे भगवन्, तुम अन्तर्यामी हो, मेरे हृदय में रह कर बो... रहे हो मैं वही कर रहा हूँ।' इतना कह कर अर्जुन आत्म-शक्ति पर भ... रखकर युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। मुक्तिकोपनिषद् में वचन है कि—"अ... मार्ग में संलग्न चित्त को शुभ मार्ग में लगाना चाहिए। अशुभ भा... विचलित चित्त शुभ भाव प्राप्त होता है और शुभ भाव से वि... चित्त अशुभ भाव प्राप्त होता है। पुरुषकाररूप प्रयत्न के द्वारा चि... बालक का पालन करना चाहिए।" हे सत्यकाम, मन की महाव्... की चिकित्सा के लिए अपना पुरुषकार ही एकमात्र स्वादिष्ट महौषधि... अतः तुम अपने मन की दुर्बलता और दुर्बुद्धि त्याग दो। उठो, ... स्वयं अपने को मुक्त करो। तुम मन में अहं-बुद्धि के द्वारा पुरुषका... साथ सत्संग में रह कर आत्म-तत्त्व की आलोचना में तत्पर रहोगे तो ... चित्त-मल दूरीभूत होकर आत्मा प्रकाशित होंगे। श्रुति और भी कहती है—

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।

अर्थात्—'उठो, जागो, ज्ञानी के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो।'

भक्त—प्रभु, सांसारिक विषयों के भोग में जो तीव्र वासना या क्षुधा... वह तो मन से किसी तरह दूर नहीं हो रही है।

महात्मा—भोग-वासना रहित न होने से, मन में शान्ति प्राप्त न ... से और शुभाशुभ कर्म क्षय-प्राप्त न होने से आत्मपद प्राप्त नहीं हो... तुम्हारे भीतर जो भोग की वासना या संस्कार-समष्टि है उसी का नाम ...

है। इसीलिए महर्षि वसिष्ठ मुनि ने भी श्रीरामचन्द्र को उपदेश देते समय कहा था—

मनः वासना-समष्टिः।

अर्थात्—"वासनाओं या कामनाओं की समष्टि ही मन है। उसके अतिरिक्त मन नाम से कोई दूसरी वस्तु नहीं है।" जरा विचार करके देखो, तुम्हारा मन इस जन्म में जीवन भर नाना प्रकार चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय का सेवन और धन-जन आदि नाना प्रकार भोग्य वस्तुओं का भोग कर रहा है। तुम पूर्व पूर्व जन्मों में कहीं धनी के घर में कहीं दरिद्र के घर में जन्म लेकर कामिनी-कांचन आदि अनेक भोग्य वस्तुओं का भोग करते आये हो। इस तरह अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक विषय-भोग करने पर भी किसी तरह किसी जन्म में उसकी आकांक्षा की निवृत्ति न होने के कारण शरीर छोड़ते समय तुम मन में वैसी ही अत्यधिक भोग-वासना रूप क्षुधा लेकर ही फिर दूसरे शरीर में चले जाओगे। मन की क्षुधा की तुलना में मनुष्य के शरीर (पेट) की क्षुधा बहुत मामूली है। क्योंकि सेर भर या डेढ़ सेर खाद्य देने से उदर की तृप्ति हो जाती है। परन्तु मन की क्षुधा इतनी प्रबल है कि, तुम्हारे मन के, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि अगणित जन्मों में असंख्य शरीरों के भीतर रहकर नाना विषयों का भोग करने पर भी किसी तरह तुम्हारे मन की क्षुधा निवृत्त नहीं हो रही है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

तन की भूख तनिक है, तीन पाव कि सेर।
मन की भूख अनेक है, निगलत मेरु सुमेर॥

अर्थात्—"शरीर की क्षुधा अत्यन्त अल्प है, तीन पाव या सेर भर अन्न से ही उसकी निवृत्ति हो जाती है। परन्तु मन की क्षुधा इतनी अधिक है कि, सुमेरु पर्वत के समान विशाल वस्तुओं से भी उसकी निवृत्ति नहीं होती।"

एक कहानी याद आयी। एक राजा के सन्तानों में केवल एक ही कन्या थी। राजा को बकरी पालने का शौक था। उन्होंने एक अच्छी बकरी पाल रखी थी। वे रोज उसे चना, चावल, घास आदि उत्तमोत्तम खाद्य खिलाया करते थे। परन्तु उस बकरी को कभी भी तृप्ति नहीं होती थी। घण्टे, डेढ़

घण्टे बाद वह फिर खाने लगती थी। अनेक प्रकार से प्रयत्न करने पर जब महाराजा उस बकरी को भोजन से तृप्त नहीं कर सके, तब उन्होंने भर में घोषणा कर दी कि, 'जो आदमी मेरी इस बकरी को खाना खिलाकर कर सकेगा, जब कि वह फिर खाना खाना न चाहेगी, उस आदमी से मैं कन्या का व्याह कर दूँगा।' सुन्दर राजकन्या से विवाह होगा और राजा पुत्र नहीं है, इसलिए उनके मरने पर राज्य भी मिलेगा, इस लोभ में अनेक धनी-मानी मनुष्य उस बकरी को ले जाकर खिलाने के प्रार्थी क्रमशः एक एक आदमी उस बकरी को ले जाकर अपने यहाँ उसे खि तृप्त करने की चेष्टा करने लगे। उस बकरी को खूब पेट भर खिलाकर जब आदमी उसे लेकर महाराजा के पास हाजिर होता था तभी महाराजा कोई उत्तम वस्तु लाकर उसके सामने रखते थे और बकरी भी उसे खाने लगती थी। देखकर ही महाराजा कहते थे, 'कहाँ! मेरी बकरी को खाने से तृप्ति तो नहीं यह अभी भी खा रही है। इसीसे यह काम तुमसे नहीं हुआ।' इस तरह आदमियों ने चेष्टा की, पर कोई भी सफलकाम नहीं हो सका। उसके किसी चतुर व्यक्ति ने उस बकरी को अपने घर ले जाकर एक हफ्ते तक दूसरा खाद्य न खिलाकर केवल प्रचुर बेल की पत्तियाँ ही खिलायीं। क्यों वह जानता था कि, बेल की पत्ती खाने से भूख मिट जाती है और अ उत्पन्न होती है। आठवें दिन उसने देखा कि, बकरी को इतनी अरुचि गयी कि, वह और कुछ नहीं खाना चाहती। तब वह उस बकरी को ले राजा के पास गया। महाराजा ने पहले की तरह कोई उत्तम खाद्य बकरी की परीक्षा ली तो देखा, सचमुच ही वह और कुछ खाना नहीं चाह राजा ने उस आदमी के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। बुद्धिमान् व्यक्ति भी सुन्दरी राजकन्या और प्रचुर धन-सम्पत्ति पाकर उ से आनन्द पूर्वक जीवन बिताने लगा।

बेटा! तुम्हारे मन रूप सर्वभुक् बकरी की भी यही दशा है, अनेक पाने पर भी किसी तरह उसकी क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती, परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति को मालूम है कि, आत्मतत्त्वामृत रूप बेल-पत्ती खाने से मन की क्षुधा मिट जायेगी और विषय-भोग में अरुचि उत्पन्न होगी,

वही पुरुष सत्संग में रहकर अपने मन को तत्त्वामृत पिलाकर उसकी विषय-भोग में अरुचि उत्पन्न करा सकते हैं। फलस्वरूप वह महापुरुष ज्ञानैश्वर्य प्राप्त करके परम शान्ति का भोग करते रहते हैं। बेटा! केवल सत्संग के प्रभाव से ही मन में विचार-वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्य से ही मन को तृप्ति (पूर्णता) प्राप्त होती है—आशा की पूर्ति से नहीं। आशा मन को खाली ही करती है—पूर्ण नहीं करती। आशा-त्याग का ही नामान्तर परमानन्द या मोक्ष है। शास्त्र का भी कहना है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।

अर्थात्—'आशा ही परम दुःख है और मन में आशा का अभाव होने से परम सुख (ब्रह्मानन्द) का अनुभव होता है।'

इतने में सायंकाल उपस्थित देखकर महात्मा ने मौन धारण किया और भक्त भी उन्हें दंडवत् प्रणाम करके अपने स्थान को चला गया।

---

# जगत् का मिथ्यात्व प्रमाण

दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः भक्त आकर महात्मा के सामने बैठ गया और बोला—प्रभु! इस प्रत्यक्ष सत्य जगत के भोग्य विषयों को देखकर किस प्रकार मन आशाहीन निष्काम होगा? यह तो सम्पूर्ण असम्भव-सा प्रतीत हो रहा है।

महात्मा—बेटा, जगत का मिथ्यात्व-बोध दृढ़ न होने से किसी प्रकार भी आशा का विराम नहीं होता। इस कारण आज तुमसे मन और जगत के विषय में कुछ कहूँगा। तुम जरा विचारो, कि तुम्हारा यह चतुर मन तीव्र भोगवासना के प्रभाव से मिथ्या जगत को सत्य रूप से प्रतीत कराकर तुम्हें अकूल दुःख-सागर में निमज्जित कर चुका है और कर रहा है। दिनरात के चौबीस घण्टों तक तुम्हारा मन जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में रहकर तुम्हारे साथ तीन प्रकार के खेल खेल रहा है। अब जो मैं तुम्हारे साथ बातचीत कर रहा हूँ और तुम्हारा मन इन्द्रियों की सहायता से मनुष्य, पशु, पहाड़, जंगल आदि युक्त जगत देख रहा है तथा तुम्हारे इस साढ़े तीन हाथ वाले शरीर पर मन का 'यह शरीर ही मैं हूँ' ऐसा बोध हो रहा है, इस अवस्था का नाम मन

की 'जाग्रत अवस्था' है। इस अवस्था में रहकर मन स्थूल शरीर के
जागतिक वस्तुओं का उपभोग करता है। यह स्थूल शरीर मन की आज्ञा
काम करते-करते जब थक जाता है, तब यही मन इस शरीर को कुछ वि
देने के लिए किसी एकान्त ( बिछौने ) में छोड़कर, स्वयं उसके भीतर ही
रहकर अपनी पूर्व पूर्व स्मृतियों के द्वारा हाथी, घोड़ा, बाघ, भालू, म
झोपड़ी आदि नाना प्रकार के दृश्यों की कल्पना कर खेलने लगता है।
समय अपने ही कल्पित दृश्यों को देखकर मन कभी जीवन के भय से चिल्ला
भागने लगता है और कभी आनन्द से उत्फुल्ल होकर हँसता रहता है।
की इस अवस्था का नाम 'स्वप्नावस्था' है। इस स्वप्नावस्था में अपनी क
वस्तुओं के साथ खेलते खेलते जब तुम्हारा मन स्वयं भी क्लान्त हो जा
तब वह गहरी नींद में सो जाता है अर्थात् जिस अज्ञान से उसकी उत्पत्ति
थी उसी अज्ञान में वह लय-प्राप्त हो जाता है। इसीलिए कहा गया है
"सुषुप्ति में मन स्वकारण में लीन होता है"। मन की इस अवस्था का ना
'सुषुप्ति' है। इस अवस्था में सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों का परित्याग
स्वकारण में लीन होने से मन के साथ जागतिक किसी भी वस्तु का संयोग न
रहता। परन्तु जाग्रत और स्वप्न इन दो अवस्थाओं में मन के साथ कि
किसी वस्तु का संयोग अवश्य ही रहेगा। अब तुम अपने मन की जा
अवस्था और सुषुप्ति अवस्था इन दोनों पर विशेष रूप से ध्यान दो। इ
अवस्था में तुम अपने मन से पूछो—"यह जो दृश्यमान विश्व देखते हो
है या नहीं?" अर्थात् 'यह सत्य है या मिथ्या?' तब तुम्हारा मन उत्तर दे
'सत्य है, यथार्थ में ही इसका अस्तित्व है।' फिर सुषुप्ति अवस्था में तुम अ
मन से पूछो—'क्या देख रहे हो, जगत दिखाई पड़ता है या नहीं? सं
नाम से कोई चीज है या नहीं?' तब तुम्हारा मन उत्तर देगा—'जगत
संसार नाम से कुछ भी नहीं है?' अब तुम अपने मन की किस अवस्था
बात सत्य मान लोगे? जाग्रत अवस्था में तुम्हारा मन कहता है—'सृष्टि
फिर सुषुप्ति अवस्था में वही मन कहता है—'सृष्टि नहीं है।' अब ध्यान
कि तुम्हारा एक ही मन दो अवस्थाओं में दो प्रकार की विरुद्ध बातें कह
है। अतः इनमें किसे सत्य और किसे मिथ्या समझोगे?

भक्त—प्रभु ! सुषुप्ति अवस्था की गम्भीर निद्रा में तो मन में भला-बुरा या सुख-दुःख आदि किसी प्रकार का ज्ञान ही नहीं रहता। इसलिए उस अज्ञानावस्था में किस प्रकार सत्य-मिथ्या का तत्त्व प्रमाणित होगा ? जाग्रतावस्था में सभी विषयों का ज्ञान रहता है, अपनी आँखों से सब कुछ देखा जाता है। अतः इस जाग्रतावस्था की बातों को ही सत्य रूप से ग्रहण करूँगा।

महात्मा—बेटा ! तुम्हारी बातें सुनकर मुझे हँसी आती है, क्योंकि तुमने कहा—सुषुप्ति अवस्था में तुम्हें कोई ज्ञान ही नहीं रहता। अब जरा सोचो, तुम गम्भीर निद्रा या सुषुप्ति से जगकर कहा करते हो—'मैं आज बहुत शान्ति से सो रहा था, उस समय जागतिक किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं था। यहाँ तक कि मेरे शरीर तथा गृह-क्षेत्र आदि का भी बोध नहीं था।' अतः इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सुषुप्तिकाल की शान्ति की उपलब्धि करने योग्य ज्ञान उस सुषुप्ति अवस्था में अवश्य ही तुममें था। नहीं तो 'मैं शान्ति से सोया था, वहाँ कुछ भी नहीं था'—इस प्रकार का साक्ष्य तुम कैसे देते ? ऐसी स्थिति में यदि कोई तुम्हारी उस बात को काटकर कहता है—'तुम आज बहुत ही अशान्ति में सोये थे'—तो उसी समय तुम उसके विरुद्ध में तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहोगे—'मैं ही सोया था, इसलिए उस समय शान्ति थी या अशान्ति यह मैं जानता हूँ। उसका पता तुम्हें कैसे लगेगा।' अतः अब समझ सकते हो कि सुषुप्ति अवस्था में भी तुम्हारे भीतर ज्ञान था। जाग्रतावस्था में सुषुप्ति-विषयक उस प्रकार के ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति अनुभव के बिना नहीं होती। अतः सुषुप्ति अवस्था में शान्ति का और प्रपंच के अभाव का तुम्हें अनुभव था, यह बात युक्ति से स्पष्ट प्रमाणित होती है। यह ज्ञान अनादि अनन्त है, किसी अवस्था में भी इसका लोप नहीं होता। इस विषय को मैंने अनेक शास्त्र-प्रमाणों के द्वारा पहले भी तुम्हें बताया है।

भक्त—प्रभु ! आपकी अकाट्य युक्ति से मैं स्पष्ट समझ गया हूँ कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान रहता है, तो भी मैं नहीं समझ सका कि मन की जाग्रतावस्था की बात सत्य है या सुषुप्ति अवस्था की।

महात्मा—बेटा ! तुम्हारी सुषुप्ति अवस्था की बात अर्थात् 'सृष्टि नहीं है' ही सत्य है क्योंकि जाग्रतावस्था के दृश्य निरन्तर परिवर्तित होते जा रहे हैं,

एक रूप में कुछ भी स्थायी नहीं रहता। आज जहाँ नदी के किनारे पर कु
नगर देख रहे हो थोड़े दिनों बाद दिखाई पड़ेगा कि वह नगर नदी-गर्भ
अदृश्य हो गया है। आज जिसे तुम यौवन के गर्व से गर्वित होकर छ
उभारकर चलते देखते हो, महीने भर के बाद ही दिखाई पड़ेगा कि
आदमी दुरारोग्य व्याधि से ग्रसित होकर बहुत कष्ट से लाठी टेककर च
रहा है। इस प्रकार दृश्यमान प्रपंच के जिस ओर देखोगे सर्वत्र ही प्रति
परिवर्तन दिखाई पड़ेगा और युक्ति से प्रमाणित होता है कि जिसमें परि
है उसका नाश अनिवार्य है, और इसीलिए वह मिथ्या है। विज्ञान औ
दर्शन ने इस बात को सुदृढ़ युक्ति के द्वारा प्रमाणित कर दिया है। दू
ओर सोचकर देखो सुषुप्ति अवस्था का दृश्य क्या है? वहाँ कुछ भी न
है और शान्ति अनुभूत हुई है। अनादि काल से योगी, भोगी, रोगी, शो
आदि सभी मनुष्य सुषुप्ति से उठकर कहते आये हैं कि—'वहाँ (सुषुप्ति में
कुछ भी नहीं था, मैं परम शान्ति में सोया हुआ था।' सुषुप्ति से उठि
व्यक्तिमात्र के मुख से वैसी एक ही प्रकार की बात सुनी जाती है। अनादि
काल से इस बात में कोई भी परिवर्तन या परिवर्धन नहीं हुआ है। सुषु
अवस्था में मन शान्त निरञ्जन परमात्मा में समाहित हो जाता है, इसीलि
ऐसा अपरिवर्तित सत्य सबके मुख से निकलता है। परन्तु जाग्रत स्वप्न इ
दो अवस्थाओं के दृश्य निरन्तर परिवर्तनशील हैं। अतः अनादि काल
मनुष्यमात्र की सुषुप्ति अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव ही अपरिवर्तित सत्य है
इस कारण प्रमाणित हुआ कि जाग्रत अवस्था में तुम्हारा मन जिस प्रपंच
सत्य मान रहा है वास्तव में वह सत्य नहीं है—मिथ्या है। इस प्रपंच
आधार रूप त्रिकाल में अपरिवर्तित ब्रह्म ही सत्य हैं और वही विद्यमान है
बेटा! जैसे स्थिर सागर में अस्थिर तरंगों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार
निर्विकार परमात्मा में विकारयुक्त मन की उत्पत्ति होती है। वह मन त
स्वेच्छा से प्रतिक्षण तरह तरह की कल्पनाएँ करता है और उसी से इस प्रपंच
रूप इन्द्रजाल का विस्तार हुआ है। जैसे सोने का कंकन सोने से भिन्न नहीं
है, परन्तु सोना कंकन से भिन्न है, वैसे ही यह प्रपंच परमात्मा से भिन्न न
होने पर भी परमात्मा प्रपंच से भिन्न हैं अर्थात् प्रपंच परमात्मा में स्थित है।

परमात्मा अपनी सत्ता में अवस्थित हैं और प्रपंच उनके अधीन है अर्थात् प्रपंच की पृथक सत्ता नहीं है। प्रपंच में जो सत्ता प्रतीत हो रही है वह ब्रह्मसत्ता से पृथक नहीं है। जैसे मरुस्थल में जल, नदी में लहर, रस्सी में साँप या सीप में चाँदी का बोध भ्रम है, वैसे ही परमात्मा में यह इन्द्रजालमय प्रपंच भ्रम मात्र है।

भक्त—भगवन्! युक्ति-प्रमाणों से संसार मिथ्या प्रमाणित होने पर भी सचमुच जगत मिथ्या है यह बात किसी प्रकार भी मन में बैठती नहीं है; क्योंकि सदा ही इस संसार में पत्नी-पुत्र, धन-जन, आहार-विहार आदि सभी विषय सत्य प्रतीत होते हैं और सत्य ज्ञान से उनका भोगकर सुख की भी उपलब्धि होती है। कल जो मनुष्य-पशु-पक्षी-गृह-क्षेत्र आदि दिखाई पड़े थे वे सभी आज भी प्रत्यक्ष हैं। इसलिए ऐसे प्रत्यक्ष सत्यरूप में दृष्ट जगत को कैसे मिथ्या कह सकता हूँ?

महात्मा—बेटा! रस्सी में साँप का भ्रम होने पर सर्प रूप से प्रतीत होने पर भी जिस प्रकार वह रस्सी ही रहती है, क्षण भर के लिए भी वह रस्सी सर्प में परिणत नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा में यह प्रपंच दिखाई पड़ने पर भी वह क्षणभर के लिए जगत के रूप में परिणत नहीं होते। वह सब कालों में अपने स्वरूप में ही विराजमान रहते हैं। बेटा! प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं को यदि तुम बिना विचारे सत्य मानते हो तो दर्पण में प्रतिबिम्बित प्रत्यक्ष-दृष्ट मनुष्य को, सिनेमा में प्रत्यक्ष-दृष्ट व्यक्तियों और वस्तुओं को तथा जादूगर के प्रदर्शित प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थों को सत्य रूप से क्यों नहीं मानते? प्रत्यक्ष दृष्टि में यह पृथ्वी स्थिर प्रतीत होती है और सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र उसे घेरकर घूम रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु उसे तुम सत्य क्यों नहीं मान लेते?

भक्त—उन विषयों का पूर्वापर विचार कर मैंने जान लिया है कि, प्रत्यक्ष दृष्टि में सत्य की तरह प्रतीत होने पर भी वह यथार्थ में मिथ्या है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है और पृथ्वी घूम रही है यह विषय भी अकाट्य युक्ति के द्वारा प्रमाणित हुआ है।

महात्मा—हे सुबुद्धे ! तुम युक्ति और प्रमाण के द्वारा विचार कर जिस प्रकार प्रत्यक्ष-दृष्ट विषयों को मिथ्या समझ सके हो, ठीक उसी प्रकार विचार द्वारा इस दृश्यमान संसार को भी सुस्पष्ट रूप से मिथ्या समझ सकोगे। भूमि के जिस स्थान को खोदोगे वहीं आकाश दिखाई देगा। ठीक उसी प्रकार इस संसार के जिस दृश्य को विचार की कसौटी पर चढ़ाओगे वही अन्त में चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म में अभिन्न रूप से प्रतीयमान होगा, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न पड़ेगा। मनुष्य के विचार और दृष्टि दो प्रकार के हैं—आसक्ति के साथ विचार और दृष्टि तथा वैराग्य के साथ विचार और दृष्टि। इस संसार में सभी पदार्थ आसक्ति के साथ विचार और दृष्टि के सामने सत्य प्रतीत होंगे। परन्तु वैराग्ययुक्त दृष्टि और विचार के सामने वे सभी मिथ्या हो जायेंगे। जिसका विषय-पिपासु मन बहिर्मुख है वह व्यक्ति ही विषयों के प्रति आसक्ति के साथ विचार और दृष्टि करता है। परन्तु जो वैराग्यवान् त्यागी महापुरुष हैं वह निर्विकार भाव से वैराग्ययुक्त होकर उन्हीं विषयों को देखते और विचार करते हैं। ऐसे वैराग्यवान् पुरुषों का विचार ही अभ्रान्त माना जायगा। बेटा ! एक सत्य घटना बतलाता हूँ, ध्यान से सुनो—ग्राम की एक वृद्धा अपनी बहन की ससुराल कानपुर गई थी। एक दिन उसके बहनोई उसे तथा उसकी बहन को सिनेमा दिखाने के लिए ले गये। उस ग्रामीण स्त्री ने कभी सिनेमा या बोलता छायाचित्र नहीं देखा था। आज सिनेमा देखते-देखते उसे दृढ़ निश्चय हो गया कि, नाटक की तरह जीवित मनुष्य ही अभिनय कर रहे हैं। घर आने पर उसने उस अभिनय के दोष-गुणों की आलोचना करना आरम्भ किया। परन्तु उसके बहनोई जो, सिनेमा का स्वरूप जानते थे, उसे समझाने लगे कि सिनेमा में जीवित मनुष्य अभिनय नहीं करते, केवल एक पर्दे पर छायाचित्र दिखाये जाते हैं। उनकी बातें सुनकर उस वृद्धा ने समझा कि बहनोई उससे दिल्लगी कर रहे हैं। उसने कहा—"मैंने अपनी आँखों से जीवित मनुष्यों का तमाशा देखा है। अतः यह चित्र कैसे हो सकता है?" तब उसकी बहन हँसती हुई उसे समझने लगी। परन्तु किसी तरह उसे वह चित्र नहीं समझ पड़ा, बल्कि, वह सबकी बातों के विरुद्ध बार-बार यही कहने लगी कि "मैंने अपनी

आँखों से जो कुछ देखा उस पर कैसे अविश्वास कर सकती हूँ, मैंने देखा एक आदमी जल में कूद पड़ा और साथ ही साथ जल की बूँदें चारों ओर छिटक पड़ीं। उधर सिपाही घोड़े पर सवार होकर तेजी से दौड़ते हुए चले गये और उनके घोड़ों की टाप मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ी। इसलिए ऐसे स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले जीते आदमियों को तुम चित्र कह रहे हो ? क्या चित्र कभी ऐसा दौड़ सकता है ? क्या मैं बच्ची हूँ कि तुम्हारे शहर में आयी हूँ इसलिए ऐसे साफ दिखाई पड़ने वाले आदमियों को तुम चित्र कहकर मुझे धोखा दोगे ?" इस तरह वह वृद्धा किसी तरह सिनेमा को चित्र नहीं समझ सकी। इसी से मैं कहता हूँ बेटा ! अपनी अज्ञानता के कारण तुम भी उस वृद्धा के समान इस इन्द्रजाल के तुल्य जगत-चित्र को देखकर इसे सत्य समझ रहे हो ! जरा विचार कर देखो, क्या प्रत्यक्ष दृष्टि सर्वत्र ही सही है ? तुम प्रत्यक्ष दृष्टि से देखते हो कि आकाश नीला है। उस नीलिमा को देखकर बड़े-बड़े विद्वान, बुद्धिमान, कवियों ने भी लिखा है—'नीलाकाश में किरण-प्रकाश' आदि ! असल में वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने युक्ति और प्रमाण के द्वारा निर्णय किया है कि आकाश में कोई रंग नहीं है। ऐसी स्थिति में आकाश के नीले रंग को देखने के लिए यदि तुम ऊपर चढ़ने लगो तो जितना ही ऊपर उठोगे उतना ही केवल स्वच्छ शून्य ही दिखाई पड़ेगा, नीले रंग का वहाँ लेशमात्र भी नहीं मिलेगा। वेदान्त भी कहते हैं—'सोऽवकाश-स्वभाववान्' यानी आकाश केवल अवकाश-स्वरूप है। परन्तु अनादिकाल से ही अज्ञानी मनुष्य इस महाशून्य को नीला समझकर लिखते और बोलते आये हैं। अब तुम्हें मालूम हो गया कि प्रत्यक्ष दृष्टि में कितना बड़ा भ्रम रह सकता है। यह पृथ्वी निरन्तर तीव्र वेग से घूम रही है इसका तुम्हें पता भी नहीं है। और सूर्य, चन्द्र घूम रहे हैं, उनके उदयास्त हो रहे हैं, इसे प्रत्यक्ष देखकर तुमने इसी को सत्य समझ लिया है। अतः यह तुम्हारी प्रत्यक्ष दृष्टि का भ्रम नहीं है क्या ? अपने चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा इन पाँच इन्द्रियों की सहायता से ही तुम इस संसार की सारी वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हो। परन्तु इस प्रकार के प्रत्यक्ष में आठ प्रकार की बाधाओं के रहने से वह प्रत्यक्ष दृष्टि भ्रमपूर्ण है। जैसे—

१. वस्तु का दूरत्व। २. वस्तु का सामीप्य। ३. अभिभव। ४. इ[illegible] का वध और नाश। ५. समानाभिहार। ६. सूक्ष्मत्व। ७. दूसरी वस्तु[illegible] व्यवधान। ८. मन की अनवस्था। इन आठ प्रकार की बाधाओं के [illegible] कारण प्रत्यक्ष दृष्टि सर्वत्र सत्य नहीं हो सकती। १. सूर्य पृथ्वी से बहुत [illegible] एक थाली के समान और नक्षत्र एक-एक बिन्दु की तरह प्रतीत होते [illegible] असल में वे पृथ्वी से लाखों गुना बड़े हैं। परन्तु दूरत्व के कारण वे वैसे [illegible] मालूम होते हैं। यही प्रत्यक्ष दृष्टि का दूरत्व-जनित भ्रम है। २. [illegible] अति समीप रहने के कारण अंजन और पलक प्रत्यक्ष नहीं होते; यही [illegible] का सामीप्य है। ३. दिन में असंख्य नक्षत्रों के रहते हुए भी उनका [illegible] प्रकाश सूर्य के तीव्र प्रकाश के द्वारा अभिभूत हो जाता है। इस कारण [illegible] में नक्षत्र नहीं दिखाई पड़ते; इसी को अभिभव कहते हैं। ४. अन्[illegible] बाधिर, इन्द्रिय-शक्ति के वध या लोप होने से चक्षु-कर्ण रहते हुए भी [illegible] या सुन नहीं सकते; यही इन्द्रिय का वध है। ५. सरसों के किसी बड़े ढे[illegible] यदि किसी दूसरी जगह से लाकर एक सरसों का दाना मिला दिया जाय [illegible] उसे कभी उस ढेर में से खोजकर निकाला नहीं जा सकता; यही समा[illegible] भिहार यानी एक जाति की वस्तुओं का मिश्रण है। अथवा जल में न[illegible] मिला दिया तो वह नमक दिखाई नहीं पड़ेगा यह भी समानाभिहार [illegible] ६. अति सूक्ष्म होने के कारण परमाणु दिखाई नहीं पड़ते; यही वस्तु [illegible] सूक्ष्मत्व है। ७. दीवार आदि किसी व्यवधान के रहने से उधर की [illegible] दिखाई नहीं पड़ती; यही व्यवधान कहलाता है। ८. गहरी चिन्ता में [illegible] रहने से सामने के दृश्य या शब्द दिखाई और सुनाई नहीं पड़ते; यही [illegible] की अनवस्था है। अतः बुद्धिमान मनुष्य प्रत्यक्ष दृष्टि पर विश्वास नहीं [illegible] सकते। सूक्ष्म विचार के द्वारा उपरोक्त भ्रम दूर हो जाता है। इसलिए मि[illegible] बराबर मिथ्या ही रहेगी तथा युक्ति-प्रमाण से वह अकाट्य रूप से मिथ्या [illegible] प्रमाणित होगी। अज्ञानवश तथा इन्द्रियों के दोष से मिथ्या वस्तु भी [illegible] की तरह प्रतीत होती है। परन्तु विचार के द्वारा उसका स्वरूप प्रकट होते [illegible] वह मिथ्या प्रमाणित हो जाती है। इस कारण मिथ्या कभी सत्य नहीं [illegible] सकती, दूसरी ओर सत्य वस्तु भी कभी मिथ्या नहीं हो सकती। बेटा! [illegible]

वस्तु जो सत् रूप से प्रतीत होती है, उसका दृष्टान्त है स्वप्न। जैसे स्वप्न में बाघ देखते ही भय, कम्पन और निद्राभंग हो जाता है वैसे ही महान स्वप्न रूप इस कल्पित प्रपंच के द्वारा भी जीव के सारे व्यवहार सम्पन्न हो रहे हैं। स्वप्न-कल्पित जीव जिस प्रकार एक दूसरे को सत्य समझकर व्यवहार करता है उसी प्रकार महामाया के महास्वप्न के द्वारा कल्पित हम लोग भी सभी को सत्य समझकर व्यवहार कर रहे हैं। स्वप्न टूट जाने पर जैसे स्वप्न की बात स्मरण कर लोग हँसते रहते हैं, वैसे ही महात्मा लोग आत्मस्थित होकर जगत-स्वप्न को मिथ्या जानकर इस पर उपेक्षा दिखाते हैं। मन स्वयं ही माया-कल्पित है। अतः वह उसी माया के द्वारा कल्पित संसार की किसी वस्तु को एका-एक मिथ्या नहीं कह सकता। परन्तु विचार के द्वारा वह जब अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है, तब वह इस पर कोई आस्था स्थापित नहीं कर सकता। मरुस्थल में जल का भ्रम होने पर किसी अभिज्ञ पुरुष के समझाने से वहाँ जल का अभाव निश्चित होने पर भी जल अदृश्य नहीं हो जाता। ठीक उसी प्रकार इस प्रपंच का मिथ्यात्व-ज्ञान सुनिश्चित होने पर भी वह इन्द्रियों के सामने पहले की तरह प्रत्यक्ष प्रतीत होता रहेगा। दृश्य-ज्ञान का अभाव आवश्यक नहीं है बल्कि उसका मिथ्यात्व-ज्ञान ही आदरणीय है क्योंकि दृश्य का मिथ्या-ज्ञान होना ही मोक्ष है। हे महामते! तुम बात करते समय जो शब्द बोलते हो उसका यथार्थ आशय न जानने के कारण ही तुम भ्रम में पतित होते हो। इसलिए 'सत्य' और 'मिथ्या' इन दो शब्दों का असली अर्थ क्या है पहले उसी को अच्छी तरह समझ लो, तभी सब बातें अच्छी तरह समझ सकोगे।

भक्त—प्रभु! हम तो यही समझते हैं कि जो वस्तु नहीं है वही मिथ्या है, और जिसे प्रत्यक्ष देखते हैं वही सत्य है।

महात्मा—जो नहीं है उसका सत्यत्व या मिथ्यात्व कैसे निर्णीत होगा? मान लो जहाँ रस्सी में सर्प का भ्रम हो रहा है वहाँ वह सर्प है या नहीं यह विचारणीय हो सकता है और ठूँठ में जहाँ पुरुष का भ्रम हो रहा है वहाँ भी वह पुरुष सत्य है या नहीं यह भी विचार-योग्य है। परन्तु जहाँ कुछ भी नहीं है वहाँ सत्य-मिथ्या का विचार किसके आश्रय से होगा? किसी वस्तु का

आश्रय न रहने से अर्थात् अधिष्ठान-रहित भ्रम कभी किसी को नहीं हो सकता।

भक्त—भगवन्! तो मिथ्या किसे कहते हैं?

महात्मा—जो वस्तु पहले नहीं थी, वर्तमान में है और बाद में नहीं रहेगी, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीन कालों में जो एक ही रूप में नहीं रहता वह मिथ्या है। * अथवा सुवर्ण में कुण्डल या सूत्र में वस्त्र की तरह जो वस्तु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न रहते हुए भी प्रकट होती है उसी का नाम मिथ्या या माया है। मान लो, तुम गरीब के लड़के हो। गतरात्रि में तुमने स्वप्न में देखा कि राजा हो गये हो और राजमहल में सोने के पलङ्ग पर लेटे हुए हो। अनेक दास-दासियाँ तुम्हारी सेवा कर रही हैं। अनेक प्रकार के खाद्य, पानीय, धन, रत्न तुम्हारे भोग के लिए प्रस्तुत हैं। परन्तु उस स्वप्न के टूट जाने पर तुम समझ गये कि स्वप्न में जो कुछ देखा गया वह सभी मिथ्या या माया है। तुम्हारी स्वप्नावस्था के पहले जाग्रतावस्था में वह राज्य-ऐश्वर्य नहीं थी और स्वप्नावस्था के बाद इस समय भी वह नहीं है केवल स्वप्नावस्था में थोड़े समय के लिए तुम्हारे सामने वह धन-ऐश्वर्य सत्य रूप से प्रकट हुआ था। स्वप्न-कल्पित महल, नौकर, खाद्य, पानीय आदि किसी वस्तु का अस्तित्व न रहते हुए भी स्वप्नकाल में वह सब वस्तुएँ तुम्हारे सामने सत्य रूप से प्रतीत हो रही थीं। निद्रा में अज्ञान के भीतर डूब जाने के कारण तुम्हारा मन उन स्वप्न-कल्पित वस्तुओं को सत्य समझ कर सुख भोग रहा था, इस कारण इसी का नाम मिथ्या या माया है। ठीक उसी प्रकार रस्सी में सर्प नहीं है, परन्तु सर्प प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। इसीलिए वह सर्प ही मिथ्या है और वहाँ रस्सी सत्य है। मरुस्थल में जल का भ्रम होने पर यथार्थ में वहाँ जल नहीं है, इस बात पर किसी तरह विश्वास नहीं होता। इसी कारण प्यासा पथिक भ्रम के कारण जल की आशा से वहाँ दौड़ता हुआ जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष दृष्ट जल मिथ्या और मरुस्थल सत्य है। इसी प्रकार जब अस्तित्व-रहित वस्तु अस्तित्ववान् रूप से प्रतिभासित होती है तब वही 'मिथ्या' कहलाती है।

* सृष्टि या जन्म के पहले, जन्म के बाद तथा मृत्यु या ध्वंस के अनन्तर इन तीन कालों में जो वस्तु एक रूप में नहीं रहती वह मिथ्या है।

बेटा! सर्पहीन रस्सी में जैसे सर्प दिखाई पड़ता है, अथवा रूपहीन आकाश में नीला-पीला आदि रंग दिखाई पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्म में यह प्रपंच प्रतीत हो रहा है। रस्सी और आकाश का स्वरूप-ज्ञान होने से जिस प्रकार सर्प और रंग मिथ्या प्रमाणित हो जाते हैं, उसी प्रकार आदाधार ब्रह्म का स्वरूप जान लेने पर प्रपंच मिथ्या हो जाता है। दृश्य प्रपंच मिथ्या या भ्रम है जब तक यह ज्ञान दृढ़ और निश्चित नहीं होता तब तक ब्रह्म का महान् स्वरूप भी उपलब्ध नहीं हो सकता। उनको जानने के लिए ऐसा विचार मन में लाना चाहिये कि प्रपंच के प्रलय के समय केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहते हैं और थे; यह दृश्य प्रपंच उस समय नहीं रहता और नहीं था। उस समय जो रहते हैं या थे वे ज्ञानस्वरूप हैं। उसके अनन्तर उस ज्ञान से यह दृश्य प्रपंच मायिक रूप से प्रतिभासित होता है। बेटा! यदि तुम कुछ दिनों तक शान्त चित्त से साधु-संग और सत् शास्त्रों की चर्चा में तल्लीन रह सको तो मैं एक ही दिन में तुम्हारे चित्त की दृश्य-भ्रान्ति विदूरित कर सकूँगा। उस समय तुम समझोगे ये सारे दृश्य ही दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह मिथ्या हैं। 'दिखाई पड़ रहा है और देख रहा हूँ' इस बोध के विलुप्त होने पर जो केवल बोधमात्र अर्थात् चैतन्य अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। 'दिखाई पड़ रहा है' यह बोध जब तक है तब तक 'मैं देख रहा हूँ' यह बोध भी रहेगा। दूसरी ओर 'मैं देख रहा हूँ' इस बोध के रहने से भी 'दिखाई पड़ रहा है' यह बोध भी रहेगा। अर्थात् द्रष्टा दृश्य के ही अन्तर्गत है। बेटा! इसी प्रकार मिथ्या वस्तु को भ्रम से सत्य समझकर लोग निरन्तर दौड़-धूप करते हुए नाना प्रकार के दुःख, कष्ट, शोक, ताप सह रहे हैं। यह मिथ्या ही महापाप, अनर्थ और नरक का द्वार-स्वरूप है। मिथ्या से ही मनुष्य का महान दुश्छेद्य और दुष्परिहार्य बंधन हुआ है। अतः अन्धकार रूप इस मिथ्या का वर्जन कर निर्वाण-सुख-रूप सत्य की शरण लेना ही बुद्धिमान मनुष्यों का कर्तव्य है।

भक्त—प्रभु! क्या शास्त्र भी प्रत्यक्ष-दृष्ट सृष्टि को मिथ्या कहते हैं?

महात्मा—बेटा! मेरे अपने अनुभूत तत्त्व पर तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है। इसलिए अब मैं तुम्हें शास्त्र के प्रमाण भी दिखाता हूँ। वेदान्त कहते हैं—

भातीति चेत् भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद् भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥ (पञ्चदशी)

अर्थात्—"यह संसार-प्रपंच प्रत्यक्ष प्रतीयमान हो रहा है, इसे मैं माया या मिथ्या समझूँ ? इसके उत्तर में कहते हैं ) संसार को प्रकट दो, उसमें हमें कोई हानि नहीं है। क्योंकि असत् वस्तु को सत् प्रदर्शित करना ही तो माया का भूषण है। जैसे स्वप्न का हाथी अस्ति रहित होने पर भी दिखाई पड़ता है वैसे ही जो असत् होते हुए भी दि पड़ता है, वही मिथ्या है।"

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैः विकल्पिता ॥ (मण्डुक्यकारि

अर्थात्—"अल्प बुद्धिवाले सृष्टि-चिन्तक लोग सृष्टि को ईश्वर की वि विस्तार समझते हैं। परन्तु परमार्थ-चिन्ता-परायण महात्माओं को चिन्ता में आदर या आग्रह नहीं है। मुमुक्षु आचार्य लोग परमार्थ-तत्त चिन्ता का ही विशेष आदर किया करते हैं। सृष्टि-चिन्ता में उनके का अभाव होने का कारण यह है कि वह स्वप्न की तरह माया-कल्पि इस कारण उसकी चिन्ता निरर्थक है।"

प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥ (मण्डुक्यकारिका)

अर्थात्—"यदि दृश्यमान प्रपंच विद्यमान रहता अर्थात् सत् होता तो अवश्य ही निवृत्त हो जाता, उसमें संदेह नहीं है। यथार्थ में यह द्वैत नहीं है, केवल माया का विलास यानी असत्य है, अद्वैत ब्रह्म ही एक परमार्थ सत्य है।" इसका भावार्थ यह है कि रस्सी में सर्प-भ्रम होने पर वहाँ जिस प्रकार सर्प कभी नहीं था अथवा जादूगर के दिखाये जाने वाले वहाँ कुछ भी नहीं था, यह सर्पादि दृश्य भी जैसे सम्पूर्ण मिथ्या और मा हैं यह संसार-प्रपंच भी ठीक उसी तरह दिखाई पड़ने पर भी मिथ्या मायामय है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ (माण्डुक्यकारि

अर्थात्—"आदि में और अन्त में जो नहीं रहता वर्तमान में भी वह उसी तरह नहीं है यानी असत् है। सांसारिक पदार्थ असत् होते हुए भी सत् के समान प्रतीत होते हैं।" इसी का नाम माया है। आशय यह है कि स्वाप्निक जगत्, सूत्र में वस्त्र, सुवर्ण में कुण्डल आदि की तरह जो वस्तु आदि और अन्तमें नहीं रहती वह वर्तमान में भी नहीं है। यही जगत् का निश्चित सिद्धांत है। उसी प्रकार जाग्रतावस्था में दिखाई पड़ने वाला यह सारा प्रपंच आदि और अन्त में न रहने के कारण मिथ्या है। तथापि मूढ़ अज्ञानी मनुष्य अवितथ अर्थात् सत्य समझ कर इसका दर्शन करते हैं।

बेटा! सोचो, इस दृश्यमान संसार में कोई एक भी पदार्थ है जो आदि और अन्त से रहित हो? यथार्थ में सांसारिक सभी पदार्थ उत्पत्ति के पहले नहीं रहते और ध्वंस के बाद भी उनका अस्तित्व नहीं रहता। केवल वर्तमान समय में प्रत्येक पदार्थ अपनी उत्पत्ति और ध्वंस के बीच के समय तक 'है' ऐसा प्रतीत होता है। मान लो, तुम्हारा यह स्थूल शरीर मातृगर्भ से भूमिष्ठ होने के पहले संसार में नहीं था तथा इसकी मृत्यु होने पर भी इसका अस्तित्व नहीं रहेगा, केवल जन्म और मृत्यु के बीच के समय, एक निर्दिष्ट काल के लिए 'है' ऐसा प्रकट हो रहा है। अतः तुम्हारा यह शरीर जीवित काल में भी नहीं है यानी मिथ्या है। माया का यह स्वभाव है कि जो वस्तु नहीं है उसी को दिखाती है। सूत्रों में वस्त्र नहीं है, एक एक करके सूत निकाल कर देखो, वस्त्र का पता भी नहीं लगेगा तथापि सूत्रों में वस्त्र दिखाई पड़ता है। मिट्टी में घट नहीं है, तोड़ कर देखो केवल मिट्टी ही मिट्टी रह जाती है, घट का पता भी नहीं लगता। तथापि मिट्टी में घट दिखाई पड़ता है। जो कुछ देख रहे हो सभी माया का जादू है। अज्ञान में आच्छन्न रहने के कारण तुम्हारा मन उसी को सत्य समझ रहा है। इसी प्रकार जगत की समस्त वस्तुएँ 'मानो हैं' ऐसे प्रतीत हो रही हैं।

मायास्वप्ने यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥

(माण्डुक्य-कारिका)

अर्थात्—"स्वप्न या इन्द्रजाल-निर्मित गन्धर्व-नगर मिथ्या होने पर भी

अविवेकी मनुष्यों के सामने वह सत्य-सा प्रतीत होता है। स्वप्न के टूट ज
पर उसमें दिखाई पड़ने वाले पहाड़, नदी, वन, मनुष्य आदि क्षण भा
अदृश्य हो जाते हैं। इन्द्रजाल-निर्मित, गन्धर्व-नगर में दिखाई पड़ने
मकान, बाजार, महल, स्त्री-पुरुष आदि भी क्षण भर में अदृश्य हो जाते
उसी प्रकार वेदान्तवित् ब्रह्मज्ञ पुरुष के सामने यह दिखाई पड़ने वाला सं
प्रपंच लुप्त हो जाता है।"

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥
(माण्डुक्य-कारि

अर्थात्—"स्वप्न-दृष्ट जीव जिस प्रकार स्वप्नावस्था में ही जनमते
मरते हैं, इस संसार के जीव भी उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में ही उत्प
और विनष्ट होते हैं अर्थात् स्वप्न और जाग्रत इन दोनों के भीतर इस वि
में कुछ भी पार्थक्य नहीं है।"

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥
(माण्डुक्य-कारि

अर्थात्—"ऐन्द्रजालिक के प्रदर्शित मायारूप जीव जिस प्रकार उत्प
और विशिष्ट होते हैं जाग्रत काल के जीव भी उसी प्रकार जनमते
मरते हैं।"

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥
(माण्डुक्य-कारि

अर्थात्—"कृत्रिम उपाय से निर्मित जीव जिस प्रकार जनमते और
हैं जाग्रत अवस्था के जीव भी उसी प्रकार उत्पन्न और विनष्ट होते हैं।
आशय यह है, इस संसार में जीवों के जन्म, मृत्यु आदि का व्यवहार स
दृष्ट जीवों की ही तरह है। वास्तव में कोई भी जीव न जन्म ग्रहण कर
और न मरता है। यही पारमार्थिक सत्य है।

संकल्पमात्रकलनेन जगत्समग्रं संकल्पमात्रकलने हि जगद्विलासः
संकल्पमात्रमिदमुत्सृज निर्विकल्पमाश्रित्य मामकपदं हृदि भावयस्व
(वराहोपनिष

अर्थात्—"संसार नाम से कोई वस्तु नहीं है, केवल संकल्प के द्वारा ही यह प्रपंच प्रतीत हो रहा है। संकल्प के रहने से ही संसार का प्रकाश है। संकल्प के द्वारा निर्मित इस जगत का परित्याग करो अर्थात् इसमें सत्य-बुद्धि का त्याग करो, अनन्तर कल्पना-रहित मुझ (आत्मा) को आश्रय करके हृदय में भावना करो।" भगवान शंकराचार्य ने कहा है—

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः।
स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधेऽसत्यवद् भवेत् ॥ (आत्मबोध)

अर्थात्—राग, द्वेष, असत् प्रवृत्ति आदि समन्वित यह संसार स्वप्न के समान मिथ्या है, क्योंकि स्वप्नावस्था की घटनाएँ जिस प्रकार केवल उसी काल में सत्य-सी प्रतीत होती हैं तथा जागृत होने पर वे असत्य हो जाती हैं अर्थात् वह केवल कल्पना थी, यह समझ में आता है, ठीक उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में सत्य-सा प्रतीत होने पर भी यह संसार-प्रपंच तत्त्वज्ञान के उदय होने पर असत्य, काल्पनिक या मिथ्या प्रमाणित हो जाता है।" इस मिथ्या सृष्टि के विषय में ब्रह्मज्ञ दादू साहब कहते थे—

नहीं में सब हुआ फिर नहीं होय जाय।
नहीं होय रह दादू साहब से लवबाय ॥

अर्थात्—"'नहीं' से सब कुछ हुआ है और फिर सभी 'नहीं' में गायब हो जायगा। अतएव हे दादूसाहब, तुम अपने को 'नहीं' समझ कर सदा परमात्मा में मन को स्थिर रखो।"

योगवासिष्ठ में वसिष्ठ मुनि ने कहा है—"ज्ञानी के निकट जगत् कहाँ है? यह जगत तो केवल अज्ञानी के निकट ही प्रकट होता है।" वस्तुतः चित्त जिसे दीर्घकाल तक सत् समझ कर भावना करता है, वह सत् हो या असत्, भावना की दृढ़ता से सत्-स्वरूप में ही परिदृष्ट होता है।

बेटा! जो व्यक्ति प्रबुद्ध नहीं हुआ है, जिसका मन परमपद में आरूढ़ नहीं हुआ है, यह असत् संसार केवल उसी के निकट वज्र के समान दुर्भेद्य और सत् रूप से लक्षित होता है। जिस प्रकार बचपन का चित्त में जमाया हुआ भूत का संस्कार मृत्यु पर्यन्त दुःख देता है (ठूँठ को भूत समझ कर डर जाने से मनुष्य मर जाता है, ऐसा भी प्रमाण है), उसी प्रकार यह असत्

रूप संसार मिथ्या रूप धरकर अज्ञानी मनुष्यों को जीवन भर दुःख देता है। जिस प्रकार मरुस्थल में पतित सूर्य-किरण, जल न होकर भी अज्ञानियों में जल-भ्रम पैदा कर देती है, उसी प्रकार यह संसार सत्य न होते हुए भी तत्त्व ज्ञान-रहित मनुष्यों में सत्य की तरह भ्रान्ति उत्पन्न करता है। रस्सी में सर्प ज्ञान के स्थल में रस्सी का तत्त्व न जानने वाले मनुष्य को जिस प्रकार भय और हृत्कम्पन होने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार संसार के मूल ब्रह्म के विषय में अज्ञानी मनुष्य मिथ्या संसार को सत्य समझ कर धन-नाश और स्वजन-वियोग आदि के भय तथा शोक-ताप से छटपटाते रहते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में अपनी ही मृत्यु मिथ्या होने पर भी मनुष्य उसे सत्य समझ कर शोक करता है, उसी प्रकार यह मिथ्या जगत् अप्रबुद्ध मनुष्यों के निकट सत्य-सा प्रतीत होने के कारण उन्हें निरन्तर दुःख दिया करता है। बेटा! 'अहं'-भाव आदि युक्त यह विश्व-मण्डल एक सुदीर्घ स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस दृश्य प्रपञ्च के विषय में जाँच करने पर प्रतीत होगा कि यह सत्य भी नहीं है, मिथ्या भी नहीं, बल्कि अनिर्वाच्य है। जैसे रस्सी में सर्प। जो भ्रान्ति-दृष्ट है, वह सत्य नहीं है और जो परीक्षा-दृष्ट है, वह असत्य भी नहीं है। इस प्रकार की द्विविध युक्ति की सहायता से जाना जाता है कि यह संसार अनिर्वाच्य है अर्थात् यह परमात्मा के समान सत्य नहीं है और न रस्सी में सर्प की तरह मिथ्या ही। रस्सी में सर्प अनिर्वाच्य है अर्थात् वह सत्य भी नहीं हैं, मिथ्या भी नहीं। रस्सी में सर्प यदि सत्य होता तो उसका कभी अभाव न होता और यदि वह मिथ्या होता तो कभी दिखाई न पड़ता। बेटा! मानव आरम्भ से ही अपने जीव-भाव का अनुभव करता है। इसी कारण क्रमशः उसका वह संस्कार दृढ़ हो जाता है और इसी के कारण संसार के साथ अपनी सत्यता का अध्यास होने से उसके सामने 'यह जगत सत्य है' ऐसा भान होता रहता है। माया की ऐसी ही कुशलता और ऐसी ही चमत्कारिता है कि जो वस्तु नहीं है उसी को वह सामने लाकर दिखा देती है। जिस प्रकार जाग्रत होने पर स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले दृश्य कहाँ लुप्त हो जाते हैं उसका पता नहीं लगता, ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर यह पांचभौतिक जगत और अपने शरीर में 'अहं'-भाव आदि कहाँ भाग जाते हैं उसका निर्णय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार

रस्सी के ज्ञान होने पर सर्प कहाँ गया, इसका पता नहीं लगता; यह भी ठीक उसी प्रकार है।

अतः हे महामते ! साधारण मनुष्य इस संसार-वृक्ष को सत्य ही समझते हैं। 'संसार सत्य है', यही साधारण मनुष्यों की धारणा है। फिर अनेक बुद्धिमान मनुष्य, अनेक शास्त्रों का पठन-पाठन करने पर भी (पांडित्याभिमानी उपाधिधारी तथाकथित पण्डित लोग) भोग में आसक्ति रहने के कारण यह संसार मिथ्या है, ऐसी धारणा नहीं कर सकते। साधना के अभाव और बुद्धि के तारतम्य के अनुसार कोई कहता है, जगत सत्य है, कोई कहता है, जगत अनिर्वचनीय है और कोई कहता है, जगत मिथ्या है। ज्ञानी के सामने जगत मिथ्या और तुच्छ है, अल्पज्ञ के निकट जगत अनिर्वचनीय है और विषयासक्त अज्ञानी मनुष्य के सामने जगत सत्य है। यह दृश्यमान जगत मिथ्या है, स्वप्न के समान त्रिकाल में भी इसका अस्तित्व नहीं है, इस विषय में उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन में दृष्टान्तों की कमी नहीं है।

भक्त—प्रभु ! आप सभी जानते हैं, इसलिए मैं आपसे पूछता हूँ इस सृष्टि के अस्तित्व और नास्तित्व के विषय में भारत के बाहर वाले विदेशी विद्वानों की क्या सम्मति है ?

महात्मा—बेटा ! केवल भारत के हिन्दू लोग ही इस सृष्टि को स्वप्नवत् मिथ्या समझते थे, ऐसा नहीं। लगभग पाँच हजार वर्ष पहले चीन देश के प्राचीन दार्शनिक लोग भी कह गये हैं—'यह दृश्यमान विश्व मिथ्या अर्थात् मनः-कल्पित है।' विलायत के दार्शनिकों ने भी प्रमाणित कर दिखाया है कि—'इस सृष्टि का कोई भी अस्तित्व नहीं है, इसका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं है। इसलिए यह मिथ्या काल्पनिक है।' इसी प्रकार हर एक देश के परमतत्त्व के चिन्ताशील मनुष्य सृष्टि का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए किसी प्रकार के युक्ति-प्रमाणों से इसकी पारमार्थिक सत्ता निर्णीत नहीं कर सके हैं। यह सृष्टि मिथ्या है; मरुस्थल में मरीचिका की तरह या स्वप्न-दृश्य वस्तुओं की तरह 'मानो है', ऐसा बोध हो रहा है। जब तक स्वप्न की माया रहती है तब तक ही स्वप्न-दृष्ट वस्तुओं का अस्तित्व प्रतीत होता है, उसी प्रकार सांसारिक जीवों को जब तक माया की मोह-निद्रा टूटकर महा-ज्ञान का

उदय न होगा तब तक यह दृश्यमान संसार सत्य-रूप से प्रतीत होता रहेगा। बेटा ! सर्वत्र ही सुनाई पड़ेगा कि संसार का अस्तित्व नहीं है, वह मिथ्या है, परन्तु इस बात का आशय क्या है ? वास्तव में संसार का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है, परन्तु आपेक्षिक अस्तित्व है, यही उसका आशय है। अर्थात् सभी के मन में इसका आपेक्षिक अस्तित्व है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु यथार्थ में इसकी अनन्त, अचल और अपरिवर्तनीय सत्ता नहीं है। इसी कारण इसे मिथ्या कहा गया है। इस संसार को सत् और असत् की मिश्रित अवस्था कह सकते हो। स्वप्नकालीन वस्तुओं से व्यवहार के समान जब तक संसार से व्यवहार किया जाता है, तब तक ही इसकी व्यवहारिक सत्ता मानी जा सकती है। इसी कारण सांसारिक वस्तुओं की व्यावहारिक सत्ता है, यह स्वीकार किया जाता है। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में तन्मय होकर गाना गाने लगे—

नाहि सूर्य, नाहि ज्योति, नाहि शशांक सुन्दर ;
भासे व्योम छाया सम, छवि विश्व चराचर।
अस्फुट मन-आकाशे, जगत संसार भासे ;
ओठे, भासे, डोबे पुन, अहं-स्रोते निरन्तर॥

इसका आशय इस प्रकार है—

नहीं सूर्य, नहीं ज्योति; नहीं शशांक सुन्दर ;
व्याप्त व्योम छाया सम, चित्र विश्व चराचर ।।
अस्फुट मन आकाश में विश्व संसार प्रतिभासित है ;
अहं के प्रवाह में सदा उठता, तैरता और डूबता है ।।

भक्त—हे भगवन् ! जब यह दृश्यमान जगत मिथ्या ही हो गया तो फिर पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि कर्मों के विचार की क्या आवश्यकता है ? स्वेच्छाचारी होकर जिसके मन में जो अच्छा जँचे, क्या वह वैसा ही करता रहेगा ?

महात्मा—हे सुमते ! 'जगत मिथ्या है' केवल मुँह से यह बात कहने से काम न चलेगा। जगत के मिथ्यात्व-ज्ञान के हृदय में दृढ़ होने के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से ही तत्त्वज्ञानी के मन में पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि सभी कर्मों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। 'गुड़िया क्या वस्तु है' इस विषय के

बचपन में पूर्ण ज्ञान न रहने के कारण तुम लोगों को गुड़िया लेकर खेलने की तीव्र आकांक्षा थी। परन्तु यौवन-काल में उस गुड़िया के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने के कारण उस पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। ठीक उसी तरह इस दृश्यमान संसार के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान न रहने के कारण ही तुम्हारे जैसे अज्ञानी मनुष्य हड्डी-मांस की गुड़िया तथा धन-सम्पत्ति का भोग करने के लिए व्याकुल होकर दूसरों पर तरह-तरह के अत्याचार, अविचार करते हैं। परन्तु इस जगत के विषय में पूर्ण ज्ञान होने से आत्मज्ञ विद्वानों को सभी सांसारिक भोग्य विषयों में वैराग्य हो जाता है। अतः ऐसे वैराग्यवान् व्यक्ति कभी स्वेच्छाचारी होकर अत्याचार, अविचार के द्वारा दूसरों की अशान्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। क्योंकि वृद्धावस्था में बच्चों के साथ गुड़िया से खेलते रहने पर भी उस गुड़िया पर वृद्ध के जिस प्रकार मन का भाव रहता है, ऊपर-कथित विरागी व्यक्ति को भी इस मिथ्या संसार के ऊपर ठीक उसी प्रकार का भाव रहता है। और एक बात स्मरण कर देखो—किसी को रस्सी में सर्पज्ञान होने पर बिना प्रयोजन स्वाभाविक रूप से उसके मन में भय उत्पन्न होता है। कोई भी कभी अपनी इच्छा से उस भय को मन में नहीं लाता या अनावश्यक समझ कर उसका त्याग भी नहीं कर सकता। बाद में क्रमशः जिस परिमाण में मिथ्या सर्प का ज्ञान नष्ट होकर सत्य रस्सी का ज्ञान उत्पन्न होने लगता है, उसी परिमाण में सर्पजनित भय उसके मन से विदूरित होता जाता है। उसके अनन्तर सम्पूर्ण रस्सी का ज्ञान होने पर उसका वह भय बिल्कुल लुप्त हो जाता है। ठीक उसी प्रकार आत्मा में जगत-भ्रम होने पर स्वाभाविक रूप से ही मनुष्यों के भीतर पाप-पुण्य या धर्माधर्म में रुचि उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् क्रमशः जब जितने परिमाण में मिथ्या जगत का ज्ञान नष्ट होकर सत्य-स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान उत्पन्न होने लगता है, तब ठीक उतने ही परिमाण में वैराग्य उत्पन्न होकर सांसारिक कामिनी, कांचनादि के भोग की आकांक्षा तथा भय, शोक, पाप, पुण्य आदि कर्म भी घटते जाते हैं। अनन्तर सम्पूर्ण रूप से आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान होने पर उनमें शोक, ताप, पाप, पुण्य, या धर्माधर्म कर्म कुछ भी नहीं रह जाता। इस कारण आत्मज्ञ महापुरुष के द्वारा कभी यथेच्छाचार नहीं होता।

भक्त—भगवन्! इस माया-बंधन या मिथ्या भ्रम को विदूरित करके कैसे मुक्त हूँगा?

महात्मा—बेटा! द्रष्टा का दृश्य के साथ जो सम्पर्क है, वहीं उसका बंधन है। द्रष्टा दृश्य के द्वारा बद्ध और दृश्य के अभाव से मुक्त है। 'तुम' 'मैं' आदि का मिथ्या विज्ञान ही संसार और दृश्य नाम से कथित है। जब तक संसार-ज्ञान विद्यमान रहेगा, तब तक मुक्ति-लाभ की आशा नहीं है। केवल मुँह से प्रलाप की तरह 'नाना वस्तुएँ नहीं हैं' 'संसार मिथ्या है'—ऐसे वाक्यों का उच्चारण मात्र करने से दृश्य-बोध-रूप व्याधि शान्त न होगी, बल्कि क्रमशः बढ़ती ही जायगी। ब्रह्मज्ञ विचारकों ने कहा है—'तर्क करने की कुशलता, नाना तीर्थों के पर्यटन और नाना प्रकार के व्रत नियम आदि के अनुष्ठान अथवा अनेक मूर्तियों के पूजन से भी दृश्य-दर्शन-व्याधि की शान्ति नहीं होती। क्योंकि चिन्मय आत्मा ज्ञेय या दृश्य नहीं है, इसी कारण वह अन्य बाहरी तपस्या, पूजा आदि के द्वारा प्राप्तव्य नहीं है। जिस प्रकार 'मदिरापान में तृप्ति नहीं है' इस ज्ञान के दृढ़ हुए विना किसी तरह मदिरापान नहीं छूटता; वैसे ही 'दृश्य जगत मिथ्या है' इस ज्ञान के सुदृढ़ हुए विना केवल तपस्या से, दान से, ध्यान से या केवल जप से जगत-दर्शन मन से विलुप्त नहीं होता। केवल विषयों के प्रति उपेक्षा दिखाना ही मिथ्या भ्रम दूर होकर मनोजय या मुक्तिलाभ का उत्कृष्ट उपाय है। इस प्रकार के उपाय का अवलम्बन करने से मन रूप उन्मत्त मातंग अनायास अवनत हो जाता है। परन्तु बार बार अभ्यास के विना कदापि मन में विषयों के प्रति उपेक्षा नहीं आती और आत्मा में स्थितिलाभ भी नहीं होता। इस अभ्यास के लिए प्रबल पुरुषार्थ प्रयोजन है। 'ईश्वर की इच्छा होने से होगा' 'यदि भाग्य में हो तो होगा' इस प्रकार के भावयुक्त तमोगुण-प्रधान मन के द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। बेटा! तीव्र पुरुषार्थ अर्थात् दृढ़तर शास्त्रोक्त प्रचेष्टा के विना श्रेयोलाभ की सम्भावना नहीं है। तुम जो बन्धन-मुक्ति की बात कहते हो, वह बन्धन किसका? पहले उसी का निर्णय करो। परमात्मा चिर मुक्त हैं, अतः उनका कभी बन्धन नहीं रह सकता। खून-मांस का यह स्थूल शरीर मन के ही अधीन है। अतः अन्त में निश्चय होता है कि तुम्हारे मन का ही बन्धन है।

कि मन ही भ्रम में पड़ कर सदा इस स्थूल शरीर को 'मैं' तथा अन्य वस्तुओं को 'मेरा' समझ का व्यवहार करता है। वह बन्धन इस स्थूल शरीर तथा अन्य वस्तुओं के साथ मन के किस स्थान में, कब, किस भाव से और किसके द्वारा उत्पन्न हुआ है—पुंखानुपुंख रूप से परीक्षा करने पर यह बन्धन प्रतीत नहीं होता, तब बन्धन नाश प्राप्त हो जाता है, जैसे प्रकाश के द्वारा अन्धकार को देखने की चेष्टा करने पर अन्धकार नाश प्राप्त हो जाता है, यह भी ठीक उसी प्रकार है। अतः इस बन्धन की चमत्कारिता यह है कि इसकी खोज करने लगते ही वह अदृश्य हो जाता है और मन (जीव) बन्धन से मुक्त होता है। वेदान्त-वाक्य और गुरुवाक्य के द्वारा विचार-शक्ति के बल 'विशेष दर्शन' न करने से किसी तरह मन का यह भ्रम विनष्ट नहीं होता।

भक्त—प्रभु! विशेष दर्शन कैसे करना होता है?

महात्मा—महामते! दर्पण में प्रतिबिम्बित प्रत्यक्ष-दृष्ट मनुष्य का, सिनेमा के चित्रों का तथा जादूगर के दिखाये हुए दृश्यों का पूर्वापर विचार करके जिस भाव से तुम उन वस्तुओं को मिथ्या समझ सके हो, ठीक उसी भाव से सूक्ष्म विचारपूर्वक दर्शन करने को ही 'विशेष दर्शन' कहते हैं। जिस समय रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, उस समय यदि दर्शक विशेष रूप से जाँच करता है तो उसको सर्प-भ्रम कदापि नहीं रह सकता। इसी प्रकार जो सांसारिक मनुष्य, पशु, वृक्ष, लता आदि दृश्य वस्तुओं को प्रत्यक्ष देख रहे हैं, यदि वे कुछ युक्ति-प्रमाणादि की सहायता से विशेष दृष्टि के द्वारा परीक्षा करते हैं तो यह दृश्य-भ्रम कदापि नहीं टिक सकता। मान लो, एक कमीज है। देखने में वह बड़ी सुन्दर है। परन्तु सिलाई खोल दो तो कमीज का पता भी न लगे, केवल कपड़े के कुछ टुकड़े रह जायेंगे। अब उन टुकड़ों में से एक-एक करके सूत निकालते जाओ तो उन वस्त्र-खण्डों का भी अस्तित्व न रहेगा। उसके आगे सूतों में से भी नोच-नोच कर रुई निकाल डालो तो सूत भी अदृश्य हो जायेंगे। केवल थोड़ी-सी रुई दिखाई पड़ेगी। अब तक हाथ से काम लिया गया था। इस समय रुई का विश्लेषण करने के लिए सूक्ष्म विचार-बुद्धि काम में लानी होगी। जो बची हुई रुई दिखाई पड़ती है वह भी वास्तव में कोई

मौलिक तत्त्व नहीं है। रूई का विश्लेषण करने पर उसमें पाँच भूतों के उ[illegible] दान मिलेंगे। अर्थात् ऐकान्तिक आग्रह के साथ, अन्तर्निहित चिन्ता-पुस्[illegible] कर, विचारपूर्वक दृश्य वस्तु को पुंखानुपुंखरूप से अनुसन्धान कर देखने[illegible] 'विशेष दर्शन' कहते हैं। इस प्रकार के 'विशेष दर्शन' के बिना केवल [illegible] युक्ति से जगत-भ्रम विनष्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार की विशेष दृ[illegible] द्रष्टा (प्रत्यक्ष-कर्त्ता) की भ्रान्ति दूर करती है। परन्तु जब तक 'यह [illegible] सत्य है, यह भ्रान्तिमूलक नहीं है' इस प्रकार भ्रम-ज्ञान रहता है तब[illegible] विशेष दृष्टि के द्वारा इस प्रकार सूक्ष्म विचार करने की प्रवृत्ति ही नहीं उ[illegible] होती। इस कारण भ्रम भी विनष्ट नहीं होता। जब तक रस्सी में भुजं[illegible] भ्रम रहता है तब तक उस भ्रम-दर्शक को यदि यह धारणा बनी रहे कि [illegible] असल में ही सर्प है' तो उस दर्शक में विशेष विचार करने की इच्छा ही [illegible] उत्पन्न हो सकती। इस कारण उसका भुजंग-भ्रम भी विनष्ट नहीं होता। [illegible] मायामय प्रपंच के विषय में भी यदि तुम्हें यह धारणा हृदय में बद्धमूल हो [illegible] 'यथार्थ में ही संसार है' तो तुम्हारे भीतर उस विशेष दृष्टि की प्रवृत्ति [illegible] होगी? इसी कारण शिवसंहिता में लिखा है—

> मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद् भवेत्।
> अन्यथा न निवृत्ति स्याद् दृश्यते रजतभ्रमः॥

अर्थात्—"केवल विशेष दर्शन के द्वारा ही मिथ्या ज्ञान या भ्रम [illegible] नवृत्ति होती है। इस विशेष दर्शन के सिवाय और किसी उपाय से मि[illegible] ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। जहाँ सीप में चाँदी का भ्रम होता है, वहाँ वि[illegible] रूप से दर्शन करके सीप का ज्ञान होने पर चाँदी का भ्रम दूर हो [illegible] है।" अतः जब तक आत्म-साक्षात्कार द्वारा सत्य उदय नहीं होता तब [illegible] सांसारिक नाना पदार्थ सत्य रूप से ही प्रतीत होते रहेंगे।

'प्रपञ्च मिथ्या है' यह बात सर्वसाधारण के समीप कहने से कोई [illegible] नहीं है। क्योंकि यह उनके बोधातीत है। जब जिसमें आत्मोपलब्धि हो[illegible] तब केवल वही इस प्रपञ्च को मिथ्या जानकर कृतार्थ हो सकेगा। उसके [illegible]

किसी तरह से नहीं। केवल ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ही इस संसार के मिथ्यात्व की उपलब्धि करते हैं। अज्ञानी के मुख से 'संसार मिथ्या है', ऐसा वाक्य उच्चारित होने पर वह प्रलाप-सा समझा जायगा।

बेटा! यह दृश्यमान जगत केवल मन की कल्पना का प्रवाह मात्र है, इसकी हम स्पष्टतः उपलब्धि कर रहे हैं। मान लो, कमरे की दीवारों में बहुत से दर्पण लटके हुए हैं और तुम बीच में खड़े हो। अब तुम जिधर देखो, प्रत्येक दर्पण में अपनी ही मूर्ति दिखाई पड़ेगी। यदि तुम उन मूर्तियों के तत्त्व की जाँच करने लगो तो स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि तुम्हारे शरीर के अस्तित्व से ही उन मूर्तियों का अस्तित्व है; तुम्हारे शरीर को छोड़ देने पर उन मूर्तियों की कोई सत्ता ही नहीं रहेगी। ठीक इसी प्रकार बाहर तुम (आत्मा) से पृथक स्थान में जो दृश्यमान संसार प्रतीत होता है उसके यथार्थ अस्तित्व की जाँच करने लगने पर दिखाई पड़ेगा कि केवल तुम्हारी (आत्मा की) सत्ता से ही संसार के धन-जन आदि सारे पदार्थों की सत्ता है। तुम्हें अर्थात् आत्मा को छोड़ देने से उन दर्पणों में प्रतिबिम्बित मूर्तियों की तरह सांसारिक किसी वस्तु की सत्ता नहीं मिलती। अतः इस विचार से स्पष्ट ही प्रमाणित हुआ कि जैसे तुम्हारे शरीर के अस्तित्व से प्रतिबिम्बों का अस्तित्व है, उसी प्रकार तुम्हारे (आत्मा के) अस्तित्व से ही संसार का अस्तित्व है। यह संसार ठीक दर्पण में प्रतिबिम्बित दृश्य की तरह है; आत्मा के अतिरिक्त इसकी कोई पृथक सत्ता नहीं है। इस विषय को शंकराचार्य ने बताया है—

दृश्यं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्।
पश्यन् आत्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया॥

अर्थात्—"यह दृश्य दर्पण में दृश्यमान नगरी के तुल्य है, अपने आत्मा के ही अन्तर्गत है, स्वप्न में जिस प्रकार मनुष्य स्वयं ही बाहर उत्पन्न हुआ है, ऐसा भान होता है, यह दृश्य जगत भी ठीक उसी प्रकार है।"

वेदान्त दर्शन के भाष्य में शंकराचार्य ने यह भी लिखा है कि—

ब्रह्मसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावो मिथ्यात्वम्

अर्थात्—"ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त पृथक सत्ता का अभाव ही मिथ्यात्व

है।" इसीलिए जगत-रूप से जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वे सभी मि...
हैं और मिथ्या वस्तु ही दिखाई पड़ती है।

और भी देखो, दर्पणों के रहने से ही तुम्हारे एक शरीर के ...
प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, दर्पणों के न रहने से प्रतिबिम्बित शरीर दिखाई ...
पड़ते। उस समय 'मैं हूँ' ऐसे ज्ञान से केवल अपने को तुम देखते हो। ...
उसी प्रकार तुम्हारे मन रूप दर्पण के रहने से उसी मन के भीतर से यह ...
प्रपञ्च दिखाई पड़ता है। अतः जब तुम्हारा मन रूप दर्पण नहीं रहता ...
मन संकल्प-विकल्प-रहित होकर निष्क्रिय हो जाता है तब तुम (आत्मा) ...
पृथक जगत नाम से किसी वस्तु का भान नहीं रह जाता, तब केवल 'मैं हूँ' ...
ज्ञान से तुम अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हो। अतः यह स्पष्ट ...
णित हुआ कि मन के न रहने (निष्क्रिय होने) पर जगत नाम से किसी ...
की सत्ता की उपलब्धि नहीं होती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है सुषुप्ति। ...
अवस्था में मन का संकल्प-विकल्प-रूप क्रिया नहीं रहती। इस कारण ...
का दर्शन भी नहीं होता और दृश्य के न दिखाई पड़ने से सुख-दुःख ही ...
से आयेंगे? उस समय मन आत्मनिष्ठ हो जाता है, इस कारण केवल ...
का ही अनुभव होता रहता है।

और भी विचार कर देखो, दर्पणों के बीच में से ही अपने शरीर से ...
अनेक प्रतिबिम्ब देख रहे हो, ठीक उसी प्रकार अपने मन रूप दर्पण के ...
से ही तुम अपने (आत्मा) से पृथक समझ कर संसार की कामिनी, ...
आदि भोग्य वस्तुओं को देख रहे हो। दर्पणों के भीतर सत्तारहित प्रति...
को देखकर भी जिस प्रकार तुम्हें क्षणिक आनन्द मिलता है, ठीक उसी ...
मनः-कल्पित सत्ताहीन सांसारिक वस्तुओं के साथ व्यवहार करते हुए भी ...
क्षणिक आनन्द मिलता है। अतः सब प्रकारों से विचार करने पर यही ...
निर्णीत होता है कि दर्पणों के प्रतिबिम्बों की तरह मनः-कल्पित यह ...
यथार्थ में अस्तित्वरहित—मिथ्या है। जब तक मन में संकल्प-विकल्प ...
केवल तब तक ही जगत दिखाई पड़ता है। इतना कहकर महात्मा ...
भाव में विभोर होकर गाना गाने लगे—

मन आछे ताइ जगत् आछे, मन ना थाक्ले किछुइ नाइ ।
मनेर कल्पनाय जगत् दर्शन, साधारणेर तो से बोध नाइ ।।
बिचार कोरे देख ना रे मन, तोमारि कल्पित ए त्रिभुवन ।
जाग्रत्-स्वप्नेर कल्पनाते, जगत् आछे देख्ते पाइ ।।
सुषुप्तिते कल्पनाहीन, तखन मन हय ब्रह्मे ते लीन ।
जाग्रत्-स्वप्नेर जतो शोक-ताप, सुषुप्तिते ता किछुइ नाइ ।।
मन विषय-कल्पना छेड़े, आत्माके आलय कोरे ।
जीवत्व-नाश कोरे दिले, तखन आमि शिव होये जाइ ।।

इसका आशय इस प्रकार है—

मन है तो जगत है, मन नहीं तो कुछ नहीं ।
मन की कल्पना से विश्व का दर्शन, साधारण यह नहीं जानते ।।
विचार करके देखो मन, तुम्हारे कल्पित ये त्रिभुवन ।
जाग्रत-स्वप्न की कल्पना में विश्व दृष्ट होता है ।।
सुषुप्ति में कल्पनाहीन, तब मन रहता ब्रह्म में लीन ।
जाग्रत-स्वप्न के शोक-ताप सुषुप्ति में कुछ नहीं है ।।
मन विषय-कल्पना छोड़े, आत्मा का आश्रय ले ।
जीवत्व का नाश कर दे तो मैं शिव हो जाऊँ ।।

माहत्मा पुनः करने लगे—सदा याद रखना, जैसे दर्पण के बीच में ही प्रतिबिम्ब है—दर्पण के बाहर नहीं । ठीक उसी प्रकार मनोदर्पण के भीतर ही यह जगत-प्रतिबिम्ब प्रतीयमान हो रहा है—मन के बाहर नहीं । रस्सी में सर्पभ्रम के स्थल में जिस प्रकार रस्सी के बाहर सर्प नामक कोई वस्तु नहीं है, यथार्थ में वह मन की कल्पना से बना हुआ सर्प ही बाहर दिखाई पड़ता है; ठीक उसी प्रकार जगत नामक कोई वस्तु मन के बाहर नहीं है । वह यथार्थ में मन के भीतर कल्पना से बना हुआ संसार ही अपना शरीर, मनुष्य, पशु, पत्नी, पुत्र आदि के रूप में बाहर दिखाई पड़ता है । इस कारण विचार कर देखो, तुम्हारा धूर्त मन किस प्रकार से मिथ्या को सत्य रूप में दिखाकर तुम्हें अशेष दुःख-कष्टों में डाल कर नरक-यन्त्रणा का भोग करा रहा है । केवल मन को

जीत लेने से ही संसार के सारे दुःख, शोक, ताप मिट सकते हैं। अ
सुमते, मनुष्य का चित्त ( मन ) ही प्रधान व्याधि है। इस कारण उ
चिकित्सा अत्यावश्यक है, नहीं तो अभाव के कारण अनेक प्रकार के क्ले
मुक्ति नहीं मिलती। अपने तीव्र पुरुषार्थ और ब्रह्मज्ञ गुरु का उपदेश-
वस्तुओं के द्वारा ही मन की चिकित्सा हुआ करती है। इतना क
महात्मा गाना गाने लगे,—

मन तोर भाब्ना कि ताइ बल, ओ तोर भाब्ना कि ताइ बल!
( तुइ ) भेबे भेबे हलि सारा, गैलो बहु जन्म बिफल॥
धन-सम्पद स्वजनगणे, भाबूचो तुमि मने मने।
शत्रु - मित्र कखन केउ हय, तार भ्रान्ति ए सकल॥
( एइ ) जगत् देखे भय भाब्ना, दिन-रात तोर जम-जातना।
तुइ विचार-हीन ताइते रे तोर, एम्नि होलो फल॥
ए जगते दुःख जतो, सकलइ तोर निज कृतो।
तुइ विचारे ना ताड़ाले, ( दुःख ) के ताड़ावे बल॥
दड़ि सर्प देखाय भ्रमे, बूझे जगत् सेइ रकमे।
ज्ञान-चोखे देख जगत् कोथाय? आत्मामय सकल॥

इसका आशय इस प्रकार है—

मन तुझे चिंता क्या है बोल, मन तुझे चिंता क्या है बोल!
तू सोचते-सोचते रह गया, अनेक जन्म हुए विफल॥
धन-सम्पद् स्वजनों की चिंता, तुम सदा करते हो।
शत्रु मित्र कभी कोई होता, यह तेरी भ्रांति है॥
यह जगत् देखकर भयभावना, दिन-रात तेरी यमयातना।
तू विचारहीन है, इसीसे तुझे ऐसा मिला फल॥
इस संसार में जितने दुःख हैं सभी तेरे निजकृत हैं।
तू विचार से न भगाये तो बता कौन उसे भगायेगा?
भ्रम से रस्सी में साँप जैसा, ब्रह्म में भी जगत् वैसा।
ज्ञान नेत्र से देख जगत् कहाँ, सभी आत्मामय हैं॥

भक्त—प्रभु! सत्य किसे कहते हैं?

महात्मा—पूर्वोक्त मिथ्या के सम्पूर्ण विपरीत वस्तु ही सत्य है अर्थात् जो सृष्टि के पहले, वर्तमान समय में और प्रलय के अनन्तर इन तीनों कालों में एक ही स्वरूप में विद्यमान हैं केवल वही सत्य अर्थात् सत् है। अतः स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि तुम्हारे दृश्य और विश्व के सारे व्यक्ति और समस्त पदार्थ सृष्टि के पहले और ध्वंस के अनन्तर नहीं रहते। इसी कारण वे असत् या मिथ्या है। बेटा ! मन के ग्राह्य वस्तु मात्र का ही नाम जगत है। इस कारण स्थूल दृष्टि या इस दृश्यमान संसार से अतीत वस्तु ही मनातीत है। और यह मनातीत वस्तु ही सत् या सत्य है। यह सत्य ही परम धर्म, सत्य ही परम तपस्या, सत्य ही परम पुण्य, सत्य ही परम बन्धु, सत्य ही प्रत्यक्ष ब्रह्म तथा संसार के मूल सार तत्त्व हैं। सत्य-पथ, सत्य-धर्म तथा सत्य-निष्ठा में अवस्थित रहने से मनुष्य को कभी संसार की भूलभुलैया में भटकना नहीं पड़ता और आत्मानन्द लाभ में भी वञ्चित नहीं होना पड़ता।

---

# मन को पकड़ने का कौशल

भक्त—प्रभु ! जो दुर्दमनीय मन संसार को सत्य के समान प्रतीत करा कर अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक मुझे नरक-यातना का भोग करा रहा है, मेरा वह मन तो इस शरीर के भीतर ही है, तो भी उसे मैं पकड़ क्यों नहीं सकता ? मैं कैसे मन को पकड़ सकूँगा ?

महात्मा—बेटा ! सपेरों के साथ रह कर साँप पकड़ने का कौशल देख-सुन कर साँप-पकड़ना सीखना पड़ता है। केवल पुस्तक में लिखित नियम पढ़कर ही साँप की माँद में हाथ घुसा करके साँप की दुम पकड़ कर उसे बाहर खींच निकालने का साहस किसी को कभी नहीं होता। उसी प्रकार मन रूपी साँप को पकड़ने के लिए केवल शास्त्र-ग्रन्थादि के अध्ययन द्वारा

वह कभी नहीं हो सकता। जो लोग इस मन-सर्प को पकड़ सके हैं, वे ही इस मन के पकड़ने का कौशल जानते हैं। अतः उनका संग ... मन-सर्प किस माँद में किस प्रकार छिपा है और किस कौशल से पकड़ कर बाहर निकालना पड़ता है, उसे अच्छी तरह जान कर ... के साथ मन को पकड़ना होता है। हर एक मनुष्य को ही अपने मन पर ... रखकर मनस्तत्त्व की खोज करने की शक्ति तथा अधिकार है। इस मनस्... का नाम ही 'ईश्वर-तत्त्व' है। मनस्तत्त्व की उपलब्धि कर सकने ... मनुष्य में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि, वह अपने भीतर से ही ... के सारे प्रश्नों का उत्तर पा सकता है। तुम मनस्तत्त्व यानी अन्तर्... का ज्ञान प्राप्त कर सकने से देखोगे कि, बाहरी संसार के सभी विषयों ... ज्ञान बहुत सहज में ही तुम्हें प्राप्त हो गया है, क्योंकि बाहरी प्रकृति ... समय अपने आप वशीभूत हो जाती है। बेटा! बहुत प्राचीन समय से ... देशों के लोगों ने ही इस अन्तर्जगत् यानी मनोराज्य को जानने तथा ... जीतने की चेष्टा की थी। परन्तु उसमें केवल भारतवासी ही इस विष... सफलकाम हुए थे।

भक्त—हे दयामय! मुझे पूरा विश्वास है कि, आप का संग कर ... मन को पकड़ सकूँगा। इसलिए आप ही कृपा करके मुझे मन को पकड़ने ... कौशल बता दीजिए।

महात्मा—हे सत्यकाम! 'मन को पकड़ूँगा' ऐसा ध्यान रखकर ... आहार, विहार और हर समय तुम अपने मन पर ख्याल रखोगे और ... समय ही "मेरे शरीर से मन अलग है" इस प्रकार ध्यान रखोगे, तो तुम्... मन सहज में ही पकड़ा जायगा। सत्संग में रह कर तत्त्व श्रवण करते ... तुम्हारे मन में विवेक विचार करने की शक्ति उत्पन्न होगी। उस विवे... शक्ति से ही तुम अपने मन के दोष थोड़ा-थोड़ा करके जान सकोगे ... इस प्रकार से क्रमशः जितना ही तुम विचार करके अपने मन ... दृष्टि देकर उसका दोष देखते रहोगे, उतना ही तुम्हारा मन भी तुम्... सामने संकुचित होता जायगा। उस समय वह फिर पहले की

तुम्हारे ऊपर अत्याचार-अविचार करके प्रभुत्व स्थापन नहीं कर सकेगा। तुम अपने मन के किये हुए कामों के न्याय-अन्याय का विचार नहीं करते यानी मन का कोई दोष ही नहीं देखते। इसलिए तुम्हारा मन भी अनेक जन्मों से ही तुम्हारे ऊपर प्रभुत्व स्थापित करता आया है। अतः जबतक तुम उस प्रकार विचार-शक्ति-सम्पन्न न होगे तबतक तुम्हारा सुचतुर धूर्त मन भी तुम्हें नाना प्रकार के दुःख-कष्टों में डुबो रखेगा, यह स्वतः-सिद्ध बात है।

बेटा! पहले मन, उसके अनन्तर बन्धन-मोक्ष का ज्ञान, उसके पश्चात् इस दृश्य प्रपञ्च के निर्माण की कल्पना हुई है। मन का ही संकल्प-विकल्प रूप यह संसार है। अर्थात् मन स्वयं ही अपने आश्रय से संसार रूप में प्रकाशित यानी भासमान हो रहा है। जिस प्रकार जल स्वयं ही अपने आश्रय से लहर और भँवर बन जाता है, वैसे ही यह मन भी संसार बन जाता है। देश, क्रिया, वस्तु, दिन और रात आदि युक्त त्रिजगत मनोब्रह्म में ही प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार से जो मन को नहीं जानता, मन उसी के सामने यह दुःखदायी दृश्यमान विश्व फैलाता है।

मान लो, किसी वेश्या की योनि में कोढ़ हो गया है। जो पुरुष उस संक्रामक रोग की बात नहीं जानता, वह वेश्या केवल उसी पुरुष को अपने हाव-भाव-विलास से मोहित कर रोगग्रस्त करते हुए दुःख-समुद्र में डाल सकती है। परन्तु जो पुरुष उस वेश्या के उस दुरारोग्य रोग की बात जान गया है, उसे वह वेश्या अपनी मोहिनी माया से कभी मोहित नहीं कर सकती। बल्कि उस पुरुष को मोहित करने की चेष्टा न करके वह खुद ही दोषी होकर उस पुरुष के सामने लज्जित और संकुचित हो जाती है। ठीक उसी प्रकार इस मन की जादूगरी, छल, कपट, माया आदि जो पुरुष जान गये हैं मन या मायाशक्ति उन पर अपना कुछ भी भ्रान्तिमूलक प्रभाव नहीं फैला सकती। क्योंकि वह विचारशील व्यक्ति उस समय आत्म-स्वरूपावस्था प्राप्त होकर मन के मिथ्या माया-जाल-विस्तार तथा अनेक रूप धारण की चातुरी प्रत्यक्ष देखते हैं और उसके अन्याय अत्याचार के हाथ से मुक्त हो जाते हैं।

फारस के एक मुसलमान ने अपनी पत्नी के दुर्दमनीय प्रभाव, अत्याचार व्यभिचार और घमण्ड से परेशान होकर उसे तलाक दिया था। तलाक देने के

बाद उस स्त्री का कोई प्रभाव अपने पति पर नहीं रह गया। इस कारण पहले की तरह अपने पति पर कोई अन्याय-अत्याचार नहीं कर सकी और भी उस स्त्री के तरह-तरह के अत्याचारों से मुक्त हो गये, ठीक उसी प्रकार वि शील पुरुष जभी अज्ञान-कल्पित मन रूप पत्नी को छल-कपट-पूर्ण, अत्या और अशान्तिदायिनी करके जान सकेंगे तभी वह उस मायावी मन के प्रभाव मुक्त हो सकेंगे। जो आदमी मन रूप अपनी प्रकृति का स्वरूप नहीं जा उसी के लिए मन-प्रकृति तरह-तरह के दुःख पैदा करती है और जो पुरुष मन-प्रकृति का स्वरूप जान गये हैं उनके लिए प्रकृति उन सब बातों को नहीं कर सकती। अतः प्रकृति के स्वरूप का परिज्ञान ही अज्ञान-विलास सुख-दुःखादि की निवृत्ति का एकमात्र कारण है। जैसे कोई नर्तकी रंगशा आये हुए दर्शकों को अपना नृत्य-कौशल दिखाकर मुग्ध करती है, उसके दर्शकों के नाच देखने की इच्छा पूरी होने पर नर्तकी नाच से निवृत्त हो है, ठीक वैसे ही मन-प्रकृति पुरुषार्थ-साधन में प्रवृत्त होती है और पुरुषार्थ होने से ही वह मन-प्रकृति निवृत्त हो जाती है। इस बात को सांख्यदर्शन में प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत्।

अर्थात्—"जब पुरुष के सामने प्रकृति का स्वरूप प्रकट होता है तब पुरुष उस प्रकृति के परिणामित्व, दुःखात्मकत्व आदि दोष देख सकते हैं। प्रकृति लज्जित हो जाती है। जैसे कुलवधू भ्रष्टा प्रमाणित होने पर व लज्जित होकर फिर पति के पास नहीं जाती और न उनको मोहित करने लिए विलास-व्यसन ही करती है वैसे ही मन-प्रकृति भी अपना परिणामि दुःखात्मकत्व आदि स्वरूप प्रकट होने पर लज्जा से पुरुष को पहले की मोहित करने की चेष्टा नहीं करती, यानी पुनः अपना प्रभुत्व विस्तार नहीं करती।

अतः बेटा! विचारशील पुरुष के समाने मन-प्रकृति किसी प्रकार का विस्तार नहीं करती। परन्तु तुमने उस मन-प्रकृति के द्वारा विमोहित होकर को ही अपना स्वरूप समझ लिया है—यही तुम्हारा भ्रम है। मन ने माया-जाल फैला कर तुम्हें इस ढंग से वशीभूत कर लिया है कि, वह तुम्हें चीज को अच्छा कह कर समझा देता है तुम उसीको अच्छा समझते हो और

बुरा बता देता है तुम उसे बुरा ही समझने लगते हो। 'मन शरीर से जो कुछ कराता है वह सब मैं ही करता हूँ, यानी यह स्थूल शरीर ही मैं हूँ'—तुम्हारे मन ने तुम्हें इसी प्रकार से समझाते-समझाते तुम्हारा अपना ब्रह्मरूप या आत्म-स्वरूप बिलकुल भुला दिया है। यहाँ तक कि तुम्हारा निज आत्मस्वरूप समझने के लिए पुरुषकार के साथ विचार-शक्ति की आवश्यकता है उसका भी ज्ञान तुम में अब नहीं रह गया है। अतः अपने मन के विकार-जनित दोषों को हर समय विचार-पूर्वक जितना ही देखते रहोगे अर्थात् शोक-ताप, सुख-दुख, काम-क्रोधादि सभी मन-रूप नदी से तरंग-रूप में प्रकट हो रहे हैं और यह सभी मन के ही हानि कारक हैं—ऐसा भाव जितना ही तुम्हारे भीतर बढ़ेगा उतना ही तुम्हारी मन-प्रकृति शान्त हो जायगी, और तभी तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी। वेदान्त का भी कहना है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

ब्रह्मबिन्दूपनिषद्।

अर्थात्—"मन ही मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण है। निरन्तर विषय की चिन्ता करने से मनुष्य का मन जिस प्रकार विषय में आसक्त होकर बन्धन ( जन्म-मृत्यु या सुखःदुख ) का कारण होता है, उसी प्रकार विषय का दोष देखते-देखते मनुष्य का चित्त विषय छोड़कर मुक्ति ( जन्म-मृत्यु या सुख-दुख की निवृत्ति ) का कारण बन जाता है।" इसीलिए विषय और वासना से रहित अन्तःकरण ही मुक्त हो जाता है। अतः जिससे मन सदा विषय-वासना से मुँह मोड़ ले, तुम्हारे जैसे मुमुक्षु व्यक्ति को काय-मन-वाणी से वही करना चाहिये। मन जिस समय विषय-वासना छोड़ कर हृदय-कमल में स्थित अपने आत्मा के ध्यान में लवलीन होता है उसी समय वह सब प्रकार के संकल्पों से रहित हो जाता है। उस संकल्प-रहित अवस्था में मन अपने मूल आधार कूटस्थ चैतन्य में निरुद्ध हो जाता है, इसलिए वह मुक्ति रूप परम शान्ति लाभ करने में समर्थ होता है।

भक्त—भगवन्! आप मन की वृत्तियों का निरोध करके जिस आत्मज्ञान की बात कह रहे हैं, मेरे लिए वह एकदम असम्भव-सा मालूम हो रहा है।

क्या इस प्रकार मनोवृत्तियों का नाश करने का मनुष्यों में सामर्थ्य है? समुद्र सोख लेना भी सहज हो सकता है पर मन का नाश एकदम असाध्य-सा पड़ता है।

महात्मा—बेटा! हर आदमी को ही अपने मन की वृत्ति के नाश की शक्ति है और अधिकार भी है। जो लोग चित्त (मन) वस्तु का स्वरूप हैं उन्हें ज्ञात है कि, चित्त अहंकार मात्र है। जीव के मन में जो अहं उत्पन्न होता है, उसीका नाम चित्त है। इस चित्त (अहं-भाव) का त्याग किये सर्व-वासना-त्याग सम्भव नहीं है। जो लोग सब पदार्थों का तत्त्व (मिथ्या) जानते हैं उन्होंने चित्त त्याग को ही "सर्वत्याग" कहकर निर्धारित किया है।

बेटा! कुसुमदल-मर्दन और नयन निमीलन से भी अहंकार का त्याग सहज है। मेरा तो स्थिर विश्वास यह है कि, इस अहंकार के त्यागने में भो क्लेश नहीं है। क्योंकि रस्सी में सर्प का, सूखे वृक्ष में मनुष्य का या चाँदी का भ्रम जिस प्रकार मिथ्या है शुद्ध आत्मा में 'अहंकार' भी वैसा भ्रम-मात्र है। 'अहंकार' नाम से कोई वस्तु नहीं है—यह एक मिथ्या मात्र है। अतः इसके त्यागने में कुछ भी क्लेश नहीं होना चाहिये। जो स्तव या मिथ्या है, जो किसी काल में भी नहीं है, उसके त्यागने में परिश्रम? जिस प्रकार घोड़े का अंडा नहीं है, बाँझ का लड़का नहीं है, में साँप नहीं है, मरुस्थल में जल नहीं है, दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु नहीं या आकाश में वृक्ष नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म या आत्मा में अहंकार या विलास रूप संसार नहीं है।

बेटा! शीत ऋतु में जो लोग शीत का नाश करना चाहते हैं वे सूर्य की प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार जो लोग मन का विलय चाहते हैं उन्हें विचार का उदय करना चाहिए। केवल संकल्प के द्वारा भी मन का सम्भव हो सकता है। अतः उसके लिए तपस्या, व्रत, नियम, माला-जप क्लेशकर कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। केवल वासना का त्याग करने ही मन की क्रिया बन्द हो जाती है। चित्त रूप महाव्याधि की चिकित्सा के अपना पुरुषार्थ ही स्वादिष्ट महौषधि है। पुरुषकार के बिना संसार में कोई कार्य पूर्णतया संसिद्ध नहीं होता। बाहरी वस्तुओं का परित्याग करके आत्म

रूप पुरुषकार के द्वारा चित्त-भूत को वशीभूत किया जा सकता है। जिस प्रकार बच्चों को तरह-तरह के खेलों में संलग्न किया जा सकता है, उसी प्रकार चित्त को भी थोड़े प्रयत्न से आत्मतत्त्व में संयोजित किया जा सकता है। मन को पुरुषकार के द्वारा भविष्यत् कल्याण लाभ के हेतुभूत शुभ कर्म (आत्मानुसंधान और समाधि के अभ्यास) में नियुक्त करना चाहिये। पौरुष प्रयत्न को उद्दीपित करने से ही चित्त रूप शिशु को शीघ्र जीत लिया जा सकता है और उसके बाद चित्त अचित्त होकर ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है। हर एक मनुष्य का चित्त अपना है, इसलिए उसे वशीभूत करना कोई कठिन बात नहीं है, केवल स्वभाव का परिवर्तन करने में क्लेश क्या है? जो लोग अपने चित्त को वशीभूत नहीं कर सकते, विषय-वासना के त्याग या स्वाधीन वैराग्य के आश्रय को दुःसाध्य समझते हैं, वे पुरुष-कीट हैं, उन्हें तथा उनकी मनुष्यता को सैकड़ों धिक्कार है! अपनी कामना की वस्तु का स्वयं ही त्याग करना पड़ता है और वह त्याग अपनी ही चेष्टा से होता है। इसलिए तुम पुरुषकार के द्वारा थोड़ा-थोड़ा करके मनको संयत करो। यदि मन संयत नहीं हुआ तो गुरु का उपदेश, शास्त्र का ज्ञान और मन्त्र-जप आदि सभी निरर्थक हैं। बुद्धिमान मनुष्य जिस प्रकार अपने शिशु पुत्र को उदार भाव की शिक्षा देते हैं उसी प्रकार तुम भी अपने मन को आत्मतत्त्व की चिन्ता में लगा दो।

हे महामते! जिस प्रकार सूर्यालोक स्वयं-प्रकाशशील और अस्तित्ववान् वस्तु है तथा अन्धकार प्रकाशहीन और अस्तित्व-रहित अवस्तु है, अर्थात् अन्धकार अभाव रूप है, आलोक की तरह उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। आलोक को देखने के लिए दूसरे आलोक की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। परन्तु अन्धकार को देखने के लिए आँख आलोक की सहायता चाहती है। ईथर की प्रकाश-तरंगों से ही अन्धकार दिखाई पड़ता है, ईथर न होता तो अन्धकार दिखाई नहीं पड़ता। यह अन्धकार भी आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति युक्त है, यानी अन्धकार दूर पर रहकर आलोक को आवृत करता है, परन्तु वह आलोक के पास नहीं आ सकता या आलोक को नष्ट भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार विशाल विश्वव्यापी अन्धकार बहुत ही क्षुद्र एक आलोक-विन्दु के पास नहीं आ सकता या उस आलोक को नष्ट भी नहीं कर

सकता, परन्तु यह विश्वव्यापी अन्धकार दूर पर रह कर ज्योतिष्मान सूर्य आदि को भी आवृत कर महाकाश में व्याप्त हो रहा है। अन्धकार खुद अस्तित्व है, पर अस्तित्ववान की तरह प्रतीत हो रहा है। इस कारण उसमें में अस्तित्व-प्रदर्शन रूप मिथ्या विषय पैदा करने की शक्ति है यानी माया तरह अघटन संघटित करने की शक्ति है। जैसे अन्धकार में स्थानु (सूखा) देख कर भ्रम से भूत समझकर किसी-किसी की मृत्यु तक हो जाती है, बहुत छोटा एक प्रकाश भी जिसके हाथ में रहता है उसको भूत-दर्शन, का भय या उस कारण मृत्यु भी नहीं होती। फिर आलोक हाथ में पथिक के सामने से अन्धकार कुछ दूर हट जाता है, परन्तु उससे सारे का अन्धकार अदृश्य नहीं होता। वह अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा, वह आलोक के सामने नाश प्राप्त हो जायगा। वैसे ही माया या मन अन्धकार आत्मा या ब्रह्म की तरह अनन्त काल तक विद्यमान रहता है और विचार रूप आलोक के द्वारा नाश प्राप्त भी हो जाता है। अतः इस मनो रूप कार्य को तुम कठिन कह सकते हो, पर वह एकदम असाध्य नहीं है। नाश यानी मन की वृत्तियों के ज्ञान के द्वारा संयत हुए बिना किसी भी उपाय से विष्णु या आत्मा का परम स्थान प्राप्त नहीं होता। इसलिए तुम डरो मत, उठो, जागो और तत्त्वज्ञ ज्ञानी के पास जाकर आत्मज्ञान करो। उस समय तुम विचार और ज्ञान से मनोनाश करने में समर्थ वेदान्त कहते हैं—

तैश्चेन्द्रियैरसंयतैः संसारमधिगच्छति।
संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदम्॥

अर्थात्—"वे सब इन्द्रियाँ यदि असंयत रहे तो जीव संसार (सुख-दुःख शोक-मोह) में निपतित होता है और संयत होने से संसार के आवागमन से परे विष्णु या आत्मा का परम स्थान प्राप्त होता है।"

भक्त—प्रभु! अब तक आपकी बात सुन कर मेरे मन में बार-बार प्रश्न उठ रहा है। उसका उत्तर न पाने से मैं किसी तरह आपकी बात नहीं सकता। प्रश्न यह है कि,—आप जो मुझसे अपने मन को पकड़ने उसका दोष देखने के लिए बार-बार कह रहे हैं वहाँ मन को कौन पकड़े

और उसका दोष ही कौन देखेगा ? मैं तो मन के सिवाय और किसी वस्तु को अपने भीतर नहीं पा रहा हूँ।

महात्मा—बेटा ! तुमने उत्तम प्रश्न किया है। अब मैं समझ गया कि, तुमने ध्यान से मेरी बातें सुनी हैं। मैं भी अच्छी तरह से सारे विषय समझा कर कहूँगा। बेटा ! अपने मन से ही तुम्हें अपने मन को पकड़ना होगा, वही मन तुम्हारे मन का दोष निकालेगा। अब इस मन के बारे में ही और भी बहुत कुछ कहने को है।

भक्त—प्रभु ! मन से किस प्रकार मन को पकड़ना होगा ? यह तो बहुत ही आश्चर्य की बात है !

महात्मा—बेटा ! मैंने तो बहुत पहले ही तुम्हें बताया है कि, मन की सभी बातें अनोखी हैं। मन का एक भी काम साधारण नहीं है। इसके बाद उसकी और भी अनेक आश्चर्य-कारक बातें दिखाई पड़ेंगी। हे महामते ! बाहरी दुनिया को देखने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म अनेक प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार हुआ है और अब भी होता जा रहा है, परन्तु अन्तर्जगत यानी मनोराज्य को देखने के लिए कोई यन्त्र नहीं है। एकमात्र मन ही इस मनोराज्य के देखने का यन्त्र है। ब्रह्मज्ञ गुरु ही ब्रह्मविद्या की सहायता से पहले मनुष्य को उसके अन्तर्जगत (मनोराज्य) के देखने का उपाय बतला देते हैं। उसके बाद मनुष्य के मन की एकाग्रता-शक्ति उस अन्तर्जगत में प्रविष्ट हो जाती है और तब वह मन के अंग-प्रत्यंगों का विश्लेषण करके समूचे अन्तःकरण को आलोकित कर देती है। अतः जिस प्रकार लोहे के तेज धार वाले शस्त्र से ही लोहा काटा जाता है, उसी प्रकार गुरु-वाक्य श्रवण और सत् शास्त्रों का अध्ययन कर मन को सूक्ष्म बना लिया जाता है। तब उस मन के द्वारा ही मनो-वासनाओं का त्याग करना सहज हो जाता है। अर्थात् अज्ञान अवस्था में स्थित मन विचार-शक्ति प्राप्त कर अपना दोष देखते हुए स्वयं ही अपने को संशोधित कर लेगा। क्योंकि मन के निग्रह करने में एकमात्र मन ही समर्थ है, कोई दूसरा नहीं। अतः सविद्या मन द्वारा अविद्या रूप मन का निग्रह करना होगा। इसी का नाम 'मन से मन को पकड़ना' है। यानी सांसारिक विषय-चिन्ता में निमग्न मन का यदि तुम शास्त्रीय उपाय द्वारा बलपूर्वक उद्धार न करो तो उसके उद्धार

का और कोई उपाय नहीं है। मन के द्वारा ही मन-रूपी बन्धन-रज्जु खो[illegible] कर अपने को मुक्त करना होगा। इस विषय में ब्रह्मविन्दूपनिषद में लिखा है,

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥

अर्थात्—"मन द्विविध है, एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। कामना-[illegible] युक्त मलिन मन को 'अशुद्ध' और कामना-रहित निर्मल मन को 'शुद्ध' [illegible] हैं।" महर्षि वसिष्ठ मुनि ने भी श्रीरामचन्द्र को उपदेश दिया था—

मन एव समर्थः स्यात् मनसो दृढ़निग्रहे।
अराजा कः समर्थः स्यात् राज्ञः राघव निग्रहे॥ (योगवा[illegible]

अर्थात्—"हे राघव! जो स्वयं राजा नहीं है वह दूसरे राजा को [illegible] करने में समर्थ नहीं होता यानी राजा ही दूसरे राजा को दमन कर वशीभूत [illegible] सकते हैं, उसी प्रकार मन ही मन को दृढ़ रूप से निग्रह करने में समर्थ [illegible] दूसरा कोई नहीं।"

भक्त—दयामय! आपने पहले एक बार कहा था—'मनुष्य के हाथ[illegible] आदि अंग-प्रत्यंग छोड़ देने पर 'देह' नाम से कोई वस्तु नहीं रह जाती, [illegible] प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्तियों को छोड़ देने पर भी 'मन' [illegible] से कुछ रह नहीं जाता।' परन्तु प्रभु! अनेक सद्ग्रन्थों में ऐसे उपदेश दि[illegible] पड़ते हैं कि—'काम-क्रोधादि छः रिपु मनुष्य के परम शत्रु हैं, इस [illegible] उनका समूल नाश कर डालना होगा, क्योंकि इन रिपुओं के कारण ही [illegible] में राग-द्वेष होकर मनुष्य शोक-दुःख मे मग्न हो जाता है।' अतः इन छः रिपु[illegible] का समूल उच्छेद करने पर मन कैसे रहेगा?

महात्मा—वेटा! तुमने उस संक्षिप्त वर्णन का अर्थ नहीं समझा है। [illegible] छः रिपुओं के बाहरी जगत में विचरण करने से ही वे दुःखदायी होते हैं। दू[illegible] ओर यदि वे अन्तर्जगत में विचरण करें तो मनुष्य को विषय-बन्धन से मु[illegible] होकर परम शान्ति प्राप्त होती है। वे षड्रिपु सदा वहिर्मुखी होकर बाहरी विष[illegible] में ही लिप्त रहते हैं। अतः उन्हें बाहरी ओर से घुमाकर भीतर की ओर मो[illegible] देना होगा। अन्तर्मुखी होकर ये रिपु जब साधक के मनोराज्य में विचरण क[illegible] हैं तब साधारण मनुष्य बाहर से उन रिपुओं की कुछ भी बाहरी क्रिया न देख[illegible]

कहते हैं—'फलाने आदमी की मनोवृत्तियों या रिपुओं का नाश हो गया है।' अतः तुम्हें समझना चाहिए, ये छः रिपु अन्तर्जगत में हम लोगों के परम मित्र हैं और अन्तर्जगत में इन छः रिपुओं का प्रभाव जितना हो बढ़ जायगा साधक साधन-मार्ग में उतना ही शीघ्र अग्रसर हो सकेगा। इस विषय में श्रुतिने भी कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन्॥
(कठोपनिषद्)

अर्थात्—"जीव की इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर स्वयम्भू ब्रह्मा इनकी हिंसा यानी हानि की है; इस लिए ये बाहरी विषयों को ही देख सकती हैं, अन्तरात्मा को नहीं। परन्तु अनेक मनुष्यों में कदाचित् कोई विवेकी पुरुष मुक्ति की इच्छा से इन्द्रियों को बाहरी विषयों से लौटा कर अन्तरात्मा को देखते हैं।"

हे साधो! विवेकी व्यक्तियों का मन उनके इच्छानुसार काम करता है इसलिए वह भृत्य है, सत्कार्य साधन करता है इसलिए वह मंत्री है, इन्द्रिय-रूप शत्रुओं के आक्रमण से बचता है इसलिए वह सामन्त (सेनापति) है, लालन (मनोविनोद) करता है इसलिए वह ललना (पत्नी) है, पालन-पोषण करता है इस लिए वह पिता है और उत्तम विश्वास-पात्र की तरह काम करता है इसलिए वह मित्र है। मन का हर एक रिपु ही सत्त्व, रजः और तमः इन तीन भावों से मनुष्य के इच्छानुसार काम करता है।

भक्त—प्रभु! काम-क्रोधादि रिपु किस प्रकार से सत्त्व गुण का काम कर सकते हैं—यह तो मेरी बुद्धि में किसी तरह भी नहीं आता।

महात्मा—हे महामते! सूक्ष्म रूप से विचार करने पर तुम जान सकोगे कि, काम यानी कामना मुक्ति के लिए हो तो वह सत्त्वगुण की, भोग्य वस्तुओं के भेद की कामना रजोगुण की और विषय-भोग की कामना तमोगुण की है। ठीक इसी प्रकार क्रोध योगी महात्मा के अपने चंचल मन के ऊपर हो तो वह सत्त्वगुण का, किसी दुर्बल पर प्रबल का अन्याय अत्याचार देखकर उस अत्याचारी पर सत्पुरुष के मन में होने वाला क्रोध रजोगुण का और अपने विषय-भोग में बाधा देने वाले पर विषयी व्यक्ति का जो क्रोध होता है वह तमोगुण का है।

वैराग्य के विषय में समझना चाहिये, विषय-भोग में वैराग्य सत्त्वगुण का, भजन में वैराग्य रजोगुण का और उन सत्त्व तथा रजोगुणों के कार्यों में निकृष्ट तमोगुण का है। इसी प्रकार बहिर्मुखी मनोवृत्तियाँ रजोगुण और तमो के कार्यों से मनुष्य को शोक-दुःख में निमग्न कर देती हैं और अन्तर्मुखी पर वे ही वृत्तियाँ सत्त्वगुण की क्रियाओं से साधक को परम शान्ति प्रदान करती हैं। यह मन-प्रकृति सदा बहिर्मुखी रहती है इसलिए आत्मदर्शन के पथ में तुम्हारा मन ही विघ्नकारी है। तुम्हारा मन यदि तुम्हारे साथ कुछ भी विरुद्ध व्यवहार न करे तो संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो तुम्हारी कुछ भी हानि कर सके। अतः अच्छी तरह जान लो कि, तुम्हारा मन ही तुम्हारा बड़ा शत्रु है। उस मन के छल, कपट, धोखा, धूर्तता आदि से तुम्हारे आत्मदर्शन का पथ रुका हुआ है। इसीलिए उस परम शत्रु को पुरुषकार से पराजित कर लेने में समर्थ न हो सकने से तुम किसी तरह इस परम पावन पथ पर अग्रसर नहीं हो सकोगे।

भक्त—प्रभु! आपकी बातों में तो मैं कुछ भी सामंजस्य नहीं देख रहा हूँ, क्योंकि पहले आपने कहा है,—'अपने मन को छोड़कर तुम्हें कहाँ, किस पथ से जाना होगा, तुम्हारा मन ही वह पथ बता देगा।' परन्तु अब उसके ठीक विपरीत भाव से मुझे विशेष रूपसे बता रहे हैं,—'उस पथ में तुम्हारा मन ही तुम्हारा परम शत्रु होकर रास्ता रोककर खड़ा है।' अतः जो मेरा पथ-प्रदर्शक है वह फिर कैसे मेरा परम शत्रु बनकर मेरे साधन-मार्ग में बाधक हो सकता है?

महात्मा—हे सुव्रत! मेरी बात किसी अंश में भी मिथ्या नहीं है। तुम्हारा मन ही तुम्हारा परम शत्रु है। जब तुम अपने इस शत्रु-रूप मन को विचार शक्ति से अपने वश में कर सकोगे तब तुम्हारा यह मन ही पुनः परम मित्र बन जायगा। मन ने ही तुम्हें मायाजाल में फँसा कर ममत्व की साँकल से संसार में बद्ध कर रखा है। यही मन विवेक-वैराग्य के प्रभाव से विचार रूप शस्त्र के द्वारा तुम्हारी वह ममता-रूपी साँकल को काटकर तुम्हें बन्धन से मुक्त करेगा तथा तुम्हें अपना परमात्म-स्वरूप दिखा कर परम शान्ति प्रदान करेगा। अर्थात् तुम जिस शान्ति प्राप्त करने के लिए परमात्मा का दर्शन करने के उद्देश्य से खोजते फिरते हो, वही परमात्मा तुम हो उसे तुम्हारा मन ही तुम्हें बताकर अपरोक्ष (अनुभव) करा देगा। मन ही मनुष्य का परम शत्रु है; संकल्प ही उसकी सम्पत्ति

उस सम्पत्ति का त्याग करने से ही उसे जीता जा सकता है और उसे जीत सकने से ही शान्ति की प्राप्ति होती है। मन बहुत ही चंचल है। किसी भी पुरुष में स्थिर मन दिखाई नहीं पड़ता। यह संसार भीषण समुद्र के समान है, विषय-तृष्णा ही उसमें मगर है और बार-बार संसार में आवागमन उसमें भँवर है। और यह भी सत्य है कि उस समुद्र के पार करने के लिए मन ही एकमात्र कर्णधार है। इसी को भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्टाक्षरों से बताया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

अर्थात्—"विचार-शक्ति-युक्त होकर जीवात्मा (मन) अपने ही द्वारा अपने को मुक्त करे, कभी अपने को छोटा समझ कर खिन्न न करे। यानी विषयासक्ति छोड़ कर मन को स्वयं ही आत्मा में संलग्न हो जाना चाहिये, उसे मायिक मिथ्या संसार में डुबो नहीं देना चाहिये। क्योंकि आत्मा (मन) ही आत्मा (मन) का मित्र (संसार-समुद्र से उद्धार करने का हेतु) है। जो अपने विवेक-विचार से अपने (मन) को वशीभूत कर सके हैं वही अपना मित्र है और जो अनात्मा यानी आत्म-रहित है और जिसका आत्मा (मन) विवेक-विचार से वशीभूत नहीं हुआ है वह स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है यानी अविवेक-जनित असत् बुद्धि के द्वारा वह स्वयं ही अपने विनाश का कारण होता है।" वेदान्त भी कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

ब्रह्मबिन्दूपनिषद।

अर्थात्—'मन ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का एकमात्र कारण है।" अतः तुम्हारा मन ही तुम्हारा बड़ा शत्रु है यह बात सदा स्मरण में रखना चाहिये। क्योंकि, यह संसार-रूप मरुस्थल बहुत ही दुर्गम स्थान है, मन ही इसका मूल कारण है। बेटा! तुम्हारा मन ही कल्पना से अपने को स्थूल देहस्थ समझ रहा है और संसार देख रहा है। स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार अकृत और अनुत्पन्न ग्राम, नगर, बाघ, भालू आदि को प्रत्यक्ष देखता है, मन भी

ठीक उसी प्रकार अपनी ही कल्पना से संसार को प्रत्यक्ष देख रहा है। यह ... मन की मनन ( कल्पना )-शक्ति से ही रचित है। इसका परित्याग कर ... से, तुम शान्तात्मा होकर आप ही अपने में विराजमान रहोगे। जिस प्रकार ... का जल भँवर के रूप में दिखाई पड़ता है उसी प्रकार संसार-कल्पना-शक्ति ... मन संसार रूप से प्रकट हो रहा है। यह दृश्य प्रपञ्च परिदृश्यमान हो ... सही, किन्तु यह सभी मन या मन के विलास के सिवाय और कुछ भी नहीं ... बेटा! ब्रह्मा ही मन है। 'मैं ही कमलासन-समारूढ़ परम तेजस्वी ब्रह्मा हूँ, मैं ... चित्त से संसार की सृष्टि और संहार किया करता हूँ'—तुम्हारे अन्तःकरण ... ऐसा ज्ञान बद्धमूल हो जाय। मन ही विश्व का कर्ता तथा मन ही परम पु... है। पाप-पुण्य, धर्माधर्म जो कुछ किया जाता है सभी मन के द्वारा, शरीर ... द्वारा नहीं। मन के द्वारा देह-भाव की चिन्ता करने से देह ही मिलती है ... देह की चिन्ता न करने से देह-धर्म ( जन्म-मृत्यु आदि ) से मुक्ति की प्राप्ति ... है। जो लोग बाह्य-दर्शी हैं वे निरन्तर सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, ... जिन्होंने बाहरी दृष्टि को समेट लिया है और मन को अन्तर्मुखी करके आ... में लवलीन कर दिया है वे देह के सुख-दुःख का अनुभव नहीं करते। इसलि... बेटा! मन ही इस भ्रमपूर्ण संसार का निदान है। लोग कहते हैं—"मैं आ... हूँ, मैं जाता हूँ"—यहाँ 'मैं' कौन है? मैं मन मात्र है। मन ही संसार-... का अंकुर है। इस मनोमय अंकुर से फल-पुष्प-पल्लवादि-युक्त देह-तरु का निर्... हुआ है। यह मन की काल्पनिक प्रतिच्छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं ... सैकड़ों अस्त्र-शस्त्रों के आघात से इस वीर रूप मन को कोई अल्पमात्र विद्ध ... नहीं कर सकता यानी संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जिससे मन को द... किया जा सके। एकमात्र मन की विचार-शक्ति से ही मन का दमन ... सकता है।

बेटा! लड़के-बच्चे ही भूत के डर से घबराते हैं, बहुत से तो डर कर मर ... जाते हैं। परन्तु भूत उन लड़कों के ख्याल के सिवाय और कुछ भी नहीं है। लड़के जिस प्रकार अपना ख्याली भूत देख कर मृत्यु के समान दुर्दशा प्राप्त करते हैं, वैसे ही तुम लोगों का अज्ञानी मन भी अपने ही कल्पित संसार-प्रपञ्च को देख कर भयभीत होता है तथा आवागमन-रूप 'संसार' नामक शोक-ताप से जर्जरि...

होकर दुर्दशा-ग्रस्त हो जाता है। जैसे लड़के भूत की कल्पना कर डरते हैं और उस कल्पना का त्याग कर सकने से ही निर्भय हो जाते हैं, वैसे ही 'यह मेरा शरीर है'—ऐसी कल्पना करने से ही संसार-भय होता है तथा उस कल्पना का परित्याग कर सकने से ही लोग निर्भय हो जाते हैं। समुद्र में लहरों के समान ही परमात्मा में मन है। चित्त या मन अपने स्वभाव से ही तरंगमाला की तरह विस्तृत होता है। यही मन छोटे को बड़ा और बड़े को छोटा कर देता है, फिर कभी अपने को पराया और पराये को अपना बना लेता है। अंगूठे के समान वस्तु को अपनी कल्पना से वह पर्वत के समान समझता है। अधिक क्या कहूँ—यही मन वर्ष को क्षण और क्षण को वर्ष बना सकता है। देश, काल, क्रिया, क्रम—सभी मन के अधीन हैं। अनेक वस्तुओं से पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक परिदृश्यमान प्रपञ्च उस मन से ही उत्पन्न हुआ है। फिर मन ही सत् को असत् और असत् को सत् बना रहा है। मन जिसमें आसक्त होता है वह स्वाद-रहित वस्तु होने पर भी उसमें अमृत का स्वाद पैदा करता है और मन जिसमें आसक्त नहीं होता वह अमृत होने से भी विष के समान प्रतीत कराता है। अतः मन ही व्यवहार-योग्य वस्तु में अपनी अभिरुचि के अनुसार आकार पैदा करता है और उसी के अनुसार सुख-दुःख भोगता रहता है। जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ रहते हुए भी प्रकाश के बिना केवल अन्धकार में कुछ भी नहीं सूझता, वैसे ही इन्द्रियों के रहते हुए भी मन के बिना किसी भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। इससे प्रमाणित होता है कि, इन्द्रियाँ भी मन में ही कल्पित हैं। इस प्रकार मन जब जो कुछ करता है, सभी अपनी कल्पना से करता है। जिस प्रकार बच्चे गीली मिट्टी से तरह-तरह के खिलौने बनाते हैं, मन भी उसी प्रकार अपनी भावना मात्र से इस विचित्र संसार की रचना कर रहा है। मन ने ही अपने कल्पित पदार्थ-रूप कीचड़ से यह संसार और नर-देहादि-रूप खिलौने बना लिये हैं।

बेटा! इस संसार रूप मरुस्थल में जिसे न करने का निश्चय किया जाता है यानी मन को मना किया जाता है, उसी को मन पहले कर बैठता है। इस विषय में एक गल्प याद आया। एक फकीर थे। वे मन्त्र-शक्ति से बहुत मरणासन्न रोगियों को असाध्य व्याधि के हाथ से मुक्त कर जीवित कर सकते

थे—ऐसा लोगों में प्रचार हो गया था। फकीर की इस अलौकिक मन्त्र के महत्त्व से मुग्ध होकर उनके एक चेले ने एक दिन उनसे कहा—"फकीर साहब! अगर आप मेहरबानी करके मुझे अपना मन्त्र सिखा दें तो आपके न रहने पर मैं उस मन्त्र से अनेक आदमियों को बचा सकूँगा।" उसके उत्तर में फकीर साहब ने कहा—"बेटा! इस मन्त्र के सीखने से क्या होगा, इसका नियम पालन करना बहुत ही मुश्किल है, तुम से वह न हो सकेगा।" चेले ने पूछा—"कैसा कठिन नियम पालन करना होगा?" फकीर साहब ने कहा—"इस मन्त्र का प्रयोग करते समय काली बिल्ली की बात याद आते ही मन्त्रशक्ति नष्ट हो जाती है, इसलिए उस समय कभी भी काली बिल्ली की बात याद नहीं करनी चाहिये।" यह सुन कर चेले ने कहा—"यह तो बहुत ही आसान बात है, इस नियम का मैं आसानी से पालन कर सकूँगा।" तब फकीर साहब ने चेले को वह मन्त्र सिखा दिया। चेले ने भी उस मन्त्र की परीक्षा के लिए रोगियों पर उस मन्त्र का प्रयोग किया। किसी रोगी पर मन्त्र-प्रयोग के कुछ पहले से आरम्भ कर मन्त्र-पाठ समाप्त करने तक चेला मन में यही सोचता रहता था कि—'काली बिल्ली की बात कभी याद नहीं करूँगा।' इस तरह चेले ने बहुत से रोगियों पर मंत्र का प्रयोग कर कुछ भी फल नहीं पाया। इसलिए उसने जाकर फकीर साहब से कहा—"कहाँ, आपके मन्त्र का तो मैं कुछ भी फल नहीं पा रहा हूँ।" फकीर साहब ने पूछा—"क्या तुमने उस समय काली बिल्ली की बात याद की थी?" चेले ने उत्तर दिया—"जी नहीं, काली बिल्ली को याद नहीं की थी, मैं मंत्र-प्रयोग के बहुत पहले से अन्त तक सिर्फ यही सोचता था कि, काली बिल्ली की बात कभी नहीं याद करूँगा।" तब फकीर साहब ने हँसकर कहा—"तुम शायद दिन भर में एक बार भी काली बिल्ली की बात याद नहीं करते, पर मन्त्र-प्रयोग के समय तुम्हें जो मना कर दिया गया था कि, काली बिल्ली की बात याद न करना—तुम्हारे मन ने और भी अधिक आग्रह से उसी काली बिल्ली की बात सोचते हुए 'याद नहीं करूँगा' कि इस बात को याद कर रखा था। यानी तुम्हें जिस काम को न करने के लिए कहा गया था, तुम्हारे मन ने सब से पहले उसी को बड़े ध्यान से पूरा किया। इसलिए तुम कैसे मन्त्र का फल पाओगे?"

देखा! तुम लोगों का मन भी उस चेले के मन के तुल्य है। कभी तुम ध्यान-धारणा करने के लिए आसन में बैठकर सोचने लगे कि, 'अब मैं किसी भी विषय की चिन्ता नहीं करूँगा' पर तुम्हारा मन ठीक उसी समय तुम्हारे जीवन का सारा इतिहास तथा भविष्य जीवन के अनेक अनागत दुःख-सुख कल्पित कहानियाँ लाकर तुम्हारे सामने हाजिर करने लगा। तब ध्यान-धारणा छोड़ कर तुम्हारे मन ने उस विषय की चिन्ता को ही ध्यान-धारणा में परिणत कर लिया। इसलिए मन की शैतानी और मोहिनी शक्ति का समझना बहुत ही कठिन है। इसी कारण आत्मदर्शन करने का मार्ग भी बहुत दुर्गम है। परन्तु दुर्गम होने से डरने का कारण नहीं है। यमराज ने भी नचिकेता से कहा था—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति। (कठोपनिषद)

अर्थात्—"उठो, जागो, श्रेष्ठ ज्ञानी के पास जाकर प्रबुद्ध (ज्ञानी) हो जाओ। इस माया-कानन का पथ अति दुर्गम है, यह छुरे की धार की तरह दुस्तर है, इसलिए यह पथ बहुत कष्ट से तय किया जा सकता है, ज्ञानी लोग ऐसा कहते हैं।"

वेदान्त की इस प्रकार की जगाने वाली मन्त्र-ध्वनि साधारण मनुष्य के कान में नहीं पहुँचती। परन्तु यदि हजारों में एक भी व्यक्ति के कान में यह ध्वनि पहुँची तो उसे परम सौभाग्य की बात समझनी चाहिये और केवल वही व्यक्ति अपने आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर इस संसार-समुद्र से उत्तीर्ण हो जाने के योग्य हो जायगा और जिन लोगों के कान बहरे हैं अर्थात् विषय के आवरण से जिनके कान बिलकुल ढँके हुए हैं उनके कानों में यह ध्वनि कभी भी घुस नहीं सकती। इस कारण वे इस मामूली मन-रूप नदी की अत्युच्च तरंगमालाओं में हर समय घूमते रहने पर भी उस मन के इशारे से वृथा ही चंचल हो कर डींग हाँक रहे हैं। यह मन ही उनका परम शत्रु है और मन की मोहिनी माया से मोहित होकर वे दिन पर दिन अधःपतित हो रहे हैं, विचार-शक्ति के अभाव से वे उसे समझ नहीं सकते। ऐसा जो प्रबल शत्रु मन है

और मन ही मनुष्य के उत्थान-पतन का एकमात्र कारण है, उस शत्रु को किसी तरह 'शत्रु' करके नहीं मान रहे हैं। इस लिये किसी साधक ने गाया है—

बाहिरे जे अच्छे शत्रु, बृथा चिन्ता तार।
रयेछे विषम रिपु, हृदय माझार॥

इसका आशय इस प्रकार है—बाहरी शत्रु नगण्य है, परन्तु मन के शत्रु बहुत प्रबल हैं, क्योंकि बाहरी शत्रु को सभी लोग शत्रु करके समझते हैं, परन्तु मन के रिपुओं को शत्रु समझना साधारण मनुष्य का काम नहीं है।

भक्त—प्रभु! आप की बात सुन कर मैंने बहुत सोच-विचार कर देखा, मेरा मन ही अपना शत्रु है, इसे मैं समझ नहीं सका। यहाँ तक कि मेरे मन पर अविश्वास करने का भी मैं कोई कारण नहीं देखता।

महात्मा—बेटा! तुम्हारी जो दो आँखें हैं वे माया-कल्पित अज्ञान-नेत्र हैं। इन अज्ञान-नेत्रों से तुम इस माया-कल्पित अज्ञान-राज्य यानी मिथ्या बहिर्जगत मात्र को ही देख सकते हो। किन्तु उसके अतिरिक्त अन्तर्जगत या ज्ञान-राज्य देखना हो तो विचार-शक्ति के द्वारा ज्ञान-नेत्र उत्पन्न कर लेना होगा। तुम्हारे मन में विचार-शक्ति का अभाव है। इसलिए ज्ञान-नेत्र के न रहने से तुम्हें मन के दोष दिखाई नहीं पड़ते। इस तरह जितने दिनों तक तुम भ्रम देखते रहोगे उतने दिनों तक ही तुम्हें कष्ट भोगते रहना पड़ेगा। तुम अपने ज्ञाननेत्र को खोलो तो ठीक तरह से देख सकोगे और तभी तुम यथार्थ में सुखी हो जाओगे। बेटा! मृत्यु-सागर से उत्तीर्ण होने का प्रधान उपाय है वासना का नाश या मन का विलय। शरीररूप गढ़े में स्थित मनरूप (काम, क्रोध, लोभादि रूप) साँप जिसे नहीं डसता, मृत्यु उसे विनष्ट नहीं कर सकती। परन्तु तुम्हारा मन काम, लोभ, मोहादि के वश में होकर अति सूक्ष्म रूप से तुम्हारा शोषण कर रहा है, पोषण कुछ भी नहीं कर रहा है। मन तुम्हें दिन पर दिन एक दुःख से और भी अधिक दुःख में डाल रहा है, आराम कुछ भी नहीं दे रहा है। मन तुम्हें निरन्तर नीचे ही गिरा रहा है, किसी प्रकार ऊपर नहीं उठा रहा है। इसे तुम किसी तरह समझ नहीं सकते हो। अब तुम अपने मन के विरुद्ध चलकर उसे जितना ही विचार के अधीन रखोगे उतना ही तुम्हारा मन तुम्हें सुख देता रहेगा। तुम अपने मन के साथ जितना ही कठोर बरताव

उसे अपने अधीन बनाये रखोगे उतना ही मन भी तुम्हारा वशीभूत रहकर तुम्हारे साथ मित्र का सा बरताव करेगा, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इन सब विषयों को मैं युक्ति के द्वारा तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा रहा हूँ। उससे तुम अनायास अपने मन की चालाकी समझ सकोगे। तुम्हारे मन की दो प्रधान शक्तियाँ हैं—एक 'आवरण शक्ति' और दूसरी 'विक्षेपक शक्ति'। रस्सी में साँप के भ्रम की तरह जब इस शरीर को 'मैं' (आत्मा) करके ज्ञान होता है तभी वह अज्ञान है। रस्सी के साथ साँप का, 'मैं' (आत्मा) के साथ शरीर का या दृश्य के साथ द्रष्टा का जो प्रत्यक्ष भेद है उस भेद को भुला कर जो शक्ति एक वस्तु को दूसरी के रूप में दिखाती है वही मन की 'आवरण शक्ति' है। प्रत्यक्ष भेद को आवृत करता है इसलिए उसे 'आवरण शक्ति' कहते हैं। अर्थात् तुम (आत्मा) से उत्पन्न होकर तुम्हारे इस असत् मन ने तुम्हीं को मानो आवृत कर रखा है। इसलिए इस समय तुम अपने आत्मा का स्वरूप समझ न सकने के कारण इस स्थूल शरीर को ही 'मैं' यानी 'आत्मा' करके अनुभव कर रहे हो। इसी का नाम 'आवरण शक्ति' है। दूसरी ओर तुम्हारा मन बाहरी संसार के विषयों के नाम और रूप के मोह में मोहित होकर उन विषयों के साथ जो 'मेरा' 'मेरा' इस प्रकार, ममत्व का बंधन स्थापित कर लेता है वही तुम्हारे लिए घोर अशान्ति का कारण हो रहा है और वही मन की 'विक्षेपक शक्ति' है। इतना कहकर महात्मा भजन गाने लगे—

मन कैनो बाहिरेते जाओ, किछु नाइ रे होथाय।
शान्ति-सुख खुँजे मरो, जेथाय-सेथाय॥
जे विषयके आपन जेने, चिन्ते मरो निशि-दिने।
से कि तोमार हबे साथी ? एक बार खुँजले ना तोमाय॥
खुँजे देखो ना अन्तःपुरे, सबइ आछे तोमार घरे।
घरेते माणिक्य रेखे, अन्ध भिक्खा मेगे खाय॥

जिसका आशय यह है—मन ! क्यों तुम बाहर जाते हो ? वहाँ कुछ भी नहीं है। शान्ति-सुख जहाँ-तहाँ क्यों खोजते-फिरते हो ? जिस विषय को अपना समझ कर दिन-रात चिन्तित हो रहे हो, क्या वह कभी तुम्हारा साथी होगा ?

एक वार भी तुमने अपने को नहीं खोजा। तुम खोज कर देखो अपने अन्तः में सभी हैं; मानो घर में रत्न रख कर अन्धा भीख माँग कर खा रहा है।

भक्त--प्रभु! आपने पहले कहा था कि--'मैं परमात्मा रूप सत् प हूँ।' अतः उस सत् पदार्थ से किस प्रकार असत् मन (माया) की सृष्टि हो मुझे अज्ञान के द्वारा आवृत कर रहा है?

महात्मा--बेटा! जिस प्रकार अग्नि से भस्म उत्पन्न होकर उस को ही आवृत और मलिन कर देता है, जिस प्रकार सूर्य से मेघ पैदा होकर सूर्य को ही आवृत और मलिन कर देता है; ठीक उसी प्रकार आत्मा से मन सृष्ट होकर आत्मा को ढँक लेता है। यथार्थ में सूर्य जिस प्रकार मेघ आवृत नहीं होता, बल्कि सूर्य की शक्ति से मेघ उत्पन्न होकर, उसे मनुष्य दृष्टि की ओट में छिपा देता है, उसी प्रकार यह परिदृश्यमान संसार आत्मा सूर्य से उत्पन्न होकर इन्द्रजाल की तरह प्रतीत होता है और आत्मा को दु मायिक चक्षु की ओट में छिपा देता है। बदली के दिन में सूर्य दिखाई पड़ने पर भी बुद्धिमान मनुष्य उसे स्वयं-प्रकाश समझ सकते हैं, उसी प्र यह परिदृश्यमान प्रपञ्च आत्म-सत्ता को सूर्य की तरह आवृत और मलिन क जीव की दृष्टि की ओट में छिपा देने पर भी ज्ञानी लोग सदा ही अपने ज्ञा नेत्र से स्वयं-प्रकाश आत्मसत्ता का दर्शन करते रहते हैं। इसी विषय भगवान शंकराचार्य ने इस प्रकार वर्णित किया है--

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभम्मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा

अर्थात्--"अज्ञानी व्यक्ति की दृष्टि मेघ से आवृत होने पर वह जिस प्र सूर्य को मेघ से आवृत और प्रभारहित समझता है, उसी प्रकार अज्ञानी अपने अज्ञान से ज्ञान-चक्षु के आवृत होने के कारण अपने को बद्ध की तरह झता है। ऐसे मूढ़ मनुष्य की दृष्टि से जो बद्ध की तरह प्रतीत होता है वह अनुभव-रूप आत्मा ही मैं हूँ।"

भक्त--हे महात्मन्! 'मैं' या 'आत्मा' एक अद्वितीय वस्तु है। इसमें वहाँ पुनः एक दूसरा मन या माया कहाँ से आ गयी है?

महात्मा—बेटा ! यह मन या माया और कहीं से नहीं आयी है । यह अनादि काल से ही अज्ञानी की दृष्टि में आत्मा के साथ विद्यमान है । अपनी अज्ञानता से जहाँ तुम्हें रस्सी में 'साँप' का भ्रम हुआ था, उस विषय को यहाँ याद करो । वहाँ 'साँप है या रस्सी' यह संदेह रहने से तुम्हें सत्य रस्सी का ज्ञान न होने तक तुम्हारी दृष्टि में साँप और रस्सी ये दोनों वस्तुएँ मिल कर एक हो गयी हैं । उसके बाद विचार और ज्ञान के प्रभाव से जब तुम्हारे मन के रस्सी-सम्बन्धी अज्ञान का नाश हो गया तब क्या तुम्हारे सामने रस्सी और साँप का मिश्रित ज्ञान रह गया ? नहीं, उस समय केवल रस्सी ही तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष होने लगी । ठीक उसी प्रकार रस्सी रूप आत्मा और मन या संसार रूप साँप ये दोनों वस्तुएँ अनादि काल से अज्ञानी की दृष्टि में बिलकुल मिली हुई-सी प्रतीत होती हैं । उसके अनन्तर विचार और ज्ञान के प्रभाव से जिस तत्त्वज्ञ व्यक्ति की आत्मा-सम्बन्धी अज्ञानता नाश प्राप्त हो जाती है उनके सामने पहले की तरह मिश्रित रूप से मन और आत्मा दो वस्तुएँ नहीं रहतीं, केवल अमिश्रित सत्य और विशुद्ध आत्मा का ही उन्हें अपरोक्ष होता रहता है । पहले कहे हुए साँप के भ्रम के स्थान में जिस प्रकार रस्सी से साँप पृथक नहीं है, यहाँ भी ठीक उसी प्रकार मन या संसार-भ्रम के स्थान में आत्मा से मन या संसार पृथक नहीं है—एक ही वस्तु है । इसलिए श्रुति कहती है—"एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् आत्मा एक अद्वितीय वस्तु है । अतः पारमार्थिक दृष्टि से यही स्थिर हुआ कि, शुद्ध, सर्वगत, आनन्दमय, अद्वितीय ब्रह्म ही अपनी अज्ञानता से अशुद्ध, असत् (अस्तित्व-रहित), दुःखमय, अनेक और सीमाबद्ध रूप से प्रतीत हो रहे हैं । जिस प्रकार एक ही मनुष्य में परस्पर विरुद्ध शत्रुता और मित्रता असम्भव नहीं होती, विभिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध-भेद से दोनों सम्भव ही होती हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा में भी वैसी ही भेदाभेद-शक्तियों की स्थिति सम्भव होती है । जिस प्रकार सुवर्ण में अंगूठी की भावना होते ही सुवर्ण और अंगूठी भिन्न भिन्न रूप से प्रतीत होने लगती हैं वैसे ही परमात्मा परमेश्वर भी आत्मा-अनात्मा या पृथक-अपृथक रूप से प्रकट होते हैं । हे सुबुद्धे ! एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखो । सूर्य एक है और उसका प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ है । परन्तु उस प्रकाश में बाधा पड़ने पर उस बाधा के पीछे कुछ स्थान अँधेरा हो जाता है । उसे हम छाया

कहते हैं। छाया कोई वस्तु नहीं है, तथापि वह दिखाई पड़ती है और उ
व्यवहार है। यदि वह बाधा हट जाय तो वहाँ की छाया लुप्त हो जाती है
वह स्थान सूर्य-किरणों से प्रकाशित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार एक परम
ज्ञानप्रकाश से सर्वत्र प्रकाशित हो रहे हैं। परन्तु जिस स्थान (अन्तःकरण
ज्ञानालोक की बाधा उत्पन्न हुई उसी स्थान को हम 'माया' या 'मन' कहते हैं।
अनन्तर यदि किसी प्रकार से उस माया या मन नामक स्थान की
(अज्ञानता) दूर हो जाय तो वह स्थान ज्ञानालोक से उद्भासित होगा और
उस मन का नाम सत्ता या आत्मा होगा। वहाँ जिस प्रकार प्रकाश के अ
का नाम छाया है, छाया नाम से कोई पृथक वस्तु नहीं है, उसी प्रकार अ
ज्ञान के अभाव का ही नाम मन या जीव है। वास्तव में मन या जीव नाम
आत्मा के अतिरिक्त पृथक कोई वस्तु नहीं है। इस आत्मा के अज्ञान के का
ही मन अज्ञानान्धकार में अनुमान के बल पर नाना प्रकार की जल्पना-कल्
द्वारा अगणित दुःख-अशान्ति-विपत्तियों की सृष्टि करके शोकाभिभूत हो जाता
और आत्मविस्मृत होकर "कहाँ सुख, कहाँ शान्ति"—इस प्रकार चिल्लाते हु
अनेक जन्मजन्मान्तर वृथा ही 'हाय हाय' करके कष्ट भोग रहा है। मन
अपने स्वरूप का अर्थात् "मैं कौन हूँ" केवल इतने का अनुभव कर सके
ही उस के सभी दुःख-शोक लुप्त हो जायेंगे, इस में लेश मात्र भी संदेह न
है। बेटा! परमात्मा परमेश्वर जिस प्रकार आत्म-विस्मृति से जीव-कल्पना
द्वारा तुरन्त जीव-भाव प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जीव भी श्रवण, मनन आदि
द्वारा आत्म-भाव प्राप्त होता है।

भक्त—प्रभु! आपने कहा—'आत्मा अपनी अज्ञानता के कारण अ
असत् और सीमाबद्ध रूप से प्रकट हो रहे हैं।' ज्ञान-स्वरूप अद्वितीय परम
में अज्ञानता किस प्रकार से और कहाँ से आयेगी? ज्ञान या परमात्मा से भि
दूसरा 'अज्ञान' या 'अनात्मा' नाम से वहाँ कोई वस्तु ही तो नहीं है! तो
परमात्मा में अज्ञान नामक वस्तु कहाँ से आयी? दयामय! मेरे मन के
सन्देह का समाधान कर दीजिये।

महात्मा—बेटा! तुमने उत्तम प्रश्न ही किया है। पहले भी एक बार
इस विषय का उत्तर तुम्हें दिया है। वास्तव में परमात्मा में कभी कोई

या परिवर्तन नहीं होता, द्रष्टा में ही भ्रम होता है। किसी को भ्रम होने पर वहाँ दृश्य वस्तु में कोई भ्रम या परिवर्तन नहीं होता। दृश्य वस्तु अपनी स्वाभाविक अवस्था में ही रहती है, केवल द्रष्टा का ही भ्रम या उसके मन में परिवर्तन हुआ करता है—यही स्वतः सिद्ध है; जैसे सूखे वृक्ष में मनुष्य-भ्रम, रस्सी में सर्प-भ्रम या सीप में चाँदी का भ्रम हुआ करता है। ऐसे स्थलों में वृक्ष, रस्सी, सीप इन तीन दृश्य वस्तुओं में कोई भ्रम या परिवर्तन नहीं होता, वे अपनी स्वाभाविक अवस्था में ही रहती हैं। परन्तु उससे भिन्न द्रष्टा में भ्रम हुआ करता है। ठीक उसी प्रकार परमात्मा में माया या संसार-भ्रम के स्थल में भी परमात्मा में कोई भ्रम या परिवर्तन नहीं होता; आत्मा ज्ञान-स्वरूप, अपरिवर्तित और अद्वितीय ही रहते हैं। परन्तु तुम भ्रम से अपने को आत्म से पृथक समझ कर माया या संसार को स्वतंत्र देख रहे हो। यहाँ तुम द्रष्टा हो, इसलिए तुम्हीं को भ्रम हो रहा है—यानी तुम्हारे निजी अज्ञान से तुम्हारे मन का ही परिवर्तन हो रहा है—आत्मा में कुछ भी नहीं हो रहा है। बेटा! जब तक तुम्हारा मन अपनी शक्ति से आत्मा को अपरोक्ष रूप से अनुभव नहीं कर सकेगा तब तक तुम इस प्रश्न का उत्तर बार-बार सुन कर भी कुछ भी समझ न सकोगे और जब तुम्हें आत्मा का अपरोक्ष होगा तब ऐसा प्रश्न तुम्हारे मन में कभी उठेगा ही नहीं, इसका निश्चय कर आत्मा को अपरोक्ष रूप से अनुभव करने के लिए प्रयत्न-शील हो जाओ। तभी संसार के सारे प्रश्नों की मीमांसा हो जायगी।

———

# बाह्यिक धर्मोपासना

भक्त—प्रभु! किस कार्य से मन की इस अज्ञान रूप आवरण और विक्षेप शक्ति नष्ट हो कर 'मैं' या आत्मा-सूर्य का प्रकाश होगा? क्या इस अज्ञान के विनाश करने के लिए ही लोग राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, दुर्गा,

सरस्वती आदि देव-देवियों की मूर्त्तियों की पूजा और माला-जप, भ
कीर्तन, गंगा-स्नान, सन्ध्या-वन्दन, स्तव-स्तुति आदि का पाठ करते हैं।

महात्मा—बेटा ! इन मूर्त्तियों की पूजा-रूप कर्म के द्वारा कभी
का अज्ञान नष्ट नहीं हुआ और न होगा। क्योंकि बाहरी कर्मों के द्वारा
ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान की उत्पत्ति हुए बिना अज्ञान कैसे
होगा ? प्रकाश के बिना जिस प्रकार अन्धकार नहीं जाता, उसी प्रकार
लोक के बिना अज्ञानान्धकार का विलोप भी नहीं होता। जिस प्रकार
कमरे में से अन्धकार दूर करने के लिए तलवारों से प्रहार करना या
के सूँड़ से खिंचवा कर उसे निकालने की चेष्टा करना निरर्थक है
प्रकार तुम्हारे मन के अज्ञान को दूर करने के लिए लाखों-करोड़ों कर्म
र्थक हैं। दियासलाई जलाने से जिस प्रकार उस कमरे का अन्धकार
भर में लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार महात्मा के उपदेश से ज्ञान
प्रकाश उत्पन्न होते ही तुम्हारे हृदय का अज्ञानान्धकार दूर हो जायगा।

भक्त—भगवन् ! 'कर्म के द्वारा कभी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती' आ
मुँह से यह बात सुन कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, क्योंकि कर्म बिना
हाथ-पैर समेट कर चुपचाप बैठे रहने से ही क्या मैं ज्ञान प्राप्त कर सकूँ
कर्म करने से ही तो उसका फल मिलता है। कर्म बिना किये कौन कब
प्राप्त कर सका है ? संसार में दिखाई पड़ता है, कर्म करने से ही लोग उ
शुभाशुभ फल प्राप्त करते हैं। सत्ययुग में भी ब्रह्मज्ञ ऋषि यज्ञ, होम,
दान आदि अनेक प्रकारके कर्म करते थे। अतः कर्म के सिवाय कुछ
नहीं हो सकता—यह तो हम बचपन से ही गीता, भागवत आदि शास्त्र
तथा महात्माओं की वाणी से सुनते आये हैं।

महात्मा—बेटा ! प्राचीन युग के ऋषि सभी मातृ-गर्भ से उत्पन्न होते
आत्मज्ञ नहीं होते थे अथवा जन्म के बाद भी गुरु-गृह में अध्ययन
द्वारा सभी ऋषि आत्मज्ञान नहीं प्राप्त करते थे। उस काल और इस
दोनों में अज्ञानियों की संख्या ही अधिक रहा करती है। ज्ञानियों की
सभी समय अति अल्प हुआ करती है। अज्ञानी लोग ही नाना प्रकार

कर्म करते हैं और विवेक-विचारशील व्यक्ति श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं।

भक्त—सुना है, शुकदेवजी को जन्ममात्र से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था। इसका क्या रहस्य है?

महात्मा—पुराणों की कहानियों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। उनमें अनेक असम्बद्ध और स्वविरोधी बातें हैं। उन कहानियों के द्वारा जो सामाजिक और आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं, उन्हीं पर ध्यान देना चाहिये। उन उपदेशों के अनुसार चलने से मनुष्य कृतार्थ हो सकता है। देश में इतना अज्ञान फैला है कि, उन कहानियों को सत्य समझ कर लोग उन सारभूत उपदेशों पर उपेक्षा दिखाते हैं। महाराजा हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन किया था, महाराजा युधिष्ठिर सत्यवादी थे—इन कहानियों को लाखों बार कहने या सुनने से सामयिक सुख के सिवाय मनुष्य के जीवन में कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता। परन्तु उन महाराजाओं ने सत्य पर दृढ़ रहकर अन्त में अपरिमित सुख प्राप्त किया था—इस उपदेश को यदि कोई ग्रहण कर ले तो वह अपने जीवन को सुखमय बना सकता है।

शास्त्र का तात्पर्य कहानियों पर नहीं बल्कि, उपदेशों पर है, यह बात तुम्हें निश्चित रूप से जान लेनी चाहिये।

अनेक स्थलों में शास्त्रकार जान-बूझकर असम्बद्ध या स्वविरोधी बातों से पूर्ण असम्भव कहानियों की रचना करते थे, ताकि बुद्धिमान पाठकों को उस पर आस्था उत्पन्न न हो और उनके द्वारा जो उपदेश दिया गया है, उसी पर उनकी श्रद्धा उत्पन्न हो। नमूना-स्वरूप पुराणों की कुछ कहानियाँ तुम्हें बतलाता हूँ। यदि वेदव्यासजी ही १८ पुराणों और १८ उपपुराणों के रचयिता हों तो एक स्थान पर वह अपने पुत्र शुकदेव को जन्ममात्र से ही ब्रह्मज्ञान प्रदान करते हैं और दूसरी जगह वह अपने युवक पुत्र को ब्रह्मज्ञान-लाभ के लिए राजर्षि जनक के पास भेजते हैं। शुकदेव जन्म से ही ब्रह्मज्ञ थे, क्या उनके पिता इसे नहीं जानते थे? और भी देखो, शुकदेव जब राजर्षि जनक के घर गये तब राजर्षि जनक ने सात दिनों तक उनसे भेंट करने की आज्ञा नहीं दी। विवश होकर शुकदेव को सात दिन सात रात्रि राजभवन के बाहर ही रहना

पड़ा। उसके अनन्तर अन्तःपुर में प्रविष्ट हो कर भी उन्हें सात दिनों के बाद ही राजर्षि जनक के दर्शन मिले। जो जन्म से ब्रह्मज्ञ हैं वह उससे किस ज्ञान लाभ की आशा से जनक के पास गये थे और उनके दर्शन के लिए दिनों तक असहनीय कष्ट सहा था? इससे स्पष्ट ही समझ सकते हो शुकदेव पूर्ण ब्रह्मज्ञान पिता से भी नहीं प्राप्त कर सके थे और पिता ने भी राजर्षि जनक के समीप भेजा था तथा उनसे अनेक प्रकार के उपदेश सुन शुकदेव ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सके थे। पुराणों में ऐसी असम्बद्ध आख्यायिका का अभाव नहीं है।

एक पुराण में लिखा है—'सत्ययुग में मनुष्य २१ हाथ, त्रेतायुग में हाथ और द्वापर युग में ७ हाथ लम्बे होते थे; अभी कलियुग में ३॥ हाथ लम्बे आदमी है।' जरा विचारो, सत्ययुग में जो २१ हाथ लम्बे मनुष्य थे वह किसके हाथ की थी? यदि कहो 'अपने-अपने हाथ की ही नाप से २१ हाथ थे।' अच्छा तो मान लो, तुम्हें अभी तुम्हारे अपने हाथ की नाप से २१ हाथ लम्बा करना हो तो पहले तुम्हारे इन दोनों हाथों को काट कर अलग कर तुम्हारे इस शरीर को उसी हाथ के २१ गुना लम्बा बना कर तुम्हारे उन दोनों हाथों को पहले की तरह यथास्थान संयुक्त कर दिया गया, तभी तुम अपने हाथ की नाप से २१ हाथ लम्बे हुए। ऐसी स्थिति में तुम्हारे वह दोनों छोटे-छोटे हाथ बगल के पास ही लटकते रहेंगे, इस समय की तरह घुटनों के पास तक नहीं पहुँचेंगे। क्या तब तुम्हारा चेहरा ठीक मनुष्य की तरह दिखाई पड़ेगा? उस समय तुम्हें देखकर मालूम होगा मानो एक लम्बे बाँस के ऊपर दो चम्मच लटक रहे हैं। अतः तुम्हारे उस विसदृश चेहरे को देखकर लोग हँसने लगेंगे। इस प्रकार कुत्सित चेहरा वाला मनुष्य पहले था, ऐसा तो रामायण, महाभारत किसी पुराण या ऐतिहासिक ग्रन्थ में नहीं दिखाई पड़ता; बल्कि, उन ग्रन्थों में 'आजानुलम्बित बाहु' का वर्णन है। 'आवक्षःलम्बित बाहु' विशिष्ट मनुष्य का वर्णन कहीं नहीं मिलता। और यदि कहो 'इस कलियुग के मनुष्य के हाथ की नाप से सत्ययुग के मनुष्य २१ साथ थे' तो बताओ लाखों वर्ष पहले सत्ययुग में कलियुगी मनुष्य के हाथ की नाप कैसे मिली थी? और फिर कलियुग में भी तो सभी मनुष्यों के हाथ समान नहीं हैं, अतः किसके हाथ

की नाप से वे २१ हाथ थे ? वर्तमान समय में मनुष्य साढ़े तीन हाथ लम्बा है, वह भी एक दूसरे के हाथ की नाप से नहीं या १८ इञ्च हाथ की नाप से भी नहीं; सभी अपने-अपने हाथ की नाप से साढ़े तीन हाथ हैं और सभी प्रायः 'आंजा-नुलम्बित-बाहु' हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों में अर्थात् अनादिकाल से ही मनुष्य अपने-अपने हाथ की नाप से ही साढ़े तीन हाथ थे और रहेंगे। विशेषता यह है कि प्राचीनकाल के मनुष्य वर्तमान युग के मनुष्यों की अपेक्षा बहुत हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ थे। अब क्रमशः वे क्षीणजीवी होते आ रहे हैं। कवियों ने इस बलिष्ठता का भाव प्रकट करने के लिए उस समय के मनुष्यों को कभी २१ हाथ, कभी १४ हाथ और कभी ७ हाथ के रूप में कल्पना की है और अज्ञानी व्यक्ति उसे यथार्थ समझ रहे हैं। सर्वसाधारण के लिए इस कल्पना-कुहक को तोड़कर उसके भीतर के दिये गये परम कल्याणकर उपदेश को ग्रहण करना कठिन है।

आजकल तर्कस्थल में प्रायः लोग कहा करते हैं कि, 'पहले के ऋषि-महर्षि यज्ञ के अन्त में यज्ञ में वध किये हुए पशु को पुनः जिला दिया करते थे।' परन्तु शास्त्र में लिखा है—'यज्ञ में जिन पशुओं का वध किया जाता है, देह-त्याग के बाद वे स्वर्ग में चले जाते हैं।' अतः जो पशु स्वर्ग में जाकर जीवित हो गया वह मर्त्यलोक में मनुष्य के मन्त्र से पुनः जीवित नहीं हो सकता। क्योंकि यज्ञ में निहत पशु दुगुना होकर एक स्वर्ग-लोक में और दूसरा मर्त्य-लोक में अवस्थान करेगा, ऐसी युक्ति ग्राह्य नहीं हो सकती। और भी देखो, जो मनुष्य यज्ञ में पशु का वध करके उसका मांस खाकर भी मृत पशु को जीवन-दान देने में समर्थ है, वृथा यज्ञ करके क्यों वह ईश्वर के समीप अपने पुत्र-पौत्रादि की शतवर्ष आयु और स्वास्थ्य की कामना करेगा ? स्त्री-पुरुषों के संयोग से ही जीव का जन्म होता है। प्रकृति की उन्नत सृष्टि का यही नियम है। इसलिए केवल यज्ञ-कर्ता के वाक्य-मात्र से एक नया जीव उत्पन्न हो जायगा, ऐसी युक्ति कोई भी बुद्धिमान मनुष्य नहीं मान सकता।

रामचन्द्र ने शरत्काल में देवी दुर्गा की पूजा की थी। कालिका उपपुराण में इसका वर्णन है, परन्तु मूल वाल्मीकि रामायण में यह लिखा नहीं है।

रामचन्द्र के द्वारा दुर्गा-पूजा की घटना मूल-रामायण-लेखक वाल्मीकि को विदित ही नहीं था। आदि कवि वाल्मीकि मुनि जिस बात को नहीं थे, पुराणकार को वह बात कैसे मालूम हुई? शारदीया नवरात्रि में दुर्गा की आराधना सारे भारत में की जाती है। पुराण-कल्पित इस मिथ्या का सारे भारत में हजारों वर्षों से कैसे प्रचार हो गया मालूम नहीं। पहले सम्प्रदाय और वाद में वैष्णव सम्प्रदाय के लोगों ने अपने अभिमतानुसार और स्मृति शास्त्रों में प्रक्षिप्त वाक्य प्रविष्ट कराकर नाना प्रकार से विरुद्ध प्रतिपादन करके सत्य का नाश तथा देश और समाज का सत्यानाश किया। इसे देख कर ही परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासजी कहा करते थे—

हरति भूमि तृणसंकुल, समुझि परैं नहि पंथ।
जिमि पाखण्ड विवादते, लुप्त भये सद्ग्रन्थ॥

अर्थात्—"वर्षाकाल में जिस प्रकार नयी घासों से भूमि आच्छादित हो जाने से रास्ता प्रायः दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार पाखण्डियों के कु... पुराने सद्ग्रन्थों यानी सत्-शास्त्रों का लोप हो गया है।" इसका आशय है कि मूल शास्त्र-ग्रन्थों में अनेक प्रक्षिप्त श्लोक प्रविष्ट हो जाने से अभ्यन्तरस्थ सत्य-मार्ग पहचान लेना साधारण मनुष्य के लिए एक प्रकार असाध्य हो गया है।

भक्त—महात्मन्! तो क्या आप भागवत तथा पुराणादि शास्त्रों के ... को मिथ्या समझते हैं?

महात्मा—हे सुबुद्धे! सभी समुद्र रत्नाकर नहीं हैं। इस कारण जैसे समुद्रों में मोती नहीं मिलते, वैसे ही शास्त्र-समुद्र में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ जिनमें आत्मतत्त्व रूप रत्न नहीं मिलता। मोती-संग्राहक गोताखोर जिस हर डुबकी में मोतीवाली सीपी नहीं पाते, उसी प्रकार अनेक मुमुक्षु व्यक्ति शास्त्र-सागर में डुबकी लगाकर खाली हाथ ही उठ आते हैं। यद्यपि कष्टों से कोई बहुत-सी सीपियों का संग्रह कर पाता है, परन्तु सभी में मोती न पाने से उसे बहुत दुःख होता है, उसी प्रकार अनेक आत्म-पिपासु व्यक्ति भी शास्त्र-सागर से अनेक श्लोकों और मन्त्रों का संग्रह कर उनमें तत्त्व-रूप रत्न न पाकर उदास हो जाते हैं। दूसरी ओर मोती-...

के सभी समान शक्तिशाली भी नहीं होते; कोई-कोई तो समुद्र के तले तक पहुँच ही नहीं पाते, कुछ दूर जाकर ही ऊपर उठ आते हैं। ठीक उसी प्रकार शास्त्रों का अध्ययन करके भी कोई-कोई यथार्थ में तत्त्वज्ञ न होकर बोधचंचु (जिनके हृदय में ज्ञान प्रविष्ट नहीं होता, केवल दूसरों के मत के खण्डन के लिए मुख में ही अवस्थान करता है, वे ही बोधचंचु या मुखपण्डित हैं) या वाक्य-परायण होते हैं। इस कारण मुमुक्षु व्यक्ति के वेद, वेदान्त, तन्त्र, पुराण आदि धर्मग्रन्थ विवेक-विचारशील आत्मज्ञ महात्मा के समीप अध्ययन किये बिना सर्व-साधारण मनुष्य उन ग्रन्थों का अध्ययन कर उनमें से कल्पित गल्पांश छोड़कर सत्य तत्त्व का निर्णय करने में कभी समर्थ नहीं होते। साधारण व्यक्ति उन ग्रन्थों के रूपक रूप से वर्णित अलौकिक गल्पों के मोह में मुग्ध होकर जीवन भर केवल उन्हीं गल्पों का कीर्तन करते हुए दुःख से जीवन बिताते हैं। जिस प्रकार गधा पीठ पर चन्दन का बोझ ढोकर भी उसकी सुगन्ध या चीनी का बोझ ढोकर भी उसकी मिठास का स्वाद नहीं पाता, ठीक उसी प्रकार विवेक-विचार-रहित विद्याभिमानी पण्डित वेद-वेदान्तादि अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके भी उनमें से तत्त्वामृत का पान नहीं कर पाते।

बेटा! पहले के उन ब्रह्मज्ञ ऋषियों के निरपेक्ष शास्त्र-वाक्य इस समय तुम्हारे समाज में परित्यक्त हो गये हैं। इस कारण आत्म-तत्त्वज्ञान के अभाव से तुम्हारी यह वर्तमान दुर्दशा संघटित हुई है। वे शास्त्रकार गुण का ही आदर किया करते थे। इस कारण उस समय आत्म-शक्ति के बल अधम वंश के लोग भी उत्तम स्थान पाते थे और उस शक्ति के अभाव से उत्तम वंश के लोग भी अधम हो जाया करते थे। संसार में सर्वत्र गुण का ही आदार हुआ करता है, परन्तु कुसंस्कार-वश मानो तुम लोग सृष्टि के इस नियम से बाहर हो गये हो। अतः स्वाभाविक रूप से गुण का आदर न होकर तुम्हारे समाज में आजकल केवल जन्मगत वंश-परम्परा का ही सम्मान हो रहा है। महाभारत में लिखा है—शूद्र-कुल में उत्पन्न होने पर भी कवस को ऋषि-पदवी प्राप्त हुई थी। चण्डाल-कुल में उत्पन्न होकर मातंग वेद-वेदान्तादि शास्त्रों का अध्ययन कर आत्म-तत्त्वज्ञान प्राप्त करके ऋषि हुए थे। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—अज्ञात कुल का वंशज जबाला नाम से एक व्यक्ति था। उसका

पुत्र जाबाल ने गौतम मुनि से दीक्षित होकर आत्म-तत्त्वोपदेश श्रवण... आत्मज्ञान प्राप्त करके 'ब्राह्मण' पदवी प्राप्त की थी। परन्तु उनमें किसी... मूर्ति आदि की पूजा करके आत्मोन्नति नहीं प्राप्त हुई थी। इस प्रकार... असंख्य उदाहरण हैं कि आत्म-तत्त्व या ब्रह्मतत्त्व का उपदेश श्रवण... निम्न श्रेणी के लोग भी उन्नत होकर ज्ञान के बल 'ब्राह्मण' हुआ... थे। प्राचीन-काल में हमारे सनातन धर्म की यही रीति प्रचलित थी।

भक्त--प्रभु! तो हमें अब क्या करना चाहिये?

महात्मा—बेटा! ब्रह्मज्ञ या आत्मज्ञ महापुरुषों ने श्रुतिमूलक युक्ति... द्वारा जो सिद्धान्त निर्णीत और लिपिबद्ध किया है, वही अब शास्त्र नाम... कथित है। उन सज्जनों के आचार और शास्त्र इन दोनों को 'धर्म'... देखने के चक्षु रूप से जानना। जो अबोध हैं, कार्य-सिद्धि के लिए... उन्हें इन दोनों चक्षुओं का आश्रय लेकर हरएक विषय में ही विचार... सत्य निर्णय करना कर्तव्य है। इसीलिए कहता हूँ, कर्म और ज्ञान में कि... भेद है यह तुम सहज में नहीं समझ सकते। ज्ञान और कर्म में दिन... रात्रि, प्रकाश और अन्धकार की तरह विपरीत भाव है। प्रकाश और अन्ध... कार जिस प्रकार विरुद्ध-धर्मी होने से एक स्थान में कभी नहीं रह सकते,... और ज्ञान भी ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण विरुद्ध होने के कारण एक ही... के मन में कभी एक ही समय स्थान नहीं पा सकते। वेदान्त स्पष्ट... घोषणा करते हैं—

दूरेमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।

(कठोपनि...)

अर्थात्—"अविद्या (कर्म और उपासना) तथा विद्या (ज्ञान)... दोनों अति दूर (पूर्व और पश्चिम की तरह) विपरीत हैं तथा इनके फल... सम्पूर्ण विपरीत अर्थात् कर्म और उपासना प्रवृत्ति मार्ग के कार्य हैं,... फल है—इस लोक और परलोक में सुख-भोग और ज्ञान-रूप निवृत्ति मार्ग... फल है—संसार की पूर्ण निवृत्ति रूप मोक्ष। तुम सन्ध्या-वंदन, जप... पूजा-होम आदि कितने ही बाहरी कर्म क्यों न करो, उनसे तुम्हारे मन... काम, क्रोध, ईर्ष्या, हिंसा, राग, द्वेष, सङ्कल्प, विकल्प आदि मैल...

छूटने वाली नहीं है। केवल ज्ञान-रूप सलिल के द्वारा ही तुम्हारे उस प्रकार के चित्त-मल धो डाले जा सकते हैं, यही यथार्थ सिद्धान्त है। आत्मा नित्यमुक्त और अविकारी है। जब बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर उसमें जीव-भाव आता है, तब वह जीव इस देह में अभिमान करता है और कर्म कर सकता है। अभिमान अज्ञान का ही कार्य है। अतः सभी कर्मों के मूल में अज्ञान है अर्थात् अज्ञानी ही कर्म कर सकता है। दूसरी ओर ज्ञान से वह अज्ञान दूर होकर देह का अभिमान छूट जाता है। अतः ज्ञानी कर्म कैसे कर सकते हैं? प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग सम्पूर्ण विपरीत हैं। इसलिए जो एक मार्ग पर चल रहा है, वह कभी उस मार्ग के त्याग किये बिना दूसरे मार्ग पर नहीं आ सकता। ये दोनों मार्ग यदि उत्तर और पूर्व की तरह अलग विपरीत होते तो सम्भवतः एक मार्ग पर चलने वाला थोड़ा दाहिने या बायें मुड़कर दूसरे मार्ग पर आ सकता। परन्तु पश्चिम की ओर सीधे चलने वाला कभी भी पूर्व की ओर नहीं आ सकता। अतः कठोपनिषद् के सिद्धान्तानुसार कर्मी या उपासक अपने-अपने मार्ग का परित्याग किये बिना कभी ज्ञान-मार्ग में नहीं आ सकता। अतः कितना ही तुम मूर्ति आदि की पूजा या जप-तप-कीर्तनादि बाह्य आडम्बर द्वारा कर्म क्यों न करो, किसी तरह तुम्हारे मन का अज्ञानान्धकार दूरीभूत नहीं हो सकता। परन्तु थोड़े से ज्ञानालोक से ही मन की वह अन्धकार विदूरित हो जायेगा।

भक्त—प्रभु! सन्ध्या-वंदन, यज्ञ-होम आदि कर्म करने के लिए गीता आदि शास्त्रों में अनेक उपदेश हैं और उन कर्मों के न करने से शारीरिक और मानसिक हानि भी बतायी भी गयी है। इसका क्या उद्देश्य है?

महात्मा—उन कर्मों में कुछ ऐसे भी हैं, जिनसे प्रथम ब्रह्मचर्य-जीवन में ब्रह्मचर्य-रक्षा द्वारा शरीर का यथेष्ट उपकार होता है। परन्तु बिना विचारे किये जाने पर उन कर्मों से मानसिक उन्नति की कोई भी सम्भावना नहीं है। विचार-शक्ति द्वारा मन की उन्नति साधित करने के लिए सद्गुरु का उपदेश श्रवण करना ही होगा। हे सुमते! जन्म ग्रहण करते ही मानव की बुद्धि विकसित नहीं होती। उसके अनन्तर संसर्ग से उसकी बुद्धि कभी सत् या कभी असत् भाव से विकसित होती है। इसलिए मनुष्य को जीवन के आरम्भ से ही सत्सङ्ग का अनुसरण करना अवश्य कर्तव्य है। अध्यात्म शास्त्र और साधु-संग

इन दोनों समर्थ वेड़ों के बिना प्रबल वेग से बहने वाली अज्ञान-नदी को पार नहीं किया जा सकता। शास्त्र और सत्सङ्ग के प्रभाव से विचार-बुद्धि उत्पन्न होती है। तदनन्तर बुद्धिमान मनुष्य हेय या उपादेय विषय में प्रवृत्त होता है। उस समय वह ज्ञान-भूमिका में आरूढ़ होता है, अनन्तर विचार द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके वह वासनारहित हो जाता है। प्राचीन समय में बालकों के लिए ८-६ वर्ष के वयस में यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचर्य आश्रम में जाकर और वहाँ निवास करते हुए गुरु से वेद-वेदान्तादि शास्त्रों के अध्ययन करने की तथा गुरु के आज्ञानुसार सन्ध्या-वन्दन आदि वाह्यिक कर्म करने की प्रथा थी। इसी को ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे। गुरुदेव उन बालकों को कर्म-बन्धन के घेरे में रखकर क्रमशः सन्ध्या-वन्दन और यज्ञ-होमादि के कर्मों का आशय उत्तम रूप से समझा देते थे और जबतक उनमें विवेक और विचार की शक्ति प्रबल न होती थी, तबतक उन्हें ब्रह्मचर्य पालन कराकर उस कर्म-घेरे के भीतर ही रखते थे। क्रमशः वयःप्राप्त होने पर अध्ययन करने के साथ-साथ उनकी विचार शक्ति जितनी ही तीक्ष्ण होती थी, उतना ही उनका कर्म-बन्धन भी शिथिल होता जाता था। अन्त में जब पूर्णरूप से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता था तब सारे कर्म-बन्धन ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा काट कर वे स्वयं गुरु हो जाते थे। दूसरी ओर गुरु-गृह में अध्ययन आदि द्वारा भी जिनके मन से भोग-वासना की निवृत्ति नहीं होती थी, वे पुनः गृहस्थाश्रम में जाकर प्रवृत्ति-मार्ग में प्रवृत्त होते थे तथा उस आश्रम के योग्य कर्म भी करते थे।

मान लो, तुमने एक आम का पौधा लगाया। उसे बकरे, बैल आदि पशुओं से बचाने के लिए उसके चारों ओर तुम बाँस या लोहे के तार का मजबूत घेरा लगा देते हो। जब तक वह पौधा एक बड़े पेड़ के रूप में परिणत नहीं हो जाता तब तक तुम्हें उसकी अच्छी तरह रखवाली करनी होती है। जब तुमने देखा कि, वह यथेष्ट बड़ा हो गया है तब बकरे, बैल आदि के द्वारा उसके विनाश का कोई भय न रहने से तुम उसके घेरे को तोड़ डालते हो। क्योंकि, उस पेड़ में इतनी शक्ति बढ़ गयी है कि उसे कोई पशु, तो नष्ट नहीं ही कर सकता बल्कि, आवश्यकता होने पर उस पेड़ में २-४ पशु, बाँधकर रखे भी जा सकते हैं। मनुष्य के प्राथमिक जीवन की भी तुलना उस आम

पौधे के साथ की जा सकती है। प्रथम जीवन में मनुष्य को योग्य ब्रह्मविद् गुरु के तत्त्वावधान में निर्दिष्ट कर्मों के घेरे के भीतर रख कर क्रमशः ज्ञान-लाभ के उपयुक्त कर लेना होता है। उसके पश्चात् क्रमशः वयस और ज्ञान की वृद्धि होने पर उसके गुरु-गृह के कर्म-बन्धन को तोड़ कर भी जीवन के उन्नत मार्ग पर चलने में कोई भय की बात नहीं रहती। वृक्ष के बड़े होने पर भी उसके घेरे की रक्षा करनी ही होगी, ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार अधिक वयस में तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर भी प्रथम जीवन के कर्मों के यथाविधि पालन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। बड़े वृक्ष के साथ पशुओं को बाँध देने से भी जिस प्रकार उस वृक्ष के नष्ट होने का भय नहीं रहता, मनुष्य को भी उसी प्रकार ज्ञानवृद्ध होने पर अज्ञानियों के भीतर रहने पर भी विपथगामी होने की सम्भावना नहीं रहती; बल्कि वह उन्हें ज्ञान दान करने में ही समर्थ होते हैं। और भी देखो, मनुष्य का मन प्रथम जीवन यानी बचपन में गीली मिट्टी की तरह नरम रहता है। गीली मिट्टी को जिस प्रकार के साँचे में डाला जाय, ठीक उसी साँचे के रूप में वह गठित हो जाती है। सुकुमार बालक के कोमल चित्त को भी जिस प्रकार के संसर्ग में रखा जायगा, उसका मन भी ठीक उसी प्रकार आहार, निद्रा, भय, मैथुन और काम, क्रोधादि सब विषयों में संयमी या असंयमी रूप से गठित हो जायगा। आजकल तुम्हारे गुरु-गृह (स्कूल, कॉलेज) के ब्रह्मचर्याश्रम में विवेक-विचार-शील, संयतेन्द्रिय आत्मज्ञ गुरुओं का प्रबन्ध न रहने से नवशिक्षित युव-समाज एकदम उन्मार्गगामी होता जा रहा है। आत्मतत्त्व या ब्रह्मज्ञान की बात सुनकर वे नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। इसलिए तुमलोगों को आत्मतत्त्व बोधातीत हो गया है। वृक्ष का मूल जमीन में उत्तम रूप से दृढ़बद्ध न रहने से जिस प्रकार वह खड़ा नहीं रह सकेगा, ठीक उसी प्रकार मनुष्य-समाज के नैतिक चरित्र के दृढ़ हुए बिना समाज भी सिर ऊँचा किये खड़ा नहीं रह सकता। हिन्दू समाज के चार आश्रमों का मूल ही है—ब्रह्मचर्याश्रम। काल के प्रभाव से आज उस मूल आश्रम के नष्ट हो जाने के कारण उसके आगे के गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन तीन आश्रमों में अविचार, यथेच्छाचार आदि का अत्यन्त प्रचार हो जाने से सम्पूर्ण हिन्दू समाज इस प्रकार अधोगति प्राप्त हुआ है। देव-

देवियों की मूर्ति की पूजा, त्रिसन्ध्या, गायत्री जप तथा यज्ञ-होमादि के द्वारा मनुष्य को क्या लाभ या अलाभ अथवा मानसिक उन्नति या अ... होती है तथा उन बाह्यिक कर्मों का त्याग करके विचार-वैराग्य के ... तक ऊपर उठकर आत्मज्ञान प्राप्त करना होता है, इन विषयों को ... ब्रह्मचर्य-आश्रम में ही शिष्य को उत्तम रूप से समझा देते थे। आ... प्रकार के गुरु और ब्रह्मचर्य-आश्रम के अभाव से यथार्थ ज्ञान के न ... के कारण ८।६ वर्ष के बालकों के लिए विहित त्रिसन्ध्या और गा... करके ८० वर्ष का वृद्ध भी 'मैं उच्च श्रेणी का कट्टर ब्राह्मण हूँ' कह ... करता है। अतः वे सब कर्म निम्न श्रेणी के अधम अधिकारियों के ... निर्धारित हैं। उन कर्मों के द्वारा उनके मन बुरे कर्मों से निवृत्त हो... उन शास्त्र-विहित कर्मों में संलग्न रह कर देश और समाज की शान्ति ... करते हैं। परन्तु यदि कोई ज्ञान-पिपासु, मुमुक्षु व्यक्ति उन विषयों का ... सत्य तत्त्व जानने के लिए तुम्हारी तरह आकर व्याकुलता के साथ प्रश्न ... है तो उसे प्रकृत तत्त्व न बता कर कल्पित स्वर्ग-सुख-भोग का लोभ दि... केवल कर्म-सागर में भी निमज्जित रखना कभी उचित नहीं हो सकता। ... कारण तुमसे वेदान्त का अकाट्य सत्य तत्त्व कहता हूँ। इसके जान ... तुम माया-बन्धन से मुक्त होकर चिर शान्ति प्राप्त कर सकोगे।

भक्त—यह जो भारत के कोटि-कोटि मनुष्य पत्र-पुष्पों द्वारा मूर्ति... कर रहे हैं क्या इससे कोई भी फल नहीं है?

महात्मा—बेटा! तुम समझते हो इस प्रकार बाह्यिक कर्म-काण्ड ... के संलग्न रहने से ही उन कर्मों के द्वारा तुम अनेक धन-जनों से परि... कर मृत्यु-काल तक सुख से जीवन बिता सकोगे और उसी से तुम्हारे ... क्रोधादि चित्तमल प्रक्षालित होकर आत्म-दर्शन या भगवद्दर्शन से मुक्ति ... होगा। परन्तु वैसा कभी होने का नहीं है। प्राचीन समय के कोई भी ... ऋषि-महर्षि क्या कहीं किसी ग्रन्थ में जीव की मुक्ति के लिए आजकल ... लित कल्पित मूर्तिपूजा का उपदेश दे गये है! बल्कि श्रुति का आदेश ...

नास्त्यकृतः कृतेन—अकृतो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्ति।

अर्थात—"मोक्ष अकृत है अर्थात् किसी कर्म के द्वारा उसे उत्पन्न ...

किया जा सकता, वह आत्मा का नित्य स्वरूप है। ज्ञान के द्वारा ही वह जाना जा सकता है। अतः कृत कर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं होता।" जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी होता है। कर्म से किसी फल की प्राप्ति होती है। उस प्राप्ति का अप्राप्ति होना भी अनिवार्य है, इसी लिए कहा गया है कि कर्म का फल नाशवान् है।'

प्राचीन समय के ब्रह्मज्ञ ऋषियों ने अपने शिष्यों तथा दूसरों को आत्म-तत्त्व का उपदेश देते समय क्या कहा, उसे ध्यान देकर पढ़ोगे तो मूर्तिपूजा के विषय का भ्रम दूर होकर तुम सत्य तत्त्व जान सकोगे। उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था। राजर्षि जनक के प्रति अष्टावक्र मुनि का उपदेश भी वैसा ही था। इसी प्रकार राजर्षि जनक ने शुकदेव और सुलभा को, यमराज ने नचिकेता को, ब्रह्मा ने ऋग्वेदाचार्य महर्षि आश्वलायन को, याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को, सांख्या-चार्य कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को, देवराज इन्द्र ने दिवोदास-पुत्र प्रतर्दन को, महर्षि वसिष्ठ मुनि ने श्री रामचन्द्र को, सैन्धव मुनि ने श्री कृष्ण को, श्री कृष्ण ने अर्जुन को, पर्वत ऋषि ने प्रह्लाद को, गौरांग महाप्रभु ने सनातन को तथा स्वामी तोतापुरी ने रामकृष्ण परमहंस को इसी आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था। इस प्रकार के असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं। उपनिषद्, अष्टावक्र-संहिता, अवधूत-गीता, योगवासिष्ठ रामायण, श्रीमद्भगवद्गीता, भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थों से उन उपदेशों का पाठ करने से ही तुम जान सकोगे कि किसी प्रकार की मूर्तिपूजा करने के लिए किसी महान् पुरुष ने उपदेश नहीं दिया है और उन उपदेशों को सुनकर ही वे आत्मज्ञान प्राप्त कर जीवन-मुक्त हो गये थे। इस प्रकार संसार में जो व्यक्ति जितने ही उच्च स्तर तक पहुँचे हों, किसी एक आत्मज्ञ महापुरुष के निकट आत्मतत्त्व का श्रवण करके ही वे आत्मज्ञान प्राप्त करके माया-बन्धन से मुक्त होकर परम शान्ति प्राप्त कर सके थे। अतः यह बात स्पष्ट है कि, वेद-वेदान्त के युग से आज तक हजारों मुनि ऋषियों में कोई भी बाहरी कर्मकाण्ड के द्वारा आत्मज्ञान लाभ कर मुक्त नहीं हो सके थे। और न कभी कोई बाहरी पूजा आदि से कभी मुक्त हो सकेगा। तथापि तुम लोग केवल काल्पनिक मूर्तियों की पूजा आदि साधारण

बाहरी कर्मों से आत्मज्ञान प्राप्त कर शान्ति प्राप्त करना चाहते हो, यह पूर्ण अज्ञानता है।

भक्त—भगवन्! आपकी बात से मालूम हुआ कि शिव, राम, कृ काली, दुर्गा आदि देव-देवियों की मूर्त्तियाँ प्राचीन समय के पण्डितों की कल्पना हैं। तो क्या उनकी कल्पना के पहले हमारे भारत के हिन्दू किसी देव-देवी पूजा नहीं करते थे?

महात्मा—बेटा! वह आज से हजारों वर्ष पहले की बात है। उस प्राचीन समय के वेद-वेदान्त के युग में इस भारत के आर्य लोग किसी देव-देवी मूर्त्ति की पूजा नहीं करते थे। उन आर्य ऋषियों में जो उच्च कोटि के ब्र थे वे विचार द्वारा तत्त्वज्ञान के प्रभाव से इस जगत का मिथ्यात्व प्रत्यक्ष देख सदा ही आत्मध्यान में निमग्न रहा करते थे। दूसरे जो लोग मध्यमावस्था थे वे उन उच्च कोटि के ब्रह्मज्ञों के साथ सदा आत्मतत्त्वालोचना से ज्ञानल की चेष्टा करते थे। बिल्कुल निम्न कोटि के मुनि आग जलाकर यज्ञ कि करते थे और उसमें नाना प्रकार के देवताओं की कल्पना कर स्तुति-पाठ कर उनसे धन, जन तथा दीर्घायु की कामना करते थे तथा गाय, घोड़े, भैंसे, ब आदि नाना प्रकार के पशुओं का मांस यज्ञ में हवन करके उनका वह हुआ मांस खाकर जीवन धारण करते थे। कालान्तर में समाज-नेता महापु ने जब देखा कि केवल अग्नि में हवन करके ही भोग-पिपासु निम्नाधिक लोग परितृप्त नहीं हो रहे हैं, तब वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, काली, दु आदि देव-देवियों की मूर्त्तियों की मनुष्य के रूप में कल्पना कर फूल-पत्ती-भं नैवेद्य आदि तथा नाना प्रकार के पशुओंकी बलि द्वारा उनकी पूजा करने प्रथा समाज में प्रचारित करने लगे। क्रमशः उस आदर्श पर आज तुम उन कल्पित देव-देवियों की मूर्त्तियों की पूजा में प्रचुर भोग, नैवेद्य तथा प बलि देकर उनसे 'धनं देहि, जनं देहि' आदि शब्दों से धन-जन वृद्धि प्रार्थना कर रहे हो और मन में सोच रहे हो कि हम भगवान की यथेष्ट भक्ति रहे हैं तथा इन देवताओं की पूजा से हम परमात्मा परमपुरुष का साक्षात्कार होकर चिर शान्ति लाभ कर सकेंगे। परन्तु वह कभी होने का नहीं। बच्चा गुड़ियों से खेलते हुए यदि यह समझे कि मैं इसी तरह खेलते अपने पिता के समान विद्वान् होकर यथेष्ट धन कमा सकूँगा, तब वह उ

भ्रम ही होगा। इसी प्रकार प्रचलित यज्ञ, होम, पूजा, अर्चना आदि कर्म-काण्ड का अनुष्ठान करके यदि कोई यह समझे कि मैं इसीसे जन्म-मृत्यु-प्रवाह रुद्ध करके परम शान्ति रूप निर्वाण मोक्ष प्राप्त कर सकूँगा तो वह भी उसका भ्रम ही होगा।

भक्त—प्रभु ! आपकी बात से मैंने समझा कि हिन्दू समाज में वेद-वेदांत के युग में मूर्तिपूजा न रहने पर भी बाहरी याग-यज्ञ और जप-तप करने की प्रथा थी—जैसे कि आजकल हम पूजा और माला-जप आदि करते हैं। परन्तु इस कर्मकाण्ड के द्वारा यदि लोग कोई फल ही नहीं पाते तो इसे करते क्यों हैं।

महात्मा—बेटा ! मेरी बातों को तुम्हें बहुत ध्यान से तथा धैर्य के साथ सुनना होगा, नहीं तो किसी तरह समझ न सकोगे। संसार के दो विभाग हैं। पहला यह दृश्यमान जगत जो तुम्हारी स्थूल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो रहा है। इसका ही नाम 'बहिर्जगत' या 'व्यवहारिक जगत' है और दूसरा तुम्हारे शरीर में जो मन है उस मन के कल्पना-राज्य को 'अन्तर्जगत' कहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, हिंसा, द्वेष, विवेक, वैराग्य, विचार, कल्पना, ज्ञान आदि वृत्तियों के द्वारा ही इस मनोराज्य में नाना प्रकार के खेल चल रहे हैं। इसलिए इसे 'धर्मराज्य' भी कहते हैं। व्यवहारिक जगत के अज्ञानी शिशुओं को भले-बुरे या हित-अहित का विचार नहीं है, इसीलिए वे घर के मूल्यवान वस्तुओं को तोड़-फोड़ न डालें या अग्नि का सुन्दर रूप देख कर उसमें हाथ डालकर अपना हाथ न जला डालें या इस प्रकार के कुछ अन्य कुकर्म करके घर में अशान्ति और विशृंखला उत्पन्न न कर बैठें, इसके प्रतीकार के उद्देश्य से उनके हिताकांक्षी अभिभावक लोग उन अशान्त शिशुओं को शान्तभाव से रखने के लिए अच्छी-अच्छी गुड़ियाँ तथा गेंद आदि खिलौने देकर उन्हें उन्हीं खिलौनों में निविष्ट रखते हैं। धर्मजगत या आध्यात्मिक राज्य के अशान्त, विचार-शक्ति-हीन तत्त्वज्ञान शून्य शिशुओं के लिए भी ठीक उसी प्रकार जगतपिता आत्मतत्त्वज्ञ महापुरुष लोग मूर्तिपूजा आदि नाना प्रकार के शुभ कर्मों की व्यवस्था कर गये हैं। समाज के धूर्त, दुष्ट, कामुक, क्रोधी, लोभी, हिंसक आदि विचार-रहित अज्ञानी मनुष्य चोरी, डकैती, व्यभिचार, हत्या आदि नाना प्रकार के बुरे कर्म

करके समाज में अशान्ति और विश्रृंखला पैदा न कर सकें, उसके लिए समाज-हितैषी पितृ-तुल्य ब्रह्मज्ञ महात्मा लोग उसी प्रकार के यज्ञ, होम, मूर्तिपूजा आदि बाह्यिक कर्मकाण्ड की व्यवस्था कर गये हैं। व्यवहारिक जगत के शिशु जिस प्रकार भूख लगने पर खिलौना छोड़ कर क्षुधा-शान्ति के लिए रोने लगते हैं, बल्कि, उस समय उन्हें खेलने के लिए कहने पर भी वे उन गुड़ियों को फेंक कर 'ना ना' शब्द से रोते हुए अपनी असम्मति प्रकट करते हैं, ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिक राज्य के तत्त्वज्ञान-रहित शिशु भी धन-नाश या स्वजन-वियोग होने पर उसके शोक से अभिभूत होकर देव-देवियों की पूजा-अर्चना का भी परित्याग कर देते हैं। उस समय उन्हें अपने परमप्रिय पूजा-अर्चना में भी रुचि नहीं रहती। इस विषय में एक सत्य घटना तुमसे कहता हूँ, सुनो। बंगाल में एक व्यक्ति को एकाएक हैजा हो गया था, उसके बचने की कोई आशा नहीं थी। तब उसके माता-पिता ने काली माता से मनौती की कि "हे करालवदनी काली माँ, अबकी पूजा में एक जोड़ा बकरा और एक जोड़ा भैंसा तुम्हें बलि चढ़ायेंगे, हमारे पुत्र को बचा दो।" परन्तु वह रोगी नहीं बचा। शोकार्त माता-पिता ने अपनी इष्ट देवी से असन्तुष्ट होकर उस सात वार्षिक पूजा को ही बन्द कर दिया। पूछने पर लोगों से उन्होंने कहा—"काली ने जब हमारे पुत्र को ही मार डाला, तब उसकी पूजा हम क्यों करें?" इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। बेटा! चित्त-शुद्धि के लिए ही कर्म की आवश्यकता होती है। इसलिए वेदान्त कहते हैं—

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः॥

अर्थात्—"कर्म से चित्त की शुद्धि होती है, उससे वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। वस्तु की सिद्धि विचार द्वारा ही होती है। कोटि कर्मों से भी वस्तु-सिद्धि या ब्रह्मज्ञान का लाभ नहीं हो सकता।"

भक्त—प्रभु! इससे मैं समझता हूँ कि, मूर्ति आदि की पूजा करते-करते क्रमशः चित्त-शुद्धि होकर आत्मज्ञान लाभ होगा। परन्तु अब आपकी बात से इस विषय में असामञ्जस्य-सा प्रतीत हो रहा है।

महात्मा—बेटा! यहाँ 'चित्त-शुद्धि' का अर्थ तुमने क्या समझा? मन से

आत्मतत्त्व-श्रवण करने में रुचि उत्पन्न करने की चेष्टा का नाम ही 'चित्त-शुद्धि' है। एक दृष्टान्त देखो। एक बच्चे को ककहरा सिखाते समय यदि किसी पटिये पर केवल क ख लिख कर उसे दिया जाय तो वह अपना खेल छोड़ कर कभी तुम्हारे पास आकर उसे नहीं पढ़ना चाहेगा, क्यों कि वह समझता है कि खेल का आनन्द छोड़ कर तुम्हारे पास जाने से वहाँ बद्ध रह कर केवल क ख रटना होगा। उसमें कुछ भी आनन्द नहीं है। उस समय तुम क्या करते हो? जिस पुस्तक में क के सामने कुत्ता, ख के सामने खरगोश, ग के सामने गदहा, घ के सामने घण्टा आदि के रंगीन चित्र हैं इस प्रकार की कोई पुस्तक लाकर उस शिशु से कहते हो, 'देखो बेटा! इस पुस्तक में कैसे-कैसे सुन्दर चित्र हैं, देखना चाहो तो मेरे पास आओ।' अब तुम्हारी बातें सुनते ही चित्र देखने के लोभ से वह शिशु तुम्हारे पास दौड़ कर आ जायेगा और इसी मौके से तुम उसे कुत्ते का क, खरगोश का ख, गदहे का ग, घण्टे का घ आदि सिखा देते हो। उस कुत्ते, खरगोश आदि के चित्रों को देखते हुए उस शिशु का चित्त शुद्ध होकर क्रमशः उसमें क ख ग घ पढ़ने में रुचि उत्पन्न होती है। शिशु का मन जिस प्रकार खेल का आनन्द छोड़ कर किसी तरह भी लिखने-पढ़ने की ओर नहीं जाना चाहता, उसी प्रकार अध्यात्मराज्य के शिशु के शिश्नोदर-परायण मन सदा ही सांसारिक धन-जन आदि के उपभोग के खेल में इतना प्रमत्त रहता है कि इन विषयों की चिन्ता छोड़ कर क्षणभर के लिए भी आत्म-चिन्ता की ओर नहीं जाना चाहता। चित्र दिखा कर जिस प्रकार नादान बच्चों के मन में लिखने-पढ़ने की ओर रुचि उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार अध्यात्मजगत के अज्ञानी शिशुओं के मन में भी भजन, कीर्तन, गाना-बजाना, सन्ध्या-वंदन, पूजा-अर्चना आदि के द्वारा स्वर्गसुख का प्रलोभन दिखा कर अर्थात् किसी भी प्रकार से उनके मन को स्वेच्छाचारिता तथा अविचारिता के हाथ से बचा कर ब्रह्मचर्य-पालन द्वारा आत्मतत्त्व-श्रवण में रुचि पैदा करने की चेष्टा की जाती है। मन में कुछ विचार-शक्ति उत्पन्न होने पर मूर्ति-पूजा, सन्ध्या-वंदन, होम-जप आदि कुत्ते, खरगोश आदि के चित्रों की तरह प्रलोभन-सूचक हैं, यह समझते ही सुबुद्धिमान व्यक्ति उन असार कर्मों का त्याग कर आत्मतत्त्व में संलग्न हो जाते हैं। इस विषय में

महर्षि वसिष्ठ मुनि ने भी श्रीरामचंद्र को उपदेश देते समय कहा था—"हे राम, 'यद्यपि विचार ही ज्ञान-लाभ का कारण है तो शास्त्रों में विष्णुभक्ति का विधान क्यों है ?' तुम ऐसी चिन्ता न करो। मूढ़ लोग विषयासक्ति के प्रभाव से अध्यात्मशास्त्र की चर्चा, इन्द्रिय-विजय और आत्मानात्म-विचार इन सब शुभ विषयों में अवस्थान नहीं कर सकते। वैसे मूढ़ों को शुभ मार्ग में आकृष्ट करने के लिए ही शास्त्र में विष्णुभक्ति का उपदेश है। नहीं तो विष्णुभक्ति ज्ञानलाभ का साक्षात् उपाय नहीं है। यदि उपयुक्त नियम से इन्द्रिय-विजयी हो सको तो विष्णुपूजा की आवश्यकता ही क्या है ? और यदि पूजा करके भी सहस्र-लोचन इन्द्र की तरह इन्द्रिय-विजयी न हो सको तो विष्णुपूजा का फल ही क्या है ? विषयानुराग के अभाव और विचार के बिना सर्वव्यापक विष्णु नहीं मिलते। परन्तु जो लोग विचार और उपशम द्वारा मुक्त हो गये हैं, वे सर्वात्मक विष्णु को क्या प्रदान करेंगे ?"

(योगवाशिष्ठ उ० प्र०—४३ सर्ग, २०, २२, २३ श्लोक)।

मान लो, कोई बालक किसी विद्वान व्यक्ति के निकट 'क ख ग घ' न पढ़ कर जीवन भर दूसरे बालकों के पास बैठकर क ख ग घ के साथ संलग्न कुत्ता, खरगोश, गदहा, घंटा ही देखता रहे तो क्या वह कभी विद्यार्जन कर सकेगा ? या वैसा कोई कर सका है ? कभी नहीं। बालक को पढ़ने की ओर आकृष्ट करने के लिए ही क ख ग घ वर्णमाला के साथ चित्र अंकित कर दिये गये हैं। यह तत्त्व विज्ञ व्यक्ति के अतिरिक्त एक बालक दूसरे बालक को कैसे समझायेगा ? वर्तमान युग में तुम्हारे धर्म-कर्म भी ठीक उसी प्रकार से चल रहे हैं अर्थात् आत्मज्ञानरहित एक अज्ञानी व्यक्ति माला-तिलक-कौपीन धारण कर गुरु बन गया है और वह दूसरे अज्ञानी व्यक्तियोंको उपदेश दे रहा है। इसी कारण जन-समाज में आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व के विषय में अज्ञान इतना अधिक फैल गया है। इस प्रकार के धर्मध्वजी गुरुओं के प्रति तुलसीदासजी कहते थे—

पानी मिले न आपको, औरन बख्सत खीर।
आपन मन निश्चल नहीं, औरन बँधावत धीर॥

अर्थात्—"स्वयं पान करने के लिए थोड़ा-सा जल तक अपने घर में नहीं

है, परन्तु दूसरों को वह दूध पिलाना चाहता है। इसी प्रकार अपना मन तो चंचल है और दूसरों को धीर होने का उपदेश देता है। प्रायः सभी मनुष्यों का ऐसा ही स्वभाव दिखाई पड़ता है।"

भक्त—दयामय! आपकी बात से मुझे मालूम हुआ कि बच्चों को गुड़ियों के साथ खेलने में कोई फल नहीं मिलता, वैसे ही वेदोक्त यज्ञ, होम अथवा पुराण-कल्पित देव-देवियों की मूर्त्तियों की पूजा करने से भी मनुष्य के मन की उन्नति नहीं होती तो वेदों तथा पुराणादि ग्रन्थों में—'इस यज्ञ के करने से से वैसा फल मिलेगा, उस देवता की पूजा से ऐसा फल प्राप्त होगा, लक्ष बार माला जप करने से उस प्रकार का फल होगा' ऐसी फलश्रुतियाँ क्यों लिखी हैं? 'यज्ञ और जप-तप आदि कर्मों के द्वारा ब्रह्मलोक में गमन होता है और वहाँ प्रचुर ऐश्वर्य का भोग रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है।' इस प्रकार भी शास्त्र की आज्ञा है। अतः मोक्ष के लिए अनेक कष्टसाध्य ज्ञान के उत्पादन की क्या आवश्यकता है?

महात्मा—ऐश्वर्य के द्वारा मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, क्योंकि उसका क्षय होते ही फिर दुःख उत्पन्न होता है। जिन देवताओं की उपासना करके तुम ऐश्वर्य प्राप्त कर सुखी होना चाहते हो उन्हें भी दुःख भोग करना पड़ता है, ऐसा शास्त्र में वर्णित है। अतः ब्रह्मा आदि देवताओं की उपासना के द्वारा सिद्धि लाभ करने पर भी मनुष्य को कृतार्थ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ब्रह्मादि की भी योगनिद्रा रूप योगाभ्यास सुना गया है। अतः यह सुनिश्चित है कि यदि ब्रह्मादि भी योगाभ्यास करते हैं तो उनकी उपासना से ऐश्वर्य प्राप्ति होने पर भी मनुष्य कृतार्थ नहीं हो सकता। ब्रह्मादि देवताओं ने जिस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त ज्ञानलाभ के उद्देश्य से योगाभ्यास किया था, उसी प्रकार मनुष्य मात्र को मोक्ष के कारण रूप ज्ञानलाभ के निमित्त योगाभ्यास में प्रयत्न करना चाहिये और तुम जो कर्म-काण्ड की उत्तम फलश्रुति की बात कहते हो, पाप के भय और पुण्य के लोभ के द्वारा समाजपतियों ने अज्ञानी डाकुओं के हाथ से मनुष्य समाज की रक्षा करने के निमित्त शुभ कर्मों का विधान करके समाज में शान्ति स्थापित की है। सभी देशों के समाजों में बुद्धिमान व्यक्तियों के द्वारा ऐसी ही प्रथा अनादि काल से चलती आ रही है। स्वर्गसुख और भोग

की लालसा से अज्ञानी मनुष्य जगत् में पुण्य कर्म किया करते हैं और नरक दुःख के भय से बुरे कर्म से निवृत्त रहते हैं। अतः उन अज्ञानियों के चित्त को कर्म-काण्ड में संलग्न रखने के उद्देश्य से ही समाजपतियों ने कर्म-काण्ड में उस प्रकार उत्तमोत्तम फल लिख दिये हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण श्रीमद्भगवद्गीता के अन्त में लिखित गीता-माहात्म्य की फलश्रुतियाँ हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने आज्ञा दी है कि 'फलाकांक्षा छोड़कर तुम निष्काम भाव से कर्म करो' और उसी गीता के माहात्म्य में यह भी लिखा है कि गीता के पाठ करने से धन-जन, सुख-सौभाग्य की वृद्धि तथा सर्व-रोगादि से मुक्ति होती है और गीता-पुस्तक-संयुक्त होकर यदि कोई मर जाता है तो वह सीधे वैकुण्ठलोक में चला जाता है।' अतः गीता के पाठ के पहले 'गीता-पाठ से मैं धन-जन, सुख-सौभाग्य तथा मुक्ति पा सकूँगा', ऐसी कामना का मन में उदय होना स्वाभाविक है। एक ही श्रीकृष्ण के मुख से दो प्रकार की विरुद्ध बातों का क्या आशय है? केवल अल्पबुद्धियुक्त अविवेकी व्यक्तियों को गीता पाठ कराकर आत्मतत्त्व में रुचि उत्पन्न करने के लिए ही उस प्रकार के प्रलोभन-सूचक रोचक वाक्य गीता के लेखक अन्त में लिख गये हैं। याद रखना कि वेद वेदान्त आदि सभी धर्मग्रन्थों के कर्म-काण्ड में विश्वपिता आत्मज्ञ महात्माओं के आदेश-वाक्य निषेध-वाक्य रोचक-वाक्य और शासन-वाक्य हैं। सब निम्नकोटि के अज्ञानियों के लिए शुभ कर्म करने का आदेश दिया गया है फिर बुरे कर्म करने का निषेध भी किया गया है। उस आदेश से लक्षित शुभ कर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रकार के रोचक वाक्य तथा बुरे कर्म में अरुचि उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रकार के शासन-वाक्य भी बताये गये हैं। उन वाक्यों का आशय समझ लेना चाहिये।

तत्त्वज्ञानरहित व्यक्तियों का चित्त धन-जन आदि विषयों में संलग्न रहकर भोग की कामना से सदा ही छटपटाता रहता है। उनके हृदय में हर समय वासना की आग भभकती रहती है। अतः उन भोग-पिपासु व्यक्तियों का मन यज्ञ और पूजा-अर्चना आदि कर्मों के उत्तमोत्तम फलों की बात सुन कर उस सुख-भोग की आशा से प्रलुब्ध होकर उस प्रकार के शास्त्रोक्त शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस कारण अधम से अधम अविवेकी, भोग-सुख में लोलुप

मनुष्यों का उस प्रकार के कर्म-काण्ड में तत्पर रहना असंगत नहीं है। साधारण मनुष्यों के लिए बुरे कर्म और अत्याचार-अविचार द्वारा समाज में अशान्ति उत्पन्न करने की अपेक्षा शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड में तत्पर रहना ही अच्छा है। क्योंकि इससे समाज के अन्य लोगों में शान्ति ही कायम रहती है। इसीलिए श्रुति पहले कर्मविद्या का उपदेश देकर तदनन्तर उसकी निन्दा करती है। कर्म की निन्दा से ज्ञान की प्रशंसा होती है। जैसे कि श्रुति में लिखा है—"इस प्रकार के यज्ञादि कर्मों के फल प्लव ( बेड़ा ) अदृढ़ है अर्थात् इनसे संसार-समुद्र का पार नहीं किया जा सकता। जो मूढ़ इन यज्ञादि कर्मों को श्रेयस्कर समझता है, उसे बार-बार जरा-मरण प्राप्त होता है।" श्रुति ने इस प्रकार कर्म की निन्दा करके अन्त में वैराग्यवान् पुरुष को परा विद्या का अधिकार दिया है। जैसे कि "ब्राह्मण कर्मोपार्जित स्वर्गादि लोकों की परीक्षा करके उन्हें अनित्य जानकर उनमें वैराग्य प्राप्त करें अर्थात् कर्म में आसक्ति छोड़ दें। कर्म से मुक्ति नहीं मिलती। ऐसे पुरुषों को ब्रह्मज्ञान लाभ के लिए समिध उपहार हाथ में ले कर वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये।" ( मुण्डकोपनिषद् )।

भक्त—प्रभु ! आपने कहा 'वेद के ब्रह्मज्ञ ऋषियों ने इन बाहरी कर्मों के करने की आज्ञा देकर बाद में उनकी निन्दा करते हुए आत्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।' महापुरुषों के एक ही मुख से आदेश और निषेध, इन दो विरुद्ध बातों के कहने का आशय क्या है ?

महात्मा—जिस प्रकार तुम अपने घर के बाल-बच्चों को खिलौनों के खेल में लगा रख कर घर में शान्ति का प्रबन्ध कर लेते हो, उसी प्रकार जगत्पिता स्वरूप महात्मा लोग भी अन्तर्जगत के विचारहीन भोग-पिपासु शिशुओं को बाह्य कर्म करने की आज्ञा देकर उस कर्म-काण्ड में उन्हें संलग्न रखकर देश और समाज में शन्ति बनाये रखने का प्रबन्ध किया करते थे। तुम्हारे बाल-बच्चों के क्रमशः बड़े होने पर जैसे तुम उन खिलौनों के खेल की निन्दा करते हुए उनमें तरह-तरह के दोष दिखाकर उनके चित्त को पढ़ने-लिखने में आकृष्ट करने की चेष्टा करते हो और वह बच्चे भी उस समय तुम्हारी युक्तिपूर्ण बातों से आप क्रमशः उस खिलौनों के खेल को तुच्छ समझ कर पढ़ने-लिखने में

ही संलग्न हो जाते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत के शिशुओं के भी सत्संग में रह कर तत्त्वज्ञान की बात सुनते-सुनते जब विचारशक्ति होती, तब आत्मज्ञ महापुरुष उन्हें बाहरी पूजा आदि कर्म-काण्ड की युक्तियों से दिखाकर तथा क्रमशः इह परलोक के सुख-भोग में दोष पूर्वक आत्मतत्त्व का उपदेश देते थे। अधिकारी मुमुक्षु व्यक्ति उनकी पूर्ण बातों से तथा अपनी विचारशक्ति के बल उन कर्मों की समझकर क्रमशः ज्ञानराज्य की ओर आकृष्ट होते थे। महात्मा ईसा ने कहा था—"मैं और मेरे पिता एक ही हैं।" फिर उन्होंने साधारण की उन्नति के लिए उपास्य-उपासक रूप से द्वैतवाद का उपदेश भी दि गीता में श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को उपदेश देते हुए धर्म-पिपासु व्यक्ति लिए आत्मज्ञान तथा निम्नाधिकारी के लिए कर्म-योग का विधान किया

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मनः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषवहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रेति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(भगवद्गीता अ० २ श्लोक ४२-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(—श्लो०

अर्थात्—"हे पार्थ! विचारविहीन व्यक्ति जिस कर्मकाण्ड की बात वह उनमें विचारशक्ति के अभाव के कारण ही श्रुतिमधुर प्रतीत जो लोग वेद के कर्म-काण्ड के प्रशंसावाक्य के अनुगामी हैं, वि प्रकाशक वेद-वाक्य ही जिनके आनन्द के कारण हैं; वैसे मूढ लोग फलजनक कर्मों के अतिरिक्त और किसी को धर्मकार्य रूप से स्वीकार नहीं

कि उनके मन सदा ही कामनापूर्ण रहते हैं। इस कारण केवल स्वर्गसुख-
ा ही जिनका परम पुरुषार्थ है, वे जन्म, कर्म और फल देने वाले वेदवाक्य
भोगैश्वर्य-प्राप्ति के उपाय रूप वेद के कर्मकांड की प्रशंसा-सूचक वाणियों
व्याख्या करते हैं। भोग में आसक्त तथा लोभजनक श्रुतिमधुर वाक्यों में
ष्ट-चित्त उन मूढ़ों के मन में कभी परमेश्वर की एकाग्रनिष्ठा रूप समाधि
ात् निश्चयात्मिका बुद्धि का अभ्युदय नहीं होता। अतएव हे अर्जुन! सत्त्व
और तम, इन तीन गुणों ने जिन्हें बाँध रखा है, वैसे अधम मनुष्यों के
ए वेद में कर्मकांड की व्यवस्था की गयी है। इसलिए तुम उन तीनों गुणों
अतीत हो जाओ; सुख-दुःख, शीत-उष्ण, राग-द्वेष, मान-अपमान आदि
ों में समान रहकर योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु
रक्षा) रूप प्रयत्न का परित्याग कर तुम नित्य परमात्मा परमेश्वर का
श्रय ग्रहण करो।" पुनः कह रहे हैं—"कर्मफल-विधायक वेद-मन्त्रों को
ते सुनते तुम्हारी बुद्धि विक्षिप्त हो गयी है। वह बुद्धि जब आत्मा में समाहित
कर अचल रूप से अवस्थित हो जायगी, तभी तुम्हें योग की सम्प्राप्ति होगी।"

अनादिकाल से ही अधिकारियों के अनुसार उपदेशों में भेद होता आ
ा है और ऐसा ही भेद आगे भी होता रहेगा। स्कूल-कालेज के शिक्षक
स प्रकार श्रेणियों के भेद से विभिन्न प्रकार की पाठ्य-पुस्तकों का प्रबन्ध
ते हैं, ठीक उसी प्रकार वेद के ब्रह्मज्ञ ऋषि भी अधिकारी-भेद से धर्म-तत्त्वों
उपदेश दिया करते थे। निम्न श्रेणी के छात्र के सामने एम. ए. कक्षा
विज्ञान के विषय का व्याख्यान देने से जिस प्रकार वह कुछ भी नहीं समझ
कता, उसी प्रकार विषय-भोग में लालायित होकर जो केवल कामिनी-कांचन
संग्रह में ही जीवन भर अशान्त चित्त से नाना प्रकार के अशुभ कर्मों में
लिप्त रहते हैं ऐसे अनधिकारी अध्यात्म राज्य के शिशुओं के निकट आत्म-
तत्त्व की व्याख्या करने से वे कुछ भी नहीं समझ सकते। अतः अधिकारी-भेद
से कर्म का आदेश और निषेध दोनों ही आवश्यक हैं। इस बात पर विशेष
ध्यान रखना कि, वेद-वेदान्त से लेकर किसी भी शास्त्र या महापुरुष की वाणी
उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के मनुष्यों के लिए उपदेश हैं।
मनुष्यों की योग्यता के अनुसार ब्रह्मज्ञ गुरु उन शास्त्र-वाक्यों या उपदेशों को

समझा देते हैं, यही शास्त्र की आज्ञा तथा प्राचीन समय की प्रथा हमारे समाज में अनादिकाल से चली आ रही थी। परन्तु आजकल के ... रहित अज्ञानी व्यवसायी गुरुओं के हाथ में पड़कर वह आत्म-ज्ञान ... हो गया है तथा जो लोग इस आत्म-ज्ञान की चर्चा करते हैं, उन्हें ... कहने में भी वे कुण्ठित नहीं होते।

भक्त—प्रभु! अनेक मनुष्य यज्ञादि कर्म करके या देव-देवियों ... धना तथा जप-तप, पूजा आदि के द्वारा अपने इष्ट देवता का साक्षात् ... सके थे और कोई-कोई देववाणी भी प्राप्त हुए थे। इस प्रकार देव ... आराधना करके नाना प्रकार के आश्चर्यजनक फल प्राप्त होते हैं, ... प्रकार सम्भव हो सकता है?

महात्मा—बेटा! तुम्हारे कथित शाक्त, वैष्णव, शैव आदि ... लोगों ने जो निद्रित अवस्था में देवताओं का दर्शन पाया था, क्या उनमें ... शाक्त कृष्णमूर्ति का अथवा वैष्णव कालीमूर्ति या शिवमूर्ति ... पाता था? यथार्थतः वैसा कभी नहीं होता। ईसाई कभी काली या ... का दर्शन नहीं पाता। वह केवल बालक ईसा और उनकी माता ... का ही दर्शन पाता है। इसी प्रकार शाक्त कालीमूर्ति का, वैष्णव ... राम की मूर्ति का और शैव शिवमूर्ति का ही दर्शन पाते हैं। इसका ... क्या है? जरा सोच कर देखो कि, देवताओं में परस्पर के भीतर कोई ... नहीं है। काली माता वैष्णव को अथवा राम या कृष्ण शाक्त और ... दर्शन नहीं देंगे—ऐसा नहीं हो सकता। तो इस प्रकार सीमाबद्ध व्यवस्था ... हुई? इससे स्पष्ट ही समझ सकते हो कि, अपने-अपने मन की कल्पना के ... ही ऐसा होता है। एक सत्य घटना सुनो—

एक कृष्णभक्त बुढ़िया एक दिन मुझसे आकर एकान्त में ... "बाबा, मुझे निश्चित विश्वास है कि, आपके द्वारा ही मुझे श्रीकृष्ण ... दर्शन प्राप्त होगा। मैं आपसे और कुछ नहीं माँगती, केवल मुझे उन ... वाले नन्द-नन्दन श्यामचन्द्र का दर्शन करा दीजिये।" मैं जानता ... इस प्रकार कल्पित मूर्ति के दर्शन से किसी प्रकार की भी आध्यात्मिक ... नहीं प्राप्त हो सकती। इस कारण पहले दो दिनों तक कठोर वचनों ...

…ना कर दिया था। परन्तु तीसरे दिन उसने मुझे इस प्रकार से घेरा कि, उससे पीछा छुड़ाने के लिए मैंने कह दिया कि, मैं जिस प्रकार से बतलाता हूँ ठीक उसी रीति से तुम दो मास तक ध्यान करती रहो तो तुम्हें अवश्य श्रीकृष्ण का दर्शन हो जायगा। उसके बाद मैंने उसे ध्यान करने का तरीका बता दिया। बुढ़िया खुश होकर चली गयी और घर जाकर एकान्त में कृष्ण-मूर्ति का ध्यान करने लगी। उसके प्रबल आग्रह और एकाग्रता के परिणाम स्वरूप थोड़े ही दिनों में उसे अपनी इष्टमूर्ति प्रत्यक्ष होने लगी। एक मास बीतने के पहले ही उस बुढ़िया ने आकर मुझसे कहा—"बाबा, अब मैं निद्रा में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन कभी-कभी पाती हूँ। परन्तु वह बहुत देर नहीं ठहरते।" अब तुम समझ गये कि, इन सब मूर्तियों का दर्शन हर व्यक्ति के अपने-अपने मन के संस्कार और रुचि के अनुसार कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है।

हे सुव्रत! मान लो कोई कह रहा है—'सिरदर्द कितना कष्टदायक है, इसे स्वयं देख चुका हूँ।' दूसरा कहता है—'पुत्र-शोक की कैसी जलन है वह अपने पुत्र की मृत्यु से प्रत्यक्ष देख चुका हूँ।' इन दोनों का सिरदर्द या पुत्र-शोक क्या आँख से दिखाई पड़ता है? उन्होंने सिरदर्द और पुत्र-शोक से अभिन्न रह कर ही अपने मन में उनका प्रत्यक्ष अनुभव किया था और उस प्रत्यक्ष अनुभव को ही 'देख चुका हूँ' कह कर प्रकट किया है। ईश्वर, काली, कृष्ण, राम या आत्मा की शक्ति का दर्शन करने में भी ठीक उसी प्रकार से अनुभव करना होगा। मैं अपने शरीर से तुम्हें जिस प्रकार द्वैतभाव से देख रहा हूँ, आत्मा या परमेश्वर को उसी प्रकार द्वैतभाव से पृथक नहीं देखा जा सकता। पृथक द्वैतभाव से देखने की जगह अपरोक्षानुभव द्वारा देखना ही यथार्थ में अभ्रान्त दर्शन है। अतः 'दर्शन' शब्द से केवल आँखों से बाहरी वस्तुओं का देखना ही नहीं है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही दर्शन (प्रत्यक्ष) होता है और उन इन्द्रियों की सहायता बिना भी मन स्वयं भी देखता है और वही यथार्थ दर्शन है। इस प्रकार दर्शन का नाम ही 'प्रत्यक्षानुभूति' या 'अपरोक्ष ज्ञान' है।

भक्त—प्रभु! तो हम लोग जो शास्त्र के आज्ञानुसार नाना प्रकार से देव-

देवियों की पूजा-अर्चना द्वारा भगवान की उपासना करते हैं उससे क्या अज्ञान दूर हो कर आत्मतत्त्व-ज्ञान-लाभ की सहायता नहीं होगी या कोई सुख-शान्ति नहीं मिलेगी ?

महात्मा—बेटा ! तुम जो भगवान् की उपासना करते हो, तुम्हारे भगवान कैसी वस्तु है। वह लाल हैं या काले; गोल हैं या लम्बे; मनुष्य की तरह हैं या पशु अथवा वृक्ष की तरह; वे कहाँ किस भाव से और किस तरह हैं ? और तुम्हीं कौन हो ? उनके साथ तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या है ! इन तत्त्वों को तुम जानते हो क्या ?

भक्त—भगवन् ! उन सब विषयों को मैं नहीं जानता सही, परन्तु इतना तो अवश्य जानता हूँ कि, अपने इष्टदेव की मूर्ति की फूल, पत्ते, नैवेद्य के द्वारा पूजा करने से भगवान प्रसन्न होकर उसी भाव से दर्शन दिया करते हैं।

महात्मा—बेटा ! भगवान की संख्या अनेक नहीं है कि, वह पृथक् पृथक् उपासक के लिए पृथक् पृथक् भगवान के रूप में नियुक्त रहे हों और यह भी सम्भव नहीं है कि फूल, पत्ती, नैवेद्य देते ही वह उनके लोभ से दौड़े चले आवेंगे।

भक्त—प्रभु ! तो हममें से कोई शाक्त कालीमूर्ति, शैव शिवमूर्ति, वैष्णव राम या कृष्णमूर्ति आदि रूप से विभिन्न सम्प्रदाय के लोग पृथक्-पृथक् मूर्ति बनाकर जो भगवान की उपासना करते हैं, इसका क्या कारण है ! इस पूजा और उपासना के कार्य से हमें निश्चित विश्वास हो गया है कि, इसी से भगवान का दर्शन प्राप्त कर उनकी कृपा से हम धन-जनों से पूर्ण होकर सुखी जीवन बिता सकेंगे।

महात्मा—तुम तो ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए हो। अच्छा, बोलो तो, काली, दुर्गा या और किसी मूर्ति की पूजा करने के लिए आसन पर बैठ कर सब से पहले कौन क्रिया करते हो ?

भक्त—प्रभु ! मैं किसी मूर्ति की पूजा में बैठकर पहले करन्यास, उसके बाद अंगन्यास, उसके बाद बहिर्मातृकान्यास, अन्तर्मात्रिकान्यास और संहारमातृकान्यास करता हूँ। उसके अनन्तर सोऽहं भाव में रह कर 'ॐ परमात्मने नमः' मन्त्र से अपने ही सिर पर फूल देकर आत्मपूजा करता हूँ।

महात्मा—तुमने जो करन्यास आदि पाँच प्रकार के न्यासों की बात कही है, उनका अर्थ क्या है और किस प्रकार से वे किये जाते हैं ?

भक्त—प्रभु ! अर्थ तो मैं नहीं जानता, केवल उस मन्त्र का उच्चारण कर वैसी क्रिया करता जाता हूँ ।

महात्मा—मन्त्र का अर्थ जाने बिना उससे पूजा का कार्य कैसे सिद्ध होगा और मन्त्र का अर्थ बिना जाने मन्त्र-चैतन्य ही कैसे होगा ? महानिर्वाण तन्त्र की आज्ञा है—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं यो न जानाति साधकः ।
शतलक्षप्रजप्तोऽपि तस्य मन्त्रो न सिद्ध्यति ॥

अर्थात्—"जो साधक मन्त्र का अर्थ और मन्त्र-चैतन्य ( शक्ति ) नहीं जानता शतलक्ष बार जप करने से भी उसके मन्त्र की सिद्धि नहीं होती ।" बेटा ! वर्तमान युग के पूजक उन मन्त्रों का अर्थ और शक्ति के विषय में अज्ञान के कारण ही केवल बाह्यिक धर्म की ध्वजा दिखा कर अपने धनोपार्जन का रास्ता बना लेते हैं । परन्तु यदि उन मन्त्रों का वह अर्थ समझते तो बाहरी पूजा में रुचि घट जाती और भीतरी आत्मपूजा में रुचि उत्पन्न होती । अच्छा, तुम जो आत्मपूजा की बात कहते हो उस आत्मपूजा का अर्थ है—अपनी पूजा । अब बताओ, काली, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि कोई देवमूर्ति यदि तुमसे श्रेष्ठ होती तो पूजा में बैठकर सबसे पहले उस मूर्ति की पूजा न करके तुम अपने ही सिर पर फूल देकर अपनी पूजा क्यों करते हो ?

भक्त—मेरे कुलगुरु ने बतला दिया है इसलिए पहले मैं अपनी ही पूजा करता हूँ, परन्तु उसका उद्देश्य मैं नहीं जानता । आज आप की बात से मन में प्रश्न का उदय हो रहा है । पहले ही अपनी पूजा क्यों करता हूँ, मैं नहीं बतला सकता । प्रभु ! सोऽहं भाव में रह कर जो मैं अपने सिर पर फूल देता हूँ इस सोऽहं शब्द का अर्थ क्या है ?

महात्मा—तुमने अब की अनोखा प्रश्न किया है, इस सोऽहं शब्द का अर्थ न जान कर तुम सोऽहं भाव का अवलम्बन कैसे करते हो ? शब्दार्थ और उसका भावार्थ न जानने से तुम्हारा मन कैसे सोऽहं भावापन्न होगा ? अब तुम स्पष्ट ही समझ सकते हो कि तुम्हारी अब तक की पूजा सिद्ध नहीं हुई

है। सोऽहं शब्द का अर्थ है—'वह ही मैं हूँ' अर्थात् मैं जिसकी पूजा क[illegible] वह परमात्मा ही मैं हूँ। ऐसी भावना मन में रख कर ही अपने सिर प[illegible] देना होता है। इसी कारण शास्त्रों में भी आदेश है—

देवो भूत्वा देवं यजेत्।
नाविष्णुः पूजयेत् विष्णुं, नाशिवः पूजयेत् शिवम्।

अर्थात्—"स्वयं देवता होकर देवता की पूजा करनी चाहिये। वि[illegible] बन कर विष्णु-पूजा करना और शिव न बनकर शिव-पूजा करना अ[illegible] है।" अतः यदि तुम्हारा मन देवत्व प्राप्त न हो तो कैसे तुम उन दे[illegible] की पूजा करोगे? बेटा! दो पुरुष एक स्थान में एक ही समय आ ज[illegible] हों तो उनमें जो श्रेष्ठ हैं पहले वही बैठने का आसन और पूजा पाया करते[illegible] दूसरा उसके बाद पाता है, यही स्वाभाविक नियम है। मान लो, तुम[illegible] पिता के साथ किसी भद्र पुरुष के घर गये। वहाँ तुम्हारे पिता का ही स[illegible] पहले होगा, उन्हीं को पहले आसन ग्रहण करने लिए कहा जायगा। [illegible] की रकाबी भी उन्हीं को पहले दी जायगी। अब विचारो कि, तुम किसी[illegible] की पूजा करने के लिए बैठते ही आसन-शुद्धि कर लेते हो। उसके[illegible] मन्त्रोच्चारणपूर्वक फूल ले कर अपने सिर पर अपनी ही पूजा करके यही [illegible] करते हो कि सोऽहं अर्थात् जिस देवता की मैं पूजा कर रहा हूँ, 'वही[illegible] और तुम पूजक जब तक अपने सामने की देवमूर्ति का प्राण-दान ([illegible] प्रतिष्ठा) और चक्षु-दान न करोगे तब तक वह मूर्ति प्राण-हीन और चक्षु[illegible] मृत ही रहेगी। तुम मन्त्र पाठपूर्वक जब उस मृत मूर्ति का प्राण-दान[illegible] चक्षु-दान कर देते हो तब तुम्हारे दिये हुए प्राण और चक्षु पा कर वह[illegible] जीवित हो उठेगी और तभी उसमें देवत्व उत्पन्न होगा, उसके पहले [illegible] तदनन्तर जब तुम उस मूर्ति से कहोगे कि 'यहाँ बैठें, मेरी पूजा ग्रहण क[illegible] तब वह देवमूर्ति तुम्हारे बताये हुए स्थान में ही बैठती है और पूजा[illegible] नैवेद्य आदि का ग्रहण करती है। उस स्थान के आस-पास और भी दूस[illegible] उत्तम आसन या उत्तमोत्तम नैवेद्य हों भी, तथापि तुम्हारे निर्देशित [illegible] और नैवेद्य के अतिरिक्त वह देवता स्वेच्छा से कोई दूसरा आसन या [illegible] ग्रहण नहीं कर सकते। अब तुम उस मूर्ति के निकट 'धनं देहि' 'जनं दे[illegible]

आदि शब्दों से नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ करते हो। उसके बाद पूजा समाप्त होने पर उस मूर्ति का तुम विसर्जन करते हो अर्थात् कहते हो—'अब आप यहाँ से चले जायँ।' तुम्हारा यह आदेश सुनते ही वह देवता उसी समय उस मूर्ति को छोड़ कर चले जाते हैं। क्योंकि उस मूर्ति में रह कर और भी कुछ क्षणों तक उस भोग-नैवेद्यादि के भोजन की इच्छा रहते हुए भी तुम्हारी आज्ञा के विरुद्ध वह स्वेच्छा से क्षणभर भी उस मूर्ति में रह नहीं सकते। इस बात को वह अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए उनको तुरन्त चला जाना पड़ता है। अब वह मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठा की पूर्वावस्था प्राप्त होकर शवावस्था में (मुर्दे के समान) पड़ी रह जाती है। मान लो, किसी मृत व्यक्ति को तुमने अपनी शक्ति से जिला दिया; ऐसे स्थल में जो मृत व्यक्ति जीवित हुआ, उसकी शक्ति को अधिक कहा जायगा या तुम्हारी शक्ति को?

भक्त—दयामय! अपनी शक्ति से जब मैंने मृत व्यक्ति का जीवनदान दिया तो मेरी ही शक्ति अधिक है, यही बात सब लोग कहेंगे।

महात्मा—हे सुमते! पूर्वोक्त विषयों को अब तुम अपने मन में स्वतन्त्र चिन्ता द्वारा विचार कर देखो, तुम और तुम्हारे मनःकल्पित देवता—इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है और कौन निकृष्ट? उस देवमूर्ति के विद्यमान रहते हुए भी उनका कोई स्वागत बिना किये तुम्हीं पहले पवित्र आसन पर बैठ कर स्वयं अपनी पूजा करते हो। इस प्रकार से तुम स्वयं सुप्रतिष्ठित हो कर उस मृत मूर्ति को प्राण-दान और चक्षु-दान दे कर जीवित करते हो और तुम उन्हें जहाँ बैठने और जिस वस्तु को खाने के लिए आज्ञा देते हो, तुम्हारे वह देवता भी तुम्हारे आज्ञाकारी भृत्य के समान तुम्हारे ही कथनानुसार यथास्थान उपवेशन और भोजन करते हैं और अन्त में तुम्हारी आज्ञा पाते ही तुरन्त उस मूर्ति को छोड़ कर चले जाते हैं। अतः देवता को छोड़ कर पहले जब तुम्हारी ही पूजा होती है तो यहाँ तुम्हारा ही श्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ। देवता के जन्म-मृत्यु-सम्पादन की शक्ति अर्थात् उनके आवाहन और विसर्जन की शक्ति तुम्हारे ही हाथ में है। देवता का उपवेशन और भोजन भी तुम्हारी इच्छा या आज्ञा के विरुद्ध नहीं हो सकता। अतः प्रतीत होता है कि तुम्हारे इष्ट देवता के जन्म से मृत्यु तक आसन-वसन, आहार-विहार आदि सभी विषय तुम्हारे अधीन हैं। वह तुम्हारे

वेतनग्राही नौकर से भी अधिक आज्ञाकारी है। केवल तुम्हारे मन की कल्पना के ऊपर ही जिसका अस्तित्व और नास्तित्व निर्भर है, वह कैसे तुम्हें धन-जन या दीर्घायु प्रदान कर तुम्हें सुखी बना सकते हैं ? और तुम्हीं कैसे सुख-शान्ति प्राप्त करने की आशा से वैसे देवता के निकट प्रार्थना करोगे? अतः उन मूर्तियों की पूजा द्वारा तुम्हारी धन-जन-सुख-वृद्धि की दुराशा पूर्ण होने की नहीं है। वैसी मूर्ति की उपासना केवल तुम्हारे मन का भ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बेटा! अज्ञानी पुरोहित और ... नहीं जानते कि, जिस शिव, काली या कृष्ण की मृण्मय या प्रस्तरमय ... बना कर बाहरी पूजा की जाती है, वह काली माता या हरि मन रूप से ... हर एक के शरीर में रह कर सदा ताण्डव नृत्य कर रहे हैं और कभी ... युद्ध भी करते हैं। तुम जिस नारायण की प्रस्तर में पूजा करते हो, वह ... रूप से प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान रह कर सभी को चैतन्य प्रदान कर रहे हैं। यहाँ तक कह कर महात्मा सुर-ताल-लय से भजन गाने लगे—

मन ए कि भ्रान्ति तोमार, मन ए कि भ्रान्ति तोमार !
आवाहन विसर्जन बलो रे करो कार ?
जे विभु सर्वत्र थाके, इह तिष्ठ बलो ताके।
तुमि के वा आनो काके, ए कि चमत्कार ?
अनन्त जगदाधारे, आसन प्रदान कोरे,
इहागच्छ बलो ताँके, ए कि अविचार ?
ए कि देखि असम्भव, विविध नैवेद्य सब ?
ताँरे दिये कर स्तव, ए विश्व जाँहार ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

मन यह कैसी भ्रांति, कैसी भ्रांति तेरी है।
आवाहन और विसर्जन, तू किसका करता है ?
जो विभु सर्वत्र हैं, उन्हें तू 'इह तिष्ठ' कहता है।
तू कौन है और किसे बुलाता है, तुझे कुछ भी खबर नहीं ...
अनन्त जगदाधार को तू आसन देता है और
'इहागच्छ' कहता है यह कैसा अविचार है।

यह क्या असम्भव—विविध प्रकार के नैवेद्य
उन्हीं को सौंप कर तू स्तुति करता है, जिसका यह विश्व है।

भक्त—प्रभु ! यदि हम इन मूर्तियों की पूजा न करें तो हमारे धर्म-कर्म क्या रह जाते हैं ?

महात्मा—बेटा ! सत्सङ्ग में रह कर तत्त्वज्ञान की आलोचता करना ही श्रेष्ठ धर्म-कर्म है। अच्छा तो बताओ, यह जो तुम लोग धातु, प्रस्तर या मृत्तिका की मूर्ति बना कर उनकी पूजा करते और तुम्हारे घर की स्त्रियाँ भी शीतला, अन्नपूर्णा आदि देवियों की पूजा करती हैं, इससे तुम्हें लाभ क्या हो रहा है ? सम्भवतः उन मूर्तियों के द्वारा ही तुम्हारे परिवार का मङ्गल साधित होता है और जो लोग बहुत अधिक परिमाण में उन सब मूर्तियों की पूजा करते हैं उन पर कोई विपत्ति ही नहीं आती।

भक्त—नहीं प्रभु ! मैं तो देखता हूँ उन मूर्तियों की पूजा मनुष्य करे या न करे, विपत्ति जब-तब सब के ऊपर आती ही रहती है तथापि पुरोहित के कहने पर विश्वास करके ही लोग पूजा-अर्चना किया करते हैं।

महात्मा—बेटा ! जब किसी यजमान के घर कोई विपत्ति आ पड़ती है, तब वहाँ कुल के पुरोहित आ कर विपदुद्धारक मन्त्र का जप करने लगते हैं और जब किसी दूसरे यजमान के घर भाई-भाई में झगड़ा, नालिश-मुकदमा अथवा मृत्यु से लोकक्षय आदि नाना प्रकार की विपत्तियाँ आ पड़ती हैं, तब पुरोहित आ कर ग्रह-शान्ति के लिए शिव-पूजन, लक्ष इष्टमंत्र जप या दुर्गापाठ आदि करने का उपदेश देते हैं। यजमान भी सरल विश्वास से उन कार्यों को करके पुरोहित की कुछ प्राप्ति का प्रबन्ध कर देते हैं। परन्तु उस पुरोहित के घर जब उसी प्रकार की विपत्तियाँ आ पड़ती हैं तब वह अपने घर में ग्रह-शान्ति के लिए कोई धार्मिक-कृत्य नहीं कराते, रोग हो तो वैद्य बुलाते और मुकदमा हो तो वकील की शरण में जाते या मृत्यु हो तो रो-धो कर ही रह जाते हैं।

भक्त—पुरोहित ऐसा क्यों करते हैं मुझे मालूम नहीं है।

महात्मा—थोड़ा ध्यान दे कर विचार करने से ही तुम इसे अच्छी तरह समझ जाओगे। यजमान के घर दो-चार बार पूजा या कथा आदि हो तो

पुरोहित को दक्षिणा आदि से कुछ आमदनी ही होती है। उसमें खर्च कुछ नहीं होता। परन्तु उस पुरोहित के अपने मकान में वैसी पूजा आदि में पुरोहित को खर्च ही होता है, आमदनी कुछ भी नहीं होती। और यदि कार्यों से शान्ति प्राप्त होने का उनमें विश्वास होता तो पुरोहित भी अपने में रोग के समय अच्छे डाक्टर या मुकदमे के समय अच्छे वकील कर अधिक धन-व्यय न करके अति सहज में अल्प व्यय से स्वयं उस प्रकार पूजा आदि के द्वारा विपत्ति से बचने की चेष्टा करते। उन पूजा आदि से भी सुफल होने की सम्भावना नहीं है, इसे सुचतुर पुरोहित अच्छी तरह जानते हैं। इस कारण स्वयं उन कार्यों को कर सकने पर भी अपने घर में वृथा कार्यों का आडम्बर नहीं रचते। केवल व्यवसाय के द्वारा धनोपार्जन करने के उद्देश्य से ही पुरोहित अपने यजमानों को उन पूजा आदि कार्य करने का उपदेश देते हैं।

भक्त—प्रभु! तो क्या आपका कहना यह है कि इन सब पूजा, व्रत, आदि के द्वारा मन का कुछ परिवर्तन हो कर मनुष्य धर्म-मार्ग में अग्रसर नहीं होता? हमारे पिता-पितामह से ले कर सभी अनादि काल से उस प्रकार की पूजा आदि करते आ रहे हैं, परन्तु आज आप कह रहे हैं—'वह सब पुरोहितों का व्यवसाय मात्र है'। इससे पहले ऐसी बात मैंने तो कभी किसी से नहीं सुनी।

महात्मा—बेटा! तुम्हारे मन में विचार-शक्ति बिल्कुल ही नहीं है। इस कारण लकीर के फकीर की तरह दस आदमी जिसे करते जा रहे हैं, तुम भी उसीके अनुसार उसीको विचार-रहित हो कर करते चलते हो। परन्तु उन कार्यों के द्वारा तुम्हें क्या लाभ हो रहा है, यदि एक बार भी इस पर विचार करते हो तो मैं ही क्यों तुम भी कहोगे कि 'यह सब पुरोहितों के व्यवसाय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।' और तुम जो कहते हो कि, अनादिकाल से ऐसे कार्य तुम्हारे समाज में चलते आ रहे हैं, वह भी सत्य नहीं है। पुराण-रचना के पहले चतुर्मुख ब्रह्मा, पंचानन शिव, चतुर्भुज विष्णु, शीतला, विशालाक्षी, दुर्गा, काली आदि देव-देवियों की पूजा या सत्यनारायण, जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि आदि की कथा-व्रत आदि का प्रचलन नहीं था। उस समय कुछ लोग वैदिक याग-यज्ञादि अवश्य करते थे। परन्तु उससे पुरोहितों

विशेष कुछ प्राप्ति नहीं होती थी। उन्हें दक्षिणा के रूप में कभी एक हर्रा और कभी कोई दूसरा फल मात्र ही मिलता था। क्योंकि उन दिनों पैसे का प्रचलन नहीं हुआ था। उसके अनन्तर ज्यों-ज्यों पुरोहितों को खाने-पीने-पहनने का अभाव होने लगा त्यों-त्यों वे यजमानों से कुछ आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के उद्देश्य से नाना प्रकार की पूजा, अर्चना, कथा, पाठ आदि का प्रबन्ध करने लगे।

कभी ऐसा भी देखा गया है कि, पुरोहित सम्भवतः अल्पवयस्क युवक, निरा मूर्ख, बकवादी, नशेबाज, चरित्रहीन या चञ्चल प्रकृति का मनुष्य है। परन्तु यजमान को पूर्ण विश्वास है कि पुरोहित कितने ही बुरे अभ्यासों का दोषी क्यों न हो, पुरोहित के वंश का कोई एक आदमी होने से ही वह अच्छी तरह पूजा कर सकेगा। यजमान एक बार भी सोच कर नहीं देखता कि, जिसके मन में कोई स्थिरता नहीं है, न मानसिक शक्ति ही है अर्थात् जो अपने चित्त को संयत करके अपने मन को सुप्रतिष्ठित नहीं कर सका है वह अज्ञानान्ध व्यक्ति कैसे एक मिट्टी या पत्थर की मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा या जीवन-दान करने में समर्थ होगा? केवल पुस्तक में लिखित मन्त्र पढ़ कर ही यदि पुरोहित जीवन-दान कर सकते हैं तो उनके अपने तथा यजमान के घर मृत कुटुम्बियों का जीवन-दान क्यों नहीं करते? मिट्टी या पत्थर की मूर्तियों के जीवन-दान की अपेक्षा मृत मनुष्य का जीवन-दान करना बहुत सहज काम है। क्योंकि मृत व्यक्ति का हड्डी-खून-मांस का बना एक शरीर तो तैयार ही है। केवल मन्त्र द्वारा जीवनी शक्ति ला देते ही वह जीवित हो सकता है। परन्तु मृण्मय या प्रस्तरमय मूर्ति को पहले मन्त्र-बल से खून-मांस से गठित करके उसके बाद उसमें जीवन-दान देना होता है। यदि पुरोहितों को यथार्थ में ही जीवन-दान देने की शक्ति होती तो केवल हमारे भारत में ही क्यों, यूरोप, अमेरिका आदि पृथ्वी के सभ्य देशों में उन्हें सर्वोच्च आसन मिलता। तुम्हारी बाह्यिक मूर्ति-पूजा या कथा आदि में जो मन्त्र हैं, वे केवल उस कल्पित देवता की खुशामद और कामना से पूर्ण हैं। उनमें केवल मूर्ति की रूप-वर्णना करके उसकी खुशामद करते हुए उस मूर्ति के सामने केवल 'देहि देहि' 'दो दो' आदि शब्दों से प्रार्थना के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस कारण उन मन्त्रों के

द्वारा किस प्रकार से आत्मोन्नति की आशा कर सकते हो ? उन मूर्तियों पूजा करते-करते तुम्हारे जैसे अधिकांश हिन्दुओं के मन में ऐसी एक धारणा बद्धमूल हो गयी है कि, मूर्तिपूजा के बिना मनुष्य और किसी भी तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्ति नहीं पा सकता और इन पूजा, कथा आदि अतिरिक्त तुम्हारे जानने या समझने योग्य और कुछ है ही नहीं। तुम्हारे व्यवसायी गुरु-पुरोहित भी मूर्तिपूजा को ही मनुष्य की मुक्ति की सीमा रूप से जानते हैं। उसके सिवाय आत्मतत्त्व नाम से जानने योग्य विषय है, यह उनकी बुद्धि से परे है। उनमें यदि कोई गुरु या पुरोहित तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो भी जायँ तो वह भी अपने गुरु और पुरोहित के व्यवसाय की हानि होने के भय से उस तत्त्व को प्रकट नहीं करते। अतः तुम्हारे शिष्य या यजमान कहाँ से उस गुह्य से गुह्य तत्त्व जान सकोगे ? आत्म-तत्त्व अनभिज्ञ जो आध्यात्मिक राज्य के शिशु तुम्हारी गुरुता या पौरोहित्य करते उनसे तुम आत्मोन्नति की क्या आशा कर सकते हो ? लोग कहते हैं- साहब अन्धे हैं, मुझे भी आँख से नहीं सूझता। अतः कौन किसे राह येगा ?' तुम्हारी दशा भी ठीक उसी तरह हो गयी है।

भक्त—प्रभु ! तो हम लोग जो शालिग्राम, शिवलिङ्ग या अन्यान्य या मृण्मय मूर्ति में भगवान की कल्पना करते हैं, क्या वह भी मिथ्या क्या उन मूर्तियों में भगवान नहीं हैं ?

महात्मा—बेटा ! जो कल्पना है, वह कोई सत्य वस्तु नहीं है— प्रबुद्ध व्यक्ति मात्र ही जानते हैं। 'कल्पना' शब्द का अर्थ ही 'मिथ्या' जहाँ जो वस्तु यथार्थ में ही विद्यमान है वहाँ उसकी कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती और जहाँ जो वस्तु नहीं है, वहीं लोग मन के इच्छानुसार अन्य वस्तु की कल्पना करते हैं। तुम जिन मूर्तियों ध्यान करते हो, वे सभी तुम्हारे मन के द्वारा कल्पित मूर्तियाँ हैं। चेतन मात्मा को तुम अपने जड़ मन की कल्पना द्वारा जड़ मूर्ति बना कर परिणत कर लेते हो। मनुष्य के मन के अनजान में कोई भ्रम उत्पन्न हो वहाँ वस्तु की सत्यता या असत्यता के विचार द्वारा वह भ्रम दूर होता है।

भ्रम को ही अध्यारोप * कहते हैं। परन्तु किसी के इच्छाकृत स्वकल्पित भ्रम कभी दूर नहीं होता। तुम्हारी इन मूर्तियों की पूजा में ठीक वैसा ही इच्छाकृत स्वकल्पित भ्रम होता है। क्योंकि पत्थर, धातु या मिट्टी की जिन मूर्तियों में तुम सर्वव्यापक विष्णु या चिन्मय ज्ञानरूप शिव की कल्पना करते हो यदि यथार्थ में ही उन मूर्तियों में वे देवता सीमाबद्ध हो कर विद्यमान हों तो तुम्हें कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या रह सकती है। मान लो, यहाँ मैं स्वयं विराजमान हूँ। अब मुझे कुछ भोजन कराना हो तो तुम्हें अपने मन से मेरी मूर्ति की कल्पना कर उसमें जीवन-दान करने की क्या आवश्यकता है? अतः स्पष्ट है कि तुम स्वेच्छा से इस प्रकार की कल्पना का जाल बना कर उसमें अपने को फँसा लेते हो। रेशम का कीड़ा जिस प्रकार अपने चारों ओर जाल बुन कर उसमें खुद ही बद्ध हो जाता है, तुम भी उसी प्रकार अपने स्वेच्छाकृत कल्पना-जाल से बद्ध हो कर जीवन भर उसी मिथ्या कल्पना से ही उपासना आदि कार्य कर रहे हो। अतः यह इच्छाकृत भ्रम है। विचार के द्वारा इसका त्याग किये बिना यह कभी जाने का नहीं है। जिस प्रकार एक अन्धे को जीवन भर 'सूर्य' शब्द का जप करने पर भी नेत्र के न रहने से उसे सूर्य-दर्शन नहीं होता, तुम्हें भी उसी प्रकार जीवन भर मूर्तिपूजा करने पर भी आत्मज्ञान के अभाव से आत्मदर्शन नहीं होता। बेटा! मैं देखता हूँ, तुम आँखों को अपने हाथों से दबा कर कह रहे हो, 'अँधेरा है'। अब जरा हाथ हटा लो तो सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पड़ेगा।

भक्त—प्रभु! श्रीरामकृष्ण परमहंस, गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामानुज, वल्लभाचार्य आदि अनेक साधक मूर्तिपूजा द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर कैसे आत्मोन्नति कर सके थे?

महात्मा—बेटा! वैसे महात्मा लोग प्रथम जीवन की अज्ञानावस्था में मूर्तिपूजा करते थे सही, परन्तु बाद में ब्रह्मज्ञ गुरु की कृपा से जब उनके

* सर्प के साथ कुछ भी सम्पर्क नहीं है इस प्रकार की एक रस्सी में जिस प्रकार सर्प का भ्रम होता है, उसी प्रकार एक वस्तु में अन्य वस्तु के आरोप (कल्पना) को अध्यारोप कहते हैं।

मन का भ्रम दूर हो गया था तब उनकी बाहरी दृष्टि अन्तर्मुखी हो गयी थी। उस समय वे कभी-कभी सम्प्रदाय की रक्षा के लिए बाह्यिक पूजा भी करते थे। रामकृष्ण परमसहं देव काली के उपासक थे, परन्तु उनके हृदय में क्रमशः वेदान्त का अद्वैत तत्त्व प्रकट होता था। उस समय जो वह काली की पूजा करते थे प्रायः उपास्य-उपासक में भेद-ज्ञान न रहने से वह पूजा के फूल कालीमूर्ति के पैरों में न दे कर वह अपने ही सिर पर देते थे और नैवेद्य आदि को न चढ़ा कर अपने ही मुख में डालते थे। उस समय यदि कोई पूछता कि 'आप यह क्या कर रहे हैं' ? उसके उत्तर में वह कहते थे—'कालीमाता की पूजा कर रहा हूँ।' रामकृष्ण परमहंस अन्तिम जीवन में ऐसे और भी अनेक कार्य करते थे, जिनसे बाहरी पूजा छोड़कर भीतरी आत्मपूजा का ही परिचय मिलता था। उनके उपदेशों से यही प्रमाणित होता है कि वह एक श्रेष्ठ आत्मज्ञ महात्मा थे। बंगाल में एक देवी-भक्त साधक रामप्रसाद भी हुए हैं। प्रथम जीवन में वह कालीमूर्ति की पूजा करते थे और द्वैत भाव से उपासना विषयक संगीत रचकर गाते थे। जैसे—

तोरे मा मा बोले आर डाकबो ना,
तुइ दियेछिस दितेछिस कतइ जन्त्रणा।

× × ×

मा आमाय घुराबि कतो, कलुर चोख-ढाका बलदेर मतो।

अर्थात्—"काली, तुझे और माँ-माँ कहकर न पुकारूँगा, क्योंकि तूने बहुत दुःख दिया और अब भी दे रही है।"

"माँ काली, तू मुझे कोल्हू के अँधेरी लगाये बैल की तरह कितना घुमायेगी ?"

उसके अनन्तर जब वह अपने मनःप्रकृति को पहचान कर आत्मज्ञान प्राप्त कर सके थे, तब वह मनरूप काली पर क्रोधित होकर गाया करते थे—

आय मा साधन समरे, देखि मा हारे कि पुत्र हारे।
दिये ज्ञान-धनुके टान, निये ब्रह्म-बाण जिनिबो एबार मा तोरे॥

अर्थात्—"माँ, तू साधन-समर में उतर, देखूँ माँ हारती या पुत्र हारता है।
ज्ञान-धनुष खींच, ब्रह्मबाण से अब माँ, तुझे जीतूँगा।"

× × ×

काली, एबार तोमाय खाबो,
तुमि खाओ कि आमि खाइ मा, दुटोर ऐकटा कोरे जाबो।
तोमार मुण्डमाला केड़े निये अम्बले सम्बरा देबो॥

अर्थात्—"काली, अबकी तुझे खाऊँगा।
अब तुम खाओ या मैं खाऊँ, दोनों में एक कर डालूँगा।
तुम्हारी मुण्ड-माला छीन कर मैं तरकारी छौकूँगा।"

× × ×

मन तोर ऐतो भ्रान्ति कैने, एक बार काली बोले बोस रे ध्याने।
धातु-पाषाण-माटीर मूर्ति, काज कि रे तोर से गठने॥
तुमि मनोमय प्रतिमा गड़ि वसाओ हृदि पद्मासने।
आतप चाल आर पाका कला, काज कि रे तोर आयोजने॥

अर्थात्—"मन तेरी इतनी भ्रान्ति क्यों? काली कहकर ध्यान में बैठ जा।
धातु पाषाण मिट्टी की मूर्ति गढ़ने की तुझे क्या प्रयोजन?
तू मनोमय मूर्ति बना कर हृदय-कमल में बिठा ले।
चावल केले के नैवेद्य से अब तुझे क्या प्रयोजन है?"

× × ×

डुब दे रे मन काली बोले, हृदि रत्नाकरेर अगाध जले।
रत्नाकर नय शून्य कखन, दु-एक डुबे धन ना पेले—इत्यादि।

अर्थात्—"मन तू हृदय-रत्नाकर के अगाध जल में काली कहकर डूब दे।
रत्नाकर कभी शून्य नहीं है, दो-एक डुबकी में यदि धन न पाया तो—इत्यादि।

इन अन्तिम पदों से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि अन्तिम जीवन में वह फल-पत्ती या नैवेद्य आदि के द्वारा बाहरी मूर्ति पूजा बिल्कुल पसन्द नहीं

करते थे। क्योंकि उससे आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होने की कोई सम्भा... नहीं है। इसी कारण वह इस अन्तिम सङ्गीत में अपने मन को बाहरी अ... ष्ठान छोड़कर अपने हृदय रूप रत्नाकर के गहरे जल में डुबकी लगाने... लिए आज्ञा देते हैं और कहते हैं कि—'हृदय रूप जलधि शून्य नहीं... संसार के सब ज्ञान, विचार, विवेक, वैराग्य और निरवच्छिन्न शान्ति इ... सभी प्रकार के रत्न इस चित्त-समुद्र में भरे पड़े हैं।' इस प्रकार साधक... प्रसाद के रचित संगीतों का पूर्वापर विचार करने से स्पष्ट ही प्रमाणि... जाता है कि वे प्रथम जीवन में द्वैत और अन्तिम जीवन में अद्वैत... के सङ्गीत रच कर गाया करते थे। इस प्रकार तुम गोस्वामी तुलसीदा... आचार्य रामानुज आदि जिस किसी महात्मा का नाम ही क्यों न लो, आ... ज्ञान लाभ किये बिना केवल बाहरी पूजा-अर्चना से कोई भी इस संसा... चिर-शान्ति प्राप्त नहीं कर सके और न कर सकेंगे।

भक्त—भगवान्! आपकी युक्तियों से स्पष्ट ही समझ में आ रहा है कि... हम लोग जो भक्ति-पूर्वक शिव, राम, कृष्ण, काली, दुर्गा आदि देव-देवि... की मूर्तियों की पूजा करते हैं, उससे हमारे मन की किसी प्रकार की अन... का परिवर्तन होने की अथवा भगवद्दर्शन के मार्ग में अग्रसर होने की ... आशा नहीं है। परन्तु वेद, वेदान्त, सांख्य, पातंजल आदि अनेक शास्त्रों... अध्ययन करने वाले पण्डित तथा उच्चशिक्षित विज्ञ व्यक्ति भी उस प्रकार... मूर्तियों की पूजा ही करते आ रहे हैं। वे भी उन कर्मों को उत्तम कार्य त... आत्मज्ञान का मार्ग कैसे समझते हैं?

महात्मा—बेटा! मेरे कथन में ऐसी अनेक बातें हैं, जिन्हें सुन कर तु... भय मालूम होगा। परन्तु जो कुछ मैं कह रहा हूँ, उसे तुम याद रखना, उ... ध्यान से विचार करना और दिन-रात उस सम्बन्ध में चिन्ता करना, तभी उ... बातों का सारमर्म समझ कर सत्य में अवस्थित रह सकोगे। केवल शास्त्र ... अनेक पुस्तकें पढ़कर विद्याभिमानी पंडित होने से अथवा बी. ए., एम. ... पास करने से ही लोग ज्ञानी नहीं होते। जबतक उनके मन में विचार-बु... उत्पन्न नहीं होती, तबतक वे कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय नहीं कर सकते और वे केव... दूसरों के अनुकरण पर पूजादि करते जाते हैं। उन कर्मों के द्वारा अ...

तत्त्वज्ञान उत्पन्न न होकर उपाधि की व्याधि से पाण्डित्याभिमान रूप अज्ञान ही बढ़ता है और उससे दम्भ और अहंकार पैदा होकर उनका मन अधःपतित हो जाता है। इसी कारण वे शोक-ताप से जर्जरित होते रहते हैं। अतः विद्याभिमानी अहंकारी अज्ञानी पण्डित की अपेक्षा अपण्डित ब्रह्मज्ञ व्यक्ति श्रेष्ठ हैं, और वही यथार्थ पण्डित हैं। क्योंकि अन्तःकरण की जिस वृत्ति से सर्वत्र आत्मचैतन्य की उपलब्धि होती है, उसी वृत्ति का नाम 'पण्डा' है। उस प्रकार की मनोवृत्ति युक्त व्यक्ति ही पण्डित हैं। पीठमाला तन्त्र में लिखित है—

आत्मा देहो मनो यत्र साधितं तच्च शिक्षितम्।

अर्थात्—"जिस शिक्षा से आत्मा, मन और देह इन तीनों की उन्नति साधित होती है, वही यथार्थ शिक्षा है।" अतः तत्त्वज्ञानरहित पण्डित केवल 'बोधचञ्चु' होते हैं। इस कारण 'बोधचञ्चु' न होकर किसी भी उपाय से बोद्धव्य वस्तु जान लेनी चाहिए। बोधचञ्चु होने से केवल दूसरे के मत के खण्डन में ही मन व्याकुल रहेगा, तत्त्व-निर्णय में समर्थ नहीं होगा। इस कारण तुम उनकी तरह केवल बोधचञ्चु न रहो, आत्मज्ञान प्राप्ति की चेष्टा करो। हे महामते, केवल शास्त्रों का अध्ययन करने से किसी को सत्य का अनुभव नहीं हो सकता। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो सारे शास्त्र पढ़ गये हैं, वेद-वेदान्तादि शास्त्र अनेक छात्रों को पढ़ा चुके हैं और अनेक सभाओं में जाकर कूट तर्कों से परमत खण्डन करके विजयी हुए हैं, परन्तु उन्हें आध्यात्मिक तत्त्व की बिन्दुमात्र भी अनुभूति नहीं हुई है। उनमें से यदि कोई शास्त्रोक्त साधन-प्रणाली के अनुसार कार्य करें तो वह क्रमशः एक ऐसे स्थान में पहुँचेंगे जहाँ युक्ति भी प्रविष्ट नहीं हो सकती। वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण या युक्ति प्रमाण की कोई कार्यकारिता ही नहीं है। अतः इससे यही प्रमाणित होता है कि, केवल शास्त्रों का अध्ययन करना या पूजा-पाठ करना ही धर्म नहीं है, अपने चित्त में आत्मा का अपरोक्षानुभव ही धर्म का सार है। और पुस्तकादि पाठ उस धर्म के सहायक मात्र है। जीवन भर मौखिक विचार द्वारा वे कभी आत्मतत्त्व प्रमाणित अथवा अप्रमाणित कुछ भी नहीं कर सकेंगे, जब तक अपरोक्षानुभूति न होगी। वेदान्त भी कहते हैं—

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा, स्वेनैव वेद्यं न तु पण्डितेन।
चंद्रस्वरूपं निजचक्षुषैव, ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम्॥

अर्थात्—"जिस प्रकार चन्द्र का स्वरूप-दर्शन अपने नेत्र के [illegible] किसी दूसरी इन्द्रिय से सम्भव नहीं है उसी प्रकार वस्तु का स्वरूप-बोध( वस्तु का बोध ) अपने प्रस्फुटित ज्ञान रूप नेत्रों के द्वारा ही होता है। [illegible] शास्त्रज्ञान से वह नहीं हो सकता।"

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्र-व्याख्यान-कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥

अर्थात्—"जैसे वाग्वैखरी ( स्वर का उतार-चढ़ाव ) और शब्द[illegible] ( लच्छेदार शब्दावली ) आदि शास्त्र-व्याख्या-विषय में कौशल मात्र [illegible] उसी प्रकार पण्डितों का पाण्डित्य-प्रकाश केवल भोग के लिए है, मोक्ष [illegible] लिए नहीं।"

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां विद्वानहन्तां न जहाति यावत्।
तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ताप्यस्त्वेष वेदान्तलयान्तदर्शी।

अर्थात्—"शास्त्रज्ञ व्यक्ति जब तक इस अनित्य देह-इन्द्रिय में भ्रम-[illegible] 'अहं बुद्धि' का विसर्जन नहीं करते तब तक वे वेदान्त-निष्णात ही [illegible] हों, मुक्ति की वार्ता भी नहीं है।" पीठमाला तन्त्र कहते हैं—

आलोच्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राणि सर्वथा।
योऽहं ब्रह्म न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥
यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथैव शास्त्राणि बहून्यधीत्य सारं न जानन् खरवद्वहेत् सः॥
आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः॥

अर्थात्—"करछूल जिस प्रकार सर्व प्रकार के व्यञ्जनों आदि के [illegible] सदा विद्यमान रहते हुए भी उसका रसास्वाद नहीं कर पाती, उसी प्रकार [illegible] वेद तथा सारे धर्मशास्त्र पढ़ कर भी जो 'मैं ब्रह्म हूँ' यह नहीं जानता उ[illegible] जीवन वृथा है। जिस प्रकार गधा चन्दन का बोझ ढोकर उसके भार [illegible] ही अवगत होता है, चन्दन की सुगन्ध नहीं जान सकता उसी प्रकार [illegible]

शास्त्रों का अध्ययन करके भी जो उनका सारांश स्वरूप परमात्मा को नहीं जान सकता, वह केवल गधे की तरह शास्त्र-भार मात्र ढोता फिरता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चार विषयों में पशु के साथ मनुष्य का कोई भेद नहीं है केवल आत्मज्ञान ही पशु की अपेक्षा मनुष्य की श्रेष्ठता का कारण है। अतः आत्म-ज्ञान-रहित मनुष्य पशु के तुल्य है।" गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भये न कोय।
एक ही अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥

अर्थात्—"अनेक शास्त्र पढ़ते-पढ़ते जीवन बीत गया तथापि कोई पंडित नहीं हो सका, परन्तु जो अन्तर्निहित आग्रह के साथ एक अक्षर (एक शास्त्र) भी पढ़ता है उसे ही यथार्थ पण्डित कहते हैं।"

पण्डित और मशालची, इनकी गति कही न जाय।
पर को दिया दिखाय के, आप अँधेरे धाय॥

अर्थात्—"तत्त्वज्ञानरहित धर्माभिमानी पण्डित और मशालची इन दो व्यक्तियों की दुर्दशा कहाँ तक कहूँ, मशालची विवाह आदि की बारात में दूसरों को रास्ता दिखाता है, परन्तु 'दिया तले अँधेरा' इस न्याय से उसे बराबर अँधेरे में ही चलना पड़ता है। विद्याभिमानी पण्डित भी ठीक उसी प्रकार शास्त्रीय श्लोकों के द्वारा विषयी जनों को धर्म का मार्ग तो दिखाते हैं, परन्तु स्वयं जीवन भर अँधेरे में रह कर कुमार्ग में ही जीवन बिताते हैं।" मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है—

अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥

अर्थात्—"जिस प्रकार करछूल, दाल, तरकारी आदि में डूबे रहने पर भी किसी का स्वाद नहीं पाती, उसी प्रकार चारों वेद तथा सारे शास्त्र पढ़कर भी पाण्डित्याभिमानी व्यक्ति ब्रह्मतत्त्व नहीं जान सकता।"

बेटा! 'दिव्य ज्ञान प्राप्त कर उसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार लाभ करूँगा', इस अभिप्राय से ही प्रायः लोग वेद-वेदान्तादि का अध्ययन या श्रवण करते हैं। परन्तु चौदह शास्त्रों, वेद-चतुष्टयी और अष्टादश पुराणों का अध्ययन

या श्रवण करके भी यदि आत्मा का अपरोक्षानुभव न हुआ तो उससे ... फल ? छहों दर्शनों का पाठ करके भी यदि आत्म-दर्शन की ... उत्पन्न न हुई तो सभी वृथा श्रम मात्र है। अतः केवल ग्रन्थों के शब्द ... में पहुँचने मात्र से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यदि वह शब्द सुनने ... के मन के साथ संयुक्त होकर बुद्धि के विचार का विषय न बने। तुम ... जिस रूप से कामना-परायण होकर फूल-पत्तियों द्वारा देव-मूर्तियों की पूजा ... हो, पूड़ी-मिठाई, फल, खीर आदि का भोग लगाकर और घण्टा-घं... बजा कर हो-हल्ला मचाते हुए उस मूर्ति के सामने 'धन दो, जन दो' ... शब्दों से चिल्लाते रहते हो, इसका नाम भक्ति नहीं है—काम है। इस ... उन मूर्तियों की पूजा से तुम्हें मानसिक उन्नति की कोई भी आशा नहीं ... बेटा ! आत्म-विचार तथा आत्म-कथा की आलोचना ही सब प्रकार के ... दुःखों के निवारण के मुख्य उपाय हैं। इसके सिवाय किसी दूसरे उ... संसार दुःख निवारित नहीं हो सकता। तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, पूजा ... का अनुष्ठान या शास्त्र ग्रन्थों की आलोचना से संसार में आवागमन ... छूट सकता।

इस विषय में एक सत्य घटना बताता हूँ, सुनो। किसी समय एक श्म... घाट में एक गुफा के भीतर बैठकर मैं तप कर रहा था। उस समय ए... एक सांख्यतीर्थ उपाधिधारी वृद्ध पण्डित ने आकर मुझे प्रणाम करके ... अति विनय के साथ कहा—"बाबा, मैं बहुत बड़े-बड़े पंडितों से पूछ ... एक प्रश्न की मीमांसा न होने से आपके सामने उपस्थित हुआ हूँ। मुझे ... है, आप कृपा करके इस प्रश्न का सदुत्तर देकर मेरे चित्त को शान्ति ... करेंगे। प्रश्न यह है—मैं अपनी इस ७२ वर्ष की उम्र तक गुरु-वाक्य ... शास्त्रादेश के अनुसार सन्ध्या-वंदन, शिवपूजन, मूल-मन्त्र-जप आदि ... धर्म-कार्य यथारीति करता आ रहा हूँ। तथापि किसी प्रकार से मन की ... क्रोध, हिंसा, द्वेष, धूर्तता, आसक्ति आदि वृत्तियाँ अणु मात्र भी ह्रास प्राप्त ... हो रही हैं बल्कि, जितना ही वृद्ध हो रहा हूँ और बाहरी इन्द्रियाँ दुर्बल ... जा रही हैं, उतना ही अन्तरेन्द्रिय मन में क्रोध, चिड़चिड़ापन, भोग की लालसा ... आदि दिनों-दिन बढ़ते जा रहे हैं और शास्त्र कहते हैं, इन सब धार्मिक कार्यों ... से चित्त-शुद्धि होती है। तो क्या शास्त्र-वाक्य मिथ्या है ?"

उत्तर में मैंने कहा—"पण्डितजी, शास्त्र-वाक्य क्या कभी मिथ्या हो सकते हैं? आपने जिन शास्त्रों का अध्ययन किया है, उनका ज्ञान शास्त्रों में ही रह गया है—आप के मन में प्रविष्ट नहीं हुआ है। उन शास्त्र-ग्रन्थों के अध्ययन के साथ-साथ अपने मन के ऊपर लक्ष्य रख कर उस मन रूप सूक्ष्म ग्रन्थ का ...त्तम रूप से अध्ययन करना होता है। ग्रन्थों के हर पन्ने पर जिस प्रकार उपदेशपूर्ण वाक्य रहते हैं, सूक्ष्म मन रूप ग्रंथ में भी उसी प्रकार अनेक पूर्व-पूर्व जन्मों की संस्कार-समष्टि, अतृप्त वासना-राशि तथा नाना प्रकार की मनोवृत्तियाँ अन्तःकरण के हर एक स्तर में लिखी रहती हैं। आप से अपना मन-ग्रन्थ पढ़ा नहीं गया है, इस कारण शास्त्र-ग्रन्थ पढ़कर भी उपाधि का बोझ ढोते हुए अज्ञान-जनित पाण्डित्याभिमान के कारण आप को शान्ति नहीं मिल रही है। सन्ध्या-वन्दन भी आप से यथारीति नहीं किया गया है। अच्छा, कहिये तो सन्ध्या करने के लिए बैठ कर आप पहले क्या करते हैं?"

पण्डित—मैं पहले आचमन करता हूँ।

मैं—आचमन किसे कहते हैं और वह कैसे किया जाता है?

पण्डित—दक्षिण हस्त को गोकर्णवत् बनाकर उसमें थोड़ा-सा जल लेकर तीन बार वह जल मुँह में देकर शरीर के आठ स्थानों का स्पर्श करना ही आचमन है।

मैं—इसे साधारण बाह्यिक स्थूल आचमन कहते हैं। मैंने पहले ही आप से कहा है कि आपने सूक्ष्म मन-ग्रन्थ का अध्ययन नहीं किया है। इस कारण आप में सूक्ष्म दृष्टि बिलकुल ही नहीं है। स्थूल दृष्टि और सूक्ष्म दृष्टि में अंधकार और प्रकाश का सा भेद है। स्थूल दृष्टि से सूर्य एक थाली-सा प्रतीत होता है, परन्तु सूक्ष्म विचार-दृष्टि से वही सूर्य इस पृथ्वी के लाखों गुना बड़ा सिद्ध होता है। अतः आप सूक्ष्म विचार से देखिये कि 'आचमन' शब्द का तात्पर्य मैल धोकर पवित्र करना है। आप के किये आचमन से आप के मन की मैल क्षालित होकर मन पवित्र नहीं हुआ है, इस लिए जीवन भर आचमन करने पर भी उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ है। विवेक-जल से मन की विषय-वासना धोकर मन को पवित्र करना होता है। अर्थात् मन जब विषय-चिन्ता-रहित होगा, तभी यथार्थ आचमन सिद्ध

होगा। इसका आशय यह है—मन सदा ही किसी न किसी एक विषय में ... होकर निरन्तर संकल्प-विकल्प करता रहता है। इसे आप समझते हैं ... विचार द्वारा विषय के इस संकल्प-विकल्प से मन को पृथक् रख सकें ... अर्थात् मन को संकल्प-विकल्प रूप कर्म से रहित कर सकने से ही आप... आचमन सिद्ध होगा और इस प्रकार आचमन होने से ही आप का मन ... जीव बुद्धि के सहयोग से परमात्मा के साथ अपने अभेद की भावना करे ... जीवात्मा और परमात्मा के इस अभेद-ज्ञान का नाम ही यथार्थ में सन्ध्या ... अतः यथारीति आचमन न होने के कारण साधारण मनुष्य की सन्ध्या सम्पन्न ... होती। इस कारण सन्ध्या-वंदन आदि धर्म-कर्मों के द्वारा उनका चित्त ... धौत होकर परम शान्तिलाभ नहीं होता। इस विषय में ब्रह्मोपनिषद् ... आज्ञा है—

> यदात्मा प्रज्ञयात्मानं सन्धत्ते परमात्मनि।
> तेन सन्ध्या ध्यानमेव तस्मात् सन्ध्याभिवन्दनम्॥

अर्थात्—"जिस समय जीवात्मा अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से परमात्मा के ... अपनी अभिन्नता की भावना करता है, उसी का नाम सन्ध्या है। अतः ... ध्यान ही 'सन्ध्या' शब्द से लक्षित है। इस लिए इस प्रकार की सन्ध्या ... कर्तव्य है।" परमहंसोपनिषद् कहती है—

परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः, सा सन्ध्या।

अर्थात्—"इस प्रकार के अभेद-ज्ञान से जो जीवात्मा और परमात्मा ... सन्धि, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व-बोध सम्पन्न होता है, ... 'सन्ध्या' नाम से कथित है।" आशय यह है कि, दिन और रात्रि की ... के समय अनुष्ठान करने योग्य क्रिया का नाम जिस प्रकार सन्ध्या है, ... प्रकार जीव और ब्रह्म की सन्धि या एकत्व-बोध का नाम भी 'सन्ध्या' है। ... जिस ढङ्ग से आप लोग बाह्यिक धर्म-कर्म करते हैं, उससे चित्त-मल धौत ... होकर बल्कि, 'मैं क्रियान्वित नैष्ठिक ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार का अभि... उत्पन्न हो कर मन को और भी अधिक मलिन कर डालता है। ठीक ... प्रकार आप विचार कर देखें कि, आप शिवपूजा करते हैं सही, परन्तु पू... बैठकर उस शिवलिङ्ग को कोड़ कर उससे पहले सिर में फूल देकर ...

पूजा क्यों करते हैं ? इस विषय में कभी कोई विचार आपके मन में नहीं उठता। परन्तु शिव-संहिता कहती है—

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥

अर्थात्—"अपने शरीरस्थ शिव ( आत्म-लिंग ) को छोड़ कर जो बाहरी मूर्ति में शिव-लिंग की अर्चना करता है, वह मूढ़ व्यक्ति अपने हाथ का खाद्य फेंक कर जीवन-धारण के लिए लोगों के द्वारों पर भटकता-फिरता है।" इससे आप समझ सकते हैं कि, शिव की पूजा शरीर के बाहर मूर्ति में करना महान भ्रम है, वे शरीर के भीतर ही मिलेंगे और उसी भाव से शरीर के भीतर ही उनकी पूजा करनी होगी। अतः आत्मज्ञ गुरु के सत्संग द्वारा मन में विचार-शक्ति न आने पर आपका चित्त-मल विदूरित नहीं होगा ; और न आप शान्ति ही प्राप्त कर सकेंगे। तब वह पण्डित—"हे महात्मन्, आपका वाक्य अति सत्य तथा अति मधुर है, परन्तु मेरे इस वार्धक्य में उस प्रकार का सुगम्भीर तत्त्व समझना असाध्य है"—इतना कह कर प्रणाम करते हुए चले गये।

हे सुमते ! उस पण्डित के दृष्टान्त से तुम समझ सकते हो कि, इस प्रकार की बाह्यिक सन्ध्या-वंदना या पूजा-अर्चना से कभी चित्त शुद्ध होकर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। अतः परम शान्ति रूप मुक्ति भी नहीं मिल सकती। फिर ज्ञान विना भी मन की मैल कभी नहीं छूट सकती। इस भारत में उसी पण्डित के समान उपाधिधारी सहस्रों विद्वान हैं, जो अपने मन की उन्नति पर ध्यान न देकर पूर्व संस्कार वश दूसरों के अनुकरण पर जीवन भर बाहरी धर्म-कर्म करते जाते हैं।

इस विषय में एक कहानी सुनो—"काशी में छः शराबी व्यक्ति शराब पीकर मतवाले होकर रात के १२ बजे आपस में बैठ कर सलाह करने लगे कि हम लोग कलकत्ते जायेंगे। उनमें से एक ने कहा कि जाने के लिए खर्चा कहाँ से मिलेगा ? इस पर दूसरे ने कहा कि गंगा-किनारे बहुत सी नावें बँधी पड़ी हैं, यदि हम लोग गहरी रात में उनमें से एक नाव पर सवार होकर चल दें तो किसी को पता भी नहीं लगेगा। तब सबों ने जा एक नाव पर सवार

होकर नशे की झोंक में डाँड़ खेना शुरू कर दिया, और आपस में नाना की दिलखुश कहानियाँ कहने लगे। रात भर खेते-खेते वे लोग थक जब पूर्व की ओर ऊषा का कुछ उजाला फैलने लगा, ऐसे समय एक-दो गंगा नहाने के लिए घाट में उतरने लगे। उन्हें देख कर नाव के एक ने पूछा—"कहो भाई, यह कौन शहर है?" नहाने वाले व्यक्तियों में से एक ने उत्तर दिया कि यह बनारस है। यह सुन कर उन लोगों को आश्चर्य हुआ। तदनन्तर उन लोगों को मालूम हुआ कि जहाँ का नाव रह गयी, जरा भी नहीं चली है। तब उन लोगोंने इसका कारण-अनुसन्धान देखा कि नाव लोहे की साँकल से लंगर के साथ मजबूती से बँधो हुई है। वे लोग स्पष्ट ही समझ गये कि आगे-पीछे अच्छी तरह न देख कर नशे झोंक में केवल खेते ही रहे, इसलिए रात भर का परिश्रम सब व्यर्थ हो हु

बेटा! तुम साधारण लोग भी ठीक इसी प्रकार काम-क्रोधादि छः रिपु की शक्ति से शरीर में 'अहं' रूप मद के नशे में मत्त हो कर, जीवन भर तिलक लगाना, माला फेरना, मूर्ति-पूजा, शास्त्रचर्चा आदि रूप धर्म ही खेते रहे हो। परन्तु उधर तुम्हारी मन-नौका के साथ विषय लंगर, मन साँकल से दृढ़ रूप से बँधा हुआ है, उस पर कुछ लक्ष्य नहीं कर रहे हो; लिए तुम लोगों की मन-नौका भी आत्मतत्त्व-धर्मपथ पर किसी प्रकार अग्रसर नहीं हो रही है। लंगर के साथ बँधी हुई साँकल न खोल रात भर नाव खेते रहने से जिस प्रकार उन आदमियों को वृथा ही परि हुआ था, उसी प्रकार तुम्हारे समाज के धर्म-ध्वजी व्यक्तियों में यदि विचारशील पुरुष जीवन की अन्तिम सीमा (वार्धक्य) में पहुँच कर पूर्व पण्डित की तरह अपने मन के ऊपर ध्यान देते हैं तो वह प्रत्यक्ष अनुभव सकते हैं कि जिन काम, क्रोध, हिंसा, आसक्ति आदि मनोवृत्तियों को जीवन का आरम्भ हुआ था, इस वृद्धावस्था में जीवन भर बाहरी धर्म-कर्म पर भी मन ठीक उसी स्थान पर है, एक पग भी आगे नहीं बढ़ा है काम, क्रोधादि वृत्तियाँ स्वल्प मात्रा में भी नहीं घटी हैं। अतः उन व्यक्तियों के परिश्रम की तरह उनके जीवन भर के धर्म-कर्म वृथा ही परि मात्र हैं।

बेटा ! साकार भगवान मनुष्य के साकार हाथ की बनायी हुई मूर्ति है और निराकार भगवान निराकार मन की बनायी हुई मूर्ति है। परन्तु परमात्मा साकार निराकार इन दोनों से परे हैं। अपनी मूर्तिपूजा के समय तुम यह भूल जाते हो कि मूर्ति तुम्हारे जैसे ही किसी मनुष्य की बनायी हुई है। इसी लिए उसकी पूजा से तुम्हारा ज्ञान-नेत्र प्रस्फुटित नहीं होता। जो वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ ऋषि-महर्षि उन देव-देवियों की मूर्ति की कल्पना कर गये हैं, उन्होंने केवल बाहरी पूजा करके उसके सामने भिक्षुक की तरह सांसारिक भोग्य वस्तु की प्रार्थना करने के लिए तुम्हें उपदेश नहीं दिया है। परन्तु कालान्तर में व्यवसायी गुरु-पुरोहितों की चतुराई और तुम्हारे अज्ञान के दोष से केवल उन मूर्तियों की पूजा करके अब तुम लोग धन-जनों से परिपूर्ण होकर अनन्त सुख का अधिकारी होना चाहते हो। शास्त्रों के अध्ययन तथा अपने मन के विचार से एक बार भी तुम समझने की चेष्टा नहीं करते कि, इन मूर्तियों की कल्पना किस उद्देश्य से की गयी थी। इसी कारण तुम्हारे सारे धर्म-कर्म नष्ट हो जाते हैं।

बेटा ! बाहरी क्रिया से कभी तुम अन्तरात्मा को नहीं पा सकते, क्योंकि वह बाहरी कोई मायिक वस्तु नहीं है। अतः बाहरी जगत में वह नहीं मिल सकते। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि की भी वहाँ पहुँच नहीं है, यह बात श्रुति स्पष्ट रूप से ही कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं<br>
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।<br>
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं<br>
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥" (कठोपनिषद)

अर्थात्—"वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं है, चन्द्र या नक्षत्र भी प्रकाश नहीं देते, वहाँ विद्युत् का प्रकाश भी नहीं है। अतः अग्नि कैसे रहेगी? उसी स्वयं-प्रकाश परमात्मा के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हो रहे हैं।"

अतः देव-देव परात्पर परमात्मा का ज्ञानयोग से साक्षात्कार के बिना परम शान्ति रूप मोक्ष के प्राप्त होने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। क्लेशदायक होम-याग, मूर्ति-पूजन, सन्ध्या-वंदन, दान-ध्यान आदि कर्मों के निरन्तर अनुष्ठान से आत्मा के स्वरूप निर्मल शान्ति-निकेतन में मनुष्य नहीं पहुँच

सकता। संसार-भ्रान्ति दूर करने के लिए एकमात्र तत्त्वज्ञान ही उपयु[क्त] कोई दूसरा अनुष्ठान नहीं। बेटा! वह दूर भी नहीं है, निकट भी नहीं, [दु]र्लभ भी नहीं है, दुर्लभ भी नहीं। साधन-कौशल से हर एक व्यक्ति अपने ही में पूर्ण आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। तपस्या, दा[न] आदि कर्म तत्त्वज्ञान के असाधारण साधन नहीं हैं। अपने स्वरूप में नि[ष्ठा] के बिना और किसी से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्संग और सद्[विचार] की आलोचना से मोह-जाल छिन्न होता है और वही ब्रह्म-प्राप्ति का उपा[य] विवेक-विचार-शील व्यक्ति अपने प्रयत्नाधिक्य रूप पौरुष अर्थात् आत्म-[साक्षा]त्कार लाभ करने की तीव्र इच्छा के द्वारा उन्हें शीघ्र ही इस शरीर रूप [गुहा] के भीतर देखते हैं। उसके सिवाय और किसी से अर्थात् स्नान-दान, [तप] आदि कार्यों से वे लब्ध नहीं होते। राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, [और] मात्सर्य आदि कुवृत्तियों का परित्याग किये बिना तपस्या और दान आदि व्यर्थ हैं। अतः बेटा! तुम्हें पुरुषार्थ का आश्रय करके सत्संग और सत्[शास्त्र] का अनुशीलन, संसार-व्याधि की इन दो महौषधियों का आहरण करना [चाहिए] है। पुरुषार्थ का अवलम्बन बिना आत्यन्तिक दुःख-शान्ति का अन्य [उपाय] नहीं है। लोक और शास्त्र इन दोनों के अविरोधी यथासम्भव वृत्ति (व[र्तन]) में सन्तुष्ट रहना, भोग-वासना का परिहार करना, दुराकांक्षा-जनित उद्वे[ग का] परित्याग करना तथा यथाशक्ति उद्यम के साथ साधुसंग और सत् शा[स्त्र का] आश्रय लेना, येही सब ज्ञान-प्राप्ति के प्रथम सोपान हैं।

मनुष्य का मन प्रधानतया बहिर्मुखी करके बनाया गया है, इस कार[ण] स्वभाव से ही आत्म-चैतन्य को विस्मृत होकर बाहरी नाम-रूप का अनु[सरण] करता है। अतः जब तक तुम्हारे मन में नाम-रूप के प्रति आसक्ति [रहेगी] तब तक आत्मा की अपेक्षा शिव, विष्णु, काली, कृष्ण आदि की मूर्ति[यों की] पूजा ही मधुर मालूम होगी। उसके अनन्तर सूक्ष्म विचार द्वारा [जितना] ही तुम्हें सत्यतत्त्व का अनुभव होने लगेगा उतना ही नामरूपात्मक व[स्तु के] प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होगी। क्यों कि वह क्रमशः निस्सार और विस्वाद [मालूम] होगी। अन्त में सत्य-स्वरूप आत्मा निश्चित रूप से जब तुम्हारी बु[द्धि में] आरूढ़ हो जायगा तब फिर पूर्व-कथित नामरूप की छाया का लेश [भी]

में नहीं रहेगा। अर्थात् तुम्हारा मन जिस परिमाण में देहात्म-बुद्धि का त्याग कर सकेगा उतने ही परिमाण में उपास्य देवताओं के नाम-रूप लुप्त हो जायेंगे। सबसे अन्त में पहले के वे नाम-रूप लुप्त होकर एकमात्र मन-वाणी से अतीत आत्मा या ब्रह्म की सत्ता ही तुम्हारे हृदय में प्रकट होगी। यहाँ तक कह कर स्वामी अपने भाव में विभोर होकर भजन गाने लगे—

मूर्तिते पूजिछो काहारे ?
कोनो स्थाने बद्ध नय से, आछे सबेर हृद्माझारे ॥
माटि पाथर धातु दिये, मनेर कल्पनाय गड़िये ;
मत्त आछो पूजा निये, बाह्यिक आड़म्बरे।
फूल चन्दन आर भोग नैवेद्ये, काँसी ढाक ढोलेते ;
अर्थव्यय आर देहेर कष्ट, करितेछो जीवन भोरे ॥
ताते कि फल हलो तोमार, विचार कोरे देखो एबार।
विषये विक्षिप्त हय मन, अशान्ति भोग करे।
सत्संगेते मनस्तत्त्व, देखो श्रवण कोरे ;
मनेर कल्पनार बाहिरे, (से) आत्मा रूपे बिराज करे ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

मूर्ति में किसे पूजते हो ?
किसी स्थान में बद्ध नहीं, वह विराज रहे हैं सबके हृदय में।
मिट्टी पत्थर धातु से मन की कल्पना में मूर्ति बना कर
आडम्बरों से मूर्ति की पूजा करने में मस्त हो।
फूल चन्दन और भोग नैवेद्य तथा घड़ी घण्टा से
अनेक धन व्यय और देह का कष्ट जीवन भर उठाया।
उससे तुम्हें क्या फल मिला, अब विचार कर देखो।
विषय में विक्षिप्त होकर मन अशान्ति ही भोगता है।
सत्सङ्ग में मनस्तत्त्व श्रवण करके देखो—
मन की कल्पना से परे वह आत्मा रूप में विराजमान हैं।

भक्त—प्रभु ! शास्त्र में सुना है कि सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करके ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और पहले सगुण ब्रह्म की

उपासना करके बाद में निर्गुण ब्रह्म की उपासना की जाती है। अतः यह ब्रह्मोपासना क्या है, कृपा करके मुझे समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा! ब्रह्म एक, अद्वितीय, निराकार तथा रूप-गुणों से हैं। अतः वह ब्रह्म किस प्रकार से सगुण होंगे? इस कारण ब्रह्म का सगुण तुम्हारे मन की कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है। साधारण मनुष्य अनेक प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते हैं सही, परन्तु उनके भावार्थ में कभी प्रविष्ट होना नहीं चाहते। तुम लोग जो द्वैत-अद्वैत, ससीम-असीम, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, सरूप-अरूप आदि शब्द कहा करते हो, अन्धकार और आलोक की तरह वे युगल शब्द सम्पूर्ण विरुद्ध-भावापन्न हैं। विशेष मनोनिवेश पूर्वक विचार कर देखो कि, जो वस्तु द्वैत यानी दूसरे से पृथक द्वितीय है, वही ससीम और साकार है। फिर जो वस्तु साकार है, वही सगुण और सरूप होगी अर्थात् उसमें गुण और रूप रहेंगे ही। दूसरी ओर जो वस्तु अद्वैत है अर्थात् जिसके सिवाय संसार में कोई द्वितीय वस्तु नहीं जो उसे ससीम कर सके; वही अद्वैत वस्तु असीम और निराकार है। निराकार वस्तु में कोई गुण या रूप नहीं रह सकता, इसी कारण वह निर्गुण और अरूप है। तुम्हारे बहिर्मुखी मन अज्ञान की सीमा के भीतर रह कर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों द्वारा उस ज्ञानराज्य का समाचार जानना चाहता है। इस कारण ज्ञान का विन्दुमात्र प्रकाश भी तुम्हारे अन्तःकरण में प्रतिफलित नहीं होता। अण्डे के भीतर रहने वाला प्राणी उसी में घूम कर समझता है कि इतना ही सारा ब्रह्माण्ड है; उस अण्डे के बाहर कोई है यह उसकी बुद्धि से परे है। यदि वह उसी अण्डे के भीतर रह कर ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो अनन्तकाल तक प्रयत्न करने पर भी वह कदापि सम्भव नहीं हो सकता। बाहरी विश्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसे अण्डे का आवरण फोड़ कर बाहर निकल आना पड़ेगा। उसी प्रकार इस विश्व के नाम रूप का आवरण ही जीव के लिए उस अण्डे के आवरण की तरह है। इस नामरूप के आवरण का भेद किये बिना मायातीत परब्रह्म का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। अतः नामरूप को छोड़ कर विचार शक्ति द्वारा मायातीत उस ज्ञानराज्य का स्वरूप जानने की चेष्टा करो। इसलिये

कहता हूँ, अद्वैत वस्तु कभी द्वैत नहीं होती और असीम भी कभी ससीम नहीं हो सकता। निराकार का साकार होना, निर्गुण का सगुण होना या अरूप का सरूप होना कदापि सम्भव नहीं है, यही सिद्धान्त है।

हे सुमते ! शास्त्र, चैतन्य की उपासना करने का ही आदेश देते हैं, जड़ की उपासना करने का निषेध भी करते हैं। क्योंकि जड़ की उपासना करते-करते मनुष्य का मन जड़त्व प्राप्त होता है और चैतन्य की उपासना करते-करते मन मोह-निद्रा से चैतन्य प्राप्त होता है। परन्तु अज्ञान के कारण शास्त्र का मर्म पूर्णरूप से समझ न सकने के कारण तुम लोग जहाँ-तहाँ पेड़, पत्थर, मूर्ति आदि जड़ की ही उपासना करते रहते हो। इसी कारण तुम्हारी मनः-शक्ति भी प्रायः जड़त्व में परिणत हो गयी है। जरा सोचो, तुम अपनी शक्ति से एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान में जा सकते हो, पर तुम्हारे पेड़, पत्थर आदि जड़ वस्तुएँ तुम्हारी सहायता के बिना करवट भी नहीं बदल सकतीं। अतः 'सगुण ब्रह्म की उपासना' के अर्थ में पेड़, पत्थर या मूर्ति न समझो, क्योंकि वे जड़ हैं। तो सगुण ब्रह्म कौन है ? तुमसे भी जो अधिक चैतन्यवान् पुरुष हैं, जो इस देह के रहते हुए भी निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि कर सके हैं वैसे ब्रह्मज्ञ गुरु ही सगुण ब्रह्म हैं। क्योंकि मैंने पहले ही तुमसे कहा है कि, जो सगुण है वही साकार है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के मन है, इस कारण वे गुण की सीमा के भीतर साकार शरीर लेकर अभी भीं निर्लिप्त भाव से व्यवहारिक जगत में चल रहे हैं। शास्त्र भी कहते हैं—"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (श्रुति) अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञ व्यक्ति को ही साकार और सगुण ब्रह्म कहते हैं और इस प्रकार के साकार और सगुण ब्रह्म की उपासना करने के लिए ही शास्त्र आदेश देते हैं; जड़-स्वभाव युक्त पेड़, पत्थर तथा मूर्ति पूजा करने के लिए शास्त्रों ने नहीं कहा है। अनादि काल से ब्रह्मज्ञ व्यक्तियों की पूजा और सेवा करके ही मनुष्य निराकार, निर्गुण ब्रह्म में पहुँचते रहे हैं, परन्तु सगुण ब्रह्म की उपसना के नाम से तुम लोग अपनी कल्पना के द्वारा मूर्ति-पूजा की सृष्टि करते हो। सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से युक्त मन गुणों की सीमा में रह कर गुण की सेवा करना ही पसन्द करता है। बल्कि, गुण-प्रिय मन गुण की सीमा लाँघ कर गुणातीत

सत्ता में लीन होना नहीं चाहता। उस अण्डे के भीतर के प्राणी की तरह की सीमा के भीतर रह कर ही अपने चारों ओर गुण ही गुण खोजता-फिर अर्थात् तुम्हारे मन में बल के न रहने के कारण ही तुम कल्पित नाम-रू उपासना मान लेते हो। इसी कारण श्रुति कहती है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः—अर्थात् मानसिक बलहीन व्यक्ति कभी इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

बेटा! सूर्यग्रहण के समय सूर्य की प्रभा राहु के द्वारा ग्रस्त होने पर सूर्य के राहुयुक्त काल तक ही लोग अत्यन्त आग्रह और भक्ति के साथ स्नान दान, जप आदि धर्म-कर्म किया करते हैं, परन्तु सूर्य के राहुमुक्त होने पर सारे कर्म बन्द हो जाते हैं अर्थात् ग्रहण-मुक्ति के बाद लोग फिर उन कार्यों को ग्रहण के समय की तरह आग्रह और भक्ति के साथ नहीं करते। ठीक इसी प्रकार जिन मनुष्यों के ज्ञान-सूर्य को अज्ञान-राहु आच्छन्न कर लेता है, वे स्नान-दान, सन्ध्या-वंदन, माला-जप, मूर्ति-पूजा और कीर्तन-भजन आदि विशेष आग्रह और भक्ति से करते हैं। बाद में उनके मन का ज्ञान-सूर्य अज्ञान राहु से मुक्त होकर निर्मल हृदयाकाश में प्रोज्ज्वल होकर प्रकाशित होने लगता है तब फिर वे पहले की तरह आग्रह और भक्ति के साथ स्नान जप, पूजा आदि कर्म नहीं करते। उन कर्मों को वृथा जान कर उस समय उनका मन स्वेच्छा से ही उन धर्म-कर्मों का परित्याग कर देता है। मनुष्य के मन की अवस्था या शक्ति के अनुसार ही कल्पित उपासना हुआ करती है। परन्तु मन में विचार-शक्ति उत्पन्न होने पर आत्मा में रूप, गुण आदि दिखाई नहीं पड़ते। अतः तुम लोग अपनी ही कल्पना से मूर्ति-पूजा को 'सगुण ब्रह्मोपासना' कहते हो। यथार्थ में ब्रह्मज्ञ व्यक्ति की उपासना ही सगुण ब्रह्मोपासना है।

जन्मभर मूर्तिपूजा करने से भी चित्त शान्त नहीं होता, काम-क्रोधादि वृत्तियाँ भी नहीं छूटती और न शोक-ताप का दुःख ही घटता है। दूसरी ओर साक्षात् ब्रह्मरूप ब्रह्मज्ञ महापुरुष की सेवा और पूजा एक ही दो दिन करके देखो तुम्हारे मन में शान्ति प्राप्त होगी, काम-क्रोधादि वृत्तियाँ क्षणभर के लिए भी उत्पन्न

नहीं होंगी और मिथ्या संसार के शोक-ताप को मनःकल्पित जान कर हँसते हुए उड़ा दोगे।

भक्त—भगवान्! तो हम किस ढंग से ईश्वर की उपासना करें?

महात्मा—बेटा! अब मूर्ति-पूजा छोड़ कर प्रत्यक्ष परमेश्वर के रूप में प्रत्यक्ष महापुरुष की सेवा-पूजा शरीर-मन-वाणी से करते र... अपना जीवन ... कर भी ब्रह्मज्ञ व्यक्ति की आराधना करते चलो। यदि ईश्वर की उपासना करने के लिए प्रतिमा की आवश्यकता हो तो जीवित मानव-प्रतिमा ही तो तुम्हारे समक्ष विद्यमान है और यदि ईश्वरोपासना के लिए मन्दिर का निर्माण करना चाहो तो पहले ही से तो सर्वोच्च और सर्व श्रेष्ठ मानव-देह रूप मन्दिर विद्यमान है। तुम इस मनुष्य-देह-रूप मन्दिर में विराजमान ईश्वर की उपासना द्वारा उपलब्धि करने का प्रयास करो; यही सर्वश्रेष्ठ उपासना है। और इसी उपासना को ही यथार्थ सगुण ब्रह्मोपासना कहते हैं। सत्य-स्वरूप आत्म-तत्त्व-ज्ञान मन के पुराने सारे मिथ्या संस्कारों को मिटाकर सत्साहस और विचार-शक्ति की वृद्धि करता है। परन्तु उससे पुरोहितों का व्यवसाय एकदम नष्ट हो जाता है। सत्य ईश्वर की पूजा करनी हो तो जब तक तुम्हारा चित्त निर्मल नहीं होता तब तक तुम इस साकार मनुष्य रूपी ईश्वर की ही पूजा करते चलो। उसीसे तुम्हारे मन में निराकारा स्थिति सफल होगी। मुसलमान शास्त्र कहते हैं—'खुदा से भिन्न कोई ईश्वर नहीं है' और हमारे वेदान्त कहते हैं—'मनुष्य के अतिरिक्त ईश्वर नहीं है', इस बात को सुन कर तुम में से बहुतों के मन में भय उत्पन्न होगा। किन्तु धीरता से विचार करने पर तुम इसकी सत्यता की उपलब्धि कर सकोगे। जीवित ईश्वर तुम्हारे प्रत्येक जीव के साथ ही रहते हैं तथापि तुम इस तीर्थ में, उस तीर्थ में, इस मन्दिर में, उस मन्दिर में भटकते फिरते हो और सब प्रकार की काल्पनिक मिथ्या वस्तुओं में विश्वास कर रहे हो। यदि तुम अपने भीतर के उस सदा-विराजमान ईश्वर की उपासना न कर सको तो तीर्थ या मन्दिर में जाकर भी कोई फल न होगा। बेटा! जिस ईश्वर को अज्ञात समझ कर तुम उपासना कर रहे हो और जिन्हें सारे ब्रह्माण्ड में खोजते-फिरते हो वे तुम्हारे भीतर और बाहर सर्वव्यापी रूप से सदा ही विराजमान हैं। उनके रहने से ही समस्त प्राणी जीवित हैं, वे ही संसार के नित्य चैतन्य और नित्य साक्षी हैं।

अब सन्ध्याकाल उपस्थित हुआ देख कर भक्त महात्मा को मुद्रा है वस्त्र द्वारा प्रणाम करके अपने स्थान को चला गया और महात्मा भी ध्यान मग्न होकर आत्मस्थ हो गये ।

---

# चार युग

दूसरे दिन प्रातःकाल भक्त ने आकर पूछा—दयामय ! भक्त लोग कहते हैं कि, इस कलिकाल में मनुष्य केवल हरिनाम से ही मुक्त हो सकते हैं। इस काल के मनुष्यों की आयु अल्प और देह क्षीण है, इस कारण वे योग व ज्ञान मार्ग के अधिकारी नहीं हैं । अतः नाम-कीर्तन को आप कैसे इन्कार कर सकते हैं ?

महात्मा—बेटा ! यह कलिकाल क्या केवल हमारे ही भारत में आ उपस्थित हुआ है अथवा पृथ्वी के सर्वत्र ही कलिकाल आया है ? पृथ्वी के अमेरिका, इंग्लैण्ड, चीन, जापान आदि दूसरे देशों के निवासी तो कभी नहीं कहते कि हम इस कलिकाल से ग्रस्त हैं, इसलिए उन्नति की कोई चेष्टा नहीं करनी चाहिए बल्कि वे काल के प्रभाव की परवाह न कर ज्ञान-विज्ञान तथा शिल्प-वाणिज्य में क्रमशः उन्नति-लाभ कर रहे हैं । मैं तो देखता हूँ कि, तुम्हारे जैसे भारतवासी ही केवल 'कलियुग' 'कलियुग' कहकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं और क्रमशः अज्ञानान्धकार में डूबते जा रहे हैं । यथार्थ में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि किसी काल या स्थान में सीमित नहीं हैं, ये मनुष्य के मन की चार अवस्थाएँ हैं । कलि का अर्थ है—अज्ञान । माया-मोह से अभिभूत तमोगुण से आच्छन्न अज्ञान-पूर्ण सर्व निम्न अवस्था के मन को ही 'कलि' कहते हैं । द्वापर मन की दूसरी अवस्था है । यहाँ मन से अल्प परिमाण में मोह छूटकर विवेक शक्ति से सत् असत् की तथा मनस्तत्त्व की ओर कुछ दृष्टि पड़ती है । त्रेता मन की तीसरी अवस्था है । जब मन में विषय-वैराग्य उत्पन्न होकर भोग

[?]हुत घट जाती है और वह स्वाधीन विचार-शक्ति के द्वारा दृश्यमान संसार-प्रपंच के सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कारण विशेषरूप से खोजता रहता है तथा आत्मतत्त्व की आलोचना के अतिरिक्त जब मन में और किसी विषय के प्रति रुचि नहीं रहती, मन की इस उत्थित अवस्था का नाम 'त्रेता' है। इसके अनन्तर मन जब आत्मतत्व-ज्ञान प्राप्त करके सत्-स्वरूप आत्मानन्द के निरवच्छिन्न आनन्द में मग्न रहता है और इस संसार के सारे पदार्थों में एकमात्र आत्म-सत्ता की ही उपलब्धि होती रहती है, तब मन सत्-स्वरूप हो जाता है। मन की इस सर्वोच्च अवस्था को ही 'सत्य' कहते हैं। अतः जानना चाहिये कि, मन की पूर्ण अज्ञानावस्था का नाम ही 'कलि' है। इस कारण द्वापर युग में भी श्रीकृष्ण ने अनेक कटुवचन कहकर दुर्योधन से कहा था—'तुम घोर कलि हो' अर्थात् हे दुर्योधन! तुम अत्यन्त मोहाभिभूत और अज्ञानाच्छन्न हो। इससे भी समझ सकते हो कि, कलि आदि चार युग मन की ही चार अवस्थाएँ हैं। नहीं तो द्वापर युग में मनुष्य को 'तुम घोर कलि हो' कहकर कैसे कठोर वाक्य का प्रयोग किया जा सकता है। यदि कलि शब्द किसी काल के ऊपर प्रयुक्त होने का नियम होता तो मनुष्य के ऊपर ऐसे शब्द का प्रयोग करना सम्पूर्ण असम्भव हो जाता। किसी व्यक्ति को कोई यह नहीं कहता कि, 'तुम मास हो', 'तुम साल हो' या 'तुम कलियुग हो'। इस विषय में श्रुति भी कहती है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ ( ऐतरेय-ब्राह्मण )

अर्थात्—"माया-मोह से अभिभूत होकर मन की जो शयित, निद्रित या अज्ञान अवस्था है, उसीको 'कलि' कहते हैं। उसके अनन्तर 'द्वापर' अवस्था में मन कुछ स्पन्दित होता है अर्थात् करवट बदलता है। 'त्रेता' अवस्था में मन अच्छी तरह जाग्रत हो उठता है और 'सत्य' अवस्था में आत्मज्ञान प्राप्त कर कृतार्थ होकर मन स्वच्छन्दता से सत्य में विचरण करता है।"

वैष्णव-श्रेष्ठ गौरांग महाप्रभु ने इस कलिकाल में ही शिष्य सनातन को आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था। वंगीय वैष्णव सम्प्रदाय के चैतन्य चरितामृत ग्रन्थ में इस अद्वैत आत्मतत्त्व का उपदेश 'सनातन शिक्षा' नाम से ज्वलन्त

अक्षरों में लिखित है। सनातन का प्रश्न सुनकर ही गौरांग देव समझ गये कि सनातन आत्मजिज्ञासु है। उसका मन द्वापर अवस्था में है। अतः उसे तत्त्वोपदेश देकर क्रमशः त्रेता में ले जाकर बाद में सत्य में पहुँचाना है। उन्होंने जो सनातन को आत्मतत्त्वज्ञान का उपदेश दिया था, आजकल अधिकांश वैष्णवों के लिए वह अबोध्य हो गया है। अतः गौरांग महाप्रभु ने जो कुछ कहा था उसका अर्थ भी तुम समझ नहीं सके। विवेक-विचारहीन विषय-मद में मत्त अज्ञानी को ही शास्त्र में कलियुगी जीव कहा गया है। अध्यात्मराज्य के शिशु हैं और इस प्रकार के शिशु ही योग और ज्ञानमार्ग के अनधिकारी हैं। इन शिशुओं को व्यवहारिक जगत के सुखदायक भजन-कीर्तन आदि के द्वारा क्रमशः किसी महापुरुष की मूर्ति की चिन्ता में मन को संलग्न रखने के लिए ही महाप्रभु ने हरिनाम-कीर्तन का प्रचार किया था। मीराबाई आदि भक्तवृन्दों ने इसी प्रकार नृत्य, गीत, वाद्य आदि के साथ भगवद्भजन करके संसार के अज्ञानी मनुष्यों को शुभमार्ग में लाने का उपदेश दिया है। इस प्रकार के भजन, कीर्तन आदि करते हुए यदि किसी मनुष्य में अनेक जन्मों के बाद पूर्व पुण्य के प्रभाव से विचारशक्ति उत्पन्न होती है तो उस भाग्यवान पुरुष के मन में इस प्रकार प्रश्न का उदय होता है कि इन सब कीर्तनादि कर्मों से क्या लाभ होगा? परमेश्वर क्या वस्तु और वह कहाँ किस भाव से विद्यमान हैं, और हम सब जीव भी कहाँ से आये हैं, इस समय कहाँ हैं और मृत्यु के बाद भी कहाँ जायेंगे? तभी वे तत्त्व-जिज्ञासु या ब्रह्म-जिज्ञासु के रूप में परिणत होंगे। इस प्रकार के शारीरिक और मानसिक कर्मों की असारता जानकर वे व्यक्ति नामरूप का मोह छोड़ आत्मानन्द में लवलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार कलि का मोह कट जाने से मनुष्य क्रमशः द्वापर और त्रेता में कुछ उन्नत होकर अन्त में सत्य में आकर परमपद में प्रतिष्ठित हो जाता है। बेटा! तुम संसार के चित्र को विशेष ध्यान से देखोगे तो यह विषय सहज में ही समझ जाओगे।

———

# कृष्ण-मूर्ति

भक्त—प्रभु ! भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—"मेरी पूजा करो, ...र में मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ । अतः सब धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आ जाओ ।" इसीलिए आधुनिक वैष्णव सम्प्रदाय केवल भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति की पूजा, स्तुति आदि करके मुक्त हो रहे हैं । इस प्रकार के साक्षात् भगवत्तार की मूर्ति की भक्ति के साथ पूजा करने से क्या कोई भी फल नहीं होता ? क्या उससे हम मुक्त नहीं हो सकेंगे ?

महात्मा—वेटा ! श्रीकृष्ण के जन्म के हजारों वर्ष पूर्व वेद के ऋषि-महर्षि शिष्य को आत्मतत्त्व का उपदेश देते समय अहं ( मैं ) और मम ( मेरा ) आदि शब्दों से आत्मा में अहं-बुद्धि स्थापित कर आत्मतत्त्व का उपदेश दिया करते थे । उसके सहस्रों वर्ष के बाद श्रीकृष्ण ने उन वेद-वेदान्त के श्लोकों का सैन्धव मुनि से अध्ययन करके उन्हीं श्लोकों को उद्धृत कर अर्जुन को उपदेश दिया था । वर्तमान समय में भी ब्रह्मज्ञ गुरु शिष्य को वेदान्त-वाक्यों के द्वारा ही आत्मतत्त्व का उपदेश दिया करते हैं । इसके सिवाय वेदान्त के बाहर श्रीकृष्ण ने किसी नये प्रकार की साधन-प्रणाली से कोई नया उपदेश अर्जुन को नहीं दिया था । अतः अर्जुन को वेद के श्लोक उद्धृत कर उपदेश देने से ही यदि कृष्ण अवतार या भगवान हो जायँ तो कृष्ण ने जिनके आदर्श का अनुकरण किया है, वे वेदोक्त ऋषि-महर्षि स्वयं भगवान या अवतार रूप से क्यों न माने जायेंगे और उन सब मुनि-ऋषियों की मूर्ति की पूजा और उनके नाम का जप ही तुम क्यों न करोगे ? वेद के युग से ब्रह्मज्ञ मुनि-ऋषि सभी को भगवान कहकर सम्बोधित किया गया है । इसी कारण श्रीकृष्ण को भी ब्रह्मज्ञ होने से 'भगवान' नाम प्राप्त हुआ था । कृष्ण के जन्म के पहले जब कृष्ण-मूर्ति पूजी नहीं जाती थी, क्या उस समय वैष्णव सम्प्रदाय नहीं था ? क्या उस समय के वैष्णव मुक्त नहीं होते थे ? इस आत्मतत्त्व-ज्ञान के प्रभाव से ही जिस प्रकार उस काल के मनुष्य मुक्त होते थे, उसी प्रकार इस काल के मनुष्य भी उसी आत्मतत्त्वज्ञान से ही मुक्त हो रहे हैं । अच्छा वेटा ! वैष्णव किसे कहते हैं, बता सकते हो ?

भक्त—जी नहीं, मैं नहीं जानता।

महात्मा—विष्णुं जानातीति वैष्णवः—जो विष्णु का तत्त्व जान और एकमात्र विष्णु की ही उपासना करता है वही यथार्थ वैष्णव है।

भक्त—विष्णु शब्द का अर्थ क्या है ?

महात्मा—व्याप्ति अर्थ वाचक विष् धातु से उत्पन्न होने के कारण विष्णु श का अर्थ है 'व्यापक'। सर्वव्यापक विष्णु को जो अपने से अभिन्न रूप में अ करता है, वही वैष्णव है। अतः मनुष्य-शरीर-धारी सीमाबद्ध कृष्णमूर्ति की करके मनुष्य वैष्णव कैसे होगा ? यथार्थ वैष्णव से अनन्त विष्णु की अपार म अवगत हुए बिना तुम्हारे मन में विष्णुभक्ति कैसे उत्पन्न होगी ? और उस की अपरोक्ष रूप से उपलब्धि किये बिना केवल फूल, तुलसी, चन्दन से कृष्णमूर्ति की पूजा से तुम कैसे वैष्णव कहला सकते हो ? सीमाबद्ध कृष्ण अव्यापक है, उसके उपासक अवैष्णव हैं, वैष्णव नहीं। मन की किस अवस्था नाम भक्ति है और किस अवस्था का नाम ज्ञान इस विषय का पूर्ण ज्ञान न से ही तुम्हारे मन में ऐसा सन्देह हो रहा है।

भक्त—प्रभु ! भगवान श्रीकृष्ण के शरीर को क्या आप मायिक समझते हैं। हम तो जानते हैं कि, उनकी देह अप्राकृतिक, चिन्मय मूर्ति

महात्मा—बेटा ! श्रीकृष्ण की देह अप्राकृतिक है, यह तुमने कैसे विचार कर देखो कि, माता-पिता के संयोग से ही जीवदेह उत्पन्न होती है। कारण देवकी और वसुदेव के संयोग से ही श्रीकृष्ण-देह उत्पन्न हुई थी। अनन्तर श्रीकृष्ण के बचपन, यौवन आदि अवस्थाएँ, चक्षु-कर्ण आदि इन्द्रि कार्य और आहार-निद्रादि व्यवहारिक कर्म भी अन्य लोगों की तरह थे— कुछ भी अप्राकृत नहीं था। अतः किस युक्ति से उनकी हड्डी-मांस-खून की देह को तुम अप्राकृत कहते हो ? श्रीकृष्ण ने स्वयं नारद से कहा था—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥ (महाभारत शान्ति

अर्थात्—"हे नारद ! तुम जो अपने नेत्र से दिव्य-गन्ध-माल्यादि देह वाले मुझे देख रहे हो यह मेरी अपनी ही माया से रचित है। यदि मैं प्रकार मायिक देहधारी न होता तो तुम लोग मुझे जान या देख नहीं सक

क्योंकि इस मायिक शरीर के नाम-रूप द्वारा आवृत मेरा निज स्वरूप तुम लोग अपने चर्म-चक्षु से देख नहीं सकते। मेरा यथार्थ स्वरूप देखना हो तो सच्चिदानन्दघन आत्मा में समाधि लगानी होगी।" अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि, श्रीकृष्ण स्वयं ही अपनी देह को मायिक या प्राकृत कह गये हैं—तथापि तुम लोग उसकी उपेक्षा कर पागल की तरह कृष्ण-देह को 'अप्राकृत चिन्मय देह' कह-कर चिल्लाते रहते हो। गीता में भी अर्जुन से उन्होंने कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

अर्थात्—"हे अर्जुन! इससे पहले तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं, उनसे तुम अवगत नहीं हो, परन्तु मैं सब जानता हूँ।" श्रीकृष्ण के इन वचनों से स्पष्ट ही प्रमाणित होता है कि, वह भी साधारण मनुष्यों की तरह इस संसार में अनेक वार जन्मे थे। कृष्ण-देह को तुम 'चिन्मय' बतलाते हो, परन्तु किसी के ज्ञान नेत्र प्रस्फुटित हुए बिना केवल प्राकृत, स्थूल जड़ नेत्रों से कभी अप्राकृत चिन्मय मूर्ति दिखाई नहीं पड़ती। तुम लोग अपने जड़ नेत्रों से कृष्ण की जड़ मूर्ति का ही दर्शन करते हो तथापि वाक्‌युद्ध में विजयी होने के लिए ही केवल मुख से चिन्मय शब्द का प्रयोग करते हो। तुम्हारे जैसे अज्ञानी धर्मजगत के शिशुओं के लिए इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। इसी प्रकार अशास्त्रीय तथा युक्तिविरुद्ध भाव से तुम लोग अनेक स्थलों में एक बात के स्थान में अन्य बात, एक शब्द के स्थान में अन्य शब्द और एक अर्थ का अन्य अर्थ करके शास्त्र का विपरीत आशय प्रकट कर समाज में कुसंस्कार और अज्ञानान्धकार फैला रहे हो।

भक्त—भगवन्! तो क्या भारत के लक्षों वैष्णवों को इस प्रकार कृष्ण-मूर्ति की पूजा से कोई भी फल नहीं होता? वैष्णवों के इतने कष्टार्जित कर्म क्या सभी वृथा हैं?

महात्मा—बेटा! विचार और युक्ति के द्वारा तुम अपने प्रश्नों के उत्तरों को अच्छी तरह समझने की चेष्टा करो, तभी अपने मन का अज्ञानान्धकार दूर करके ज्ञानालोक में पहुँच सकोगे। पाँच हजार वर्ष पहले कृष्ण ने शरीर छोड़ दिया था। अब उनकी मूर्ति बना कर उसकी पूजा द्वारा तुम मुक्त होने

के लिए उनका दर्शन चाहते हो। परन्तु जब वही श्रीकृष्ण मानव शरीर में विद्यमान थे, तब उस समय के लाखों मनुष्य उनसे बातचीत तथा उनकी जीवित मूर्ति का दर्शन करते थे। परन्तु उनमें से एक भी जीवित श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर तथा उनका उपदेश सुनकर मुक्त क्यों नहीं हो सका? जो लोग चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते सोते सभी समय कृष्ण के साथ मिल कर रहते थे, क्षण भर के लिए भी जो लोग कृष्ण से अलग नहीं होते थे, सदा ही कृष्ण-सेवा में रत रहते थे वैसे गोप-बालक, गोपिकाएँ, पंचपाण्डव आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त क्यों नहीं हो सके थे? कृष्ण के परम भक्त युधिष्ठिर को जीवन भर जीवित कृष्ण की सेवा करके भी मामूली प्रतारणा के पाप से नरक में जाना पड़ा था। अर्जुन आदि अन्य पाण्डव तो स्वर्ग में भी नहीं जा सके थे। अतः श्रीकृष्ण स्वदेह में जीवित रहते हुए जब उस समय किसी व्यक्ति को मुक्त नहीं कर सके तो अब उस मृत कृष्ण के नाम मात्र का उच्चारण कर तुम कैसे मुक्ति की आशा कर सकते हो? केवल कृष्ण नाम के उच्चारण से ही जीव मुक्त होगा, ऐसी बात कृष्ण ने भी किसी स्थान में नहीं कही है। गीता में जो उन्होंने 'मैं' शब्दों का उल्लेख किया है, वह उनका उस स्थूल देह रूप 'मैं' नहीं है, परमात्मा रूप 'मैं' को लक्ष्य करके ही उन्होंने गीता में 'मैं, मुझे, मेरा' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु साधारण मनुष्य जिस प्रकार आत्मज्ञान न रहने से अपने स्थूल शरीर को 'मैं' शब्द से समझता है, कृष्ण के मुख से 'मैं' शब्द सुनकर भी अज्ञानी मनुष्य उनके मायिक स्थूल शरीर को ही 'मैं' शब्द से समझते हैं। यह उनका भ्रम मात्र है।

जरा सोच कर देखो—लोग राज-कर्मचारी को राजा की तरह पूजा करते हैं? राजा की शक्ति उस मनुष्य के भीतर रहने से ही वह व्यक्ति राजा की तरह पूजा पाता है। जब वह आदमी उस पद से उतार दिया जाता है, उसमें जब राजा की शक्ति नहीं रहती तब वह पहले की तरह पूजा नहीं पाता। इस प्रकार सूक्ष्म विचार करने से तुम समझ सकोगे कि सर्वत्र भीतरी शक्ति की ही पूजा होती है, बाहरी स्थूल मूर्ति को कोई नहीं पूजता। इस कारण कहता हूँ बेटा! श्रीकृष्ण की आत्म शक्ति (शारीरिक शक्ति नहीं) और

विद्यमान है। मैं जिधर ही देखता हूँ सर्वत्र ही उनकी आत्मशक्ति की उपलब्धि करता हूँ। तुम भी उस आत्मशक्ति की पूजा करना सीखो, तभी शक्तिवान् हो सकोगे ; नहीं तो जड़ मूर्ति की पूजा करते करते क्रमशः जड़ में परिणत हो जाओगे। श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अर्जुन से कहा है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (गीता)

अर्थात्—"हे कौन्तेय ! अन्यान्य ( शिव, राम, कृष्ण, काली, दुर्गा आदि ) देव-देवियों के भक्त लोग जो उन देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, वे अज्ञान के कारण मेरा स्वरूप ( आत्मा-रूप ) न जान सकने के कारण भेद-बुद्धि से अविधिपूर्वक ( अशास्त्रीय रूप से ) पूजा करते हैं, इस कारण ज्ञान प्राप्त भी नहीं कर सकते।" इस बात के द्वारा भी तुम स्पष्ट रूप से समझ सकते हो कि, भेद-बुद्धि से किसी सीमाबद्ध मूर्ति की पूजा करने की उन्होंने निन्दा की है। उन्होंने अर्जुन को विशेष रूप से समझा कर यही कहा है कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाऽहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (गीता, अध्याय १८)

अर्थात्—"( हे अर्जुन !) जो हम दोनों के इस धर्मयुक्त संवाद (गीतातत्त्व) का अध्ययन करेगा, उसके उस अध्ययन रूप ज्ञानयज्ञ द्वारा परमात्मा रूपी मैं पूजित हूँगा—यही मेरा अभिमत है।" तथापि तथाकथित वैष्णव अज्ञानवश गीता में कथित उपदेशानुसार कार्य न करके श्रीकृष्णमूर्ति का ही भजन-पूजन कर रहे हैं। दूसरी ओर भागवत में एक अद्भुत कल्पित रासलीला का प्रसंग उठाकर श्रीकृष्ण का परदाराभिमर्षण प्रचारित करने से आधुनिक अल्पबुद्धि वैष्णव श्रीकृष्णके गीतोक्त तत्त्व के प्रचार में असमर्थ होकर कृष्ण नाम में कलंक आरोप करके कहते हैं "कृष्ण यौवन काल में अनेक युवती स्त्रियों के साथ रमण करते थे। उस प्रसंग में जब उन युवती रमणियों में द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान आदि भाव उत्पन्न होता था श्रीकृष्ण आकर कभी मीठी बातों से और कभी किसी के पैर पकड़ कर उन्हें मनाया करते थे, जब कभी वे स्त्रियाँ यमुना में स्नान करने जातीं और वस्त्र तीर पर छोड़ कर जल में नंगी उतरतीं, तब कृष्ण उन वस्त्रों को चुराकर किसी ऊँचे

वृक्ष पर जा बैठते और उन नंगी स्त्रियों की विकलता देखकर मजा लूटते। यमुना में जल भरने के रास्ते में किसी स्त्री को अकेली पाकर कृष्ण उसका आँचल पकड़ा करते थे और बाँसुरी बजा कर वह सदा ही युवती स्त्रियों का मन अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करते थे।" श्रीकृष्ण के नाम पर इस प्रकार की घृणित बातें प्रचारित कर आधुनिक वैष्णवों ने उन्हें कामुक और व्यभिचारी बना डाला है— यह तो तुम विशेष रूप से प्रत्यक्ष ही कर रहे हो। इस प्रकार के अज्ञानी लोग स्वयं भोगी और स्त्रीवश हैं। रमणी-संग-सुख को ही वे अद्वितीय सुख मानते हैं। गोपिकाओं और पत्नियों के बिना केवल परमात्मा का ध्यान वे कर ही नहीं सकते। इसी कारण जो योग में महायोगी, त्याग में महात्यागी तथा गीता की ब्रह्मविद्या के वक्ता श्रीकृष्ण को उन लोगों ने अपनी ही मनोवृत्तियों के अनुसार रमणी-प्रिय-रूप में चित्रित किया है और इस प्रकार श्रीकृष्ण के नाम पर मिथ्या का आरोप करने से उनके मन की काम-क्रोधादि मैल नहीं घटती, बल्कि दिनों-दिन बढ़ती ही जाती है। ये लोग माला-तिलक धारण कर बाहरी धर्म की ध्वजा उड़ाते हुए चलते हैं और आपस में धर्मालोचना के समय भी संकेत से एक-दूसरे को बतलाया करते हैं कि 'कामिनी-कांचन मुँह से वर्जन, पर मन में साधन'। इसी कारण इनके 'बाहर योग का वेश और भीतर भोग का लेश' पूर्णरूप से ही प्रकट होता है। ठीक इसी प्रकार के कपटी वैष्णवों के प्रति लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

माला जपे साला, कर जपे भाई।
जो मन मन जपे उसे बलिहारी जाई॥

अर्थात्—"जो मनुष्य माला जपता है वह साला यानी गाली खाने योग्य है, जो अँगुलियों पर जप करता है उसे भाई कहा जा सकता है और जो बाहरी आडम्बर छोड़कर केवल मन में जप करते हैं वही श्रेष्ठ हैं।" वैष्णव धर्म अति पवित्र और सनातन धर्म है। जरा सोचकर देखो कि प्राचीन काल के ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रवर्तित विशुद्ध वैष्णव धर्म को आधुनिक मनुष्यों ने मिथ्या प्रचार द्वारा कितना अपवित्र और घृणित कर डाला है। आजकल तुम बात करते समय कहा करते हो कि हम आर्य-संतान और सनातन-धर्मावलम्बी हैं। परन्तु कार्य करते समय ठीक उसके विपरीत काम करते

सनातन धर्म के मूल शास्त्र वेद और वेदान्त हैं। इन वेद-वेदान्तों के युक्तिपूर्ण सिद्धान्तों से बाहर जो नये नये कुसंस्कारयुक्त सम्प्रदायों की शाखा-प्रशाखाएँ बनी और बन रही हैं, उन्हें मैं वैदिक सनातन धर्म से विरुद्ध अधर्म रूप कहता हूँ। क्योंकि उनके द्वारा दिनोंदिन लोगों के मन में दुर्बलता और निराशा बढ़ रही है, जिससे अधर्म प्रबल होकर समाज और देश को अधःपतित कर रहा है। अतः केवल बाह्यिक फूल-तुलसी-चन्दन से श्रीकृष्ण की पूजा नहीं होती। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का भावार्थ समझ कर पुरुषार्थ के साथ मन को उसीमें नियुक्त कर सकने से ही श्रीकृष्ण की यथार्थ पूजा या आत्म-पूजा होती है। इसी प्रकार की पूजा करने से मनुष्य आत्मानन्द में लवलीन होकर सुख से जीवन बिता सकता है। इतना कहकर महात्मा भजन गाने लगे—

हा कृष्ण, हा कृष्ण बोले काँदो कैनो,
तिनि बिश्वरूपे आछेन।
डाकाडाकि बृथा जेने, नीरवे करो साधन॥
गीतामुखे कृष्ण बलेन, "आमातेइ सब हय सृजन।
(आमि) भूमण्डलेर आत्मारूपे, प्रकाश पाइ सर्वक्खन॥"
ना मानिये कृष्णेर कथा, काँदे अज्ञ जीवगण बृथा।
बृथाइ तार माला-तिलक, जे ना बोझे कृष्ण-बचन॥
कान्ना शुने कोथा हते, कृष्ण आश्‌बेन कि भावेते।
(आमि) ताँर चेतना सदाइ देखि, जे दिके फिराइ नयन॥
(तिनि) आत्मारूपे तोमार अन्तरे, बिराजेन सर्वदार तरे।
ज्ञान-चोखे देखो ताँहारे, पूर्ण शान्त हबे मन॥

इसका आशय इस प्रकार है—

हा कृष्ण, हा कृष्ण कहकर क्यों रोते हो? वह तो विश्वरूप में विराजमान हैं। पुकारना, बुलाना वृथा जानकर नीरव साधन करो। गीता में कृष्ण कहते हैं 'मुझ से ही सृष्टि होती है, मैं भूमण्डल में आत्मारूप से सदा प्रकाशमान हूँ।' कृष्ण की बात न मानकर वृथा अज्ञ जीव रोते हैं। वृथा ही उसके माला-तिलक हैं जो कृष्ण वचन नहीं मानता, रुदन सुन कहीं से कृष्ण कैसे आयेंगे? मैं जिधर ही

नेत्र घुमाता हूँ, उनकी चेतना सब ओर देखता हूँ। वे तुम्हारे भीतर की आत्मा में सदा विराजमान हैं। ज्ञान-नेत्र से उन्हें देख लो, मन पूर्ण शान्त हो जा

इस समय सूर्यदेव अस्ताचल की ओट में छिप गये। इस कारण आत्मस्थ हो गये। तब भक्त भी उन्हें साष्टांग प्रणाम कर अपने स्थान चला गया।

---

# तीर्थ किसे कहते हैं ?

प्रातःकाल हुआ, बसन्त के मलय पवन और गंगा की कलकल ध्वनि हृदय में अपूर्व आनन्द का संचार होने लगा। उधर पूर्वाकाश में सूर्यदेव वर्ण-छटा फैलाकर उगने लगे। ऐसे समय भक्त ने आकर महात्मा को प्र करके बैठकर कहा—"प्रभु! मैं आपके उपदेश से देखता हूँ कि आप धर्म-कर्मों का प्रत्याख्यान कर रहे हैं और हम जिसे धार्मिक कहते हैं, उ धार्मिक नहीं कहते।

महात्मा--बेटा! मैं धर्म-कर्म का प्रत्याख्यान कभी नहीं करता। ज्ञान का नाम ही यथार्थ में धर्म है और उस ज्ञान के सहायक श्रवण, आदि भी धर्म के अन्तर्गत हैं तथा श्रवणादि के लिए शास्त्रग्रन्थों का महात्माओं के पास गमन, तत्त्वज्ञान की आलोचना आदि कर्म ही धर्म-कर्म अर्थात् उस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जो कुछ प्रयत्न किये जाते हैं धर्म-कर्म हैं। उसके सिवाय तुम जो माला-तिलक, जप-तप, मूर्ति-पूजा आदि आडम्बर की बात कहते हो, वह कभी आत्मोन्नति के सहायक नहीं है। कारण वह धर्म-कर्म नहीं कहला सकता और तुम जो धार्मिक की बात कह हो, बाहरी आडम्बर के साथ धर्म की ध्वजा दिखा कर कुसंस्कारों की रहकर केवल कर्मकाण्ड में संलग्न रहने से ही यदि वे धार्मिक हों

उनमें इतना अधिक शोक-ताप का क्लेश क्यों दिखाई पड़ता ? धार्मिक व्यक्ति को कभी शोक, दुःख या पश्चात्ताप नहीं हो सकता। धार्मिक अपने आत्मानन्द में निमग्न रहते हैं, इसलिए धार्मिक चिर सुखी हैं। बाहरी शोक-ताप का दुःख उन्हें छू भी नहीं सकता। आत्मा नित्यानन्दमय तथा अविकारी है। मन के क्रोध, सुख-दुःख आदि विकार उस आत्मा को त्रिकाल में भी स्पर्श नहीं कर सकते। जिसका चित्त उस आत्मा को ही अपना स्वरूप समझता है वह मन के सुख-दुःख से परे पहुँच गया है। इस कारण शोक-दुःख से वह अतीत है। दूसरी ओर जो अज्ञान के कारण इस आनन्दमय आत्मा को भूलकर मन बुद्धि इस शरीर को अपना स्वरूप समझता है वह अपने शरीर, इन्द्रिय और मन में विकार उत्पन्न होने पर उसे अपना ही विकार समझता है और जीवनभर दुःख भोगता रहता है। अतः दुःख ही धार्मिक और अधार्मिक के पहचानने की कसौटी है। जिस व्यक्ति में दुःख, शोक या पश्चात्ताप दिखाई पड़े वह धार्मिक नहीं है, केवल ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष ही यथार्थ में धार्मिक हैं। क्योंकि वह शरीर-इन्द्रिय-मन के विकारों को अपना विकार नहीं समझते, इस कारण उससे दुःखी, शोकार्त या अनुतप्त भी नहीं होते। इस प्रकार के यथार्थ धार्मिक व्यक्ति ज्ञान-विचार के द्वारा सदा परम शान्ति में रहते हैं तथा दूसरों को भी ज्ञान प्रदान कर शान्ति में रखते हैं। संसार में तुम देखते हो कि, जो धनी हैं उसे अन्न-वस्त्र का अभाव नहीं रहता और दरिद्र ही अन्न-वस्त्र के अभाव से कष्ट भोगता है। धर्मराज्य में भी उसी प्रकार जिनके पास ज्ञान-धन या परमार्थ-धन* है, उनमें शोक-ताप या अभाव-अभियोग कैसे रहेगा ? वह सदा ही आनन्द में आप्लुत हैं, और जो इस परम ज्ञान-धन से रहित है वह लाखों मूर्तियों की पूजा करने से भी जीवन भर शोक, दुःख, मनस्ताप से क्लेश पाता है।

भक्त—दयामय ! जो अगणित मनुष्य अनेक धनव्यय करके काशी, गया, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, रामेश्वर, हरद्वार, ऋषिकेश, केदार,

* परम + अर्थ = परमार्थ। अर्थात् जिसकी अपेक्षा श्रेष्ठ और कोई अर्थ (धन) नहीं है।

बद्रिकाश्रम आदि सैकड़ों तीर्थों का पर्यटन करते हैं, उससे यदि कुछ भी न होता तो प्रतिवर्ष लाखों रुपये खर्च कर अनेक कष्ट सहते हुए लोग तीर्थों में क्यों जाते हैं, बल्कि उन तीर्थों के दर्शन का विशेष फल भी तो पु में लिखित है। इसका क्या रहस्य है?

महात्मा—हे महामते! तृ धातु से तीर्थ शब्द बना है। इसका अर्थ है 'उत्तीर्ण होना'। संसार के पाप-ताप की ज्वाला से उत्तीर्ण होने के लि अज्ञ मनुष्यों को तीर्थ-भ्रमण की आवश्यकता होती है। पुराणों में उन ती की महिमा के प्रचार के लिए भी अनेक अलौकिक कहानियाँ रचित हुई हैं। तुम्हारे जैसे अज्ञानी व्यक्ति भी उन कल्पित घटनाओं को सत्य समझ कर अ धनव्यय करके कष्ट सहते हुए भी उन तीर्थों का पर्यटन करते हैं। अच्छा दे तुम लोग जो तीर्थ में जाकर गंगा, यमुना, सरस्वती के संगम रूप त्रिवे स्नान करते हो उससे तुम्हारे इस स्थूल शरीर की मैल धो जाती है सही, प सूक्ष्म देह रूप मन की काम, क्रोध, हिंसा, द्वेष, शोक, दुःख आदि मै बिन्दुमात्र भी धौत नहीं होती। तीर्थ में जाकर तुम्हारे बाहरी जड़ नेत्र बाहरी धातु-पत्थर की जड़ मूर्तियों का ही दर्शन करते हैं, परन्तु भीतरी ज्ञान के न रहने से कहीं भी आत्मा का स्वरूप-दर्शन नहीं होता। और भी देखो लोग वंश-परम्परा से काशी, गया, वृन्दावन आदि तीर्थों में जीवन भर नि करते हैं; उन तीर्थवासियों के तथा तीर्थों की देवमूर्तियों का जो लोग नि दर्शन-स्पर्शन करते हैं उन तीर्थ-पुरोहित-पण्डों के मन के प्रति लक्ष्य कर दिखाई पड़ता है कि वे तीर्थ-दर्शनार्थियों से भी अधिक विषयासक्त, काम, क्रो हिंसा, द्वेष आदि से उनका चित्त अधिक मलिन और वे पाप-ताप से अधिक शित हैं। अतः इतने दीर्घकाल तक तीर्थ में रहकर तथा तीर्थ की देवमूर्ति दर्शन-स्पर्शन-पूजन आदि कार्य करके भी जब उनके मन की मैल नहीं छूटी न वे पाप-ताप से मुक्त ही हो सके तो तुम लोग केवल तीन दिन किसी ती रहकर ही पाप-ताप से मुक्त होने की आशा कैसे कर सकते हो? इससे अ का कार्य और क्या हो सकता है? सूक्ष्म विचार करने से तुम समझ सकते हो तीर्थ-पर्यटन से तुम पाप-मुक्त न होकर पापयुक्त ही होते हो। क्योंकि तीर्थ-भ्र कर आने पर 'मैं चार धाम घूम आया हूँ' इस प्रकार कहते फिरने से उ

मन में जो धर्माभिमान उत्पन्न होता है, उससे तुम और भी अधिक अधःपतित हो जाते हो।

भक्त—प्रभु ! तो इन तीर्थों के भ्रमण का क्या उद्देश्य है और आपने जो कहा कि तीर्थ का अर्थ 'उत्तीर्ण होना' है, इन तीर्थों के भ्रमण से क्या उत्तीर्ण हुआ जाता है, उसे ही मुझे विस्तारित रूप से बताइये।

महात्मा—बेटा ! शास्त्र ने तीर्थ को तीन भागों में विभक्त किया है—भौम तीर्थ, जंगम तीर्थ और मानस तीर्थ। जिस प्रदेश की जलवायु अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद है, प्राकृतिक दृश्य भी परम मनोहर है और जहाँ साधु-सज्जन निवास करते हैं, उन स्थानों को 'भौम तीर्थ' कहते हैं। इस प्रकार के भौम तीर्थों में जाकर तीर्थ के माहात्म्य से उदरामय, दुर्बलता, दमा, राजयक्ष्मा आदि कठिन से कठिन रोगों के हाथ से मनुष्य मुक्त हो सकता है। इस कारण आजकल के विज्ञ चिकित्सक भी पूरी, द्वारका, हिमालय आदि स्थानों में जाकर आरोग्य प्राप्त करने के लिए रोगियों को परामर्श देते हैं। अतः इस प्रकार के भौम तीर्थ में किसी दूसरे स्थानों से आकर कुछ दिनों तक रहने से मनुष्य रोग से मुक्त होकर स्वस्थ तो हो सकते हैं, परन्तु उससे शोक-ताप से मुक्त होकर परम शान्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति की कोई आशा नहीं है।

प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
अवस्थानान्मुनीनाञ्च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥ (स्कंदपुराण)

अर्थात्—"भूमि का अद्भुत प्रभाव, जल का अपूर्व तेज तथा मुनियों का निवास है, इस कारण तीर्थ को पुण्यस्थान कहते हैं।"

आत्मज्ञ महापुरुष को 'जंगम तीर्थ' कहते हैं। इस प्रकार के जंगम तीर्थ (आत्मज्ञ महापुरुष) का सत्संग कर शरीर, मन, वाणी से उनकी सेवा कर सकने से क्रमशः मन की राग-द्वेषादि वृत्तियाँ और माया-मोह का दोष विदूरित होकर प्रत्यक्ष तत्त्वज्ञान का लाभ होता है, जिससे मनुष्य परम शान्ति प्राप्त करता है। अतः इस प्रकार के जंगम तीर्थ की महिमा से मनुष्य अति अल्प समय में अविद्या का मोह-सागर उत्तीर्ण हो सकते हैं। वेदान्त भी कहते हैं—

अस्य जीवन्मुक्तस्य देहधारणं लोकस्योपकारार्थम्।
आसनाच्छादनस्वशरीरं नोपभोगार्थाय च परिग्रहेत्।

उपकारस्त्रिविधश्चेति—दर्शनं भजनं सम्भाषणञ्चेति। दर्शनेन पापक्षयो भवति, भजनेन चोत्तरोत्तरं श्रेयोवृद्धिः, सम्भाषणेन मोक्षो भवति।

अर्थात्—"इस प्रकार के आत्मज्ञ, जीवन्मुक्त व्यक्ति का शरीरधारण केवल परोपकारार्थ है। जीवन्मुक्त का उपवेशन, आच्छादन और अपने शरीर का रक्षण उनके अपने उपभोग के लिए नहीं है। परोपकार तीन प्रकार के हैं—दर्शन, भजन और सम्भाषण। महापुरुष के दर्शन से मनुष्य के पापों का क्षय हो जाता है, भजन (सेवा) के द्वारा क्रमशः मंगल लाभ होता है और सम्भाषण (आपस में बातचीत) के द्वारा चिरशान्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।" बेटा! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, काली, कृष्ण, राम आदि लाखों देव-देवियों की मूर्ति या किसी एक विख्यात नदी के रहने से भी उस स्थान को तीर्थ कहा नहीं जा सकता—यदि वहाँ एक भी ब्रह्मज्ञ महापुरुष न हो। दूसरी ओर जहाँ एक भी देवमूर्ति नहीं है, केवल एक-दो महात्मा निवास करते हैं – उस स्थान को पवित्र तीर्थ कहते हैं। परन्तु तुम लोग जो काशी, प्रयाग, वृन्दावन आदि तीर्थों में जाते हो, क्या वहाँ किसी साधु-महात्मा की सेवा में रत रहकर उनसे कोई ज्ञानोपदेश प्राप्त कर अपने माया-मोह के बन्धन को काटने की कभी चेष्टा करते हो? बल्कि केवल रेल, मोटर आदि की सवारी करके बहुत सा धन लुटा देने से ही तुम्हारे तीर्थ-दर्शन का कार्य समाप्त हो जाता है। भागवत कहते हैं—

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले, न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु, स एव गोखरः।

अर्थात्—"जो मनुष्य केवल जल को ही तीर्थ समझता है, आत्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ महात्मा को तीर्थ नहीं समझता, वह गधे के समान है।"

एतेषां दर्शनस्पर्शादालापात् परितोषणात्।
सर्वतीर्थफलावाप्तिर्जायते शृणु जन्मनाम्॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यक्षेत्राणि यानि च।
कुलसंन्यासिनां देहे सन्ति तानि सदा प्रिये॥ (महानिर्वाणतन्त्र)

अर्थात्—"मनुष्य यदि कुल-संन्यासी अर्थात् आत्मज्ञ महापुरुषों का दर्शन, स्पर्शन करता है, उनसे वाक्यालाप करता है अथवा उन्हें सेवा द्वारा परि

करता है तो उसे सब तीर्थों के दर्शन का फल प्राप्त होता है। हे प्रिये ! इस भूमण्डल में जितने प्रकार के तीर्थ और पुण्य-क्षेत्र हैं, उन आत्मज्ञ महापुरुष के शरीर में वे सभी विद्यमान रहते हैं।"

तीर्थानि तोयरूपाणि देवाः पाषाणमृण्मयाः।
योगिनो न प्रपद्यन्ते आत्मध्यानपरायणाः॥
निमिषं निमिषार्धं वा यत्र तिष्ठन्ति योगिनः।
तत्र तत्र कुरुक्षेत्रं प्रयागं नैमिषं वनम्॥
क्रतुकोटिसहस्राणां ध्यानमेकं विशिष्यते।
यतेर्दर्शनमात्रेण विमुक्तः सर्वपातकात्॥
तीर्थव्रततपोदानसर्वयज्ञफलं लभेत्॥ (पीठमालातन्त्र)

अर्थात्—"आत्मध्यान-परायण योगी लोग जल रूप तीर्थों का पर्यटन अथवा पत्थर, मिट्टी आदि से गठित देवताओं की उपासना नहीं करते। क्योंकि उनके शरीर में ही वाराणसी आदि तीर्थ तथा नारायण आदि देवता विराजमान हैं। उस प्रकार के योगी आधा क्षण भी जहाँ अवस्थिति करते हैं, वहाँ कुरुक्षेत्र, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थ विराजमान होते हैं। क्योंकि वे जो आत्मचिन्ता करते हैं, वह सहस्र कोटि यज्ञों से भी श्रेष्ठ है। उस प्रकार के योगी के दर्शन मात्र से ही सब पापों से मुक्ति तथा तीर्थ-दर्शन, व्रतानुष्ठान, तपस्या, दान और सारे यज्ञों का फल प्राप्त होता है।" काशीखण्ड में लिखा है—

ब्राह्मणः जङ्गमं तीर्थं निर्मलं सर्वकायिम्।
येषां वाक्योदकेनैव शुध्यन्ति मलिनाः जनाः॥

अर्थात्—"ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण ही निर्मल, पवित्र, जंगम ( सचल ) तीर्थ हैं। जिनके वाक्य रूप जल के द्वारा अज्ञानियों के मलिन चित्त विशुद्ध हो जाता है।" स्मृति में लिखा है—

ब्राह्मणात् परमं तीर्थं न भूतं न भविष्यति।

अर्थात्—"ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण की अपेक्षा श्रेष्ठ तीर्थ कभी नहीं था और न कभी भविष्य में भी हो सकता है।" वेदान्त कहते हैं—

गंगातोयेन स्नानेन मृद्भारैश्च नगोपमैः।
आमृत्युस्नातकश्चैव भावदुष्टो न शुध्यति॥

अर्थात्—"मृत्यु काल तक गंगा-स्नान करने से या पर्वत के समान मृत्तिका शरीर में लेपन करने से भी दुष्टभावग्रस्त व्यक्ति का चित्त कभी शुद्ध होता।" जाबाल-दर्शनोपनिषद् में लिखा है—

ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये जो रमते नरः।
स मूढ़ः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत॥

अर्थात्—"हे सुव्रत! जो मनुष्य ज्ञान-शौच छोड़कर बाह्य शौच में होता है वह मूढ़ व्यक्ति सुवर्ण छोड़कर मिट्टी का ढेला ग्रहण करता है।"

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। (मनुसंहि

अर्थात्—"जल के द्वारा केवल शरीर मात्र ही शुद्ध होता है, परन्तु अर्थात् आत्मज्ञान के द्वारा मन विशुद्ध होता है।"

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि गुणों से निर्मल हो जाता है, तब उसे ही 'मानस तीर्थ' कहते हैं। जैसे कसकुट, पत्थर, मिट्टी आदि के किसी भी प्रकार के पात्र में पारा रखा क्यों न किसी के साथ संलग्न नहीं होता, पात्र में रहकर भी वह उससे निर्लिप्त अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे मन को करना होगा, अर्थात् जब मन पाप-पुण्य धर्माधर्म, सुख-दुःख, शान्ति मानापमान आदि द्वन्द्वों में किसी के साथ लिप्त न होगा तभी समझना कि 'मानस तीर्थ' उत्पन्न हो गया है। इस मानस तीर्थ के प्रभाव से ही मनुष्य सागर से उत्तीर्ण होकर महानिर्वाण प्राप्त कर सकता है। जगद्गुरु शंकराचार्य भी कहा है—

तीर्थं परं किम्? स्वमनो विशुद्धम्।

अर्थात्—"परम तीर्थ क्या है? उत्तर—अपना विशुद्ध और निर्मल

बहिस्तीर्थात् परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने।
आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम्॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि॥
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा।
वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः॥

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गवः ॥ (जाबाल-दर्शनोपनिषद्)

अर्थात्—"हे मुनिश्रेष्ठ ! बहिस्तीर्थं प्रयागादि से आभ्यन्तर तीर्थ श्रेष्ठ है । आत्मतीर्थ ही सर्वोत्तम है । अन्य तीर्थ निरर्थक हैं । विषय-वासनासक्त दुष्ट मन को बाहरी तीर्थ में स्नान कराकर शुद्ध नहीं किया जा सकता ; जिस प्रकार अनेक बार धोने पर भी मद्य-पात्र ( जिस पात्र में मदिरा तैयार होती है ) शुद्ध नहीं होता । विषुवायण के समय, आन्तर ग्रहण के समय अथवा सदा काशी आदि के तीर्थ में स्नान करके साधारण मनुष्य शुद्ध होता है, परन्तु हे मुनिश्रेष्ठ ! ज्ञानयोग-परायण व्यक्ति के पाद-प्रक्षालन का जल अज्ञानियों की भावशुद्धि के लिए तीर्थ-जल (गंगा जल ) स्वरूप होता है ।"

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः ।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं प्रीतिर्वरानने ॥ ( महानिर्वाणतन्त्र )

अर्थात्—"तमोगुणी व्यक्ति काशी, प्रयाग आदि नाना तीर्थों में भ्रमण करते हैं, किन्तु हे पार्वति ! जो अपने आत्मा रूप विशुद्ध पवित्र तीर्थ को नहीं जानते उनके मन में प्रीति ( शान्ति ) कैसे प्राप्त होगी ?"

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया तीर्थं सर्वत्रार्जवमेव च ॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थञ्च प्रियवादिता ॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं पुण्यं तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ।
एतत्ते कथितं देवि ! मानसं तीर्थलक्षणम् ॥ ( अगस्त्य-स्मृति )

अर्थात्—"हे देवि ! सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, प्राणियों के प्रति दया, सर्वत्र सरलता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवाक्य, ज्ञान, धृति, पुण्य और सबसे ऊपर मन की विशुद्धता – ये सभी मानस तीर्थ के लक्षण हैं ।"

इन्द्रियाणि वशे कृत्वा यत्र तत्र वसेन्नरः ।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करं तथा ॥ ( पद्मपुराण )

अर्थात्—"इन्द्रियों को वशीभूत करके मनुष्य कहीं भी रहे वहीं उसके कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर आदि तीर्थ विद्यमान हो जाते हैं।" भगवान शंकर ने कहा है—

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च।
ज्ञानप्रवाहा विमलादिगंगा, सा काशिकाहं निजबोधरूपा॥

\+ + + + + + +

काश्यां हि काशते काशी, काशी सर्वप्रकाशिका।
सा काशी विदिता येन, तेन प्राप्ता हि काशिका॥
काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगंगा,
भक्तिः श्रद्धा गयेयं निजगुरुचरणध्यानयोगः प्रयागः।
विश्वेशोऽयं तुरीयः सकलजनमनः-साक्षीभूतोऽन्तरात्मा,
देहे सर्वं मदीये यदि वसति पुनस्तीर्थमन्यत् किमस्ति॥

अर्थात्—"विषयों से मन की निवृत्ति होने पर जिस परम शान्ति की प्राप्ति होती है, वही तीर्थों में श्रेष्ठ मणिकर्णिका है; और सब विषयों में ज्ञान उत्पन्न होता है, वही विमला गंगा है। अतः निज-बोध रूप आत्मतत्त्व काशी है। ज्ञान से ही काशी का प्रकाश होता है और ज्ञान रूप काशी सबको प्रकाशित करती है। इस प्रकार की ज्ञान-काशी को जो जानते हैं वही सब प्रकार से काशी प्राप्त करते हैं। ज्ञान के उदय होने से काशी आदि तीर्थों की आवश्यकता नहीं रहती। यथार्थ में मनुष्य का शरीर ही काशी-क्षेत्र है, ज्ञान ही त्रिभुवन-जननी गंगा है, भक्ति और श्रद्धा गया रूप हैं, निज-गुरुचरण-ध्यान ही प्रयाग तथा सब प्राणियों के मनःसाक्षी अन्तरात्मा ही विश्वेश्वर तुरीय ब्रह्म हैं। अतः जब हमारे शरीर में ही सारे तीर्थ हैं तो अन्य तीर्थ की क्या आवश्यकता है?"

ऊपर-कथित तीन प्रकार के तीर्थों में जो जिस प्रकार का अधिकारी है, उसी प्रकार के तीर्थ में भ्रमण करने की चेष्टा करता है और उसका फल भी उसी प्रकार पाता है। अतः बेटा! सूखी घास जिस प्रकार हवा से उड़कर नदी के प्रवाह में पतित हो जाती है और बहते-बहते बहुत दूर चली जाती है, उसी प्रकार

अज्ञानी व्यक्ति भी तीर्थ भ्रमणादि के प्रवाह में बहते-बहते वृथा ही देश-देशान्तरों का परिभ्रमण करता रहता है। आत्मज्ञान-रहित मनुष्य इसी प्रकार अनेक जन्मों तक आधि-व्याधि के क्लेशों से अभिभूत होकर पशु की तरह जीवन बिताते हैं। अतः ज्ञानवान व्यक्ति ही सुखी, जीवित, बलवान और धार्मिक हैं।

---

# निष्काम कर्म

भक्त—प्रभु ! अनेक ज्ञानी व्यक्ति कहते हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि 'निष्काम कर्म करते-करते चित्त शुद्ध होने पर ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। अतः निष्काम कर्म करना ही मनुष्य का कर्तव्य है।' यह निष्काम कर्म किसे कहते हैं ?

महात्मा—बेटा ! कर्म कभी निष्काम नहीं हो सकता, क्योंकि मन में संकल्प, इच्छा या कामना उत्पन्न होने के अनन्तर ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है। बिना कामना के कोई भी कर्म नहीं हो सकता। कामना का ही नाम 'काम' है। अतः कोई भी कर्म निष्काम नहीं हो सकता। फिर कर्म से मनुष्य के मन में कामना या काम की उत्पत्ति होती है और उस कामना से पुनः कर्म की सृष्टि होती है। अतः कर्म ही कामना का बीज-स्वरूप है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है उसी प्रकार कर्म से कामना बनती है। अतः कामना और कर्म इन दोनों में बीज-वृक्ष की तरह एक में दूसरे के उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है। इसलिए वेदान्त में कहते हैं—

वासनावृद्धितः कार्यं कार्यवृद्ध्या च वासना।
वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते॥

अर्थात्—"मनुष्य की वासना की वृद्धि से कर्म वर्धित होता है और कर्म की वृद्धि से वासना वर्धित होती है। इस कारण संसार में आवागमन का चक्र बन्द नहीं होता।"

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद् यतिः ।
वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः ॥

अर्थात्—"बुद्धिमान मनुष्य संसार-बंधन के छेदन के लिए कर्म और इन दोनों को भस्म कर डाले, क्योंकि विषय-भावना और बाहरी क्रिया इन के द्वारा ही वासना वर्धित होती है ।" अतः तुमने जो गीता की बात कही, आज-कल अधिकांश मनुष्य ही गीता पढ़कर मुख से निष्काम कर्म करते हैं ! परन्तु आदि का पालन-पोषण करना, वित्त का संरक्षण करना, उसकी वृद्धि के लिए आग्रह करना, धन-नाश या स्वजन-वियोग में शोकार्त होकर विलाप करना, में अहं-बुद्धि से कार्य करना आदि कार्य देखकर यदि कोई नित्य-गीताध्यायी पूछे कि ये सब किस प्रकार के कर्म हैं तो गीताध्यायी झट उत्तर देते हैं— गीता में श्रीकृष्ण ने निष्काम भाव से कर्म करने को कहा है । इसीलिए के सभी कर्म निष्काम भाव से करता हूँ ।' अब तुम समझ सकते हो कि इस के कृत्रिम निष्काम कर्मों से संसार में पाखण्ड की कितनी वृद्धि हो कामना की आग हृदय में धधक रही है और उस आग से उत्तप्त होकर उन्नति के लिए प्राणपण चेष्टा कर रहा है, परन्तु मुँह से कहता है— भाव से कर्म करता हूँ !' आजकल राम, श्याम, रघु, मधु आदि सभी भाव से कर्म करते हैं ! वे अपने लिए कुछ नहीं करते, मानो सभी पुत्र आदि के लिए ही करते हैं ! ऐसे वाक्य दूसरों को समझाने या भाषण देने के लिए सुविधाजनक हो सकते हैं परन्तु अपने मन के डालने से उन्हें पता लगेगा कि पत्नी-पुत्र, वित्त आदि पर मन की आसक्ति भोग की कामना तो पूरी मात्रा में ही विद्यमान है । इस कारण इसको पाखण्ड और क्या हो सकता है ? कपटी, पाखण्डी से स्पष्टवादी नास्तिक है । हे महामते ! जिसके वाक्य में विवेक है, परन्तु चित्त में है अविवेक, लिए भोग या भोग्य वस्तु का परित्याग केवल दुःख का ही कारण होता है ।

भक्त—प्रभु ! तो निष्काम कर्म किसे कहते हैं ?

महात्मा—हे सुबुद्धे ! कर्म तीन प्रकार के हैं—सकाम कर्म, निःस्वार्थ और निष्काम कर्म । साधारण मनुष्य इस लोक के या परलोक के सुख की से जो नाना प्रकार के पुण्य-कर्म करते हैं, उन सबको 'सकाम कर्म' कहते

क्योंकि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कामना-परायण होकर ही वे उन कर्मों को करते हैं। जो कर्म अपनी सुख-शान्ति के प्रति ध्यान न देकर केवल परोपकारार्थ या समाज के हितार्थ किया जाता है, उसे 'निःस्वार्थ कर्म' कहते हैं। ऐसे निःस्वार्थ कर्म करते समय भी मन में 'मुझसे दूसरों की भलाई हो' ऐसी कामना रहती है। इसलिए इस प्रकार का कर्म भी निष्काम कर्म नहीं है, वह निःस्वार्थ कर्म है। परन्तु प्रायः लोग इस निःस्वार्थ कर्म को ही 'निष्काम कर्म' कहते हैं। मन की सबसे अन्तिम अवस्था में, जब मन आत्मज्ञान प्राप्त कर अपने को दूसरों से पृथक् नहीं देखता, संसार को स्वप्नवत् मिथ्या समझता तथा दूसरों के उपकार-अपकार आदि सब विषयों में निष्काम हो जाता है, तब वह कामनाहीन मन जो कुछ कर्म करता है, वही 'निष्काम कर्म' कहलाता है। क्योंकि उस समय मन कामना-शून्य होकर ही वायुचालित शुष्क पर्ण की तरह सभी कर्म निष्काम और निर्लिप्त भाव से करता है। शरीर में अपने आप जो साँस चलती है, खून दौड़ता है, पाकस्थली में अन्न पचने की क्रिया होती है, इन कर्मों में मन की कोई कामना न रहने से ये भी निष्काम कर्म कहलाते हैं।

निष्काम और निर्लिप्त भाव से कर्म करने की जो बात तुमने कही है, उस निर्लिप्तता का आशय यह है कि, मन कर्म में आसक्त भी नहीं और कर्म त्याग करने के लिए आग्रहान्वित भी नहीं। अर्थात् उन दोनों में उदासीन तथा कर्मफल के प्रति स्पृहा-रहित। इस प्रकार के पुरुष ही यथार्थ में निर्लिप्त या अनासक्त हैं। अतः आत्मज्ञ महापुरुष के अतिरिक्त उस प्रकार की मनोवृत्ति साधारण मनुष्यों में कदापि नहीं हो सकती। मल-मूत्र का त्याग करना, भोजन करना आदि शरीर के स्वाभाविक कर्मों को भी निष्काभ कर्म कह सकते हो। क्योंकि मल-मूत्र त्याग का वेग न होने तक अथवा पेट भरा रहने से क्षुधा का बोध न होने पर तुम्हारे मन में कामना उत्पन्न होने से भी तुम मल-मूत्र त्याग या भोजन नहीं कर सकते। दूसरी ओर उन कर्मों के वेग का होना न होना भी तुम्हारे मन की इच्छा पर निर्भर नहीं है और वेग होने पर तुम्हारे मन में कामना न रहते हुए भी उन कार्यों को करना पड़ता है। इस कारण उस प्रकार के कर्म तुम्हारी कामना पर निर्भर नहीं हैं। इस कारण उन्हें भी निष्काम कर्म कहते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक नियम से सूर्य उदित होकर प्रकाश देता है

और वायु प्रवाहित हो रही है, इन कार्यों में किसी में किसी प्रकार की ... न रहने से सूर्यदेव और पवनदेव निष्काम कर्म कर रहे हैं। ठीक इसी ... आत्मज्ञ महापुरुष ही निष्काम कर्म करते हैं। बेटा! कर्म का कर्ता है मन, ... कामनाशून्य हुए बिना किसी प्रकार भी निष्काम कर्म नहीं हो सकता ... लौंग से भूत भगाना है, उस लौंग में ही भूत समाया हुआ है। इस ... भूताविष्ट आदमी का भूत कैसे छूटेगा? पहले लौंग से भूत छुड़ाओ, ... बाद दूसरे का भूत छुड़ाना। उसी प्रकार पहले मन को निष्काम ... उसके पश्चात् उस मन से निष्काम कर्म कर सकोगे। गीता में ... ने मुमुक्षु व्यक्ति को निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। ... आशय यह है कि, जिस कर्म के करने से मन में विचार-शक्ति उत्पन्न ... कर्म करने की कामना और भोग की वासना विनष्ट हो जाती है अर्थात् ... निष्काम होता है, वही यथार्थ में 'निष्काम कर्म' है। जिस प्रकार लोहे के ... शस्त्र से ही लोहा काटा जाता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं, उसी प्रकार ... ज्ञान लाभ के सहायक शुभ कर्मों के द्वारा मन में विचार-शक्ति उत्पन्न होने ... प्रकार के अशुभ कर्मों की कामना तथा भोग की वासना विलुप्त हो जाती है, ... किसी के द्वारा नहीं। इसी कारण शास्त्रविहित शुभ कर्मों को ही श्रीकृष्ण ... 'निष्काम कर्म' कहा है। अतः जो-जो कर्म आत्मज्ञान लाभ के सहायक हैं ... सभों को ही तुम 'निष्काम कर्म' रूप से जानना। हे सत्यकाम! मनुष्य दो ... के कर्म करते हैं, आत्मा की आराधना के लिए निवृत्ति-साधक कर्म और ... मूलक विषय कर्म। विषय कर्म के अनुष्ठान से लोग बन्धन-दशा प्राप्त होकर ... प्रकार के शोक-ताप भोगते रहते हैं। और आत्मा की आराधना के निमित्त ... नुष्ठान करने से वे सब प्रकार के बन्धनों और शोक-ताप आदि दुःखों से मुक्त ... निरवच्छिन्न परमानन्द भोग करते हैं। अतः तुम आत्मा की आराधना के ... कर्म करते रहकर शोक-ताप से मुक्त हो जाओ और आत्मानन्द में लवलीन ... परम शान्ति प्राप्त करो। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर॥

अर्थात्—"(यज्ञार्थात् आत्मा के आराधनार्थं)—आत्मा के आराधना...

कर्म से विरत होकर अन्य वैषयिक कर्मों का अनुष्ठान करने से मनुष्य को बंधन-दशा प्राप्त होती है। अतः हे कौन्तेय! तुम आसक्ति-रहित होकर परमेश्वर (आत्मा) के उद्देश्य से कर्मानुष्ठान करके बंधन से मुक्त हो जाओ।"

भक्त—प्रभु! जब तक मन है तब तक कामना भी रहेगी। कामनारहित और क्या कभी मन रह सकता है? महापुरुषों में भी तो मन है तो वे निष्काम कर्म कैसे करते हैं?

महात्मा—बेटा! अपने इस छोटे अज्ञानी मन के द्वारा तुम ब्रह्मज्ञ महापुरुष के विशाल मन की अवस्था नहीं समझ सकते। तथापि युक्ति के द्वारा तुम्हें उनके मन की स्थिति की बात कुछ बतलाता हूँ। इन बातों को तुम अपने मन की अवस्था से मिलाकर समझने की चेष्टा करो, नहीं तो किसी तरह से भी समझ न सकोगे। यौवनावस्था में आने पर जिस प्रकार तुम बचपन के गुड़ियों से खेल को वृथा समझ कर उस खेल के प्रति कामना छोड़ देते हो, इस संसार के सभी कर्मों को निष्फल जानकर महापुरुष भी उसी प्रकार सांसारिक सारे कर्मों की कामना छोड़ देते हैं। इस वयस में यदि तुम्हारे बच्चे आकर कहते हैं—'बाबू जी! मेरी इस गुड़िया को कपड़े पहना दीजिये'—तो क्या उस गुड़िया से खेलने के लिए तुम्हारे मन में कभी कामना उत्पन्न हो सकती है? उस समय जिस प्रकार तुम गुड़िया के खेल में कामनारहित होकर ही अपने मन में अनिच्छा रहते हुए भी उस गुड़िया को कपड़े पहना देते हो, ब्रह्मज्ञ महापुरुष भी ठीक उसी प्रकार व्यवहारिक जगत के आहार, निद्रा, गमनागमन, परस्पर वाक्यालाप आदि करते समय निष्काम और निर्लिप्त रहकर ही शरीर-यात्रा का निर्वाह करते हैं। उपदेश-प्रार्थी होकर उनके सामने किसी के आने पर भी केवल उनकी भलाई के लिए ही वे निष्काम भाव से उपदेश दिया करते हैं। कुम्हार के घट तैयार करने के चक्रयन्त्र को कभी देखा है? उस चक्र को कुछ समय तक घुमाकर छोड़ देने से वह पूर्व-प्रदत्त वेग से बहुत समय तक घूमता रहता है और उससे कुम्हार अपना काम कर लेता है। ब्रह्मज्ञ महापुरुष का मन रूप चक्र भी ठीक उसी प्रकार का है। पूर्व से आरब्ध प्रारब्ध के वेग से वह चलता रहता है। उस समय उनके शरीर में मन की अहं-बुद्धि नहीं रहती, केवल देहयात्रा का निर्वाह करने के उपयोगी कार्य ही निर्लिप्त भाव से

होते रहते हैं। तत्त्वज्ञ व्यक्ति का चित्त रहते हुए भी न रहने के ही समान है, इस कारण उनका 'चित्त' (मन) चित्त नाम से कथित न होकर 'सत्त्व' से अभिहित होता है।

भक्त—महात्मन्! प्राचीन समय के मुनि कभी कभी क्रोधित होकर दूसरे को अभिशाप दिया करते थे। महाभारत आदि ग्रन्थों में इसके प्रमाण मिलते हैं। उसी प्रकार आधुनिक अनेक महात्माओं को क्रोधित मैंने अपनी आँखों से देखा है। अतः वे अपने रिपुओं को वशीभूत निष्काम कहाँ हो सकते हैं?

महात्मा—हे महामते! सपेरे जिस प्रकार साँप के विष-दाँत तोड़कर साथ खेलते हैं, ज्ञानी व्यक्ति भी अपने मन रूप सर्प के काम क्रोधादि छः रिपु को बहिर्मुख से अन्तर्मुखी करके मन की विष-क्रिया की शक्ति नष्ट कर देते और इसी मन से सांसारिक खेल करते रहते हैं। सपेरे के साँप के साथ खेलते समय दर्शकों को दिखाई पड़ता है कि उसको साँप ने फन उठाकर फुफकारते हुए डस लिया यहाँ तक कि खून भी निकल आया, परन्तु उस साँप में विष न रहने से सपेरे को कोई हानि नहीं पहुँची। उसी प्रकार जगत्पिता ब्रह्मज्ञ महापुरुष के मन रूप सर्प को सांसारिक व्यवहार के समय कभी क्रोधित होते या फुफकार मारते हुए दिखाई पड़ने पर भी उसमें विष-क्रिया की शक्ति न रहने से वह पुरुष को विषाक्त करके उनकी कोई हानि नहीं कर सकता। तुम्हारे जैसे साधारण मनुष्यों को यह विषय धारणा से भी अतीत है, क्योंकि स्वयं आत्मज्ञ हुए बिना दूसरे आत्मज्ञ के मन की अवस्था किसी उपाय से भी समझ में नहीं आती।

भक्त—प्रभु! यदि ज्ञानी महात्माओं के निकट संसार मिथ्या प्रतीत होता है तो वे इस संसार के आहार-विहार आदि सब कार्य ठीक हमारे जैसे अज्ञानियों की तरह कैसे करते हैं?

महात्मा—बेटा! बचपन की अज्ञानावस्था में दर्पणस्थ अपना प्रतिबिम्ब दुःख-दायक होने पर भी ज्ञान होने पर वही प्रतिबिम्ब सुख देता है। तुम्हारे बचपन की अज्ञानावस्था में दर्पण में प्रतिबिम्बित अपनी ही छाया देख कर 'यह लड़का कहाँ से आ गया' ऐसा सोच कर तुम उस छाया को मुँह चिढ़ाते या मुक्का दिखाते थे, परन्तु अब उस प्रतिबिम्ब के विषय में तुम्हें यथार्थ ज्ञान हो गया है। अब

जान गये हो कि दर्पण के भीतर का वह मनुष्य कोई दूसरा नहीं है, वह अपना प्रतिबिम्ब है। इस कारण उस प्रतिबिम्ब से ही तुम अपना केश सँवारना आदि कार्य आनन्द से करते हो। अतः अज्ञान ही दुःख और ज्ञान ही सुख का कारण है। दर्पण में प्रतिबिम्बित मनुष्य मिथ्या है यानी वहाँ मनुष्य नाम का कोई पृथक पदार्थ नहीं है, इस विषय में तुम्हें दृढ़ ज्ञान है। तथापि उस मिथ्या, अस्तित्वरहित मनुष्य (प्रतिबिम्ब) को तुम किस प्रकार व्यवहार में लाकर अपने केश सँवारना आदि कार्य कर लेते हो? यहाँ तुम अपने मन पर लक्ष्य रख कर विचारो, तुम जिस प्रकार दर्पण के मिथ्या प्रतिबिम्ब को 'अस्ति इव'—'मानो है' इस प्रकार व्यवहार में लाकर अपने शरीर के कार्य कर लेते हो, ज्ञानी व्यक्ति भी ठीक उसी प्रकार मनोदर्पण में प्रतिबिम्बित इस मिथ्या जगत का 'मानो दिखाई पड़ रहा है' इस प्रकार समझ कर व्यवहार करते हैं। उस दर्पण से प्रतिबिम्ब के साथ व्यवहार करते समय जिस प्रकार तुम्हारा मन काम-क्रोधादि-शून्य निर्विकार अवस्था में रहता है, तत्त्वज्ञ व्यक्ति का मन भी इस संसार से व्यवहार करते समय उसी अवस्था में रहता है। दर्पण के प्रतिबिम्ब के अभाव में जिस प्रकार तुम्हारे मन में किसी प्रकार के शोक-ताप आदि का उदय नहीं होता, उसी प्रकार मनोदर्पण में प्रतिबिम्बित सांसारिक वस्तुओं की सृष्टि या ध्वंस में भी कभी ज्ञानी का चित्त विकृत नहीं होता। क्योंकि उस समय ज्ञानी के ज्ञान रूप सलिल में मन का जगच्चित्र प्लावित हो जाता है। इसी कारण आत्मज्ञ के मन की इस अवस्था को 'महाप्रलय' कहते हैं। मन में इस प्रकार का महाप्रलय होने से ही वह 'महापुरुष' नाम से कथित होते हैं। बेटा! जिस प्रकार बाजार में आकर अनेक मनुष्य अपने-अपने कार्य स्वतन्त्र रूप से करते हैं, परन्तु एक दूसरे के प्रति सदा उदासीन रहते हैं, उसी प्रकार महापुरुष अनेक मनुष्यों के साथ बाहर व्यवहार करते हुए भी अन्तर में उदासीन रहते हैं। ज्ञानियों के सामने नगर भी वन के समान है। जिनका मन अन्तर्मुख है और जो सदा आत्मदर्शन में तन्मय हैं, वे नगर, ग्राम, समुद्र आदि सर्वत्र सभी को वन के समान देखते हैं। अर्थात् जो लोग सदा अन्तर्मुखी स्थिति प्राप्त हुए हैं (आत्मसंस्थ हुए हैं) उनकी दृष्टि से यह धन-जन-पूर्ण पृथ्वी अरण्य-तुल्य शून्य-स्वरूप है और उनके सामने यह दृश्य परम शीतल मालूम होता है, परन्तु जिनका अन्तःकरण वासना रूप अग्नि से सदा दग्ध होता रहता

है उनके सामने यह संसार वन, पर्वत आदि सारा ब्रह्माण्ड ही दावाग्नि-सा होता है। हे सत्यकाम! जल में प्रतिबिम्बित सूर्य यथार्थ में स्थिर होते हुए चंचल की तरह दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार व्यवहार करने वाले ज्ञानी अज्ञानी की तरह प्रतीत होते हैं। यथार्थ में जो ज्ञानेन्द्रियों से मुक्त हुए हैं, कर्मेन्द्रियों में बद्ध दिखाई पड़ने पर भी सदा विमुक्त हैं? परन्तु जो ज्ञानेन्द्रियों में बद्ध है वह कर्मेन्द्रियों से विमुक्त होने पर भी बद्ध ही है। क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों में ही सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष आदि विद्यमान है।

बेटा! माया-मोह के एक बार वैराग्य रूप अग्नि से दग्ध होने पर फिर मोह नहीं उत्पन्न हो सकता। तैर सकने वाला मनुष्य जिस प्रकार तैरना भूल सकता, पढ़ना-लिखना सीखने पर जिस प्रकार वह ज्ञान कभी नष्ट होता, उसी प्रकार वैराग्य एक बार दृढ़ होने से उसका कभी विलोप न सकता। फिर वह तैराक आदमी जिस प्रकार कभी चाहे तो डूब सकता है, कभी तैर भी सकता है, उसका डूबना मर जाना नहीं है; उसी प्रकार वैराग्य उदासीन व्यक्ति का मन संसार में कर्म कर भी सकता है, न भी कर सकता और सांसारिक काम करते हुए भी उसमें वह लिप्त नहीं होता अर्थात् व्यक्ति विषयानन्द और ब्रह्मानन्द, दोनों प्रकार के आनन्दों का भोग दुभाषिये की तरह लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के व्यवहार करके ग्रहण कर सकते हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से कहा था—

> आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
> तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

अर्थात्—"समुद्र में अनेक नद-नदियों का जल प्रविष्ट होने पर प्रकार वह स्थिर रहता है यानी उसमें ह्रास-वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार मुनियों के मन में शब्दादि विषय प्रविष्ट तो होते हैं किन्तु उससे वे नहीं होते, बल्कि शान्ति ही प्राप्त करते हैं। परन्तु विषय-कामी मनुष्यों को वैसी शान्ति दुर्लभ है।"

भक्त—भगवन्! महापुरुष के मन में इस प्रकार महाप्रलय होने अगणित जीवपूर्ण यह दृश्यमान जगत तब कहाँ रहता है? उस समय वह

...इस जगत को किस भाव से देखते हैं अर्थात् उनके सामने यह जगत कैसे ...होता है ?

महात्मा—बेटा ! वन्ध्या-पुत्र, अश्वडिम्ब, आकाश-कानन, रज्जु में सर्प, ...में पुरुष—ये सब कहाँ से आते और कहाँ चले जाते हैं और उनका ...ही कैसा है—इन विषयों को पहले तुम मुझे बताओ। उसके पश्चात् मैं ...रे प्रश्न का उत्तर दूँगा।

भक्त—प्रभु ! वन्ध्या-पुत्र, आकाश-कानन आदि है ही नहीं। अतः जो ...वस्तु ही नहीं है, उसकी फिर दृश्यता ही क्या है और उसका गमनागमन ...अस्तिता-नास्तिता ही क्या है ?

महात्मा—उस वन्ध्या-पुत्र, आकाश-कानन, रज्जु-सर्प आदि की तरह यह ...मान जगत भी है। त्रिकाल में भी जिसका अस्तित्व नहीं है, जो केवल भ्रान्ति ...है, उसकी उत्पत्ति या विनाश क्या है ? जिस प्रकार सुवर्ण के कंकण में ...के सिवाय कंकण नाम से कोई पृथक वस्तु नहीं है, जिस प्रकार आकाश ...न्यता के अतिरिक्त और कुछ अनुभूत नहीं होता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के ...होने से परब्रह्म में पृथक जगत अनुभूत नहीं होता। यह जगत ऊपरी दृष्टि ...प्रतीत होने पर भी स्वप्न-दृष्ट जगत की तरह यह जाग्रत काल में दृष्ट जगत ...मिथ्या है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में नगरादि प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है, ...में सचल नर-नारियों के नृत्य-गीतादि जैसे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, ...वास्तव में वहाँ नरनारियाँ नहीं हैं, उसी प्रकार अज्ञान के प्रभाव से ...आत्मा में यह दृश्यमान जगत प्रतीत मात्र होता है। यहाँ जो कुछ दिखाई ...ता है, सभी अपने में अर्थात् आत्मा में अवस्थित हैं। यह जगत कभी यथार्थ ...उदित या अस्तगत नहीं होता और न होगा। अतः यह जगत मिथ्या और ...मय है। इसे मन में रखकर तुम व्यवहार करते चलो, उससे ग्रहण या ...सुख या दुःख, मान या अपमान किसी से तुम विचलित नहीं होगे। हे ...! जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, ठीक उसी प्रकार साधारण ...ष्यों की दृष्टि से ब्रह्म में जगत का भ्रम हो रहा है। रज्जु में सर्प-भ्रम होने पर ...तुम्हें रज्जु का ज्ञान हो जाता है, तब वह पूर्वदृष्ट सर्प तुम्हारे सामने किस ...से प्रकट होता है ? यहाँ उसे एक बार विचार लो। उस समय जिस प्रकार

पूर्वदृष्ट सर्प तुम्हारे सामने रज्जु रूप में प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान होने पर पूर्वदृष्ट जगत भी ब्रह्म या आत्मा के रूप में प्रतीयमान होता है। रज्जु में भ्रम से सर्प-ज्ञान होने पर जिस प्रकार मनुष्य में भय, शंका आदि नाना प्रकार से अशान्ति उत्पन्न होती है और सत्य बुद्धि से रज्जु का ज्ञान होने पर वह भय, शंका आदि दूर होकर शान्ति प्राप्त होती है, ठीक उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य भ्रमबुद्धि से ब्रह्म को जगत रूप में देख रहे हैं। इस कारण नाना प्रकार से शोक-ताप या अशान्ति का भोग करना पड़ता है। उन में यदि कोई व्यक्ति सत्यबुद्धि से ब्रह्म को ब्रह्मरूप में ही जान सके तो प्रकार के शोक-ताप दूर होकर पूर्ण अविच्छिन्न शान्ति प्राप्त होती है।

भक्त—दयामय ! आपने अनेक बार कहा है कि मन की कल्पना के ही इस संसार की वस्तुओं से दुःख और अशान्ति मिलती है। यदि हो तो, मैं अभी अपने पास मन में किसी शेर की कल्पना कर लूँ तो मुझे डर क्यों नहीं होता ?

महात्मा—बेटा ! मन की कल्पना दो प्रकार की है—ज्ञानकृत कल्पना अज्ञानकृत कल्पना। तुम स्वप्न में अज्ञानाच्छन्न होने के कारण अपने ही शेर को देखकर डर जाते हो, क्योंकि अज्ञान में डूबे रहने के कारण वह ही कल्पित है, ऐसा तुम्हें मालूम नहीं होता। बल्कि वह यथार्थ में है ऐसा बोध होता है। यह अज्ञानकृत कल्पना है। तुम रात्रि में जंगल के से जाते हुए किसी झाड़ी को देखकर यदि उसे शेर समझ लेते हो तो भी तुम्हें भय होता है। यह भी अज्ञानकृत कल्पना है। परन्तु इस समय प्रकाश में यदि तुम अपने पास किसी शेर की कल्पना करते हो तो तुम्हें उससे कोई भय नहीं होता। क्योंकि जाग्रत अवस्था में तुम्हें स्पष्ट वह शेर तुम्हारे मन के द्वारा ही कल्पित है, असल में यहाँ कोई शेर इसीका नाम ज्ञानकृत कल्पना है। यह संसार-प्रपंच भी ठीक उसी प्रकार कल्पना-प्रवाह मात्र है, इसमें साधारण अज्ञानियों के निकट यह कथित रूप अज्ञानकृत कल्पना प्रवाह-मात्र है। क्योंकि जिस ब्रह्म में वे कल्पना करते हैं, उस ब्रह्म के विषय में ज्ञान न रहने के कारण ही वे अपने जगत देखकर और इसे सत्य समझ कर शोक-ताप, भय से जर्जरित हो

और आत्मज्ञ के निकट यह जगत ज्ञानकृत कल्पना है अर्थात् ब्रह्म ही जगत रूप में दिखाई पड़ रहे हैं, यह उन्हें अच्छी तरह मालूम है। इसलिए उन्हें किसी प्रकार का शोक-ताप स्पर्श नहीं कर सकता। बेटा! जैसे अन्धे के सामने संसार अंधेरा और नेत्र वाले के निकट जगत प्रकाशमय है, उसी प्रकार अज्ञानी के निकट जगत दुःखप्रद और ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा-स्वरूप होने से जगत सुखप्रद है।

भक्त—दयामय! ब्रह्मज्ञ महापुरुषों के मन में तो किसी प्रकार की दया नहीं है, किसी के साथ प्रेम-सम्बन्ध भी नहीं है। तथापि आप उन्हें जगत्पिता कैसे कहते हैं? वे पिता के समान संसार का कौन काम करते हैं?

महात्मा—बेटा! महापुरुष के मन की अवस्था तुम्हारी तरह छोटी बुद्धि वाले मनुष्य के ज्ञान से परे है। कूएँ का मेंढक विशाल समुद्र की अवस्था कैसे समझेगा? निराकार, असीम, अनन्त आत्मा को तुम लोग अज्ञान की कल्पना से साकार और ससीम बना कर उसे किसी निर्दिष्ट स्थान में सीमाबद्ध कर लेते हो। इसीलिए तुम्हारे ज्ञान, भक्ति, स्नेह, प्रेम आदि भाव सीमाबद्ध पत्नी-पुत्र, भाई-बहिन आदि अपने मनःकल्पित निर्दिष्ट मूर्ति में ही निबद्ध रहते हैं। इसलिए उन भावों में विस्तार नहीं हैं; परन्तु जो महान् व्यक्ति ज्ञान के प्रभाव से आत्मा को निराकार, असीम, अनन्त तथा वाक्य-मन के अगोचर जान कर सदा अनुभव कर रहे हैं, उनके स्नेह, प्रेम, भक्ति आदि से यह विश्व-संसार प्लावित है। तुम्हारे जैसे अज्ञानी का प्रेम छोटे दीये के प्रकाश की तरह केवल तुम्हारे अपने घर को ही प्रकाशित करता है, दूसरे स्थान को वह प्रकाशित नहीं करता अर्थात् तुम्हारा प्रेम केवल तुम्हारे अपने परिवार के पत्नी-पुत्रादि के ऊपर ही वेग से प्रवाहित होता है, दूसरों पर उसका प्रवाह नहीं पहुँचता। दूसरी ओर ज्ञानी महापुरुष का ज्ञान-सूर्य ऊँच-नीच का भेद न रख कर सारे ब्रह्माण्ड को ही प्रकाशित करता है। इसी कारण सारे जीव उस ज्ञान-लोक में आनन्द से विचरण करते हैं। बेटा! तुम कहते हो, 'महापुरुष में दया नहीं है'। सम्भवतः तुम किसी दरिद्र को दो-चार पैसे देकर समझते हो कि मैंने दया करके दान दिया है। परन्तु याद रखना कि, इस मिथ्या जगत में इस प्रकार का दान अति तुच्छ है। क्योंकि उससे इस मिथ्या जगत में अति अल्प-क्षण-स्थायी सुख मात्र मिलता है। जिस दान से जीवमात्र को अनादि

अनन्त सुख प्राप्त हो, उस प्रकार का ज्ञान-दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है। आचार्य
शंकराचार्य ने भी कहा है—देयं परं किम् ? त्वभयं सदैव—"देने योग्य क्या है
उत्तर–सदा जीव को अभय।" अतः संसार में ज्ञान-उपदेश के द्वारा मनुष्य को
अभय प्रदान करना ही श्रेष्ठ दान है। जगत्पिता आत्मज्ञ व्यक्ति इसी प्रकार का
दान ही लोगों को दिया करते हैं।

भक्त—प्रभु ! आपकी इस संक्षिप्त वाक्य का मैं अर्थ नहीं समझ सका
मनुष्य नाना प्रकार से भय पाते हैं, परन्तु किस विषय का अभय दान करना है
और अभयदान करने से ही कैसे ज्ञान-दान करना होगा ?

महात्मा—बेटा ! सांसारिक मनुष्य सदा ही माया की भूलभुलैया में पड़कर
केवल अपनी मृत्यु, मानहानि, धन-संपत्ति के नाश और पुत्र-परिजन के वियोग
भय से भीत होकर जीवन भर दुःख भोगते रहते हैं। इन मनुष्यों को आत्मज्ञान
दान के द्वारा माया से अतीत किये बिना वे कभी शोक-ताप के मोह से अतीत
होकर परम शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। जगत्पिता ब्रह्मज्ञ व्यक्ति साधारण
पर कृपा करके आत्मज्ञान रूप धन देकर उन्हें निर्भय अवस्था में परम शान्ति प्रदान
करते हैं। अतः जो स्वयं आत्मज्ञान के द्वारा शान्ति प्राप्त कर सके हैं, अन्य
भी जिससे उस प्रकार की शान्ति प्राप्त कर सकें, उसके लिए वे यत्नपूर्वक उन्हें
धन का दान किया करते हैं। परन्तु जिसमें यह ज्ञान-धन नहीं है वह किस प्रकार
दूसरे को उसका दान करेगा ? केवल ज्ञानी के पास ही यह धन है। इसीलिए
परम कृपालु होकर दूसरों को इस परम धन का दान करते हैं। रुपये-पैसे
मूल्यवान वस्तु डाकू लूट कर ले जा सकते हैं, परन्तु यह आत्मज्ञान रूप धन
भी छीन नहीं सकता। यह धन लेना हो तो उस धन में धनी महापुरुष की
करने से यदि वह प्रसन्न होकर कृपापूर्वक इसका दान करते हैं तो कुछ ग्रहण
जा सकता है—अन्यथा नहीं। अतः अब विचार कर देखो, महापुरुष
जगत्पिता होकर जगत से प्रेम करते हैं या नहीं और जगत के ऊपर उनके
हृदय का स्नेह-दया-प्रेम सदा समान भाव से बरसते हैं या नहीं। बेटा ! इस
आत्मज्ञान का दान ही यथार्थ में निष्काम कर्म है।

# मूर्ति की व्याख्या

भक्त—प्रभु ! हम जिन देव-देवियों की मूर्ति की पूजा करते हैं, उन्हें उस प्रकार से कल्पित करने का उद्देश्य क्या था ? प्राचीन समय में ऋषियों के मन में ऐसा कौन भाव उदित हुआ था, जिससे उन्हें मनुष्य के आकार में अनेक विकट मूर्तियों की कल्पना करना पड़ी थी ? और उन मूर्तियों के दर्शन से हमें किस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है ? इस सम्बन्ध में कृपापूर्वक इस सेवक को उपदेश दीजिये ।

महात्मा—बेटा ! समाज के सबसे नीचे की श्रेणी के अज्ञानी मनुष्यों की मानसिक उन्नति के लिए प्राचीन समय के महात्मा लोग सदा ही चेष्टा करते थे। इसीलिए उन्होंने मनुष्य के मन की अवस्था बाहरी मूर्ति द्वारा साधारण मनुष्यों को समझाने के लिए उस रूप में उन मूर्तियों की कल्पना की थी। उनका उद्देश्य यह था कि अज्ञानी व्यक्ति बहुत दिनों तक इन मूर्तियों की पूजा करते-करते सम्भवतः कभी न कभी ऐसा प्रश्न करेंगे कि 'क्या इस प्रकार के विकट रूप का मनुष्य कहीं कभी था और न रहने से भी इस प्रकार की मूर्ति कैसे बनायी गयी ?' मन में इस प्रकार का प्रश्न उदित होने पर उसे किसी आत्मज्ञ महापुरुष के पास जाकर इसकी मीमांसा करनी होगी और उस महापुरुष का उत्तर सुनकर उसके अपने मन के प्रति दृष्टि पड़ने से आत्मोन्नति होगी। वर्तमान समय में तुम्हारे जैसे लाखों मूर्ति-पूजकों में किसी एक के मन में भी उस प्रकार का प्रश्न नहीं उठता । इस कारण उन महापुरुषों का उद्देश्य भी सिद्ध नहीं हो रहा है और तुम लोग भी पूर्णकाम होकर शान्ति नहीं पा रहे हो। बेटा ! मूर्तियों में दो प्रकार की मूर्तियाँ हैं—प्रतिमूर्ति और कल्पित मूर्ति । किसी व्यक्ति के अंकित मूर्ति या फोटो को उसकी प्रतिमूर्ति कहते हैं, क्योंकि जो मूर्ति या मनुष्य यथार्थ में ही था या है, उसकी मूर्ति को ही प्रतिमूर्ति कहते हैं । जैसे श्रीकृष्ण की द्विभुज मूर्ति, श्री रामचन्द्र की मूर्ति, भगवान शंकराचार्य की मूर्ति, बुद्धदेव की मूर्ति, गोस्वामी तुलसीदास जी की मूर्ति इत्यादि । और।

जो मूर्ति या मनुष्य कभी नहीं था, केवल किसी अवस्था या पदार्थ को दूसरे के निकट प्रदर्शित करने के लिए मन के द्वारा उसकी मूर्ति की कल्पना की जाती है, उसे ही कल्पित मूर्ति कहते हैं। जैसे—चतुर्मुख ब्रह्मा, चतुर्भुज विष्णु, पंचानन महादेव, काली, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि। इन मूर्तियों में से दो-तीन मूर्तियों की व्याख्या करके मैं तुम्हारे मन में मूर्ति-कल्पना के विषय में विचार-शक्ति उत्पन्न करने की चेष्टा करूँगा।

---

# काली की मूर्ति

## ( जगत्प्रसविनी मनःप्रकृति की अवस्था )

काली उलंगिनी वेश में, कृष्णवर्णा चतुर्भुजा स्त्रीमूर्ति हैं। वह रणोन्मादिनी होकर शिव के वक्षःस्थल पर खड़ी हैं। ऋषियों ने इस मूर्ति के द्वारा समझा दिया है कि, साधारण मनुष्य का अज्ञानाच्छन्न मन निम्नस्तर में किस अवस्था में रहकर संसार में विचरण करता है और उसके पश्चात् क्रमशः उच्चस्तर में जाकर आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर मन की क्या अवस्था होती है। इसीलिए उन्होंने यहाँ मन को उलंगिनी काली-मूर्ति रूप में और आत्मा को शिव रूप में कल्पित किया है। जैसे—

प्रश्न—कालीमाता के चार हाथ क्यों?

उत्तर—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार दिशाएँ मनःप्रकृति के चार हाथ हैं।

प्रश्न—कालीमाता का रंग काला क्यों?

उत्तर—मनुष्य का मन सदा ही अज्ञानान्धकार से पूर्ण रहता है, इसीलिए उसका रंग काला बतलाया गया है। धोखा, धूर्तता, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, कुचिन्ता, कुसंस्कार आदि के द्वारा अज्ञान से मन इतना अधिक मलिन रहता

कि, ब्रह्माण्ड में मन की अपेक्षा अज्ञानाच्छन्न मलिन स्थान और कहीं नहीं है। इसी कारण शास्त्र ने भी अज्ञान को अन्धकार या काले रूप में तथा ज्ञान को प्रकाश या श्वेतवर्ण रूप में वर्णित किया है।

प्रश्न—कालीमाता उलंगिनी क्यों ?

उत्तर—मन का कोई निर्दिष्ट अवयव या अंग नहीं है, यहाँ तक कि उसका क्या रंग है, लाल, सफेद या नील इत्यादि रूप से उसके किसी प्रकार के रूप का कोई वर्णन नहीं कर सकता। परन्तु मन ब्रह्माण्ड के सर्वत्र स्वच्छन्दता से विचरण करता है, इसलिए उसका कोई वस्त्रावरण होना सम्भव नहीं है। चारों दिशाएँ ही उसका अम्बर ( वस्त्र ) हैं। इसी कारण कालीमाता का एक नाम 'दिगम्बरी' है।

प्रश्न—कालीमाता के तीन नेत्र क्यों ?

उत्तर—मनुष्य का मन स्वाभाविक दो नेत्रों से बहिर्जगत को देखता है, पश्चात् सद्गुरु की कृपा से विवेक-विचार के द्वारा ज्ञान-नेत्र प्रस्फुटित होने से उसके द्वारा वह अन्तर्जगत देख सकता है। इस ज्ञान-नेत्र को समझाने के लिए ही मन के तीन नेत्रों की कल्पना की गयी है।

प्रश्न—कालीमाता ने स्त्री होकर भी अगणित असुरों से लड़कर उनका निधन करके उनका खून-मांस क्यों खाया था ?

उत्तर—मनोवृत्तियों की असुरों के रूप में कल्पना की गयी है, क्योंकि मनुष्य का मन जिस प्रकार सदा ही काम-क्रोधादि दुर्दमनीय मनोवृत्तियों के कारण अत्यन्त शोक-दुःख-अशान्ति आदि का भोग करके बेचैन हो जाता है, काली भी ठीक उसी प्रकार असुरों की ताड़ना से अत्यन्त व्याकुल हो जाती है। काली के द्वारा एक असुर का वध होने पर उसके खून से पुनः सैकड़ों असुरों का जन्म होता है अर्थात् मनुष्य के मन में अगणित मनोवृत्तियाँ तथा भोग-लालसाएँ विद्यमान रहती हैं। उनमें से किसी एक को उपभोग द्वारा निवृत्त करते ही सैकड़ों नयी वृत्तियों ( आकांक्षाओं ) का उदय होता है। काली ने असुरों को मारकर उनका खून-मांस खाया था अर्थात् मनुष्य मनोवृत्तियों के द्वारा सांसारिक असंख्य भोग्य वस्तुओं का भोग करता है।

प्रश्न—कालीमाता के हाथ में खड्ग क्यों ?

उत्तर—कालीमाता असुरों की ताड़ना से अस्थिर होकर उनका वध करके शान्ति प्राप्त करती है अर्थात् मनुष्य का मन जब दुर्दमनीय काम-क्रोधादि रिपुओं की ताड़ना से व्याकुल हो जाता है, तब विचार-रूप खड्ग के द्वारा असुर-रूपी वृत्तियों का नाश करके शान्ति प्राप्त करता है।

प्रश्न—कालीमाता के हाथ में नरमुण्ड, गले में नरमुण्डों की माला और कमर में मनुष्य के हाथों का कमरबन्द क्यों ?

उत्तर—मनुष्य का मन जिस प्रकार विषयों का उपभोग करके भी विषयासक्ति का त्याग न कर सकने से सदा उन विषयों को अपने अंगों का भूषण बना रखता है यानी पत्नी-पुत्र, धन-जन, गृह-क्षेत्र आदि भोग्य विषयों के द्वारा मनुष्य सदा ही घिरा हुआ रहता है। कालीमाता भी ठीक उसी प्रकार असुरों का खून-मांस खाकर पुनः उस खून-मांस से मिली हुई भोग्य वस्तुओं (असुरों के सिरों और हाथों) को अपने अंगों का भूषण बना रखती हैं।

प्रश्न—कालीमाता ने सकुचाकर दाँतों से अपनी जीभ को क्यों काट लिया ?

उत्तर—मनुष्य के शरीर में मन से भी परे परम पुरुष परमात्मा ज्ञानरूप मंगलमय शिव सदा ही विराजमान हैं। यही मनःप्रकृति अपनी भूखी गन्दी वृत्तियों से सांसारिक विषयों के साथ सदा ही भीषण उग्र मूर्ति में ताण्डव नृत्य कर रही है ; क्षणभर के लिए भी उसकी दृष्टि अपने पति अन्तर्यामी शिव के प्रति नहीं पड़ती। इस प्रकार के अज्ञानान्ध-मन-युक्त किसी मनुष्य के यदि किसी ब्रह्मज्ञ गुरु की कृपा से माया-मोह का आवरण दूर होकर ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं तो उसकी मनःप्रकृति ज्ञानरूप पति शिव (आत्मा) को देखकर लज्जा और भय से सकुचा जाती है, जैसे कि उलंगिनी काली ने अपने पति शिव को देखते ही लज्जा और भय से संकुचित होकर दाँतों से जीभ को काट लिया है।

प्रश्न—शिव का रंग श्वेत क्यों ?

उत्तर—ज्ञान रूपी शिव (आत्मा) निर्मल है। मनुष्य के मन से अज्ञान-रूप मैल या अन्धकार दूर होकर ज्ञान उत्पन्न होने से वह मन निर्मल या श्वेत

हो जाता है। संसार के सब प्रकार के रंगों में श्वेतवर्ण को ही सर्वोत्कृष्ट और निर्मल कहते हैं। साधारणतया लोग कहते हैं, अमुक आदमी का मन सादा अर्थात् निर्मल है। हिंसा, द्वेष आदि अज्ञान-रूप मलिनता से रहित होने पर ही उसे सादा या श्वेत कहते हैं। इसीलिए ज्ञान को शिव-रूप से कल्पित कर उसका रंग श्वेत बनाया गया है। वेदान्त ज्ञान को प्रकाश या श्वेतवर्ण रूप से वर्णित करते हैं। बाइबिल में भी लिखा है—White is the sign of purity—श्वेतवर्ण ही पवित्रता या निर्मलता का चिह्न है। उस प्रकार के शुक्ल-वर्ण-युक्त शिव (आत्मा) ही मनःप्रकृति के पति या प्रभु हैं।

प्रश्न—शिव पति होकर भी काली के पैरों के नीचे क्यों?

उत्तर—शिव-रूपी निर्मल आत्मा सर्वत्र व्याप्त होकर विराजमान हैं। उनकी छाती पर काली-काली गन्दी मनोवृत्तियाँ नंगी होकर नाच रही हैं। इसी अवस्था को प्रकट करने के लिए शिव को काली के पैरों के नीचे दिखाया गया है। ज्ञान-स्वरूप अन्तरात्मा शिव की अपरोक्ष रूप से उपलब्धि करने के लिए वैराग्य, विचार, ज्ञान आदि जिन शक्तियों की आवश्यकता है, वे सभी हमारे मन में विद्यमान हैं। परन्तु साधारण अज्ञानियों का मन अहं-बुद्धि-वृत्ति से उत्पन्न काम-क्रोध, हिंसा-द्वेष, दम्भ-दर्प आदि दुर्दमनीय भावों के द्वारा अन्तरात्मा-रूप शिव को पैरों तले दबा रखकर केवल बहिर्मुखी दृष्टि से विषयों में मत्त रहता है। इसी भाव को प्रकट करने के लिए मन-रूपी काली के पैरों के नीचे शिव की कल्पना की गयी है।

प्रश्न—शिव कैलास पर्वत के शिखर पर क्यों रहते हैं?

उत्तर—'कै' शब्द से कैवल्य मुक्ति 'लास' शब्द से विलास और 'शिखर' शब्द से सर्वश्रेष्ठ अर्थ प्रकट होता है। अर्थात् महानिर्वाण या कैवल्य मुक्ति नामक सर्वश्रेष्ठ स्थान में ज्ञान-रूपी शिव सदा विराजमान हैं।

भावार्थ यह है—साधारण अज्ञानी मनुष्य का मन रूप कालीमाता चार हाथों के द्वारा चारों दिशाओं से अपने भोग की वस्तुओं का संग्रह करके उपभोग तथा असुर रूपी मनोवृत्तियों पर विजय पाना चाहती हैं, परन्तु विषयों का उपभोग कर एक मनोवृत्ति पर विजय पाते ही पुनः उनके मन में अगणित वृत्तियों का

उदय होता है ; जैसे कि काली के द्वारा एक असुर का बध होते ही उसके
से सैकड़ों असुर पैदा होते हैं। इसी प्रकार संसार के अज्ञानान्ध जीव अनादि
से अज्ञान के कारण आत्मा-रूप शिव को भूलकर देहात्मक वुद्धि से सां
विषयों के मोह में मत्त रहकर भोग-लालसा की निवृत्ति के लिए काम-क्रो
आसुरी वृत्तियों के साथ सदा युद्ध कर रहे हैं। परन्तु किसी तरह भी उन वृत्ति
पर विजय नहीं पा रहे हैं ; जैसे कि काली असंख्य असुरों का वध करके
किसी तरह उन असुरों को निःशेष नहीं कर सकती हैं। अज्ञानी मनुष्यों में
कोई जन्म-जन्मान्तरों की पुञ्जीभूत सुकृति के प्रभाव से किसी ब्रह्मज्ञ महापु
का दर्शन-लाभ करता है तो उस समय वह तत्त्वज्ञ महापुरुष उस अज्ञानी
अपने आत्मा-रूप शिव का दर्शन करा देते हैं। अपने ज्ञान-स्वरूप मूर्ति
मूर्ति का दर्शन करते ही उस अज्ञानी व्यक्ति का मन चौंक उठता है। उस
उसके मन में पूर्व अज्ञानावस्था में किये हुए विषय-भोग रूप नीच कर्मों की
याद आती है और उन निन्दित कर्मों के लिए पश्चात्ताप होने से लज्जित हो
मानो वह दाँतों से अपनी जीभ काट लेता है। इस व्यवहारिक जगत में
यदि तुम ध्यान दोगे तो पता लगेगा, कभी-कभी बुद्धिमान व्यक्ति भी न सम
के कारण यदि मूर्ख के समान एकाएक कोई कुकर्म कर बैठते हैं तो ठीक
में आते ही वह अपने किये हुए कर्म का गुरुतर दोष देखकर तथा लोगों
दृष्टि में वह अपने को अत्यन्त घृणित समझकर पश्चात्ताप का भाव प्रकट
हुए दाँतों से अपनी ही जीभ दबाकर कहते हैं—"मैंने यह क्या किया?"
कारण सांख्य दर्शन में भी लिखा है—

दोषवोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत्।

अर्थात्—"जब पुरुष के सामने प्रकृति का सम्पूर्ण दोष प्रकट होता है
वह पुरुष प्रकृति के दुःखात्मकत्वादि दोष देखते रहते हैं। और उससे यानी
की दृष्टि पड़ने से प्रकृति लज्जित हो जाती है ; जैसे कोई कुलवधू अपने
सामने भ्रष्टा प्रमाणित होने पर लज्जा से सकुचा जाती है।" इस विषय में
दीय पुराण का भी अभिमत है—"मूढ़ता-दोष के कारण सविकार ( काम-क्रो
वृत्तियों द्वारा विकार प्राप्त ) मनःप्रकृति अपने पति आत्मा के द्वारा परित्यक्त
पर समझती है कि 'प्रभु ने मेरा दोष देख लिया है'।" इस लज्जा से ही

पुरुष के सामने संकुचित हो जाती है अर्थात् मनःप्रकृति तत्त्वज्ञानी मुक्त के लिए भोग-वासना रूप सृष्टिकार्य में प्रवृत्त नहीं होती।" इस सृष्टितत्त्व समझाने के लिए ही आत्मा को शिव-रूप से और उनकी माया-शक्ति के मन को काली-रूप से पृथक् कल्पित किया है। यही आत्मा या शिव अनन्त काल से थे, हैं और रहेंगे, क्योंकि वह अव्यय, अव्यय, भूमा, और सच्चिदानन्दमय पुरुष हैं। श्रुति ने उन्हें एकमेवाद्वितीयम् कहा। इसीलिए वही समस्त मनुष्यों के श्रोतव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य हैं। इतना महात्मा अपने भाव में तल्लीन होकर भजन गाने लगे—

मा काली, मा काली बोले, वृथा तुमि डाको कारे ?
तोमार मन मा काली होये, हृदय माझे नृत्य करे ॥
स्वर्ग मर्त्य त्रिभुवन कालो मा नाइ कोनो स्थाने।
(अज्ञ) मन-प्रकृतिर नाम 'मा काली' आत्मज्ञे बर्णना करे ॥
ताइ बलि हे, विचार करो, ऐखन सत्य कथा धरो।
आपन मूर्ति ना देखिये, बाहिरे मन काली गड़े ॥
मन जखन विचारशील हबे, काली मायेर देखा पाबे।
मनेर 'अहं' जाबे तखन, आत्म-शिव के दर्शन कोरे।

इसका आशय इस प्रकार है—

माँ काली, माँ काली, कहकर तुम वृथा किसे पुकारते हो ?
तुम्हारा मन माँ-काली हो कर हृदय में सदा नाचती है।
स्वर्ग मर्त्य त्रिभुवन में माँ-काली कहीं बैठी नहीं है।
अज्ञ मन-प्रकृति का नाम 'माँ-काली' है, आत्मज्ञ कहते हैं।
इसी से कहता हूँ रे मन, विचार कर सत्य पथ पकड़।
अपनी मूर्ति न देख, मन बाहर काली बना लेता है।
जब मन विचारशील होगा तब काली माई का दर्शन मिलेगा।
मन का 'अहं' आत्म-शिव का दर्शन करने पर छूटेगा।

भक्त—प्रभु! अन्य देवताओं की मूर्तियों की ही पूजा की जाती है, परन्तु (महादेव) की मूर्ति की पूजा न करके लोग उनका लिंग और उस लिंग

के निम्न भाग में योनिपीठ ( भग ) बना कर इन दोनों को शिवलिंग क्यों पूजते हैं।

महात्मा—बेटा! 'शिवलिंग' शब्द के विषय में लोग प्रायः अज्ञान से उसे 'शिव की जननेन्द्रिय' समझते हैं। वास्तव में ऐसा अर्थ एकदम है। लिंग शब्द का अर्थ है—चिह्न। इसीलिए शास्त्र कहते हैं—'जिस समुद्र के ऊपर बुलबुले उठ कर फिर उसी समुद्र में विलीन हो जाते हैं, प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिस ब्रह्म-समुद्र में विलय प्राप्त होते हैं वही लिंग शब्द का अर्थ है।' यहाँ तुम्हारे मन में यह प्रश्न उठ सकता है सर्वव्यापक और अद्वितीय हैं। अतः उनकी पूजा किस भाव से की जाय वह पूजा कौन करेगा?' उसके उत्तर में कहना है—चक्षु, कर्ण, नासिका, त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ; प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान—ये पाँच वायु तथा मन बुद्धि इन सत्रह पदार्थों को आत्मा का 'लिंग शरीर' कहते हैं। इस लिंग या सूक्ष्म शरीर की ही पूजा करने के लिए शास्त्र आदेश देते हैं— की पूजा करने के लिए नहीं। इस 'लिंग शरीर' की पूजा करने से ही पूजा या आत्मपूजा होती है और शिव-लिंग के नीचे जो योनिपीठ है, अर्थ भग नहीं है। योनि शब्द का अर्थ है—उत्पत्ति-स्थान। अतः जिस शक्ति या अज्ञान रूप मनःशक्ति से अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है मनःशक्ति का नाम ही 'योनिपीठ' है। इसलिए इसका दूसरा नाम भी है। वस्तुतः शिवलिंगोपासना, ब्रह्मोपासना या आत्मोपासना के और कुछ नहीं है। मूर्ख लोग ही 'योनिपीठ' के अर्थ में भग की कल्पना के साथ मिलाकर एक विकृत मूर्ति बना कर पूजते हैं। यथार्थ में वह सम्मत नहीं है ( कठोपनिषद् और सूतसंहिता द्रष्टव्य है )। यथार्थ में यदि विचारपूर्वक ऊपर-कथित 'लिंग-देह' की पूजा करता है तभी शिव आत्मोपासना सम्पन्न होती है। इस विषय में शिवसंहिता का आदेश है—

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥

आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।
तस्य स्यात् सफला सिद्धिर्नात्र कार्यविचारणा ॥

अर्थात्—"अपने शरीर में स्थित शिव (आत्मलिंग) का परित्यागपूर्वक जो बाहर शिवलिंग की पूजा करता है, वह मूढ़ अपने हाथ का खाद्य फेंककर भिक्षा के लिए लोगों के द्वारों पर भटकता फिरता है। जो प्रतिदिन आलस्य का परित्याग करके आत्मलिंग (अपने सत्रह अंगों वाले लिंग-शरीर) की अर्चना करते हैं, उनके सभी सिद्ध होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।"

---

# जगद्धात्री की मूर्ति

जगद्धात्री शब्द का अर्थ है—ईश्वर की जिस शक्ति ने इस संसार को धारण कर रखा है। इनकी मूर्ति चतुर्भुजा नारी के रूप में कल्पित की गयी है। जगद्धात्री माता सिंह के ऊपर बैठी हुई हैं और उस सिंह के पैरों के नीचे सिर झुकाये एक हाथी बैठा हुआ है। यह भी कल्पित मूर्ति है। इस मूर्ति के द्वारा यही समझाया गया है कि, आत्मज्ञ महापुरुष का मन-रूप सिंह अपने ऊपर स्थित चतुर्भुजा नारी-रूपा विचार-बुद्धि-रूप शक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्ड के चारों ओर के विषय-रूप हाथी के साथ चार भुजाओं से लड़कर उस विषय-रूप हाथी को पैरों के नीचे दबा लेता है। इस कारण उस समय विषय-रूप हाथी मन-रूप सिंह की पद-सेवा या पदलेहन करता है।

इसका भावार्थ यह है कि—साधारण अज्ञानी मनुष्यों का मन वासना-शक्ति के द्वारा सांसारिक विषयों को पकड़ रखता है अर्थात् मन में सदा ही विषय-चिन्ता रहती है। हाथी जिस प्रकार देखने में विशाल और प्रबल शक्तिशाली है, सांसारिक धन-जनादि विषय भी ठीक उसी प्रकार अत्यन्त शक्तिशाली हैं। वे अपने नाम-रूपों द्वारा सारे जीवों को माया-मोह में अभिभूत करके विषयों का दास

बना लेते हैं। इसी कारण विषयों की हाथी-रूप से कल्पना की गयी है। ... में वृहत् और शारीरिक शक्ति में प्रबल होते हुए भी हाथी में मानसिक ... और साहस सिंह से अल्प है। इस कारण सिंह को 'पशुराज' कहते हैं। ... प्रकार जीव के मन के इन्द्रिय की सहायता से विषयों की सेवा करने पर ... विषयों की अपेक्षा मन की शक्ति अधिक है, क्योंकि बाहरी दस इन्द्रियों ... मन है। इसी कारण मन की 'पशुराज सिंह'-रूप से कल्पना की गयी है। ... मनुष्य का मन-रूप सिंह अपनी अज्ञानता के कारण नहीं जान सकता कि ... सारे पशुओं का राजा हूँ; इस वृहदाकार विषय-हस्ती की अपेक्षा मेरे भीतर ... और साहस सहस्र-गुणा अधिक है।' मन की ऐसी अज्ञानावस्था को ही '... विस्मृति' कहते हैं। इसी आत्मविस्मृति के कारण ही मनुष्य का मन ... दास बनकर अनादिकाल से विषयों की सेवा करता आ रहा है। इस ... में यदि किसी को जन्म-जन्मान्तरों की सुकृति के फल स्वरूप किसी ब्रह्मज्ञ गुरु ... दर्शन प्राप्त होता है तो वह ब्रह्मरूपी गुरु जीव और ब्रह्म का अभिन्न स्वरूप ... कर उस अज्ञानी व्यक्ति का ज्ञान-नेत्र उन्मीलित करके उसे अपने आत्म-स्वरूप ... दर्शन करा देते हैं। उसी समय मनुष्य का मन अपनी सिंह-मूर्ति धारण ... और विचार-शक्ति नारी-रूप में विषय-रूप हाथी के साथ चार हाथों से युद्ध ... विषय-रूप हाथी को परास्त कर देती है तथा विषयों का मोहाकर्षण ... प्रबल वैराग्यवान हो जाती है। उस समय उस तीव्र वैराग्यवान व्यक्ति के ... सांसारिक भोग्य वस्तुएँ उपस्थित रहकर उनकी चरण-सेवा में नियुक्त रहती ... जैसे कि उस जगद्धात्री मूर्ति में सिंह के पराक्रम के प्रभाव से विशाल हाथी ... झुकाये सिंह के पैरों के नीचे रहकर उसका पदलेहन कर रहा है। इस ... अष्टावक्र मुनि ने भी राजर्षि जनक से ठीक ही कहा था—

> विषयद्वीपिनं वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
> विशन्ति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्र्यसिद्धये॥
> निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।
> पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः॥

अर्थात्—"दुर्बल-चित्त, भीतमना, शरणार्थी व्यक्ति विषय-रूप व्याघ्र के ... से भीत होकर, मन के निरोध और एकाग्रता साधन की इच्छा से पर्वत-गुफा ...

में प्रवेश करते हैं, परन्तु विषय-रूप हाथी वासना-रहित वैराग्यवान पुरुष-सिंह को देखकर चुपचाप भाग जाते हैं और जो भागने में असमर्थ होते हैं, वे चाटु-कारों से पुरुष-सिंह की सेवा करते हैं।" इसका आशय यह है—वासना-रहित व्यक्ति के सामने विषय-वासना सदा ही पराभूत हो जाती है। इस कारण उस उनकी सेवा के लिए भोग के विषय यथेष्ट परिमाण में अपने आप आकर उनके सामने उपस्थित होते हैं।

---

# जगन्नाथ का रथ

मानव-देह-रूप रथ में दस इन्द्रियाँ अश्वों के रूप में संयोजित हैं और उन अश्वों के लगाम-रूप में 'मन' है। सारथि के रूप में 'बुद्धि' है और उस रथ पर 'आत्मा' रथी-रूप से विराजमान है। अतः जिस रथ के अश्व उत्तम रूप से संयत, उस रथ का लगाम बहुत मजबूत तथा सारथि के हाथ में वह लगाम दृढ़ रूप से धृत है वही रथ विष्णु के परम धाम तक पहुँच सकता है। दूसरी ओर जिस रथ में इन्द्रिय-रूप अश्व दृढ़ रूप से संयत नहीं है, मन-रूप लगाम भी दृढ़ भाव से धृत नहीं है, सारथि की शिथिलता के कारण वह रथ अन्त में विनाश-दशा को प्राप्त होता है। संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों के मध्य से ही इस रथ का गन्तव्य मार्ग है। वेग! यह मार्ग बहुत ही कठिन है। यह मार्ग सुतीक्ष्ण क्षुर की धार के समान दुर्गम है। उसके सिवाय यह मार्ग कंटकों तथा विपत्ति-पूर्ण है। परन्तु इससे तुम निराश मत हो, दृढ़ता के साथ अग्रसर होते चलो। उठो, जागो और जब तक न लक्ष्य स्थान में पहुँच सको, तब तक क्षणभर के लिए भी मार्ग में रुक न जाओ। मनुष्य अनेक जन्मों के पुण्य के प्रभाव से ब्रह्मज्ञ गुरु की कृपा प्राप्त कर ज्ञान-नेत्र विकसित होने पर इस

देह-रथ में आत्मा-रूप रथी ( जगत के नाथ, जगन्नाथ ) का दर्शन करके हो जाता है। इस विषय में श्रुति भी कहती है—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयान्नाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ (कठोपनिषद्)

अर्थात्—"मनुष्य के आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि, मन को लगाम, इन्द्रियों को अश्व और शब्द-स्पर्शादि विषयों को उस रथ के मार्ग रूप से जानना चाहिये। मनीषी ऋषियों ने आत्मा, इन्द्रिय और मन को भोक्ता कहा है।"

बेटा! ब्रह्मज्ञ गुरु का दर्शन न मिलने के कारण ज्ञान-नेत्र के न खुलने से तुम लोग इस देह-रथ में आत्मा-रूप रथी ( वामन देव ) का दर्शन नहीं कर सकते। परिणाम-स्वरूप अब तुम लोग देह-रथ के बदले लकड़ी के रथ में, आत्मा-रूप रथी के बदले मनुष्य के द्वारा बनाये हुए दारु-रूप वामन देव को, ज्ञान-नेत्र के बदले इस खून-मांस के जड़ नेत्रों से देख रहे हो और इसीको मुक्ति का एकमात्र मार्ग समझ लिया है। इन मूर्तियों के द्वारा मन की अवस्था प्रकट की गयी है। उसके प्रमाण रूप में मानस-पूजा के उपकरणों के विषय में जगत्पिता ब्रह्मज्ञ महापुरुषों ने शास्त्र में कैसी सुन्दर व्यवस्था दी है सुनो—

चित्तं प्रकल्पयेत् पुष्पं धूपं प्राणान् प्रकल्पयेत्।
तेजस्तत्त्वन्तु दीपार्थे नैवेद्यञ्च सुधाम्बुधिम्॥
अनाहतध्वनिं घन्टां वायुतत्त्वञ्च चामरम्।
नृत्यमिन्द्रियकर्माणि चाञ्चल्यं मनसस्तथा॥
पुष्पं नानाविधं दद्यादात्मनो भावसिद्धये।
अमायमनहङ्कारमरागममदन्तथा॥
अमोहकमदम्भञ्च अद्वेषाक्षोभके तथा।
अमात्सर्यमलोभञ्च दशपुष्पं प्रकीर्तितम्॥
अहिंसा परमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।

दयात्तमाज्ञानपुष्पं पञ्च पुष्पं ततः परम् ।
इति पञ्चदशैः पुष्पैर्भावरूपैः प्रपूजयेत् ॥ (महानिर्वाणतन्त्र)

अर्थात्—"चित्त को पुष्प-रूप से, पंच-प्राणों को धूप-रूप से, शरीर के तेजस्तत्त्व को दीप-रूप से, सुधाम्बुधि को नैवेद्य-रूप से, अनाहत ध्वनि को घंटा-ध्वनि-रूप से, वायुतत्त्व को चामर-रूप से और इन्द्रियों के सारे कार्यों तथा मन की चंचलताओं को नृत्य-रूप से भावना करें। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए नाना प्रकार के पुष्प देवता को प्रदान करें—मायाराहित्य, अहंकाराभाव, राग-शून्यता, मदराहित्य, मोहशून्यता, दम्भराहित्य, द्वेषशून्यता, क्षोभराहित्य, मात्सर्या-भाव, लोभराहित्य इन दस प्रकार की मनोवृत्तियों को मानस-पूजा के पुष्प-रूप से भावना करनी चाहिये। उसके अनन्तर अहिंसा-रूप परम पुष्प, इन्द्रिय-निग्रह-रूप पुष्प दया-रूप पुष्प, क्षमा-रूप पुष्प और ज्ञान-रूप पुष्प इन पाँच प्रकार के पुष्पों को भी अर्पित करना चाहिये। इस प्रकार के पंचदश भाव-रूप पुष्पों के द्वारा पूजा करनी चाहिये।" वेटा! इसी प्रकार से सृष्टितत्त्व समझाने के लिए प्राचीन ऋषियों ने सृष्टि-कर्ता-रूप से ब्रह्मा की, पालन-कर्ता-रूप से विष्णु की और संहार-कर्ता-रूप से शिव की मूर्ति की कल्पना की है। आज हिन्दू समाज के प्रायः सभी लोग अपनी-अपनी विचार-शक्ति के अभाव से उसी कल्पना-प्रवाह में तैरते चले जा रहे हैं; किसी तरह भी वे उस कल्पना-जाल को छिन्न कर सत्य ज्ञाना-लोक में पहुँच नहीं सकते। इतना कहकर महात्मा अपने ही मन में संगीत गाने लगे—

वाहिरेते खोंजो भ्रमे, से जे अन्तरेते रय।
ताँहातेइ तुमि आछो, से तो तोमा छाड़ा नय॥
जलेर मध्ये ढेउ जैमन, ताँहार मध्ये तुमि तैमन।
मनेर धाँधा छेड़े दिले, ताँहाके देखा जाय॥
ताइ वलि तोमार मनटारे, धरो ऐखन शक्तो कोरे।
देखवे तखन केउ कोथा नाइ, सकल आत्ममय॥

इसका आशय इस प्रकार है—

वाहर भ्रम से खोजते हो, वह तो अन्तर में ही रहते हैं
उनमें ही तुम हो, वह तो तुम से अलग नहीं है।

जल में लहर जैसे, तुम भी वैसे उनमें हो
मन की भूलाभुलैया छोड़ने पर उनका दर्शन मिलता है।
इससे तुम अपने मन को मजबूती से पकड़ लो।
तब देखोगे कहीं कोई नहीं, सभी आत्ममय है ॥

---

# कर्म और मूर्तिपूजा के शास्त्र-प्रमाण

भक्त--प्रभु ! इस मूर्तिपूजा या बाह्यिक कर्मादि के विषय में तो शा भीतर किसी प्रकार का निषेध या निन्दा हम नहीं पाते ; बल्कि, उस वि विधि ही सर्वत्र दृष्ट होती है। तो भी कैसे आप इस मूर्तिपूजा और कर्म कर रहे हैं ?

महात्मा--बेटा ! जिस प्रकार दस कोस रास्ता तय करने में असमर्थ को पहले एक कोस जाने का उपदेश दिया जाता है, उसी प्रकार शिवतत्त्व जानने के अनधिकारी के प्रति साकार शिवतत्त्व का उपदेश दिया है। परन्तु निराकार शिवतत्त्व का परित्याग कर साकार शिवतत्त्व में लोलु और पारिजात-उद्यान का परित्याग कर कंटकमय करंज-वन में भ्रमण करना है। बोध, सर्वत्र समबुद्धि और शान्ति इन तीनों को तुम पूजा के रूप से जानना। इन पुष्पों के द्वारा जो आत्मदेव की पूजा की जाती है, श्रेष्ठ देवार्चना कहते हैं। जो लोग आत्मतत्त्वालोचना-रूप देवार्चना न कृत्रिम प्रतिमा आदि की पूजा में आसक्त होते हैं, वे कभी शोक-ताप के परित्राण नहीं पा सकते। यद्यपि कदाचित् किसी तत्त्वज्ञानी महापुरुष को देव-देवी की पूजा करते देखो तो वहाँ समझ लेना कि उनकी पूजा खेल के अनुरूप है। अज्ञानियों में भक्ति-भाव जगाकर समाज की उद्देश्य से ही वे उस प्रकार के कार्य करते हैं, किसी सुख-भोग की वे पूजा नहीं करते। अतः तुम निश्चय रूप से जानो कि आत्मध्यान के

...न्य पूजन मुख्य पूजन नहीं है। आत्मा ही देवता, आत्मा ही भगवान, आत्मा ही शिव, आत्मा ही हरि और उसी आत्मा की पूजा ही श्रेष्ठ पूजा है। उस पूजा का प्रधान उपकरण है—ज्ञान। ज्ञान-रूप पुष्प के द्वारा आत्मा ही सदा पूजनीय है। अब तुम कुछ प्रबुद्ध हुए हो। इसलिए मैंने तुमसे इस मानसी पूजा की बात कही। तुम इस श्रेष्ठ देवपूजा के अधिकारी हो। इस पूजा में बहुत से स्थूल पुष्पों और धूप, दीप, नैवेद्य आदि के संग्रह करने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग इस श्रेष्ठ आत्मदेव के ज्ञान से रहित हैं, कृत्रिम प्रतिमा-पूजा के वे ही अधिकारी हैं। उन्हींके लिए बाह्य पूजा का विधान है, उनमें भक्ति और ज्ञान का अभाव है। इस कारण वे पुष्प-पत्रादि से पूजा करते हैं। वे अपने संकल्प के अनुसार श्रद्धा के साथ कल्पित मूर्ति की पूजा करते हैं और उसी में सन्तोष प्राप्त करते हैं। वे मोहवश निज संकल्प से कुछ इच्छित फलों के लिए कल्पित प्रतिमा की अर्चना करते हैं। बेटा! जो पूजा बाहरी पुष्प, धूपादि के द्वारा सम्पन्न होती है, वह पूजा निर्बोध का कार्य है। अतः ऊपर-कथित प्रणाली का अवलम्बन कर तुम भावमयी पूजा का आश्रय ग्रहण करो, बाह्य पूजा छोड़ दो। बाह्य पूजा तुम्हारे जैसे विचारशील व्यक्ति के योग्य नहीं है, क्योंकि परमार्थ सत्य एक अद्वितीय परमानन्दमय ब्रह्म ही तुम्हारे देवता हैं। जो लोग कल्पना से अतीत नहीं हो सके हैं, वे ही 'अमुक मेरे पूज्य हैं, मैं उनका पूजक हूँ, अमुक अमुक मेरी पूजा की वस्तुएँ हैं, अमुक मूर्ति की पूजा मुझे करनी चाहिए'—इस प्रकार की कल्पना करते हैं।

भक्त—प्रभु! मैं आपसे ऐसी उत्तम युक्ति श्रवण कर प्रसन्न हुआ हूँ। अब वैदिक कर्मकाण्ड और मूर्तिपूजा के विषय में शास्त्र क्या कहते हैं, उसे सुनना चाहता हूँ।

महात्मा—बेटा! प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत ज्ञान के विषय में दूसरे को उपदेश दे और आपस में उसकी आलोचना करे। किसी पुस्तक में कोई ऊँची बात लिखी हो, जिस विषय में अपनी उपलब्धि नहीं है, ऐसे विषय में आपस में वादविवाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि उससे दोनों के चित्त की अवनति होती है। मैं समझ गया कि, मेरे अनुभूत युक्तिपूर्ण सिद्धान्तों पर तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है। इसीलिए कुछ शास्त्रीय

प्रमाण उद्धृत कर तुम्हारे संदेह का निरसन करना आवश्यक है। इस देश में शाक्त, वैष्णव, शैव आदि हिन्दू धर्म की जितने प्रकार की शाखा-प्रशाखाएँ हैं, सभी के मूल में वेद-वेदान्त प्रमाण रूप से विद्यमान हैं। इस मूल शास्त्र से ही क्रमशः संहिता, पुराण, तन्त्र आदि नाना ग्रन्थ रचित हुए हैं। हमारे शास्त्रों में मूर्तिपूजा की विधि है, इस बात को लेकर तुमलोग उछल-कूद मचा रहे हो। परन्तु मूल शास्त्र वेद-वेदान्त में तो अनेक स्थानों में मूर्तिपूजा की यथेष्ट निन्दा करते हुए आत्मतत्त्व में मनोनिवेश करने के लिए बार बार उपदेश दिया गया है। यहाँ तक कि संहिता, पुराण, तन्त्र आदि शास्त्रों में भी मूर्ति-उपासक को सभी से अधम उपासक बतलाकर आत्मज्ञान लाभ का ही उपदेश दिया गया है। वेदान्त कहते हैं—

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा।
शिवं पश्यति मूढ़ात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते॥
अन्तस्थं मां परित्यज्य बहिस्थं यस्तु सेवते।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिह्येत् कूर्परमात्मनः॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः॥
अपूर्वं परमं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम्।
प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति॥

(जाबालदर्शनोपनिषद्)

अर्थात्—"परमेश्वर के जीव-शरीर में विद्यमान रहते हुए भी विषय-मोहित मनुष्य सदा तीर्थ में, दान में, जप में, यज्ञ में, काष्ठ में तथा शिला में शिवदर्शन की चेष्टा करते हैं। जो व्यक्ति अन्तर में निहित मुझ (आत्मा) को छोड़कर बाहरी काष्ठ-शिलादि में मेरी पूजा करता है, वह हाथ का खाद्य छोड़कर हथेली चाटता है। योगी लोग आत्मा में परमेश्वर का दर्शन करते हैं, मूर्ति में ईश्वर को देखने की इच्छा नहीं करते। विषयों में मोहित लोगों की चिन्ता की सुविधा के लिए मूर्ति की कल्पना की गयी है। अपूर्व, सर्वश्रेष्ठ, आत्मस्वरूप, सत्य, अद्वितीय, विज्ञानघन तथा आनन्द-रूप ब्रह्म को जो देखते हैं, वही यथार्थ में द्रष्टा हैं।"

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
( सामवेदीय तलवकारोपनिषद् )

अर्थात्—"मन जिसका मनन नहीं कर सकता, बल्कि जिसके द्वारा मन प्रकाशित होता है, उसीको ब्रह्म कहते हैं। उसीका ज्ञान प्राप्त करो। परन्तु मन की कल्पना के द्वारा मन्दिरों में जिन मूर्तियों की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है।" इन वाक्यों के द्वारा श्रुति मूर्तिपूजा से आत्मा की उपासना नहीं होती, उसीको स्पष्ट रूप से बता रही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—

अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति,
न स वेद, यथा पशुरेवं स देवानाम् ॥

अर्थात्—"जो अब्रह्मज्ञ व्यक्ति अपने से भिन्न अन्य देवता की उपासना करता है और समझता है कि, वह देवता पृथक् हैं और मैं भी पृथक हूँ, वह नहीं जानता अर्थात् आत्मा के यथार्थ तत्त्व से वह अवगत नहीं है। ऐसा मनुष्य देवताओं का पशु है। पशु जिस प्रकार बोझ आदि ढो कर मनुष्य का उपकार करते हैं उसी प्रकार यह अज्ञानी मनुष्य भी देवताओं के लिए पुष्प-चन्दन-नैवेद्य आदि ढोकर लाता है। इस कारण उसे देवता का पशु कहा गया है।" महानिर्वाण-तन्त्र में लिखा है —

मनसा कल्पिता मूर्तिर्नृणां चेन्मोक्षसाधनी ।
स्वप्नलब्धेन राज्येन राजानो मानवास्तथा ॥
मृच्छिलाधातुदार्वादि-मूर्तावीश्वरबुद्धयः ।
क्लिश्यन्तस्तपसा ज्ञानं विना मोक्षं न यान्ति ते ॥

अर्थात्—"मनःकल्पित मूर्ति यदि मनुष्य के मोक्षसाधक हो सकती है तो मनुष्य स्वप्नलब्ध राज्य के द्वारा भी राजा बन सकता है। मृत्तिका, शिला, धातु या काठ की मूर्तियों को ईश्वर समझकर अनेक कष्ट के साथ पूजोपकरण संग्रह करने में मनुष्य को वृथा ही अनेक क्लेश सहना पड़ता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना किसी तरह भी परमानन्द रूप मुक्ति नहीं मिल सकती।" महानिर्वाण-तन्त्र में और भी लिखा है—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिःपूजाधमाधमा।

अर्थात्—"मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार भाव उत्तम है, ध्यान-भाव म…
स्तुति जप अधम भाव तथा पत्र-पुष्पों से मूर्ति की पूजा अधम से…
अधम भाव है।" इसका आशय यह है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य…
इसके अतिरिक्त और जो कुछ दिखाई पड़ता है, सब स्वप्नदृष्ट वस्तु…
मिथ्या है। यह सभी जगत ब्रह्ममय है, एकमात्र ब्रह्म के सिवाय संसार…
अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जीव ही ब्रह्म है। इस प्रकार का भाव…
उच्च कोटि के तत्त्वज्ञ महापुरुषों के मन में सदा विद्यमान रहता है और…
सर्वोत्तम भाव है। शरीर, मन, वाणी से अनन्यचित्त होकर जो ध्यान किया…
है, साधक का वह भाव मध्यम है। स्तुति-पाठ और माला-जप अधम भा…
और मूर्ति में बाह्यिक पूजार्चना अधम से भी अधम भाव है। आजकल कुछ…
इस प्रकार के अधम से भी अधम भाव में वृद्धावस्था तक सारा जीवन बिता…
हो, उससे ऊपर की कोटि में उठने की कभी चेष्टा भी नहीं करते। वै…
सम्प्रदाय के रामानुजदर्शन में भी लिखा है—

अर्चोपासनया क्षिप्ते कल्मषेऽधिकृतो भवेत्।

अर्थात्—"प्रतिमा आदि में पूजार्चना द्वारा मन बहिर्मुखी होकर विक्षि…
जाता है, उससे साधक का चित्त पाप से अधिकृत हो जाता है।" वेदान्त…
हैं—

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्रां जपादीनेव कुर्वताम्।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढ़ीति न्याय आपतेत्॥ (पञ्चदशी…)

अर्थात्—"तत्त्वज्ञान या निर्विकल्प समाधि के लिए निर्गुण की उ…
छोड़कर जो मनुष्य तीर्थादि का पर्यटन, माला-जप, मूर्तिपूजा आदि के…
उपासना करता है, उसके लिए हाथ का अन्न फेंककर हथेली चाटने…
समान होता है।"

काष्ठमध्ये यथा वह्निः, पुष्पे गन्धं, पये घृतम्।
देहमध्ये तथा देवः पापपुण्यविवर्जितः॥

अर्थात्—"काठ के भीतर अग्नि है, परन्तु वह दिखाई नहीं पड़ती।…
तक कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। फूलों में सुगन्ध है, …

दिखाई नहीं पड़ती। दूध में घी है, उसे भी प्रत्यक्ष-गोचर नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार इस शरीर में पाप-पुण्य-रहित आत्मा विराजमान है। अज्ञानियों के स्थूल नेत्रों के वह अगोचर हैं, परन्तु, विशुद्ध अपरोक्ष ज्ञान के वे गोचर हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।"

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। (ऋग्वेद)

अर्थात्—"(वह जो परमात्मा या परमेश्वर हैं) उनकी कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं है। यह समस्त ब्रह्माण्ड ही उनकी महिमा घोषित करता है। यह ब्रह्माण्ड ही उनकी मूर्ति है"। अतः बेटा! कैसे तुम लोग उनकी स्त्री या पुरुष मूर्ति कल्पित कर पूजा कर रहे हो? शिवसंहिता कहती है—

स्नानं पूजातिथिर्होमस्तथा सौख्यमयी स्थितिः।
व्रतोपवासनियमा मौनमिन्द्रियनिग्रहः॥
ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च।
वापीकूपतड़ागादिप्रासादारामकल्पनं॥
यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विषयाणि च।
दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिताः॥

अर्थात्—"प्रातःस्नान आदि वेदविहित स्नान, पूजा की अधिकता, अतिथि-सेवा, सुख से अवस्थिति (विलासिता), व्रत, उपवास, नियमधारण, मौन (वागिन्द्रिय का निग्रह), बाहरी इन्द्रियों का निग्रह, ध्येयता, स्थूल ध्यान (मूर्ति ध्यान), मन्त्र जपादि, दान, सर्वत्र यश, तालाब कूँआ बावली दीर्घिका महल उद्यान कुञ्जभवन आदि का निर्माण, यज्ञ, चान्द्रायणव्रत, कृच्छ्रव्रत, तीर्थ पर्यटन आदि मनुष्यों की मुक्ति के मार्ग में धर्म रूप विघ्न के रूप में विद्यमान हैं।" अर्थात् साधारण अज्ञानी व्यक्तियों के द्वारा यह धर्म-रूप से देखे जाने पर भी यथार्थ में ये मुक्तिमार्ग के विघ्न-स्वरूप हैं। इस कारण इन विघ्नों का अतिक्रमण कर जाने के लिए ही शिवसंहिता ने फिर भी कहा है—

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥
आत्मलिङ्गार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात् सफला सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा॥

मनोजयञ्च लभते वायुबिन्दुविधारणम्।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः॥

अर्थात्—"अपने शरीर में स्थित शिव अर्थात् आत्मलिंग को छोड़कर जो मनुष्य बाहरी शिवलिंग की पूजा करता है वह मूढ़ अपने हाथ का ग्रास छोड़कर जीविका के लिए दूसरों के द्वारों में भटकता फिरता है। जो प्रतिदिन आलस्य का परित्याग कर आत्मलिंग (सत्रह अंगों वाले लिंग-शरीर) की उपासना करता है, उसके सभी सिद्ध होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। विशेषकर साधक इसके द्वारा मनोजय, वायुधारण और बिन्दु (वीर्य) के धारण की शक्ति प्राप्त करते हैं। उसे इहलोक और परलोक की सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।" गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

अर्थात्—"हे अर्जुन! वेद के कर्मकाण्ड के विषय (विधि-निषेधात्मक कर्म) सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के विकास रूप हैं अर्थात् त्रिगुणात्मक हैं। इसी कारण विषय-भोग में लालायित मनुष्यों के लिए कर्मकाण्ड-विहित कर्म करणीय हैं। अतः तुम इसे जानकर कामना कर्मकाण्ड का परित्याग कर आत्मज्ञान लाभ करके त्रिगुणातीत तथा निर्द्वन्द्व हो जाओ।" क्योंकि—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अर्थात्—"हे कौन्तेय! दूसरे देवताओं के भक्त श्रद्धायुक्त होकर उन देवताओं की पूजा करते हैं। वे अज्ञान के कारण मेरे (आत्मा के) का ज्ञान न रहने के कारण भेद-बुद्धि से अविधिपूर्वक (शास्त्र-विधि के विरुद्ध) पूजा करते हैं। इसीलिए ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।" पीठमाला तन्त्र में कहते हैं—

न मुक्तिर्जपनाद्धोमाद् उपवासशतैरपि।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत्॥
न कर्मणा विमुक्तः स्यात् न मन्त्राराधनेन वा।
आत्मनात्मानमाज्ञाय मुक्तो भवति मानवः॥

मन्त्रपूजातपोध्यानं होमं जप्यं वलिक्रियाम् ।
संन्यासं सर्वकर्माणि लौकिकानि त्यजेद् बुधः ॥
यत्र क्रियासाध्यहानिस्तत्रैव परिहीयते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन क्रियाहीनो भवेत् पुमान् ॥

अर्थात्—"सैकड़ों उपवास, जप या होम करने से भी मुक्ति-लाभ नहीं होता, परन्तु 'मैं ही आत्मा हूँ' इस प्रकार के ज्ञान का उदय होने पर ही मुक्ति मिलती है। कर्म के अनुष्ठान से कभी मुक्ति-लाभ नहीं होता। मन्त्र की साधना करने से भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। एकमात्र आत्मा (जीवात्मा) के द्वारा आत्मा (परमात्मा) को जान सकने से ही मुक्ति मिल सकती है। अतः बुद्धिमान विचारशील व्यक्ति मन्त्र, पूजा, तपस्या, किसी मूर्ति का ध्यान, हवन, पूजा-जप आदि सभी लौकिक कार्यों का सम्यक् रूप से परित्याग करें। जहाँ विधि व्रत नियम आदि क्रियाओं का अनुष्ठान है, वहीं आत्म-साधन दुर्घट हो जाता है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्ण प्रयत्न से क्रियाहीन होना चाहिये।"

अन्यत्र कहते हैं—

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः ।
न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा ॥

अर्थात्—"सत् और असत् वस्तुओं के विचार द्वारा तथा गुरूपदेश की सहायता से सत्य वस्तु का निश्चित अपरोक्ष होता है, परन्तु स्नान दान या सैकड़ों प्राणायामों से भी वह प्राप्त नहीं किया जा सकता।"

संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।
यत्यतां पण्डितैर्धीरैरात्माभ्यास उपस्थितैः ॥

अर्थात्—"जो स्थिर बुद्धिमान और विद्वान् व्यक्ति आत्मज्ञान या आत्मचिन्तन की शिक्षा में प्रवृत्त हैं वे सन्ध्या-वन्दन, जप-होम, पूजा-पाठ, व्रत-नियम आदि बाहरी कर्मों का परित्याग कर संसार-बन्धन काटने के लिए तत्त्व-ज्ञान के अभ्यास में प्रयत्नशील हों।"

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवान् ।
आत्मैक्यबोधेन विनापि मुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥

अर्थात्—"जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों की अभिन्नता का ज्ञान होने पर शास्त्र की व्याख्या, यज्ञ आदि के द्वारा देवताओं का सन्तोष या सन्ध्या-वन्दन आदि के द्वारा कर्मकाण्ड का अनुष्ठान या देवताओं की आराधना, इनमें किसी के द्वारा भी ब्रह्मा के सौ कल्पों में भी मुक्ति-प्राप्ति की आशा नहीं है।"

कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीने सर्वमनेन मुक्तिर्न भवति जन्मशतेन॥

अर्थात्—"चाहे मनुष्य मुक्ति की कामना से गंगासागर में जाय, नाना प्रकार के व्रतों का पालन करे अथवा दान ही किया करे, ब्रह्मज्ञान बिना इन कर्मों के द्वारा सैकड़ों जन्मों में भी किसी प्रकार मुक्ति प्राप्त नहीं होती।" भगवान शंकराचार्य ने कहा है—

श्रवणं मननं ध्यानं ज्ञानानाञ्चैव साधनम्।
यज्ञदानतपस्तीर्थवेदैर्मुक्तिर्न लभ्यते॥ (आत्मज्ञान...)

अर्थात्—"श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन ज्ञान के साधन हैं। ज्ञान के द्वारा ही जीव की मुक्ति होती है। परन्तु यज्ञ, दान, तपस्या, वेद और तीर्थ-सेवा के द्वारा किसी तरह और कभी भी मुक्तिलाभ नहीं होता। महादेव ने वसिष्ठ मुनि से कहा था—"हे ब्रह्मवित् श्रेष्ठ! जिसकी अपेक्षा दूसरा उत्तम नहीं है, इस प्रकार के देवता की अर्चना के विषय की बात कहता हूँ, सुनो। उस प्रकार की उपासना एक बार कर सकने से तुरन्त ... मिल जाती है। देवता क्या है, तुम जानते हो? पुण्डरीकाक्ष, त्रिनेत्र ... पद्मयोनि ब्रह्मा, देवराज इन्द्र, वायु, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, ब्राह्मण, राजा ... कोई भी देवता नहीं है। अधिक क्या बताऊँ, (देह-रूप) तुम और मैं भी ... नहीं हैं। देवता देहरूपी नहीं हैं, चित्तरूपी भी नहीं। शोभा, लक्ष्मी ... भी देवता नहीं हैं। देवता अकृत्रिम और अनादि हैं अर्थात् जो नित्य ... मय, सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा है, वही देवता शब्द के वाच्य हैं। ... प्रकारका लक्षण, रूप आदि द्वारा सीमाबद्ध मूर्ति में कदापि नहीं घटित हो सकते ... पण्डित (ज्ञानी) लोग भी अकृत्रिम, अनादि, अनन्त, चिद्रूप ... 'देवता' या 'शिव' नाम देकर उन्हींकी उपासना करते हैं। यही शिव ...

और प्रधान देवता हैं और इन्हीं की पूजा विहित है। यह निरवच्छिन्न और ...कार हैं तथा इन्हीं से समस्त ब्रह्माण्ड 'हैं' ऐसा प्रतीत होता है। जो लोग ...देवतातत्त्व या शिवतत्त्व को नहीं जानते, वे ही देवता समझकर साकार ...र्तियों की उपासना करते हैं। बोध, समता (सर्वत्र आत्मबुद्धि) और शान्ति ...तीनों को तुम श्रेष्ठ पुष्प रूप से और केवल निर्मल चिन्मात्र को तुम पूज्य ...रूप से जानना। शान्ति और बोध आदि पुष्पों के द्वारा जिस आत्मदेव की ...जा की जाती है उसीको तुम श्रेष्ठ देवार्चना समझो। जो लोग आत्मज्ञान ...रूप देवार्चना न करके बनावटी मूर्ति आदि की पूजा में आसक्त होते हैं, वे शोक-...ह आदि नाना प्रकार के क्लेशों के हाथ से मुक्त नहीं हो सकते। हे ब्रह्मन्! ...तुम निश्चय जानना कि आत्मध्यान के बिना दूसरे प्रकार का पूजन मुख्य ...जन नहीं है। आत्मा ही देवता, आत्मा ही भगवान और आत्मा ही शिव हैं, ...न्हीं की पूजा का प्रधान उपकरण ज्ञान है। ज्ञान रूप पुष्प के द्वारा सदा ...नकी पूजा करणीय है।" (योगवासिष्ठ, निर्वाण प्र०, सर्ग २६, श्लोक ११७-...२३।१२७-१२१)। इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी भी शिष्यों को उपदेश ...ते समय कहते थे—

तुलसी पीदने हरि मिले तो, मैं पेन्हू कुँदा और झाड़।
पत्थर पूजे हरि मिले तो, मैं पूजूँ पहाड़॥

अर्थात्—"बहुत-सी तुलसी की मालाएँ गले में धारण करने से ही यदि ...कर हरि प्राप्त हो सकते तो मैं तुलसी का तना और पूरा वृक्ष ही गले में ...र लेता और पत्थर के पूजने से ही यदि हरि मिलते तो मैं पहाड़ पूजता।"

माला फेरत युग गया, पाय न मन का फेर।
कर का मनका छाँड़िके, मन का मनका फेर॥

अर्थात्—"माला घुमाने से ही यदि जीवन व्यतीत हो गया तो तुम चित्त का ...(कुटिलता, प्रवंचना, धूर्तता, हिंसा, द्वेष आदि) घुमाने (निवृत्त करने) ...में समर्थ होगे? अतः तुम काठ की माला घुमाना छोड़ चित्त की कुटिलता ...दूर करके सरलता, उदारता आदि सद्गुणों का अवलम्बन करो।"

करमट कर मलिया कहे ज्ञानी ज्ञानविहीन।
तुलसी त्रिपथ विहायगो, आत्माराम द्वारे दीन॥

अर्थात्—"हे तुलसी ! जो लोग अँगुली से काठ की माला वा ... हैं, वे अज्ञानी ही अपने को ज्ञानी कहकर घमण्ड करते हैं। परन्तु ... तीनों मार्ग खोकर वे आत्माराम के द्वार पर दीन होते हैं।" ... शिष्यों से और भी कहा करते थे—

नाहे धोये क्या भया, जो मन में मैल समाय।
मीन सदा जल में रहे, धोये बास न जाय॥

अर्थात्—"तुम्हारे मन की मलिनता दूर न हुई तो बार बार ... के द्वारा शरीर धोने से क्या लाभ ? मछलियाँ सदा जल में रहती हैं ... बार बार धोने से भी उनकी दुर्गन्ध नहीं छूटती।" इसीलिए मन के ... विषय में वे कहते थे, हे मानव—

आत्मा को नद मानिये, संयम तोय समान।
सत्य वचन ह्रद, शील तट, दया लहर करि जान॥
ऐसे नद के सलिल में, करहु स्नान युधिराज।
नाहिंन पजन होत है, शुद्ध चपल मनराज॥

अर्थात्—"केवल स्नान से चित्त-शुद्धि कैसे होगी ? ऐसा कभी ... है। अतः मन की मैल धोने के लिए आत्मा नदी रूप, संयम जल ... बचन झील के समान, शील को तीर के तुल्य और दया को लहर के ... मानकर बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी नदी के जल में ही स्नान करते हैं। ... में स्नान करने से इन्द्रियों के अधिपति चंचल मन निष्पाप और ... है।" स्मृति-शास्त्र में भी कहा गया है—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
अत आचरणे दुःखं, फले स्पर्धादुःखं, भोगान्ते पतनं।
दुःखमेवमन्यविद्योपासने दुःखाद्दुःखमाप्नोति।

अर्थात्—"स्वर्ग-सुख के भोग से पुण्य क्षीण होने पर जीव ... संसार में आते हैं। कर्मकाण्ड के प्रारम्भ में दुःख, फल में स्पर्धा ... और भोगावासना में पतन रूप दुःख है। अतः ब्रह्मविद्या के सिवाय ... विद्या या बाहरी कर्मादि केवल दुःख ही उत्पन्न करते हैं।" बेटा ! ... अनेक शास्त्र-प्रमाण हैं, मैं कहाँ तक बताऊँ। अतः सिद्धान्त यह ...

हुआ कि आत्मज्ञान के प्रभाव से अति शीघ्र परम शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त होता है और वाह्यिक यज्ञ, पूजा, उपासना या कर्म द्वारा परम शान्ति प्राप्त करने की कोई आशा नहीं है। जितने दिनों तक इस अध्यात्म ज्ञान का लाभ नहीं होता तब तक कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए उतने दिनों तक बार-बार जीव-देह धारण कर उसके फलस्वरूप अत्यन्त विषमय क्लेश सहना होगा। इस दृश्यमान संसार को नरक स्वरूप समझ कर, सांसारिक सुख को दुःखमय जानकर, पत्नी-पुत्रादि को बन्धन स्वरूप मानकर, धन-ऐश्वर्य को परम पथ का महा-विघ्न स्वरूप समझ कर, इस शरीर को असहनीय भार मानकर सब आसक्ति परित्यागपूर्वक निस्पृह होकर श्रीगुरु की आज्ञा से एकमात्र निरंजन आत्मा रूप शिव के ध्यान को ही परम शान्ति लाभ का सोपान रूप जानना। यहाँ तक कहकर महात्मा भजन गाने लगे —

आत्तारूपी शिवे, हृदये ना पूजे, खुँजिछो ताँहाके बाहिरे।
से जे अन्तर्जामी, तोमारइ 'आमि' भ्रमे भाबितेछो दूरे॥
ए विश्व ताँहारि आस्रये थाकिया, ताँहारि चेतनाय रयेछे भासिया।
(तबु) शिव कोथाय? शिव कोथाय? बोले खुँजितेछे अज्ञ नरे॥
(एबे) जगतेर चिन्ता, छाड़िये दिये, निज अन्तरे ताँके खोंजो गिये।
तखन देखिबे, ब्रह्मा-बिष्णु-शिवे, एकात्ता रूपे बिहरे॥
जीवेर अशान्ति हरण करेन बोले, 'हरि' नाम ताँहार रेखेछे सकले।
(तुमि) ताँहारइ दर्शने, पूर्णानन्द मने, बिराजिबे चिर तरे॥

इसका आशय इस प्रकार है—

आत्मा रूप शिव को हृदय में न पूजकर बाहर खोज रहे हो।
वह तो अन्तर्यामी हैं, तुम्हारा ही 'मैं', भ्रम से दूर समझते हो॥
यह विश्व उन्हींका है, उन्हींके आश्रय में रहकर
उन्हीं की चेतना में प्रतिभासित है॥
तो भी शिव कहाँ, शिव कहाँ, कहकर अज्ञ नर खोज रहे हैं।
अब विश्व की चिन्ता छोड़कर, अपने अन्तर में उन्हें खोजो॥
तभी देखोगे ब्रह्मा, विष्णु, शिव एकात्मा रूप में विहार करते हैं।

जीव की अशान्ति हरते हैं, इसीसे उनका नाम लोगोंने 'हरि' रखा है। उन्हींका दर्शन कर पूर्णानन्द मन से चिरकाल विराजमान रहोगे।

भक्त---दयामय ! एक व्यक्ति चाहे तो दूसरे को तत्त्वज्ञान का देकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करा सकता है ?

महात्मा---बेटा ! ब्रह्मज्ञान विधि या नियोग के अधीन नहीं है। 'करो' कहने से ही किया नहीं जा सकता। क्योंकि विधि है कर्म करने में, परन्तु ज्ञान के लिए कोई विधि नहीं है। अतः जिसमें विधि की नहीं है, जो वस्तुमात्र का बोधक है, उस प्रकार से ब्रह्मवाक्य के द्वारा ही उदित होता है। ज्ञान-बल के बिना केवल तपस्या, कर्म या उपासना से उस परम गति को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। यह बात पहले भी मैंने बतायी है। घोर विषयासक्त, भोग-पिपासु ( तीव्र-कामना-पूर्ण ) व्यक्ति शिश्नोदर-परायण होकर समय बिताते हैं। अतः वे बाह्यिक नाना प्रकार या मूर्तिपूजा करने से भी आत्मतत्त्व के अनधिकारी हैं। इस विषय में भी कहती है---

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥

अर्थात्---"जहाँ सारी कामनाएँ परास्त हैं, ज्ञानी उसी ब्रह्मलोक में जाते हैं, केवल दक्षिणा-दान-साध्य वैदिक कर्म करने वाले ( जो विविध के यज्ञ-होम आदि का अनुष्ठान करके ईश्वर के समीप नाना प्रकार के और ऐश्वर्य की कामना करते हैं, वे ) और अज्ञानी तपस्वी लोग ( जो या आत्मज्ञान से रहित होकर नाना प्रकार के व्रत, नियम, उपवास, माला-जप आदि करते हैं, वे ) उस ब्रह्मलोक में नहीं पहुँच सकते।"

भक्त---हे महात्मन् ! आपको युक्ति तथा शास्त्र-प्रमाण द्वारा लग रहा है कि मैं उपासक हूँ और ईश्वर उपास्य देवता हैं, इस प्रकार भाव से द्वैतज्ञान द्वारा ईश्वर की उपासना नहीं की जा सकती। तो सृष्टि का कोई पृथक सृष्टिकर्ता नहीं है ?

महात्मा---बेटा ! जहाँ सृष्टि का कोई पृथक अस्तित्व नहीं है, कैसे सृष्टिकर्ता को खोज निकालोगे ? जरा सोचो, जहाँ तुम्हें रस्सी में

अन्न हुआ था वहाँ उस साँप का सृष्टिकर्ता कौन था ? जिस प्रकार वहाँ कोई पृथक सर्प-स्रष्टा नहीं था, तुम्हारा अपना मन ही सर्पस्रष्टा है, यहाँ भी ठीक उसी प्रकार तुम्हारा मन या माया ही जगत-स्रष्टा है। अतः अज्ञान के कारण लोग वृथा ही सृष्टिकर्ता को खोजते फिरते हैं। इस सृष्टि से पृथक हस्त-पद-नेत्र-आदि-युक्त मनुष्य रूप में कोई सृष्टिकर्ता नहीं है। विज्ञान और दर्शन आज तक सृष्टि के बाहर किसी व्यक्तिगत सृष्टिकर्ता को खोजकर नहीं निकाल सके हैं। अभ्रान्त तत्त्व साधारण लोगों के सामने अत्यन्त भयानक प्रतीत होगा। मुझे मालूम है कि अनेक मनुष्य इस प्रकार का उपदेश सुन कर भयभीत होते हैं। परन्तु जो लोग यथार्थ सत्य तत्त्व जानना या अपरोक्ष रूप से उसकी उपलब्धि करना चाहते हैं, उनके लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। यहाँ तक कि उनके निकट यह उपदेश अमृत-तुल्य प्रतीत होगा। भारत के प्राचीन महर्षि, वेदान्त-दर्शन और पुराण-शास्त्र के रचयिता और वेद-विभाग-कर्ता वेदव्यास ने भी मूर्ति आदि में किसी पृथक सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना है। परमात्मदेव के सामने उनकी क्षमा-प्रार्थना की स्तुति के द्वारा ही यह विषय स्पष्ट प्रमाणित होता है। जैसे—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितं
स्तुत्यानिर्वचनीयताखिलगुरोर्दूरीकृता यन्मया।
व्यापित्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश ! तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम् ॥

अर्थात्—"हे जगदीश ! आपका कोई रूप नहीं है, आप रूपरहित हैं, मैं कल्पना के द्वारा आपका ध्यान नहीं कर सकता। तथापि मैंने आपके रूप की रचना की है। हे अखिलगुरु ! आप अनिर्वचनीय हैं, तथापि मैंने आपकी स्तुति की रचना कर आपकी उस अनिर्वचनीयता का खण्डन कर दिया है। आप सर्वव्यापी हैं, तथापि मैंने तीर्थ-यात्रा आदि का उपदेश देकर आपके उस सर्वव्यापित्व का निराकरण किया है। मेरे इन तीन विकलता-दोषों को क्षमा कीजिये।" बेटा ! केवल इस भारत में ही क्यों, इसके बाहर चीन, जापान, अरब, फारस, यूनान, रोम आदि देशों के बड़े-बड़े विद्वान भी अपने

विज्ञान और दर्शन में सृष्टि के बाहर इस प्रकार के व्यक्तिगत सृष्टिकर्ता को कर नहीं निकाल सके हैं। मैं तो अनुभव करता हूँ कि इस सृष्टि के सृष्टि के साथ सृष्टि के प्रत्येक परिमाणु अभिन्न भाव से मिला हुआ है। अतः किस रूप में और कहाँ पृथक होकर बैठे रहेंगे? जभी कोई महात्मा इस सृष्टि की खोज करने लगे थे तभी वे ठीक इसी प्रकार अपृथक भाव से अपने में दर्शन पाकर सोऽहं, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म आदि वाक्यों उच्चारण कर गये हैं। तुम्हारे अज्ञान ने अहं-ज्ञान के द्वारा सोऽहं को कर रखा है। इसीलिए तुम सोऽहं शब्द का उच्चारण करने में डरते मुसलमान सम्प्रदाय के दरवेश समशतब्रेज भी कह गये हैं—

हम खुदा नहीं, लेकिन खुदा से जुदा नहीं।

अर्थात्—"मैं खुदा नहीं हूँ किन्तु खुदा से मैं जुदा भी नहीं हूँ।" आशय यह है कि रस्सी में साँप का भ्रम होने पर जिस प्रकार वहाँ रस्सी में परिणत नहीं हो गयी है और रस्सी से साँप पृथक भी नहीं है, रस्सी को अलग करने से वहाँ साँप का अस्तित्व ही नहीं रहता। खुदा ब्रह्म के विषय में भी ठीक उसी प्रकार की स्थिति है। अर्थात् खुदा या इस संसार-प्रपंच के रूप में परिणत नहीं हुए हैं और खुदा या ब्रह्म से पृथक भी नहीं है। जिस प्रकार रस्सी में साँप का भ्रम होता है, ठीक प्रकार ब्रह्म में जगत रूप भ्रम अनुभूत हो रहा है। वहाँ जिस प्रकार रस्सी अस्तित्व में ही साँप का अस्तित्व हैं, परन्तु साँप के अस्तित्व में रस्सी अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार आत्मा या ब्रह्म के अस्तित्व से ही इस संसार का अस्तित्व है। परन्तु संसार के अस्तित्व से ब्रह्म का अस्तित्व नहीं सत्य रस्सी का ज्ञान होने पर जैसे मिथ्या साँप पृथक रूप से दिखाई नहीं उसी प्रकार सत्य-स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान होने पर यह मिथ्या संसार पृथक नहीं पड़ता। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते समय कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ (गीता)

अर्थात्— अव्यक्त रूप से मैं ( परमात्मा ) संसार के सर्वत्र ही व्याप्त हो कर [वि]द्यमान हूँ। सारे प्राणी मुझ ( परमात्मा ) में अवस्थित हैं, परन्तु मैं किसी [में अ]वस्थित नहीं हूँ। तुम मेरे ( आत्मा के ) अद्भुत प्रभाव का दर्शन करो। [ये] प्राणी मेरे भीतर अवस्थित नहीं है। मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप प्राणियों को [उत्पन्न] और धारण करने पर भी उनमें अवस्थित नहीं है। सर्वत्र गमनशील [महान्] वायु जिस प्रकार आकाश में स्थित रहती है, ये सारे प्राणी भी उसी [प्रका]र मुझ ( आत्मा ) में अवस्थित हैं। इसे तुम जान लो।"

यह ब्रह्म-समुद्र अत्यन्त गम्भीर तथा विशाल तरंगों से पूर्ण है। तुम, मैं [औ]र सारे ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म-समुद्र की लहरें हैं। जिस प्रकार उष्णता अग्नि [से] अलग नहीं है, सुगन्ध पुष्प से पृथक नहीं है, मधुरता उख से भिन्न नहीं है, [तर]ंग जल से स्वतंत्र नहीं है, उसी प्रकार यह दृश्यमान संसार-प्रपंच ब्रह्म से [पृथ]क नहीं है। मैं जीव हूँ, वह जीव है, यह जगत दिखाई पड़ता है, इस प्रकार [की] कल्पनाएँ भी उस ब्रह्म-समुद्र के फेन के समान हैं। ये उसी में उत्पन्न [औ]र फिर उसी ब्रह्म-समुद्र में विलीन हो जाते हैं। हे महामते! इसे जो सृष्टि [के] रूप में देखता है, उसके सामने यह सृष्टि है और जो इसे ब्रह्म रूप में जानते [हैं], उनके सामने यह सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म ही है। सृष्टि के रूप में जानने से [ये] ज्ञाता को अधःपतित करते हैं और ब्रह्मभाव से जानने पर यह मोक्ष का [कार]ण बनते हैं। वेटा! ईश्वर अन्तर में रहकर क्या कह रहे हैं, उसे ध्यान [दे]कर सुनो। इतना कहकर वह ब्रह्मज्ञ महापुरुष अपने भाव में विभोर होकर [क]हने लगे—

["]आमि नइ रे दूरे, रयेछि अन्तरे; बारेक फिरिये देखो ना।
[के]नि दूर पथे थेके, डाकिछो आमाके; आमि जे डाकि ता शोनो ना॥
[स]ाथे रइ, कभु छाड़ा नइ; तुमि छाड़िलेओ आमि छाड़ि कइ?
[आ]मि अहरह निशि, कतो मते तुषि; एतेओ कि मने हय ना?
[तो]मारि कोलेते, आछो अनुक्षण; आमि करि सबार दुःख निवारण॥
[तु]मि देखिये ना देखो, मिछे केनो डाको; देखार कि आछे बाकि बलो ना?

ऐतो दैखा-देखि, तबु बलो 'देखि'; तुमि ऐक बार आँखि मैलो ना।
(आमि) कि आर कहिबो, कैमने दैखाबो;
दैखार आँखि ना मेलिले दैखा हवे...

इसका भावार्थ इस प्रकार है---

जीव, मैं दूर नहीं, अन्तर में विराजमान हूँ, एक बार घूमकर देखो न!
तुम दूर पथपर रहकर मुझे पुकारते हो; मैं जो पुकारता हूँ उसे नहीं सुनते॥
हृदय में रहता हूँ, कभी नहीं साथ छोड़ता; तुम्हारे छोड़ने पर भी मैं कहीं छोड़...
मैं दिन-रात तुम्हें प्रसन्न करता हूँ; क्या इससे भी स्मरण नहीं होता?
मेरी ही गोदी में सदा बैठे हो; मैं सभी का दुःख मिटाता हूँ॥
तुम देखकर भी नहीं देखते, वृथा पुकारते हो; देखने में क्या बाकी है बोलो...
इतना देखा-सुना, तो भी कहते हो 'देखूँ'; (तुम) एक बार आँख खोलो न!
मैं और क्या कहूँ, कैसे दिखाऊँ; देखने की आँख न खोलने से दिखाई न दे...।

इस समय सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये। महात्मा भी मौन धारण... आत्मस्थ हुए। इसे देखकर भक्त उस महात्मा की सेवा के निमित्त कुछ... रखकर दण्डवत् प्रणाम करते हुए अपने स्थान को चला गया।

---

# भारत के बाहर मूर्तिपूजा

भक्त—प्रभु! सबसे निम्नकोटि के अज्ञानियों के लिए मूर्तिपूजा का ... क्या केवल भारत में ही है या इंग्लैण्ड, जर्मनी, इटली, यूनान, अरब, ... आदि दूसरे देशों में भी था?

महात्मा—बेटा! इस भारत में जिस समय मूर्तिपूजा का प्रचार था... अर्थात् मुसलमान धर्म के प्रचारित होने के पूर्व तक अरब, फारस, तुर्की ...

देशों में वहाँ के वीरों और नेताओं की मूर्ति बनाकर अग्नि के सामने उनकी पूजा प्रचलित थी। यूनान और इटली में ईसाई धर्म के प्रचारित होने के पहले तक ग्रीक इतिहास, रोमन इतिहास आदि उन देशों के पुराण-शास्त्रों में से कल्पित देव-देवियों की मूर्ति और अग्नि की पूजा होती थी। प्राचीन समय के अरब-निवासी सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारा आदि के उद्देश्य से आहुति, बलिदान, धूप-दीप आदि का प्रदर्शन तथा यज्ञ में आहूत नाना प्रकार के पशुओं का मांस भक्षण करते थे। वहाँ आल्लायात्, एलउज्जा, उतारेद, इयागुथ, ञक, साञ्, नसा, देवारन् आदि नाम से सैकड़ों देव-देवियों की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं। 'काल्दी' भाषा में लिखित शेख नामक धर्मग्रन्थ को वे हिन्दुओं के वेद के समान सम्मान देते थे हिन्दू जिस प्रकार शिव और काली, कृष्ण और राधा को पुरुष और प्रकृति रूप से कल्पना कर पूजते हैं, वे भी ठीक उसी तरह 'अल्ला-तला' नाम से पुरुष और 'एल इलायत' नाम से प्रकृति देवी की उपासना करते थे। प्राचीन फारस-निवासी साग्निक ब्राह्मणों की तरह यज्ञ में आहुति देकर हवन करते थे और आधुनिक भारतीय पारसी अभी भी अपने 'जेन्द' शास्त्र के अनुसार उसी धर्म का आचरण करते हैं। रोम और ग्रीस के निवासी अनेक प्रकार के यज्ञ, नाना प्रकार के पशु-पक्षियों का बलिदान तथा सैकड़ों देव-देवियों की पूजा किया करते थे। उन देशों के प्राचीन पुराण ग्रन्थों में ऐसा भी लिखा है कि उन देव-देवियों के भक्त अपने अपने देवता की आकाशवाणी सुनते थे तथा उन देवताओं का दर्शन स्वप्न में पाते थे। मर्करि, नेमिसिस, युरेनस, वेक्सिस्, जुपिटर, जोम, मेसियस, नेप्चुन, नारकर, वेनस, मार्स, पैन, सेटर्न, एपोलो, एटलस आदि नामयुक्त अनेक धातु और शिला की मूर्तियाँ बनाकर वे उनकी पूजा करते थे और उन मूर्तियों के सामने गाय, भैंस, बकरा, भेंड़ आदि अगणित पशुओं का बलिदान कर उनका मांस खाया करते थे। भारत के हिन्दू सब विद्याओं की अधिष्ठात्री एकमात्र देवी सरस्वती की कल्पना कर उनकी पूजा करते हैं, परन्तु उस काल के ग्रीस के निवासी यूटार्पी, पलिहिमनिया, केलिओपी, क्लियो, मेल्पमेनी, एरोटा, थेलिया, टार्पिस्कोर, यूरेनिया, इन नौ नामों के नौ सरस्वतियों की पूजा नौ प्रकार की विद्याओं के लाभार्थ करते थे। इन दिनों जैसे पृथ्वी गोल है और वह शून्य में रहकर तीव्र वेग से घूम रही है,

ऐसा विज्ञान ने निर्धारित किया है; परन्तु प्राचीन यूनानियों के विज्ञान शास्त्र के मतानुसार उनके एटलस नामक एक देवता इस पृथ्वी को कंधे पर लिये रहते थे, यही उनका दृढ़ विश्वास था ; जैसे कि हिन्दुओं के कल्पित शेष की नाग इस पृथ्वी को सिर पर धरे रखते थे।

इस प्रकार से पाश्चात्य मनुष्य ठीक हमारे ही समान अनेक देव-देवियों की पूजा करते, बलिदान देते और नाना प्रकार के यज्ञों, व्रतों का अनुष्ठान तथा तीर्थों का पर्यटन करते थे। उसके अनन्तर इसलाम और ईसाई धर्मों के प्रचार से अरब, यूनान तथा रोम के निवासियों के इस प्रकार के देवताओं का संस्कार नष्ट हो गया था, तथा उन लोगों ने मूर्तिपूजा और यज्ञादि कर्म छोड़ दिये थे। उस मूर्तिपूजा-त्याग के बाद ही से भारत के हिन्दू नाना प्रकार की मूर्तियों की पूजा, बलिदान तथा तीर्थ-पर्यटनादि कार्यों द्वारा पापक्षय करके पुण्य-संचय करने में नियुक्त हुए हैं ! मूर्तिपूजा आदि के त्याग करने वाले पाश्चात्य मनुष्य आज शिल्प-वाणिज्य-विज्ञान आदि की उन्नति करके आज संसार में स्वर्ग-सुख भोग रहे हैं और भारत के निवासी मूर्तिपूजा को अपना कर दिनोंदिन कुसंस्कारों से आच्छन्न होकर सर्व प्रकार से अधःपतित हो रहे हैं।

भक्त—प्रभु ! अरब और यूनान के निवासी उस प्रकार मूर्तिपूजा करते हुए क्या शिल्प-वाणिज्य में उन्नति नहीं कर सकते थे ? उस प्रकार की पूजा पद्धति के त्याग करने का कारण क्या है ?

महात्मा—विचार करने से सहज में ही इसका कारण समझ सकोगे। कहावत है, कहते हैं 'लाभ के लिए लोहा ढोता है, परन्तु विना लाभ के कोई रुई भी नहीं ढोता।' संसार में लाभ की आशा से ही सब कार्य किये जाते हैं; किन्तु जिस कार्य से 'कोई लाभ नहीं है' यह जान जाते ही लोग उसका परित्याग करते हैं, यही मनुष्य के मन का स्वभाव है। अब सोचो, यदि सचमुच ही उन देशों के निवासी अपने पूर्वजों के मनःकल्पित उपास्य देव-देवियों की आकाशवाणी सुनकर और स्वप्नावस्था में देवमूर्तियों का दर्शन कर उन्हें किसी प्रकार की आत्मोन्नति या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती या वे धन-जनों से पूर्ण होकर सुखी होते तो इस प्रकार प्रत्यक्ष फलप्रद धर्म तथा उन देव-देवियों को क्यों छोड़ देते? इसी प्रकार संसार में सर्वत्र ही बाहरी साम्प्रदायिक साधन-भजन-प्रणाली इस

परिवर्तित होकर पुरानी नियम-प्रणाली या भावधारा परित्यक्त और नयी प्रचलित हो रही है और होगी। इसीसे समझ सकते हो कि सबसे नीचे के अधम अधिकारी लोग जिससे समाज में किसी प्रकार की अशान्ति उत्पन्न न कर सकें, अतएव उन्हें पाप का भय और पुण्य का प्रलोभन दिखाकर शासन में रखने की प्रथा सभी देशों में अनादि काल से ही चली आ रही है। और उन अधमाधिकारियों के लिए उस प्रकार के विधि-निषेधों के अनुसार चलना उनके तथा समाज के लिए हितकर है।

---

# आत्मज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती

भक्त ने कहा—हे महामते! आपकी कृपा से मुझे अब सारे वृत्तान्त विदित हो गये हैं, किन्तु तथापि मैं आपसे और कुछ पूछूँगा। उत्तर देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। आत्मज्ञान बिना मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता, इस विषय में शास्त्र क्या कहते हैं, कृपापूर्वक उसीका वर्णन कीजिये।

महात्मा—बेटा! मुक्ति क्या है? मुक्ति भ्रान्ति का उपशम है। जब बन्धन रज्जु में सर्प-बुद्धि के अनुरूप है तो मुक्ति अवश्य ही भ्रान्ति के उपशम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतः ज्ञान के बिना कभी भ्रान्ति का उपशम नहीं हो सकता। बेटा! ज्ञान रूप नौका के बिना दुःखपूर्ण अपार संसार-समुद्र से उत्तीर्ण होने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। आत्मतत्त्व-सम्बन्धी सत् शास्त्रों की आलोचना तथा साधुसंग द्वारा तत्त्वज्ञान परिवर्धित होने से वह भव-हानि से मुक्ति का कारण बनता है। स्वर्ग, मर्त्य, पाताल इन तीन राज्यों में जो सब सुखकर वस्तुएँ मिलती हैं केवल मात्र तत्त्वज्ञान रूप भण्डार में वे सभी वर्तमान हैं। दान, तीर्थ, तपस्या आदि कुछ भी तत्त्वज्ञान के समान भवसागर

से उत्तीर्ण नहीं कर सकता। संसार में यदि किसी ने किसी प्रकार ... सम्पत्ति प्राप्त की हो तो समझना होगा कि उन्होंने उसे ज्ञान के द्वारा ... किया है। ज्ञान ही पुण्य-लता का उत्तम फल है और वह ज्ञान-फल ही ... स्वादिष्ट है। ज्ञानी व्यक्ति ही आत्मज्ञान के बल संसार-समुद्र के उस पार ... जाते हैं, परन्तु अधम नर आत्मज्ञान के अभाव से वहाँ नहीं जा सकते, ... कि नाव खेने में निपुण व्यक्ति ही उससे नदी पार जा सकते हैं, ... व्यक्ति नहीं जा सकते—ठीक उसी प्रकार। 'भोजन करने से क्षुधा की ... होती है' इस वाक्य को प्रमाणित करने के लिए जैसे शास्त्रादि के प्रमाण ... दूसरे मनुष्य के साक्ष्य की अपेक्षा नहीं रहती, केवल अपनी भोजन-क्रिया ... ही हर कौर में वह प्रत्यक्ष अनुभूत होता है; 'आत्मज्ञान द्वारा मनुष्य ... की प्राप्ति होती है' यह वाक्य भी ठीक उसी प्रकार है। अर्थात् अपने ... वैराग्य के द्वारा जिसको जिस परिमाण में ज्ञान प्राप्त होगा वह उसी परि... ममत्व के बन्धन से मुक्त होकर परम शान्ति का अनुभव कर सकेगा। ... निवृत्ति करके शान्ति प्राप्त करना हो तो जिस प्रकार अपनी भोजन-क्रि... बिना, तीर्थ-पर्यटन, ग्रन्थ-अध्ययन, भजन-कीर्तन आदि अगणित कर्मों ... भी किसी तरह वह सिद्ध होने का नहीं; ठीक उसी प्रकार मनुष्य को ... ममत्व-बन्धन छिन्न करके निरवच्छिन्न शान्ति लाभ करने के लिए केवल ... विचार रूप खड्ग के बिना सैकड़ों तोपों की गोलियों की बौछार या माला-... धारण, जप, मूर्तिपूजा आदि किसी भी प्रकार के हजारों कर्म ही क्यों न किये ... किसी तरह भी वह सिद्ध होने का नहीं है। यही सिद्धान्त है। तथापि तुम्हें ... शास्त्र-प्रमाण दिखाऊँगा। केवलमात्र आत्मज्ञान के बिना किसी तरह ... को परम-शान्ति-स्वरूप मुक्ति नहीं मिल सकती। यह विषय वेद, वेदान्त, ... पातंजल आदि दर्शन-शास्त्रों में तथा तन्त्र, पुराण, गीता, भागवत आदि ... शास्त्रों में प्राज्ञ भक्तों ने प्रमाणित कर दिया है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ... उपदेश देते समय कहा था—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता)

अर्थात्—"इस आत्मज्ञान के तुल्य मनःशुद्धिकर पवित्र वस्तु इस ... में नहीं है।"

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ (गीता)

अर्थात्—"हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि सारे कर्म संस्कारों को भस्म कर देती है।"

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ (गीता)

अर्थात्—"हे परंतप! इस आत्मज्ञान रूप धर्म में जिनको श्रद्धा नहीं है, मुझे न प्राप्त होकर मृत्यु रूप संसार में निरन्तर परिभ्रमण करते रहते हैं।"

न मोक्षं भ्रमते तीर्थं न मोक्षं भस्मलेपनम्।
न मोक्षं ब्रह्मचर्यं हि मोक्षं नेन्द्रियनिग्रहः॥
न मोक्षं कोटियज्ञञ्च न मोक्षं दानकाञ्चनम्।
न मोक्षं वनवासेन न मोक्षं भोजनं विना॥
न मोक्षं मन्दमौनेन न मोक्षं देहताड़नम्।
न मोक्षं गायते गीतं न मोक्षं शिश्ननिग्रहम्॥
न मोक्षं धर्मकर्मेषु न मोक्षं मूर्तिभावने।
न मोक्षं सुजटाभारं निर्जनसेवनस्तथा॥
न मोक्षं धारणाध्यानं न मोक्षं वायुसेवनम्।
न मोक्षं कन्दभक्षेण न मोक्षं सर्वरोधनम्॥
नानाशास्त्रं पठेल्लोको नानादैवत-पूजनम्।
आत्मज्ञानं विना पार्थ! सर्वकर्म निरर्थकम्॥ (गर्भ-गीता)

अर्थात्—"हे पार्थ! तीर्थ-भ्रमण या शरीर में भस्मलेपन से मोक्ष नहीं मिलता। केवल ब्रह्मचर्य के पालन या इन्द्रियों के निग्रह से भी मोक्ष नहीं प्राप्त होता। कोटि-कोटि यज्ञों का अनुष्ठान करना, अनेक सुवर्णों का दान करना, उपवास रहकर कृच्छ्रतप करते हुए वनवास करना, वाक्रोध कर मौन रहना, नाना तीर्थों में भ्रमण करके शरीर को क्लेश-देना, भजन करना, शिश्ननिग्रह करना, नाना प्रकार बाहरी धर्म-कर्मों का अनुष्ठान करना, देवमूर्ति का ध्यान करना,

मस्तक में जटाभार का वहन करना, एकान्त में अकेला रहना, ध्यान... करना, हटयोग द्वारा प्राणवायु को रुद्ध करना, कन्द-मूल-फल का भक्षण ... सब प्रकार की वृत्तियों का रोध करना, नाना शास्त्रों का अध्ययन करना, ... प्रकार की देवमूर्तियों की पूजा करना आदि सभी बाहरी कर्म निरर्थक हैं ... उनसे आत्मज्ञान न उत्पन्न हो। क्योंकि केवल आतमज्ञान के बिना उन... से मनुष्य को मोक्ष-लाभ नहीं होता।" अतएव जिस आत्मज्ञान को स्वयं ... ही सर्वश्रेष्ठ कहकर स्वीकार करते हैं, आधुनिक वैष्णव लोग किस शक्ति से ... आत्मज्ञान की उपेक्षा करते हैं? उपनिषद् के ऋषियों ने भी इसी प्रकार ... ज्ञानसाधन-प्रणाली की दृढ़ स्वर से घोषणा की है—उत्तिष्ठत जाग्रत ... वरान् निबोधत—"उठो, जागो, ज्ञानी के समीप जा कर प्रबुद्ध हो जाओ।" ... वेद के जीवन्मुक्त ऋषियों ने एकमात्र ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के अतिरिक्त ... जीव की मुक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है यह बात बार बार कही है। ... भी कहते हैं—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥ (पञ्चदशी ...)

अर्थात्—"जिस प्रकार अपनी स्वप्नावस्था निवृत्त करने के लिए ... जागरण के बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है, उसी प्रकार मुक्ति-फल प्राप्ति ... में ब्रह्मतत्त्व-ज्ञान के बिना उपायान्तर नहीं है।" वेदान्त में लिखित है—... ने गुरु से पूछा—"अच्छा, शास्त्र में नित्यकर्मानुष्ठान विहित है, अतः ... अज्ञान का निवर्तक न कहकर ज्ञान को ही अज्ञान का नाशक क्यों कहा गया ...?" इसके उत्तर में गुरु ने कहा—

न कर्मादिना अविद्यानिवृत्तिः। कर्माज्ञानयोर्विरोधो न भवेत् ... ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधो भवेत्। अतो ज्ञानेनैवाज्ञाननिवृत्तिः। तच्च ... विचारादेव भवति।

अर्थात्—"कर्मादि के द्वारा कभी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ... कर्म और अज्ञान में विरोध नहीं है अर्थात् कर्म और अज्ञान एक ही समय ... ही व्यक्ति में रह सकते हैं। इस कारण कर्म के द्वारा अज्ञान के नाश की ...

सम्भावना नहीं है, परन्तु ज्ञान और अज्ञान विरुद्ध वस्तुएँ हैं। इसलिए वे कभी एक आधार में नहीं रह सकतीं अर्थात् जहाँ ज्ञान है जहाँ अज्ञान नहीं रहता, फिर जहाँ अज्ञान है वहाँ भी ज्ञान नहीं रहता। ये दोनों ठीक प्रकाश और अन्धकार की तरह विरुद्ध हैं। अतः ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का विनाश होता है, यही सिद्धान्त है। वह ज्ञान विचार के द्वारा ही उत्पन्न होता है।" वेदान्त और कहते हैं—

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिध्यति नान्यथा॥

अर्थात्—"हठयोग के द्वारा मोक्ष नहीं होता, सांख्य द्वारा, कर्मकाण्ड द्वारा शास्त्रज्ञान द्वारा भी मोक्ष नहीं मिलता। केवल ब्रह्म और जीव इन दोनों के एकत्व-ज्ञान द्वारा ही मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है—दूसरे उपाय से नहीं।"

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दमेतज्जीवस्य यं ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्॥ (ब्रह्मोपनिषद)

अर्थात्—"जो वाक्य और मन के अगोचर है, जहाँ वाक् आदि इन्द्रियाँ और मन पहुँच न सकने के कारण लौट आते हैं, जो आनन्द-स्वरूप और जो दूध में परिव्याप्त घृत के समान इस असीम ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर विराजमान है, उस आत्मा से अवगत होने पर संसार-पाश छिन्न हो जाता है।" ऋग्वेदाचार्य महर्षि आश्वलायन साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर ब्रह्मा के समीप जाकर बोले—"हे भगवन्! जो ब्रह्मविद्या सर्वदा सज्जनों से परिसेवित है, परन्तु अतिगूढ़ अर्थात् निखिल जीव-हृदयों में विद्यमान रहकर भी अज्ञान से आवृत है, जिसके द्वारा बुद्धिमान लोग दुःख के कारण-रूप अज्ञान से विमुक्त होकर शीघ्र परम पद को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं; आप कृपापूर्वक मुझे उस सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये।" इसके उत्तर में ब्रह्मा ने महर्षि आश्वलायन से कहा था—

तस्मै स होवाच— पितामहश्च, श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि।
न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः॥
(कैवल्योपनिषद)

अर्थात्—"हे आश्वलायन ! शास्त्र और गुरुवाक्य में दृढ़ विश्वास, भक्ति तथा ध्यानयोग का आश्रय ग्रहण करने पर यह ब्रह्मविद्या जान सके। यह वेदविहित या स्मृति-शास्त्र-विहित कर्मों के द्वारा किसी तरह जानी नहीं जा सकती। यहाँ तक कि पुत्र या धन द्वारा भी इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। एकमात्र श्रौत-स्मार्त कर्मों के परित्याग अर्थात् कर्म-संन्यास द्वारा महर्षियों ने परम शान्ति रूप अमृतत्त्व प्राप्त किया था।"

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ (कैवल्योपनिषद्)

अर्थात्—"यह परिदृश्यमान समग्र जगत, भूतकाल का समस्त जगत और भविष्यत् काल का सम्पूर्ण जगत सभी इस परम विराट पुरुष का स्वरूप है क्योंकि वह नित्य है। जो कार्य-कारणों की अभेद-भावना द्वारा 'मैं ही स्वरूप हूँ' इस प्रकार से आत्मा का दर्शन करते हैं वे ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकते हैं। इस ब्रह्मज्ञान के बिना मुक्ति का और कोई मार्ग नहीं है।"

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥ (कैवल्योपनिषद्)

अर्थात्—"जो सर्वभूतों में आत्मा का तथा आत्मा में सर्वभूतों का दर्शन करते हैं अर्थात् जो निखिल जगत ही आत्ममय है ऐसा अनुभव करते हैं वही परम ब्रह्म प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस ज्ञान के सिवाय ब्रह्म (मुक्ति) का द्वितीय उपाय नहीं है।"

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यथा तथा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ॥ (वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"जो लोग अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानते, वे भ्रान्त हैं। इस जीवन में उन्हें मुक्ति कहाँ अथवा सुख ही कहाँ ? अद्वैत ब्रह्म का तत्त्व न समझने से भ्रान्ति ही रह जाती है, भ्रान्त पुरुष कभी मुक्ति नहीं पा सकता। मुक्ति न होने से निरवच्छिन्न सुख भी नहीं मिल सकता।" श्रुति भी कहती है

अमृतत्व फल-श्रवणादपि ब्रह्म वेदमिति गम्यते। ब्रह्मज्ञानात् हि अमृतत्वप्राप्तिः, तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

अर्थात्—"जीव उन्हें ( परमात्मा को ) जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण ता है। उन्हें प्राप्त करने का ज्ञान के बिना दूसरा मार्ग नहीं है।" इन श्रुतियों से यहाँ यही प्रमाणित होता है कि कर्म, भक्ति, उपासना, तपस्या हठ- आदि कुछ भी मुक्ति का हेतु नहीं है। वेदान्त कहते हैं—

चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः।

अर्थात्—"चित्त की वृत्तिरहित अवस्था ही मोक्ष है अर्थात् आत्मज्ञान बिना किसी दूसरे उपाय से चित्तवृत्ति की निवृत्ति नहीं होती। फलस्वरूप भी नहीं मिल सकता।" महानिर्वाणतन्त्र कहते हैं—

न कर्मणा विमुक्तिः स्यान्न सन्तत्या धनेन वा।
आत्मनात्मानमाज्ञाय मुक्तो भवति मानवः॥

अर्थात्—"मनुष्य कर्म द्वारा मुक्त नहीं होता, सन्तान-उत्पादन या धन भी नहीं; बल्कि अपने मन के द्वारा अपने आत्मा को जान कर मनुष्य हो जाता है।"

विना कर्म न तिष्ठन्ति क्षणार्धमपि देहिनः।
अनिच्छन्तोऽपि विवशाः कृष्यन्ते कर्मवायुना॥
अतो बहुविधं कर्म कथितं साधनान्वितम्।
प्रवृत्तयेऽल्पबोधानां दुश्चेष्टितनिवृत्तये॥
यावन्न क्षीयते कर्म शुभं वाशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि॥
यथा लौहमयैः पाशैः पाशैः स्वर्णमयैरपि।
तथा बद्धो भवेज्जीवः कर्मभिश्चाशुभैः शुभैः॥
कुर्वाणः सततं कर्म कृत्वा कष्टशतान्यपि।
तावन्न लभते मोक्षं यावज्ज्ञानं न विन्दति॥
न मुक्तिर्जपनाद्धोमादुपवासशतैरपि।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत्॥
बालक्रीड़नवत् सर्वं रूपनामादि-कल्पनम्।
विहाय ब्रह्मनिष्ठो यः स मुक्तो नात्र संशयः॥

( महानिर्वाणतन्त्र )

अर्थात्—मनुष्य कर्म न करके क्षणार्ध काल भी नहीं रह सकते, वे अनिच्छुक होने पर भी विवश होकर कर्म रूप वायु के द्वारा आकृष्ट होते हैं। इसलिए ही अल्पज्ञ व्यक्तियों की शुभ कर्म में प्रवृत्ति के लिए और कुप्रवृत्ति की निवृत्ति के उद्देश्य से साधन-सहित अनेक प्रकार के कर्म कथित हुए हैं। यथार्थ में शुभ अशुभ सभी कार्यों का क्षय हुए बिना शत कल्पों में मनुष्य को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। जिस प्रकार स्वर्णमय और लौहमय दोनों प्रकार के शृंखलों से ही बंधन होता है, मनुष्य भी ठीक उसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से इस संसार में आबद्ध रहता है। जब तक मनुष्य को आत्मज्ञान नहीं होता तब तक निरन्तर कर्मानुष्ठान करके या अनेक प्रकार के कष्ट सहकर भी वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक पुत्र या देहादि में ममत्व या अहं इत्यादि ज्ञान रहता है, तब तक जप, होम या शत-शत उपवास करने से भी मुक्ति नहीं मिलती। जो पुरुष नाम-रूपादि की कल्पना का बाल-क्रीड़ा की भाँति परित्याग करके ब्रह्मनिष्ठ होते हैं, वही मुक्ति-लाभ कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।" पीठमाला-तन्त्र कहते हैं—

ब्रह्मज्ञानादृते देवि ! कर्मसंन्यसनं विना।
कुर्वन् कल्पशतं कर्म न भवेन्मुक्तिभाग् जनः॥
सर्वं ब्रह्मेति विदुषो न योगो न च पूजनम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ब्रह्मज्ञानं समाचरेत्॥

अर्थात्—ब्रह्मज्ञान के न होने से और शुभाशुभ सब कर्मों का परित्याग न होने पर केवल जप और पूजा आदि साधन द्वारा शत कल्प में भी मुक्ति-लाभ नहीं होता। 'सभी ब्रह्म हैं" इस प्रकार के ज्ञान का उदय होने पर हठयोग या पूजा आदि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। इस कारण सब प्रकार के प्रयत्नों से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये।' वसिष्ठ मुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को उपदेश देते हुए कहा था—हे रामचन्द्र ! कर्म, धन या बन्धु-जन, इनमें कोई भी भव-भय-भीत मनुष्य का त्राणकर्ता नहीं, केवल आत्मविचार रूप प्रयत्न ही उसका त्राणकर्ता है। जो लोग देहात्मवादी अर्थात् नाना प्रकार के बाहरी जप-तप-पूजा आदि क्रिया में आसक्त तथा संकल्प-परायण हैं, उनकी बुद्धि अच्छी नहीं है। इस कारण उनकी बुद्धि

अनुगामी होना उचित नहीं है। अत्यन्त उत्कृष्ट वैराग्य का अवलम्बन कर सद्गुरु के उपदेशानुसार सूक्ष्म विचार-बुद्धि के द्वारा आत्मा की अपरोक्षानुभूति कर सकने से ही मनुष्य संसार-समुद्र से उत्तीर्ण हो सकते हैं।" (योगवासिष्ठ—उप० ११ सर्ग, ८-१० श्लोक)। भगवान शंकराचार्य भी कहते हैं—

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत्।
विद्याविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत्॥ (आत्मबोध)

अर्थात्—"अज्ञान और कर्म इन दोनों में कोई विरोध नहीं है, इस कारण कर्म कभी अज्ञान का नाश नहीं कर सकता। परन्तु प्रकाश जिस प्रकार अन्धकार को विनष्ट करता है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान को (अर्थात् विद्या अविद्या) को नष्ट करता है।"

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः।
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः॥ (विवेकचूड़ामणि)

अर्थात्—"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" इस श्रुतिमन्त्र के द्वारा प्रमाणित होता है कि वित्त-साध्य कर्मकाण्ड द्वारा किसी तरह मुक्ति नहीं हो सकती।" स्वामी तुलसीदास जी कहते थे—

रात की शोभा चन्द्रमा, दिन की शोभा भान।
दास की शोभा भक्ति है, भक्त की शोभा ज्ञान॥
ज्ञान की शोभा ध्यान है, ध्यान की शोभा त्याग।
तब तुलसी अमल अदाग॥

अर्थात्—"रात्रि की शोभा चन्द्र से, दिन की शोभा सूर्य के उदय होने से, दास या सेवक की शोभा भक्ति से, भक्त की शोभा ज्ञान से, ज्ञान की शोभा ध्यान से और ध्यान की शोभा होती है त्याग से। तभी हे तुलसी! तुम निर्मल, निष्कलंक हो सकते हो।" अतः बेटा! तुम ब्रह्मज्ञ गुरु का आदेश ग्रहण कर वेदान्त-शास्त्र के अध्ययन द्वारा अज्ञान-राहु से मुक्त हो जाओ। और 'मैं ही ब्रह्मस्वरूप हूँ', इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सारे भोग्य वस्तुओं का काकविष्ठावत् परित्याग करो। तुम चित्त के अनुराग, आसक्ति आदि कषाय रहित होकर तथा जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त करके परम शान्ति से कालातिपात करते रहो।

# कर्म, भक्ति और ज्ञान

भक्त—प्रभु ! कर्म किसे कहते हैं ?

महात्मा—बेटा ! कर्ता जिसे करता है, वही कर्म है। इस शरीर में मन ही कर्ता है। इस कारण तुम्हारा मन जो कुछ करता है, वही कर्म है। यह कर्म, कर्तारूप मन के ही अधीन है, इसलिए मन चाहे तो कर सकता है, न भी कर सकता है या धीरे धीरे भी कर सकता है। यह मन के इच्छाधीन है। मन की प्रेरणा से बाहरी कर्मेन्द्रियों और अन्तर में विकल्पों के द्वारा मन जो कुछ करता है, वे ही कर्म हैं। अतः अन्तरेन्द्रिय से और बाहरी कर्मेन्द्रियों से जो कुछ काम होता है वह सभी कर्म हैं।

भक्त—प्रभु ! ज्ञान किसे कहते हैं ?

महात्मा—जिस वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है, उसके जानने का नाम ज्ञान है। यह ज्ञान कभी भी कर्ता मन के अधीन नहीं है, वह वस्तु के अधीन है। जिस वस्तु के विषय में तुम्हारे मन को ज्ञान प्राप्त करना है, उसी के रूप में तुम्हारे मन को रूपान्तरित होकर उस वस्तु का स्वरूप जान लेना है। इस स्थल में कर्ता का कर्तृत्व नहीं चलता, क्योंकि किसी वस्तु को मन अपने इच्छानुसार दूसरे रूप में ग्रहण करे तो वह भ्रम हो जायगा। जैसे रस्सी में साँप का ज्ञान। अतः सिद्धान्त हुआ कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेना ही ज्ञान है।

भक्त—भगवन् ! तो कर्म और ज्ञान में क्या भेद हुआ ?

महात्मा—बेटा ! अन्धकार और प्रकाश में जिस प्रकार भेद है, कर्म और ज्ञान में भी ठीक उसी तरह का भेद है। मैंने पहले ही बताया है कि कर्म मन के अधीन और ज्ञान मन के अधीन नहीं, वह वस्तु के आधीन है। अतः मन चाहे तो कर्म धीरे धीरे कर सकता है, शीघ्र शीघ्र कर सकता है या तुरन्त उसे छोड़ भी सकता है, परन्तु ज्ञान एक बार अर्जित होने पर मन उसका कभी त्याग नहीं कर सकता। मान लो, तुम चल रहे हो। अब तुम चाहो तो धीरे धीरे

सकते हो, शीघ्र शीघ्र चल सकते हो या चलना बन्द करके बैठे भी रह सकते हो। परन्तु पढ़-लिखकर तुमने जो ज्ञान प्राप्त किया है यदि कोई उसे त्यागने को कहे या न त्यागने से प्राणदण्ड का भय दिखावे तो भी तुम्हारा मन किसी तरह भी उस ज्ञान को छोड़ या भूल नहीं सकता। ठीक उसी प्रकार आत्मज्ञान एक बार लब्ध होने पर मन इच्छानुसार उसका त्याग नहीं कर सकता। विशेषतः यह आत्मज्ञान यदि किसी के हृदय में एक बार प्रविष्ट हो गया तो उसी समय उसके मन की जगत के नाम-रूप-सम्बन्धी अज्ञानता भस्म होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। तुम्हारे शरीर में जो दस इन्द्रियाँ हैं उनमें पाँच को कर्मेन्द्रिय और पाँच को ज्ञानेन्द्रिय क्यों कहा गया है, जानते हो? केवल दस इन्द्रियाँ कहने से ही तो काम चलता? अतः समाधान होगा कि उनमें हरएक की शक्ति के अनुसार नाम दिया गया है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा इन पाँचों के द्वारा मन जो कुछ संग्रह करता है, उसीका नाम ज्ञान है। इस कारण इन पाँचों को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। और मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा मूत्रद्वार इन पाँचों के द्वारा मन जो कुछ काम करता है, उसका नाम कर्म है। इसलिए उन्हें कर्मेन्द्रिय कहते हैं। कर्म ही वासना-वृद्धि का मूल और ज्ञान मोक्ष का मूल है। कर्म में संलग्न रहने से बार बार आवागमन के कारण संसार-क्लेश का भोग करना होता है। कर्मी के लिए मुक्ति असम्भव है, क्योंकि कर्म के द्वारा जीव बद्ध होता है। इस कारण इस विषय में श्रुति कहती है—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।

अर्थात्—"कर्म के द्वारा जीव बद्ध होता है और परा विद्या अर्थात् ज्ञान के द्वारा मुक्त होता है।" अतः इष्टानिष्ट या धर्माधर्मरूप सभी कर्मों का त्याग ही मोक्ष का मूल कारण है। मन ही इन सबों का हेतु है। मन का स्वभाव अत्यन्त चंचल है, इसलिए मनुष्यों को नाना प्रकार के विघ्न, बाधा और विपत्ति में फँसना पड़ता है। मनुष्य का मन संयत होकर कर्म-त्याग कर सकने से ही संसार-भ्रम निरस्त हो सकता है। यथार्थ में विषय-वासना रूप मनोवृत्ति ही संसार-वृक्ष का अंकुर है। मन के संयत होकर कर्मत्याग करने से वह अंकुर वृक्ष रूप में परिणत नहीं हो सकता अर्थात् कर्मवासना

के कारण मनुष्य को इस संसार में बार बार आना-जाना नहीं पड़ता। जो वस्तु स्वरूप से जिस आकार में है उसे ठीक उसी रूप में देखना होगा, स्वाभाविक नियम है और यही यथार्थ ज्ञान है। परन्तु उसे दूसरे रूप में देखने से वह भ्रम हो जायगा। यह भ्रम या अज्ञान ही दुःखों का कारण है। ज्ञान सब दुःखों का नाशक और सुख-शान्ति का जनक है। मान लो शास्त्र तुम्हें शालिग्राम शिला में विष्णु-ज्ञान करने का उपदेश देता है, उस शास्त्रादेश से बाध्य होकर यदि तुम्हारे भीतर शिलाखण्ड में विष्णु का ज्ञान उत्पन्न हो तो उसे ज्ञान नहीं कहा जायगा। वह एक प्रकार की मानसिक क्रिया या 'कल्पना' हो जायगी और यदि अपने आप उस प्रकार मिथ्या ज्ञान हो तो वह भ्रान्ति कहलायेगी। विषय और इन्द्रिय के संयोग से अर्थात् इन्द्रिय जनित विषयाकार मनोवृत्ति के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह वस्तु के आकार में ही होता है, दूसरे प्रकार से नहीं। सैकड़ों शास्त्रों के आदेश से भी उस प्रकार का ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता या सैकड़ों शास्त्रों के निषेध वाक्यों से उस ज्ञान का उत्पन्न होना रुक भी नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान शास्त्र के अधीन नहीं है, वह वस्तु के अधीन है। वस्तु जैसी है, ज्ञान वैसा ही होगा। मन किसी तरह भी दूसरे प्रकार से उसे प्राप्त नहीं कर सकता। इस कारण ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्र ने किसी प्रकार की भी कर्म की आज्ञा नहीं की है। शास्त्र की आज्ञा है केवल कर्म करने या न करने के लिए। विश्वस्त व्यक्ति की आज्ञा से कर्म किया जाता है, परन्तु ज्ञान वैसा नहीं। इसीलिए वेदान्त कहते हैं—

> यद् यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः।
> अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः॥ (पञ्च...)

अर्थात्—"जो वस्तु जिस रूप में अवस्थित है चक्षु आदि प्रमाणों की सहायता से वह वस्तु ठीक उसी रूप में प्रतीत होती है। यदि वह अन्य रूप में अनुभूत हो तो वह भ्रम हो जाता है। यह युक्ति सर्व-लोक-प्रसिद्ध है।"

> वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।
> विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यन्न निवर्तयेत्।
> स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम्॥ (पञ्च...)

अर्थात्—"ज्ञान वस्तु के अधीन और उपासना या कर्म मनुष्य के मन या कर्ता के अधीन है। विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है और मनन के द्वारा वह हृदय में बद्धमूल हो जाने पर उस विषय में इच्छा न रहने पर भी वह निवारित नहीं हो सकता। उत्पत्ति मात्र ही यह ज्ञान सांसारिक सभी वस्तुओं के सत्यत्व-बोध को भस्म कर डालता है।"

भक्त—दयामय! आपने बताया कि वस्तु के स्वरूप को जानने का नाम ज्ञान है, परन्तु इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मन किस वस्तु के स्वरूप को किस भाव से ग्रहण करता है?

महात्मा—हे सुमते! चक्षु के द्वारा रूप, कर्ण के द्वारा शब्द, नासिका के द्वारा गन्ध, जिह्वा के द्वारा रस और त्वचा के द्वारा स्पर्श—इस प्रकार से मन बाहरी जगत से विषयों का आहरण करता है। ये पाँच विषय ही मन के आहार्य हैं, इसलिए इस आहरण को मन का आहार कहा गया है। इस प्रकार आहरण करते समय साथ ही साथ चक्षु के द्वारा—यह लाल है या नील; कर्ण के द्वारा—यह कौवे का शब्द है या कुत्ते का; नासिका के द्वारा—यह गुलाब की गन्ध है या कपूर की, जिह्वा के द्वारा—यह खट्टा है या कड़ुवा तथा त्वचा के द्वारा—यह गरम है या ठण्ढा अथवा कोमल है या कठिन—इस प्रकार विचारपूर्वक मन उन विषयों का आहरण करता है। मन का यह ग्रहण-कार्य इतना द्रुत होता है कि साधारण मनुष्यों की वह धारणा से भी परे है। एक और बात स्मरण रखना कि ज्ञान त्रिविध है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष। विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। गुरु के निकट ब्रह्मतत्त्व के श्रवण और शास्त्रादि के अध्ययन से मनुष्य को जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। उसके पश्चात् विचार तथा निदिध्यासन (एकाकार-वृत्ति-प्रवाह) द्वारा जब वह ज्ञान परिपक्व होकर ब्रह्म या आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है, उसीको अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

भक्त—प्रभु! इन अन्तिम दो प्रकार के ज्ञान मुझे उदाहरण देकर स्पष्ट रूप से समझा दीजिये।

महात्मा—हे सत्यकाम! कोई छात्र उत्तम रूप से आयुर्वेद शास्त्र के अध्ययन के अनन्तर अभ्यासी होकर चिकित्सक बन गया है परन्तु

आज तक स्वंय किसी रोगी की चिकित्सा नहीं की है। इस स्थल में ग्र
अध्ययन से उसका जो दृढ़ ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसका नाम परो
ज्ञान है। उसके पश्चात् किसी रोगी को स्वयं औषधि देकर रोग-मुक्त
जब उसने प्रत्यक्ष देख लिया कि ग्रन्थलिखित औषधि से रोगी रोग-मुक्त
गया है, तभी वह परोक्ष ज्ञान और भी परिपक्व होकर प्रत्यक्ष रूप से
हो गया, इसीका नाम अपरोक्ष ज्ञान है। आत्मा के विषय में भी ठीक
प्रकार है। शास्त्र के अध्ययन और गुरु-मुख से श्रवण के द्वारा 'ब्रह्म
और वह सारी सृष्टि में आत्मा रूप से विराजमान हैं' इस प्रकार जानने
नाम परोक्ष ज्ञान है। उसके अनन्तर मनन और निदिध्यासन के द्वारा 'मैं
वह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार स्वानुभव का नाम ही अपरोक्ष ज्ञान है। वाराहोप
में लिखा है—

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते॥

अर्थात्—"ब्रह्म हैं,' इस ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं और 'मैं
स्वरूप हूँ' इस ज्ञान को साक्षात्कार या अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।" मैं ब्रह्म
हूँ, यही ज्ञान महात्माओं की मुक्ति का निश्चित कारण है।

भक्त—दयामय! यह आत्मज्ञान कैसे उत्पन्न होता है?

महात्मा—सत् और असत् के विचार से ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है।

भक्त—यह विचार किस उपाय से होता है?

महात्मा—बेटा! बुद्धि और विवेक एक ही अन्तःकरण की दो
हैं—बुद्धि बहिर्मुखी वृत्ति और विवेक अन्तर्मुखी वृत्ति है। अर्थात् बुद्धि
जगत से ज्ञान का आहरण करती है और विवेक अन्तरस्थ आत्मा का
सन्धान करता है। इस विवेक से ही असत् वस्तु का त्याग और सत् वस्तु
ग्रहण होता है। इस विवेक से विचार की शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात्
वस्तु सत् या कौन वस्तु असत् है अथवा कौन अच्छी या कौन बुरी है
प्रकार पृथक रूप के समझने की शक्ति को विवेक कहते हैं।

भक्त—प्रभु! इस प्रकार की विवेक-शक्ति कैसे उत्पन्न होती है, कृपा
मुझे उसका उपदेश दीजिये।

महात्मा—श्रवण और मनन ही विवेक-विचार का कारण है, कर्म विवेक का कारण नहीं है। बल्कि वह विवेक का विरोधी है। साधुसंग में रहकर आत्मा-सम्बन्धी आलोचना तथा मोक्ष-शास्त्र के अध्ययन से विवेक-शक्ति उत्पन्न होती है। साधकों के योगमार्ग में आरोहण का यही प्रथम सोपान है। इसके सिवाय लाखों ग्रन्थों को रटकर पाण्डित्य प्राप्त करने या लाखों बार माला-जप, मूर्तिपूजा या अनेक प्रकार के कर्म करने से भी विवेक नहीं उत्पन्न हो सकता। अतः कितनी ही चेष्टा क्यों न करो, साधु-महात्माओं के सत्संग बिना कोई भी कोई व्यक्ति विवेक-वैराग्य नहीं प्राप्त कर सकता। साधुसंग की असीम शक्ति के विषय में मैंने तुमसे बहुत कुछ कहा है। शास्त्र में भी लिखा है—

पापं तापं तथा दैन्यं सद्यः साधुसमागमात्।

अर्थात्—"मन के सारे पाप-ताप और दुःख-दैन्य केवल साधुसंग से ही तुरन्त छूट जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु॥
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ (गीता)

अर्थात्—"अभिमानराहित्य, गर्वशून्यता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, ब्रह्मज्ञ गुरु की सेवा, मन की पवित्रता, देह और मन की स्थिरता, इन्द्रिय-निग्रह, मनः-संयम, इन्द्रिय विषयों से वैराग्य, अहंकारशून्यता, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि में दुःख रूप दोष का दर्शन, पत्नी-पुत्र गृह आदि में अनासक्ति अर्थात् उनके सुख-दुःख में अपने को सुखी-दुःखी न समझना, प्रिय और अप्रिय प्राप्ति में सर्वदा

समभाव, मुझ (आत्मा) में अनन्य योग द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तवास, जनता में विरक्ति, अध्यात्मज्ञान की आलोचना, नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, जीवात्मा और परमात्मा में अभेदज्ञान—ये सभी तत्त्वज्ञान के साधक हैं, इसलिए इन्हें भी ज्ञान कहते हैं और इसके विपरीत भावों को अज्ञान कहते हैं। अतः सज्जनों का संग करते-करते विवेक उत्पन्न होने पर उस विवेक से विचार-शक्ति उत्पन्न होती है। पश्चात् उस विचार से अन्तर्जगत के सूक्ष्म धर्मतत्त्व अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु मन में सात्त्विक बुद्धि के उदय हुए बिना किसी को सत्संग में रुचि नहीं होती।

भक्त—प्रभु! सात्त्विक बुद्धि किसे कहते हैं?

महात्मा—बेटा! बुद्धि तीन प्रकार की है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इस विषय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी। (...

अर्थात्—"प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष यथायथ रूप से जिस बुद्धि के द्वारा जाने जाते हैं उसे सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं।"

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ! राजसी॥ (...

अर्थात्—"जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य यथार्थ रूप से नहीं जाने जाते, उसे राजसी बुद्धि कहते हैं।"

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ! तामसी॥ (...

अर्थात्—"जो बुद्धि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझती है, और सभी विषयों या शास्त्र-वाक्यों को विपरीत रूप से बोध करती है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं।" बेटा! तुमलोगों के मन में इस प्रकार तामसिक बुद्धि का अधिक रहने के कारण मनुष्य के मोक्षसाधक परमार्थ विषयक आत्मतत्त्व...

...से तुमलोग भयभीत हो जाते हो और बाहरी आडम्बर को धर्म समझ कर ...में उत्फुल्ल होते हो।

भक्त—प्रभु! भक्ति किसे कहते हैं?

महात्मा—बेटा! परमेश्वर में अत्यन्त अनुराग को भक्ति कहते हैं। अनेक ...में अज्ञानी व्यक्ति—'भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान' इस विषय में वृथा ही ...वितण्डा किया करते हैं, क्योंकि वे न तो भक्त हैं और न ज्ञानी, केवल ...द्वारा अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन ही उनका ध्येय है। एक दृष्टान्त देखो—तुमने किसी दिन पहले-पहल किसी से तिब्बती बाबा का नाम सुना। तुमने ...कि लाखों साधुओं में यह भी एक होंगे। इस कारण उस समय तुम्हारे ...में उनके ऊपर भक्ति या अभक्ति किसी प्रकार का भाव नहीं उत्पन्न हुआ अर्थात् ...रे मन में उनके विषय में उदासीन भाव हो रहा। कारण यह है कि किसी ...या व्यक्ति का गुण या दोष न सुनने तक उसके प्रति भक्ति या अभक्ति ...भी नहीं होती। मन का यही स्वभाव है। दूसरे दिन जब तुमने मुझसे ...ती बाबा के अलौकिक त्याग तथा ज्ञान के महत्त्व की बात सुनी तब मन में ...ने लगे कि आजकल ऐसे आत्मज्ञ महापुरुष का दर्शन मिलना दुर्लभ है, ...तिब्बती बाबा के प्रति तुम्हारे मन में भक्ति का उदय हुआ। यहाँ तक ...अपने मन में भक्ति के साथ उन्हें प्रणाम भी किया। मुझसे तिब्बती ...का महत्त्व सुनकर उनके सम्बन्ध में जब तुम्हें परोक्ष ज्ञान हुआ, तभी ...उन महापुरुष की भक्ति करने लगे परन्तु, उससे पहले नहीं। केवल नाम ...कर उनके प्रति तुम्हारे मन में किसी प्रकार की भक्ति या श्रद्धा नहीं उत्पन्न ...थी। अतः यहाँ स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है कि पहले तुम्हारे मन में परोक्ष ...होने के अनन्तर भक्ति का उदय हुआ था। उसके पश्चात् तिब्बती बाबा ...र्शन के लिए तुम्हारा मन अत्यन्त आग्रहान्वित हो उठा है। इसी कारण ...बार बार मुझसे उनके विषय में पूछ-पूछकर उनका विवरण जानना चाहते ...कि वे कब कहाँ रहते हैं? किस समय कहाँ जाने पर उनका दर्शन मिलेगा, ...वे साधारण मनुष्य से वह बात करते हैं या नहीं इत्यादि। उनके दर्शन ...लिए तुम्हारे मन के इस एकान्त अनुराग का नाम ही 'शुद्धा भक्ति' या ...भक्ति' है। कुछ दिनों के पश्चात् अनेक चेष्टाओं के फलस्वरूप जब तुम

तिब्बती बाबा का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर उनसे बातचीत कर सके, उनके विषय में तुम्हारे मन में प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय हुआ। इसी ज्ञान को 'अपरोक्ष ज्ञान' है। ऋषि कहते—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्य)

अर्थात्—"ईश्वर को जानने (अपरोक्ष करने) के लिए मन की श्रेष्ठ अनुरक्ति (श्रेष्ठ अनुराग) है, उसीका नाम भक्ति है।" वेदान्त कहते हैं—

आत्मानुसारिणी बुद्धिः भक्तिरित्यभिधीयते।

अर्थात्—"आत्मा को जानने के उद्देश्य से जो बुद्धि-वृत्ति आत्मा की ओर धावित होती है, उसको भक्ति कहते हैं।" अब तुम समझ गये कि भक्ति बिना मुक्ति नहीं है, यह जिस प्रकार सत्य है, 'ज्ञान बिना मुक्ति नहीं है,' यह भी ठीक उसी तरह सत्य है।" अतः ज्ञान-विरोधी भक्ति और भक्ति-विरोधी ज्ञान, दोनों ही समान अहितकारी हैं। अब पूर्ववर्णित तिब्बती बाबा का दृष्टान्त याद करके देखो, तिब्बती बाबा को प्रत्यक्ष रूप से देखकर उनकी जिन्होंने ज्ञान-नेत्र (चर्म-चक्षु से नहीं) से सम्यक् रूप से जानते हैं, ऐसे किसी व्यक्ति के निकट उनकी महिमा का श्रवण न करने तक, केवल तिब्बती बाबा का नाम सुनकर उन्हें प्रत्यक्ष देखने के लिए तुम्हारे मन में किसी प्रकार की भक्ति या अनुराग का भाव उत्पन्न ही नहीं हुआ था, ठीक इसी प्रकार परमेश्वर, विष्णु या शिव की जिन्होंने ज्ञान-नेत्र से (जड़ चर्म-चक्षु से नहीं) अपरोक्ष रूप में उपलब्धि कर उनकी महिमा का सम्यक् रूप से अनुभव किया है ऐसे किसी आत्मज्ञानी पुरुष के निकट उनकी महिमा न सुनने तक केवल परमेश्वर, विष्णु या शिव इस प्रकार नाम सुनकर ही ज्ञान-नेत्र से उनकी उपलब्धि करने के लिए मन में अनुराग या भक्ति का उदय नहीं हो सकता। साधारण मनुष्यों के देव-मूर्ति के चरणों पर पुष्प-पत्र या तुलसी-चन्दन देकर उस मूर्ति के निकट 'धन दो, जन दो, यश दो, मनोरमा भार्या दो' कहकर चिल्लाने का नाम भक्ति नहीं है, वह कामना-पूर्ण है, इसलिए उसका नाम 'काम' है। अतः हे सुमते! तुम निश्चित जानना कि साधारण मनुष्यों की तरह लाखों प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान कर जीवन व्यतीत करने पर भी तुम्हारे मन में भक्ति का उदय नहीं होगा,

तुम किसी आत्मज्ञ महापुरुष से आत्मा या विष्णु के तत्त्व का श्रवण कर विचार तथा उसका मनन नहीं कर लोगे। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि केवल वाह्यिक अनुष्ठान से भक्ति नहीं होती और न तो मुक्ति ही मिलती है। इस कारण तुम को सबसे पहले परमात्मा के तत्त्व का श्रवण करने के लिए शास्त्र बार बार कहते हैं। बहिर्मुखी मन को अन्तर्मुख करके अपने मन के प्रति दृष्टि न देने से भक्ति या ज्ञान के तारतम्य की उपलब्धि नहीं की जा सकती।

भक्त—प्रभु! ज्ञान और भक्ति के विषय में ऐसा एक तर्क उठा करता है कि भक्त द्वैतवादी और ज्ञानी अद्वैतवादी हैं, परन्तु मैं इसकी कोई भी मीमांसा नहीं कर सकता।

महात्मा—हे सत्यकाम! इस विषय में तुमसे विस्तारित रूप से कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। तुम्हारा मन जिस समय परोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, उस समय द्वैत है अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय ये दोनों विषय विद्यमान रहते हैं। इसके बाद वह मन जब भक्तिराज्य में प्रविष्ट होता है उस समय भी उपास्य और उपासक दोनों भाव ही रहते हैं। अन्त में मन जिस समय अपरोक्ष ज्ञान के राज्य में प्रवेश करता है, तब वहाँ एक का ही साम्राज्य है अर्थात् भक्तिराज्य की अन्तिम सीमा से ही इस अपरोक्ष ज्ञान का राज्य आरम्भ होता है। इस स्थान का इतना महत्त्व है कि भक्त लोग यदि इस अपरोक्ष ज्ञान के राज्य में उपास्य-उपासक भाव से भक्तिराज्य की तरह मन में द्वैतभाव रखना चाहें तो कदापि वह भाव नहीं रख सकते; स्वाभाविक नियम से ही वह एकत्व में परिणत हो जाता है। श्रुति कहती है—परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति (मुण्डकोपनिषद्)—"परम अव्यय पुरुष में मिलकर सारे जीव एक हो जाते हैं। इसीका नाम मन की अपरोक्षानुभूति है। बेटा! जिसको अपरोक्षानुभूति हुई है वही अद्वैतवादी है। यदि तुम इस मार्ग में नहीं चलते हो तो केवल तर्क-वितर्क द्वारा किसी भी सिद्धान्त की मीमांसा नहीं कर सकोगे। श्रुति भी कहती है—नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठोपनिषद्)—"अमूलक तर्क के द्वारा इस प्रकार आत्मविषयिणी बुद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती।"

भक्त—दयामय! अहैतुक प्रेम किसे कहते हैं?

महात्मा—हे महामते ! मन के प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, प्यार आदि की अभि-व्यक्ति दो प्रकार से होती है—हैतुकी और अहैतुकी। जिसका हेतु है उसका नाम हैतुकी और जिसका कोई हेतु नहीं है उसका नाम अहैतुकी है। अपने में जो आत्म-प्रेम या आत्म-भक्ति स्वाभाविक रूप से है, उसका कोई हेतु या कारण नहीं है, इसलिए उसे अहैतुकी कहते हैं। और दूसरे के प्रति जो प्रेम, भक्ति आदि है उसका कोई न कोई हेतु रहने के कारण उसे हैतुकी कहते हैं। मान लो, तुम अपने पत्नी पुत्रादि को प्यार करते हो, यदि पूछा जाय कि तुम उन्हें प्यार क्यों करते हो? उनके प्रति तुम्हारे मन में इतना अधिक प्रेम या अनुराग रहने का कारण क्या है? तो उत्तर में तुम निश्चय कहोगे कि मेरी पत्नी आहार आदि सभी बातों में मुझे शान्ति देती है, वह हृदय से मेरी सेवा करती है, इस हेतु उस पर मेरा इतना अधिक प्रेम या प्यार है। पुत्र समर्थ होकर कमाकर वृद्धावस्था में मेरा पालन-पोषण करेगा, इस हेतु मैं उसे प्यार करता हूँ। यदि फिर से पूछा जाय कि तुम अपने मित्र मोहन को इतना प्यार क्यों करते हो? उसके उत्तर में तुम कहोगे कि मोहन अनेक दुःख-विपत्तियों से मेरी रक्षा करता है, इसलिए मैं उसे प्यार करता हूँ। तुम जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओं की मूर्ति पूजते हो, उसका भी हेतु है—अपने चित्त को निष्पाप करना और उनकी कृपा से इहलोक तथा परलोक में सुख-सौभाग्य का भोग करना। यथार्थ में उन देवताओं के लिए तुम उनकी पूजा नहीं करते। अच्छा विचार करके देखो, तुम जो अपने बैल और गाय को प्यार करते हो, वह भी अपनी प्रीति के लिए है। क्योंकि बोझ ढोने में और दूध दुहने में उन्हें सुख नहीं हो सकता। उस वहन और दुहन में बैल और गाय के इच्छा न रहने पर भी तुम अपनी प्रीति के लिए उनके द्वारा बलपूर्वक वहन और दुहन का कार्य करा लेते हो। इसी प्रकार संसार के किसी भी व्यक्ति या वस्तु से प्रेम या भक्ति तुम क्यों न करो, एकमात्र आत्म-प्रीति ही उसका हेतु या कारण है। इस कारण दूसरों पर जो प्रेम, भक्ति या श्रद्धा है वह हैतुकी है, परन्तु तुम जो अपनी मृत्यु या असत्ता (विनाश) नहीं चाहते हो, बल्कि तुम अपने को चिरस्थायी रखकर सुख-शान्ति से रहना चाहते हो, इसका कोई हेतु नहीं है ; इसीका नाम आत्म-प्रेम या आत्म-प्रीति है। यदि पूछा जाय कि तुम अपने को इतना प्यार क्यों करते हो, अपने को किस

...वि में रखना क्यों चाहते हो ? आत्मरक्षा के लिए तुम्हारे भीतर इतनी आका... क्यों है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए तुम्हें कोई हेतु नहीं मिलेगा, ...कि दूसरे व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो प्रीति है वह आत्म-प्रीति के लिए ही है, ...अपने प्रति प्रेम का कोई हेतु नहीं रह सकता। क्योंकि अपने ऊपर अपना ...प्रेम या आत्म-भक्ति जीवमात्र के स्वभावसिद्ध है। अतः कोई हेतु न रहने ...कारण आत्म-प्रेम को अहैतुक प्रेम या आत्म-भक्ति को अहैतुकी भक्ति कहते हैं।

भक्त—प्रभु ! मनुष्य कर्म क्यों करते हैं ?

महात्मा—वेटा ! तुम्हारे मन में परमात्मा के विषय में सम्पूर्ण अज्ञान रहने ...कारण मन रूपी जीव ने इस स्थूल देह के ऊपर अहं ( मैं ) बुद्धि स्थापित ...किया है। इस देहाभिमान से 'मैं अमुक व्यक्ति हूँ', इस प्रकार का अभिमान ...होता है और उस अभिमान से ही मन कर्म करने लगता है। मन या जीव ...बिना केवल आत्मा में कोई कर्म नहीं हो सकता। दूसरी ओर कर्म के बिना ...भी नहीं रह सकता। जहाँ मन है वहाँ कर्म भी रहता है। और जहाँ मन ...है वहाँ कर्म नहीं रह सकता। जाग्रत और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में ...मन रहता है। अतः वहाँ कर्म भी रहता है। उसके बाद सुषुप्ति अवस्था में ...लय हो जाता है, इसलिए वहाँ कोई कर्म नहीं होता। मैं अमुक का पुत्र हूँ, ...का पति हूँ, मुझे विद्यार्जन और अर्थोपार्जन करके सुख-शान्ति का भोग ...आवश्यक है इत्यादि भाव से मन शरीर के ऊपर ममत्व-बुद्धि स्थापित ...उसके द्वारा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति करके सुख-शान्ति प्राप्त करने ...आशा से निरन्तर व्याकुल रहता है। अपनी शान्ति के लिए मन में जो ...कामना का उदय होता है, उस कामना से ही कर्म करने की चेष्टा होती है। उस ...से मन कभी स्वेच्छा से, कभी परेच्छा से और कभी अनिच्छा से, इस प्रकार ...नाना भावों से कर्म करता है। और उन कर्मों के फलस्वरूप नाना प्रकार सुख-दुःख का भोग मन को करना पड़ता है।

भक्त—प्रभु ! तो क्या कर्म ही मनुष्य के स्वर्ग-नरक या सुख-दुःख प्राप्ति का कारण है ?

महात्मा—बेटा ! कर्म ही तुम्हारे सुख-दुःख या स्वर्ग-नरक की सृष्टि का हेतु है। अतः उस कर्म रूप हेतु के रहते तक सुख-दुःखादि का कभी अभाव

शान्ति में रखना क्यों चाहते हो? आत्मरक्षा के लिए तुम्हारे भीतर इतनी आत्म-प्रीति क्यों है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए तुम्हें कोई हेतु नहीं मिलेगी, क्योंकि दूसरे व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो प्रीति है वह आत्म-प्रीति के लिए ही है, परन्तु अपने प्रति प्रेम का कोई हेतु नहीं रह सकता। क्योंकि अपने ऊपर अपना आत्म-प्रेम या आत्म-भक्ति जीवमात्र के स्वभावसिद्ध है। अतः कोई हेतु न रहने के कारण आत्म-प्रेम को अहैतुक प्रेम या आत्म-भक्ति को अहैतुकी भक्ति कहते हैं।

भक्त—प्रभु! मनुष्य कर्म क्यों करते हैं?

महात्मा—वेटा! तुम्हारे मन में परमात्मा के विषय में सम्पूर्ण अज्ञान रहने के कारण मन रूपी जीव ने इस स्थूल देह के ऊपर अहं (मैं) वुद्धि स्थापित कर लिया है। इस देहाभिमान से 'मैं अमुक व्यक्ति हूँ', इस प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है और उस अभिमान से ही मन कर्म करने लगता है। मन या जीव के बिना केवल आत्मा में कोई कर्म नहीं हो सकता। दूसरी ओर कर्म के बिना मन भी नहीं रह सकता। जहाँ मन है वहाँ कर्म भी रहता है। और जहाँ मन नहीं है वहाँ कर्म नहीं रह सकता। जाग्रत और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में ही मन रहता है। अतः वहाँ कर्म भी रहता है। उसके वाद सुषुप्ति अवस्था में मन सुप्त हो जाता है, इसलिए वहाँ कोई कर्म नहीं होता। मैं अमुक का पुत्र हूँ, अमुक का पति हूँ, मुझे विद्यार्जन और अर्थोपार्जन करके सुख-शान्ति का भोग करना आवश्यक है इत्यादि भाव से मन शरीर के ऊपर ममत्व-बुद्धि स्थापित कर उसके द्वारा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति करके सुख-शान्ति प्राप्त करने की आशा से निरन्तर व्याकुल रहता है। अपनी शान्ति के लिए मन में जो कामना का उदय होता है, उस कामना से ही कर्म करने की चेष्टा होती है। उस चेष्टा से मन कभी स्वेच्छा से, कभी परेच्छा से और कभी अनिच्छा से, इस प्रकार के भावों से कर्म करता है। और उन कर्मों के फलस्वरूप नाना प्रकार सुख-दुःख का भोग मन को करना पड़ता है।

भक्त—प्रभु! तो क्या कर्म ही मनुष्य के स्वर्ग-नरक या सुख-दुःख प्राप्ति का मूल कारण है?

महात्मा—वेटा! कर्म ही तुम्हारे सुख-दुःख या स्वर्ग-नरक की सृष्टि का हेतु है। अतः उस कर्म रूप हेतु के रहते तक सुख-दुःखादि सृष्टि का कभी अभाव

नहीं हो सकता। इस कारण सृष्टि के विषय में कर्म ही बीज-स्वरूप है। विषय में सांख्य-शास्त्र भी कहते हैं—

काम्येऽकाम्ये च कर्माणि दुःखाद् दुःखं भवति। कुतः? विशेषात्। कर्मसाध्यस्य सत्त्वशुद्धिद्वारकज्ञानस्यापि त्रिगुणा... दुःखात्मकत्वात् कर्मणो न साक्षान्मोक्षः फलमिति भावः। त्या... मानत्यागेन एके केचिदेवामृतत्वमानशुः प्राप्तवन्तो न सर्वे। ... त्यागस्य तत्त्वज्ञानजन्यतया दुर्लभत्वात्।

अर्थात्—"काम्य और अकाम्य दोनों प्रकार के कर्म ही समान हैं। ... प्रकार के कर्मों से ही दुःख उत्पन्न होता है। क्योंकि दोनों ही कर्म... कर्मसाध्य चित्तशुद्धि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी त्रिगुणात्मक... कारण दुःखरूप है। इस कारण कर्म से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। आत्माभिमान अज्ञानजनित है। तत्त्वज्ञान हुए बिना कोई उस अभिमान... छोड़ सकता। इस कारण अभिमान की निवृत्ति अत्यन्त दुर्लभ है। ... साधारण के लिए अभिमान-निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। ... केवल कर्म से ही मनुष्य के सब कुछ उत्पन्न हुआ कहते हैं। कर्म से ही ... बन्धन उत्पन्न होता है और उस बन्धन से ही भय और भ्रान्ति की उत्पत्ति ... है। अतः तुम कर्म और वासना दोनों का त्याग करो, तब देखोगे कि ... तुम्हारा चित्त शान्त हो गया है और उसमें भय-भ्रान्ति का लेशमात्र ... रह गया है। कामना का त्याग करने के लिए पहले कौशल से कर्म... करना होगा। इसलिए वेदान्त भी कहते हैं—

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते॥

अर्थात्—"क्रिया का क्षय होने से ही चिन्ता का नाश होता है और ... वासना का भी क्षय हो जाता है। वासना-क्षय को ही मोक्ष कहते हैं और ... को ज्ञानी लोग जीवन्मुक्ति कहते हैं।"

भक्त—हे ब्रह्मन्! किस कौशल से कर्म-त्याग किया जा सकता है?

महात्मा—वत्स! कर्म से कारणा रूप जो कर्म है, उसीके द्वारा कर्म...

करना होता हैं अर्थात् कर्म करना जिस प्रकार तुम्हारे सामने कर्म है, उसी प्रकार कर्म न करना या कर्म बन्द करना भी एक कर्म ( प्रयत्न ) है। अतः कर्म न करना-रूप कर्म के द्वारा ही कर्मत्याग होता है। वेदान्त भी कहते हैं — निष्क्रियैव परा पूजा—"मन जब कोई कर्म नहीं करता तब उसी को परा पूजा या ब्रह्म-पूजा कहते हैं। यही मनुष्य की मुक्ति का एकमात्र साधन है।" अतः सब क्रिया न करना रूप कर्म ही ब्रह्मज्ञान-लाभ के प्रधान सहायक है। तुम इसको धर्म-कर्मों में मुख्य धर्म-कर्म रूप से जानना। पीठमाला-तन्त्र भी कहते हैं—

निष्क्रियं लभते विद्वान् क्रियात्यागाच्च पार्वति।
इति योगः समाख्यातो ब्रह्मसाधनमुत्तमम्॥
क्रियया बध्यते लोको बाध्यते क्रियया तथा।
ऊर्णनाभिर्यथा देवि! जालविस्तारयोगतः॥

अर्थात्—"क्रिया का त्याग करके निष्क्रिय होने से ही आत्मा का साक्षात्कार होता है, क्योंकि आत्मा स्वयं क्रियाहीन है। क्रिया त्याग ही उत्तम आत्म-साधन-रूप से प्रख्यात है। लोग क्रिया द्वारा ही बद्ध और क्रिया द्वारा ही बाध्य होते हैं; जैसे मकड़ी जाला फैलाकर उसीमें बद्ध हो जाती है।"

भक्त—प्रभु! आपने जिस प्रकार कर्म बन्द करने की बात बतायी यदि 'यह संसार माया का खेल है, ऐसा कहकर संसार के सारे मनुष्य ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए सारे कर्मों को छोड़ हाथ-पैर समेटकर बैठे रहें तो इस विराट् विश्व के कृषि-वाणिज्य, शासन-संरक्षण आदि कर्म कैसे निर्वाहित होंगे?

महात्मा—हे सुबुद्धे! तुम्हारे हाथ-पैर समेटकर बैठे रहने से ही क्या तुम्हारा कर्म बन्द हो जायगा? ऐसा कदापि नहीं है। तुम्हारा मन-रूप कर्ता तुम्हारे शरीर के भीतर रहकर अपने स्वभाव के अनुसार असंख्य प्रकार के संकल्प-विकल्प रूप कर्म करता ही रहेगा। अतः केवल बाहरी इन्द्रियों को संयत करके रहने से ही मन निष्क्रिय नहीं हो जाता। कर्म का कर्ता है मन। कर्म बिना किये मन क्षणभर भी रह नहीं सकता, क्योंकि कर्म करना ही उसका स्वभाव है। अतः ध्यान में उस मन के कर्म को बन्द करना ही कर्मत्याग है। मन में जिस समय

जिस प्रकार के कर्तव्य के विषय में संकल्प का उदय होता है अर्थात् मन
जिस प्रकार कर्तव्य या अकर्तव्य के विषय में जैसी चिन्ता करता है,
उसी के अनुसार निकलते हैं और हस्त-पदादि बाहरी इन्द्रियाँ भी उसी
कर्म करने लगती हैं। अतः मन के उस प्रकार के संकल्प ही कर्म
या मूल कारण है। कर्म इस जन्म का हो चाहे पूर्व जन्म का, सभी
द्वारा निष्पन्न होते हैं। अतः उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है।
मन की क्रिया बन्द होने से मन स्वयं ही क्षीण हो जाता है। कर्म के
मन का नाश और मन के नाश से कर्म का नाश अवश्यम्भावी है।
मनोनाशमूलक अकर्मता केवलमात्र मुक्त पुरुष में ही दिखाई पड़ती है,
व्यक्तियों में नहीं।

बेटा! मन शरीर के भीतर रहकर संकल्प-विकल्प रूप जो
करता है वे पूर्णतया बाहर प्रकट नहीं होते, कुछ अंश ही
देहयन्त्र के द्वारा प्रकट होता है। जो कर्म बाहर प्रकट नहीं हुए
की दृष्टि के सामने नहीं आये, उनका फलभोग नहीं होगा—ऐसा न
क्योंकि प्रकाश्य में या अप्रकाश्य में मन कोई भी कर्म क्यों न करे,
में उसका प्रभाव, छाप या संस्कार पड़ ही जाता है। कालान्तर में
स्मरण होता है, तभी उस कर्म के शुभ होने से सुख और अशुभ होने
का अनुभव करना पड़ता है। किसी भी प्रकार से इससे छुटकारा नहीं है।
आसक्ति तथा अनासक्ति के अतिरिक्त बन्ध-मोक्ष का दूसरा कोई
नहीं है। आसक्ति-शून्य मनुष्य कर्म करने पर भी कर्ता नहीं
आसक्ति-युक्त मनुष्य बाहर से कर्म न करने पर भी कर्ता है; जिस
स्वप्नावस्था में बाहर कोई कर्म न करने पर भी उसी प्रकार ठीक
या दुःख होता है अर्थात् स्वप्न में न दौड़ने पर भी मनुष्य थक जाते
संग न करने पर वीर्यक्षय द्वारा आनन्द-बोध होता है। अतः मन के
से ही देह का कर्तृत्व है, उसीका दृष्टान्त स्वप्न है। मन के द्वारा जो कर्म
जाता है, उसीका फल होता है और शून्य चित्त से कार्य करने पर उसका
नहीं होता। किसी प्रकार का उद्देश्य न रख कर जिस चित्त से कर्म किया
है, उसीका नाम शून्य चित्त है। अतः देह मुख्य कारण नहीं है।

कर्तृत्व का मुख्य कारण है। जो आसक्ति-रहित हो सके हैं उनका व्यवहार अति मधुर है। बाहर लोक-दृष्टि से कुछ करने पर भी यथार्थ में वह कर्ता नहीं हैं, और वह अपने कर्म के फलभागी भी नहीं होते। मनु-संहिता में लिखा है—

मनःकृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम्।

अर्थात्—"इस संसार में मन के द्वारा जो कुछ किया जाता है वही यथार्थ कर्म है। स्थूल शरीर द्वारा जो कुछ किया जाता है वह कर्म नहीं है अर्थात् वह तुच्छ है।" पीठमालातन्त्र भी कहते हैं—

मनः करोति कर्माणि मनो लिप्यते पातकैः।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यै न च पातकैः॥

अर्थात्—"मन ही कर्म करता है, मन ही पाप-पुण्य में लिप्त होता है, फिर वही मन विषय-कल्पना छोड़कर आत्मा में समाहित होने पर पाप या पुण्य में लिप्त नहीं होता।" और तुमने जो संसार के सारे मनुष्यों की बात कही, सभी मनुष्यों के लिए एक ही साथ कर्मत्याग करना सम्भव नहीं हो सकता। मन की इच्छाशक्ति ही उन्हें ऐसा करने नहीं देगी, क्योंकि मनुष्य अपने मन की इच्छा से ही कर्म करता है। सारे मनुष्य एक ही साथ इच्छारहित नहीं हो सकते। जिनकी भोग-वासना समाप्त हो गयी है, केवल वही आत्मस्थिति प्राप्त कर इस मायामय संसार के कर्म या मन के संकल्प-विकल्प का त्याग कर चिरशान्ति लाभ कर सकते हैं। वासना रूप अग्नि सदा ही मनुष्य के मन में भभकती रहती है। इस कारण सभी के लिए एक ही समय कर्म-त्याग करना एकदम असम्भव है। अतः तुम्हारी वैसी कल्पना पागल के प्रलाप के समान है।

भक्त—भगवन्! आपने पहले कहा था कि साधारण के लिए मुक्तिलाभ होना असम्भव है। फिर अब कहते हैं कि सर्वसाधारण मनुष्य कर्मत्याग नहीं कर सकते, परन्तु सम्पूर्ण रूप से कर्मत्याग किये बिना मुक्ति भी नहीं मिलती। तो इस प्रकार असम्भव कार्य साधारण मनुष्यों के लिए कैसे सम्भव होगा? और वे मुक्ति ही कैसे प्राप्त कर सकेंगे?

महात्मा—बेटा! एक ही समय सभी के लिए कर्मत्याग के द्वारा ज्ञानलाभ होना असम्भव है। क्या इसलिए लाखों मनुष्यों में किसी एक व्यक्ति के लिए भी

वह असम्भव ही रहेगा ? जिनमें पूर्व-पूर्व जन्मों की सुकृति है, वे अवश्य ... जनित कर्म छोड़कर ज्ञानलाभ कर सकेंगे। मान लो, इस पृथ्वीभर का ... दूर कर एक ही समय सर्वत्र प्रकाश-विस्तार करने की शक्ति मनुष्यों ... सूर्य में भी नहीं है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति ही अपने अपने घर का अन्ध... एक बत्ती के द्वारा ही दूर कर सकता है; ठीक उसी प्रकार सारे संसार ... या अज्ञान को विदूरित कर सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश देने में मनुष्य ही ... विष्णु, महेश्वर में भी शक्ति नहीं है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने ... मन की माया-रूप अज्ञानता को दूर कर आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है ... कोई भी सन्देह नहीं है। यदि यह बिल्कुल ही असम्भव होता तो प्राचीन ऋषि-महर्षि मनोवृत्तियों की निवृत्ति के लिए बार बार इतनी दृढ़ता ... उपदेश न देते। इस युग में भी अगणित महापुरुष संकल्प ... अज्ञान का समूल नाश करके आत्मज्ञान प्राप्त कर रहे हैं ! मैं भी ... कर्मों और वासनाओं का परित्याग कर ही आत्मज्ञान के आलोक से ... अवस्थित हूँ।

भक्त—प्रभु ! यदि हमलोग ईश्वर की उपासना द्वारा उन्हें प्रसन्न ... निकट धन-जन, सुख-शान्ति की प्रार्थना न करें तो किसके निकट वैसी ... की जायगी ? और कौन हमें इन विषयों को देगा ?

महात्मा—बेटा ! अधिक परिमाण में धन-जन, विषय-सम्पद् पाकर ... की चेष्टा अज्ञानान्ध मन का स्वाभाविक धर्म है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई ... बौद्ध सभी सुखी होने या शान्ति में रहने की चेष्टा करते हैं। परन्तु हर ... कर्मफल के अनुसार सुख-दुःख भोगता है। अतः ईश्वर कैसे और ... लाकर तुम्हें सुख-दुःख देंगे ? इस विषय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा ...

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

अर्थात्—"ईश्वर जीव के कर्तृत्व या कर्म की सृष्टि नहीं करते और ... फल का संयोग ही कर देते हैं। इस विषय में स्वभाव ही कार्यकर्ता है ... जीव अपने कर्मों द्वारा जिस प्रकार का स्वभाव बना लेता है, उसीके ... उसे फल-भोग करना पड़ता है।"

लोग कहते हैं, मनुष्य जो कुछ कर्म करता है यमराज के मुनीम चित्रगुप्त उसे लिखा करते हैं और उसीके अनुसार फल का भी विधान करते हैं। यहाँ चित्रगुप्त शब्द का अर्थ है—'चित्तगुप्त'; अर्थात् शरीर में गुप्त चित्त। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो कुछ कर्म करता है वह उसी समय चित्त में अंकित हो जाता है और उसीके अनुसार फल भोगना पड़ता है।

सांसारिक सुख के लिए तुम जितने ही अधिक विषयों की आकांक्षा करोगे, उतना ही तुम्हें नीचे उतरना पड़ेगा। इस संसार के साथ जितना ही तुम मेल-जोल बढ़ाओगे, उतनी ही तुम्हें हानि उठानी पड़ेगी। संसार के सभी मनुष्य शान्तिकामी हैं। उस शान्ति में दो भाग हैं, इसलिए शान्तिकामियों में भी दो प्रकार के मनुष्य दिखायी पड़ते हैं। जिनके मन में भोग की पिपासा प्रबल है, वे विषय-भोग के द्वारा इस लोक में तथा परलोक में शान्ति की कामना करते हैं और जिनमें विषयों के दोष-गुणों के विचार द्वारा भोग्य विषयों पर वैराग्य उत्पन्न हुआ है, वे उन विषयों को छोड़कर केवल आत्मतत्त्व-लाभ द्वारा चिरशान्ति की कामना करते हैं। अर्थात् एक है भोगी, जो विषय-भोग के क्षणिक आनन्द के लिए लालायित है और दूसरा त्यागी, जो निरवच्छिन्न शान्ति-रूप मुक्ति के लिए लालायित है। इसीलिए वेदान्त (ईशोपनिषद्) में लिखा है—"जीव के अभीष्ट फल लाभ के दो मार्ग या उपाय सृष्टि के साथ साथ प्रवर्तित हुए हैं। एक क्रियापथ, कर्म-मार्ग या प्रवृत्तिमार्ग, दूसरा ज्ञान या निवृत्तिमार्ग है। ये दोनों मार्ग सम्पूर्ण विरुद्ध हैं।"

भक्त—भगवन्! किस प्रकार से प्रवृत्तिमार्ग के मनुष्य को स्वर्ग-सुख मिल सकता है और निवृत्तिमार्ग के मनुष्य को आत्मतत्त्व-ज्ञान लाभ द्वारा परम शान्ति प्राप्त हो सकती है, कृपा करके उसका उपदेश दीजिये।

महात्मा—नश्वर स्वर्ग-सुख-कामी का कर्म ही एकमात्र अवलम्बन है। कर्म के द्वारा ही वह स्वर्ग-सुख पाना चाहता है, परन्तु विवेक-विचार द्वारा धन-जनादि अनित्य विषयों पर विशुद्ध वैराग्य उत्पन्न होने से श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होने पर आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है।

भक्त—कर्म से यदि स्वर्ग-सुख लाभ होता हो तो अनेक मनुष्यों में तो

दिखायी पड़ता है कि जीवन भर सन्ध्या-वन्दन, पूजा-होम, जप-तप आदि कर्म करते रहने पर भी स्वर्ग-सुख भोग के उपयोगी विद्या, धन या स्वास्थ्य भी वे प्राप्त नहीं कर सके। अतः कर्म से ही स्वर्ग-सुख लाभ होगा, इसका प्रमाण क्या है?

महात्मा—बेटा! लोग कहते हैं—'जैसी करनी वैसी भरनी'। अर्थात् जैसा कर्म करोगे वैसा ही फल पाओगे, यही स्वाभाविक नियम है। मान लो तुम्हें बहुत भूख लगी है और उसकी निवृत्ति के लिए तुम दौड़ते जा रहे हो, क्या इससे तुम्हारी भूख मिट जायगी? बल्कि वह और बढ़ेगी। इस कारण भूख की शान्ति के लिए उपयुक्त कार्य कुछ भोजन करना होगा। उसी प्रकार स्वर्ग-सुख भोग करने के लिए भी विद्या (ज्ञान) की आवश्यकता है। उस विद्या को सीखने के लिए तुम्हें स्कूल-कालेजों में जाकर मनोयोग के साथ विद्याध्ययन करनी होगी। परन्तु वैसा न कर यदि तुम किसी मूर्ख पुरोहित के उपदेश से सरस्वती की मूर्ति बनाकर पूजा करते रहोगे तो क्या कभी तुम्हें विद्या की प्राप्ति हो सकती है? शिक्षक के पास जाकर मनोनिवेशपूर्वक अध्ययन करने से ही यथार्थ में सरस्वती की अर्चना होती है और उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त होने से स्वर्ग-सुख-लाभ के पथ पर मनुष्य अग्रसर हो सकता है। धन, स्वास्थ्य आदि सब प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति के विषय में भी ठीक उसी प्रकार अपनी बुद्धि और युक्ति के द्वारा एकाग्रता के साथ यथायोग्य कार्य करने से निश्चय ही तुम उसका फलभागी हो सकोगे। परन्तु तुम लोग विचार-रहित हो, इसलिए उन विषयों में यथायोग्य कार्य न करके व्यवसायी गुरु-पुरोहितों के कहने से ही देव-देवियों की पूजा, होम, जप आदि करके ही सुख-सौभाग्य लाभ करने की आशा करते हो। इस प्रकार भ्रान्त धारणा में मुग्ध होकर तुम लोग दिन-प्रतिदिन अवनत होते जा रहे हो। जरा आँख खोलकर देखो, यूरोप, अमेरिका आदि जिन देशों के निवासी तुम्हारी तरह मूर्ति की पूजा करके उस मूर्ति के निकट धन-जनादि वस्तुओं की प्रार्थना करके समय नष्ट नहीं करते, वे ही धन-जन, कृषि-वाणिज्य, विद्या-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदि सभी विषयों में श्रेष्ठत्व प्राप्त कर तुम लोगों से अधिक स्वर्ग-सुख भोग रहे हैं और तुम लोग लक्ष्मीमाता की पूजा करके भी धनाभाव से हाय-हाय करते हुए जीवन बिताते हो। वह लोग चिकित्सा-

उन्नत होकर शिशुओं के पालन-पोषण में इतना अधिक ध्यान देते हैं कि शिशु-मृत्यु का औसत वहाँ बिल्कुल अल्प है और तुम्हारे यहाँ घर-घर षष्ठी देवी और अन्नपूर्णा माता की पूजा होने पर भी अगणित शिशुओं की मृत्यु के हाहाकार से गगन-पवन प्रतिक्षण प्रतिध्वनित हो रहा है। ब्रह्मज्ञ महर्षियों की सन्तान होकर तुम केवल सरस्वती की मूर्ति की पूजा करके दूसरी विद्याओं की बात तो दूर रही, अपने पूर्व पुरुषों के वेद-वेदान्त तक का नाम भी भूल गये हो। विघ्नहारी गणपति की पूजा करके तुमलोग और भी अधिक विपद्-समुद्र में डूब रहे हो। देव-सेनापति कार्तिकेय की पूजा करके तुम लोग क्रमशः हीनवीर्य और कापुरुष होते जा रहे हो। दुर्गतिनाशनी दुर्गा की पूजा करके और भी अधिक दुर्गति भोग रहे हो। हस्तपदरहित जगन्नाथ की पूजा करके तुमलोग भी हस्त-पदहीन की भाँति निकम्मे हो रहे हो। क्योंकि अपने में कुछ करने की शक्ति रहने पर भी परतन्त्रता से उसे भी तुम खो बैठे हो। अतः विचार के द्वारा ज्ञान की बत्ती हाथ में लेकर जीवन के मार्ग में चलते रहो, स्वर्ग-सुख अवश्य मिलेगा।

भक्त—दयामय! आप बराबर ही ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रहे हैं। परन्तु अनेक मनुष्य तो कहा करते हैं कि केवल सूखा ब्रह्मज्ञान कभी मनुष्य को शान्ति नहीं दे सकता, विशेषकर आजकल के दिन में केवल ज्ञान से काम नहीं चलता, कर्म करना चाहिये। इसलिए होम-यज्ञ, पूजा-जप आदि शुभ कर्म करने से ही धन-जन आदि प्रचुर ऐश्वर्य प्राप्त होगा और उनके भोग से ही शान्ति मिलेगी।

महात्मा—हे सुमते! ज्ञान कभी सूखा नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान ही सब रसों का मूल तथा सब वस्तुओं का आत्मा है। रस के बिना जैसे वृक्ष जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार ज्ञान-रस के बिना भी जीव अर्थात् मन रूप संसार-वृक्ष जीवित नहीं रह सकता। ज्ञान की शक्ति से ही मन चालित होकर कर्म करता है। इस कारण ध्यान देने पर तुम्हें मालूम होगा कि जिसके मन में जैसा ज्ञान है, उसका मन ठीक उसी के अनुसार कर्म करता है। 'मन में ज्ञान एक प्रकार और वह कर्म करता है अन्य प्रकार'—इस प्रकार असंगत और अयौक्तिक भाव से कभी कर्म नहीं हो सकता। मान लो, किसी अंधेरे स्थान में एक रस्सी टेढ़ी होकर पड़ी है। उसे देखते ही जिसे साँप का ज्ञान हुआ, उसका

मन उसी समय सर्पज्ञान से कर्म करने लगा अर्थात् साँप के भय से [illegible] से भाग गया और जिसके मन में रस्सी का यथार्थ ज्ञान हुआ, उस[illegible] रज्जुज्ञान से ही कर्म करने लगा अर्थात् वह निडर होकर आनन्द से [illegible] में रह गया और उस रस्सी के द्वारा अपना कुछ काम भी बना लिया। जिसके मन में टेढ़ी लकड़ी का ज्ञान हुआ उसका मन भी लकड़ी के ज्ञान [illegible] कर्म करने लगा अर्थात् तुच्छ लकड़ी समझकर उसकी उपेक्षा करके उसे [illegible] कर चला गया। अब तुम स्पष्ट ही समझ गये कि ज्ञान के अनुसार ही मन [illegible] है, उसके विपरीत कभी नहीं होता। अतः मन और कर्म दोनों ही सदा [illegible] अधीन होकर चलते हैं, परन्तु ज्ञान कभी मन या कर्म के अधीन नहीं होता। [illegible] ज्ञान की ही श्रेष्ठता प्रमाणित हुई। पहले भी तुमसे मैंने कहा है कि जीव की [illegible] स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं में मन और कर्म कभी [illegible] रहते हैं और कभी नहीं रहते। परन्तु वे रहें या न रहें, ज्ञान चारों अव[illegible] में ही सदा विद्यमान रहता है, कभी भी ज्ञान का लोप नहीं होता। [illegible] देखो, छोटे काम से लेकर बड़े तक कोई भी काम ज्ञान के बिना सा[illegible] हो सकता। लोग जो दूसरों की पूजा या सम्मान पाते हैं, वह भी [illegible] ही महिमा से—अज्ञान के कारण नहीं। शिक्षक छात्र के निकट, गुरु [illegible] निकट तथा बुद्धिमान व्यक्ति मूर्खों के निकट पूजा या सम्मान पाया [illegible] यह सभी ज्ञान की महिमा का फल है। लोग चाहें तो कर्म बन्द [illegible] हैं, परन्तु ज्ञान अनिवार्य है। इस कारण संसार में उत्पन्न ज्ञान को कोई [illegible] कर सकता। अतः ज्ञान सदा ही सब जीवों का सहचर है। तुम जिधर [illegible] क्यों न डालो, विचार करने से देख सकोगे, विश्व के सर्वत्र ही ज्ञान की [illegible] और ज्ञान की ही महिमा है। ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, [illegible] प्राप्त करता है, किन्तु केवल कर्म द्वारा नहीं। अतः ज्ञान ही परम[illegible] एकमात्र ज्ञान ही परम वस्तु है। ज्ञान से बढ़कर उत्तम वस्तु सं[illegible] नहीं है। ज्ञान के कारण ही मनुष्य देवता की उपासना करते हैं और [illegible] समस्त तपस्याओं का अन्तिम फल है। अतः ज्ञानैश्वर्य ही सबसे श्रेष्ठ ऐश्व[illegible] इसीलिए भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता)

"आत्मज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस संसार में और कुछ नहीं है।" ...य! सूर्य के प्रकाश के सामने विश्व के सारे छोटे-बड़े प्रकाश बहुत ही ...मालूम होते हैं। इस कारण सूर्य के विशाल प्रकाश में काम करके ही ...प्रसन्न होते हैं, ठीक उसी प्रकार जड़-विज्ञान आदि विषयों के श्रेष्ठ वैषयिक ...ही क्यों न हो, इस ब्रह्मज्ञान के सामने वे सभी छोटे से छोटे हैं। परन्तु ...सांसारिक मनुष्य उन वैषयिक छोटे ज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति ...करने की इच्छा करते हैं; परन्तु किसी प्रकार भी शान्ति नहीं पा रहे हैं। ...संसार में छोटे ज्ञानी ही निकृष्ट हैं, उसे अति अल्प मात्रा में ही सम्मान ...शान्ति मिलती है और जो जिस परिमाण में अधिक ज्ञानी हैं, उन्हें ...उतने ही परिमाण में सम्मान और शान्ति मिलती है, यही स्वाभाविक ...है। तुमने जो ब्रह्मज्ञान की बात कही, उस ब्रह्म शब्द का अर्थ ...विराट या अनन्त। इस कारण ब्रह्मज्ञान का अर्थ है—अनन्त ज्ञान। ...ज्ञानी से जब अधिक ज्ञानी अधिक सुख-शान्ति का भोग करते हैं तो अधिक ...की पराकाष्ठा ब्रह्मज्ञान नीरस या शुष्क कैसे होगा? बल्कि जिन्होंने असीम ...ब्रह्मज्ञान का लाभ किया है वह अपने उस ज्ञान की महिमा से ...के सर्वत्र सर्वाधिक सम्मान तथा शान्ति प्राप्त करते हैं। और वह ...शान्ति-कामी अन्यान्य भ्रान्त मानवों को अनन्त ज्ञान का मार्ग दिखाकर ...पास बुला रहे हैं—'तुमलोग यदि यथार्थ में ही निरन्तर परम शान्ति ...करना चाहो तो मेरे पास आओ। इस विशाल ब्रह्मज्ञान के प्रकाश से ...अमर पूर्णानन्द का भोग कर सकोगे।' इसीलिए ऋषि कहते हैं—उत्तिष्ठत ...प्राप्य वारन् निबोधत (श्रुति) अर्थात्—"उठो, जागो, श्रेष्ठ ज्ञानी ...जाकर प्रबुद्ध हो जाओ।" किन्तु हे सुव्रत! अल्प-बुद्धि मानव उनकी ...पुकार पर ध्यान भी नहीं देते, बल्कि वैसे अज्ञानी सर्वरस-पूर्ण इस परम ...को नीरस कहकर तुम्हें भ्रम में डाल रहे हैं और तुम्हें कर्म-सागर में डुबो ...ने की चेष्टा कर रहे हैं। अतः तुम उन अविवेकी मनुष्यों की बात पर ध्यान ...देकर ज्ञान के प्रशस्त पथ पर चलते हुए परम शान्ति और पूर्णानन्द ...भोग करते रहो।

इस समय दिवाकर अस्ताचल की ओट में छिप गये। अतः भ... उपहार द्वारा महात्मा की पूजा करके अपने स्थान को चला गया।

---

# पाप-पुण्य और नरक-स्वर्ग

दूसरे दिन महात्मा अपने आसन पर बैठे हुए हैं, ऐसे समय उस... आकर पुनः प्रश्न पूछा—"प्रभु! पाप कर्म से नरक भोग और पुण्य... स्वर्ग-सुख भोग होता है; ऐसा लोग कहते हैं। वह स्वर्ग और नरक... अवस्थित हैं?"

महात्मा—बेटा! स्वर्ग और नरक नाम से दो पृथक स्थान कहीं नहीं... वे तुम्हारे भीतर ही हैं। अनादिकाल से वे तुम्हारे अन्तःकरण में ही... हैं। स्वर्ग और नरक तुम्हारे मन की ही विभिन्न अवस्था-मात्र हैं। इस... पाप और पुण्य का फल इस लोक में ही भोगना पड़ता है। अज्ञान... लोग स्वर्गलाभ के लिए सारे संसार में दौड़-धूप करते हुए शोक... जर्जरित होकर और जीवनभर रो-धोकर कष्ट भोग रहे हैं। यथार्थ में ... की सहायता लेने से ही स्वर्ग-सुख की प्रत्यक्ष-रूप से उपलब्धि होती है।

भक्त—प्रभु! पाप-पुण्य किसे कहते हैं? हम सर्वत्र ही देखते हैं कि ... समाज में जो पाप है, दूसरे समाज में वही पुण्य रूप से आदृत है। ... हिन्दू समाज में गोवध गुरुतर पाप है पर, मुसलमान समाज में वह ... पुण्य है।

महात्मा—बेटा! जो यथार्थ में पाप है वह सभी समाजों में, सभी अ... में ही पाप है। जिस काम के करने से तुम्हारे मन में पश्चात्ताप होता है, ... मन संकोच का अनुभव करता है, वही पाप-कार्य है और जिससे मन में ... पश्चात्ताप नहीं होता बल्कि मन प्रशान्त हो जाता है, वही पवित्र पुण्यकर्म ... इसलिए कहता हूँ, तुम्हारा विवेक जिस काम को अच्छा कहे, उसे ही करते ... पाप की चिन्ता न करो, परन्तु इतना ध्यान रखो कि तुम्हारे मन में उ...

के द्वारा कोई ताप न लगे ! मन का यह ताप ही पाप है और पाप के भोग का नाम ही ताप है। अतः जब तक मन में ताप रहेगा तब तक ही वह पापकर्म है। मन में किसी प्रकार का ताप उत्पन्न न हो तो पाप कहाँ है ? बाघ मनुष्य को मारकर खा जाता है, इससे उसे कोई पाप नहीं होता। क्योंकि 'मैंने प्राणीहत्या की' इस प्रकार का ताप उसके मन में नहीं लगता। लाखों चींटियों को रौंदकर मार डालने पर भी तुम्हारे मन में 'मैंने प्राणीहत्या की', ऐसा कोई पश्चात्ताप नहीं आता, यह भी ठीक उसी प्रकार है। प्राचीन युग में वैदिक ऋषि गोमेध, अश्वमेध आदि यज्ञ में अनेक बैलों और अश्वों की हत्या करते थे। उन दिनों उस प्रकार के पशुओं का वध करके यज्ञशेष पशुमांस द्वारा मुनि-ऋषियों को भोजन कराने की प्रथा भी समाज में प्रचलित थी। आश्रम में किसी पूज्य ऋषि के अतिथि रूप से आने पर गऊ की हत्या कर उन्हें तृप्तिपूर्वक भोजन कराया जाता था। इसीके लिए शास्त्र में—अतिथिर्गोघ्न उच्यते—"अतिथि गऊ-हत्याकारी कहे जाते हैं।" उस समय समाज में प्रचलित प्रथा होने के कारण वैदिक ऋषियों के मन में 'मैंने जीवहत्या की' इस प्रकार का कोई ताप नहीं लगता था। इस कारण उन दिनों यज्ञादि में पशु-वध कार्य हिन्दू-समाज में पाप-रूप से गृहीत नहीं होता था। मनु भी कहते हैं कि—तस्माद् यज्ञे वधो-ऽवधः—"इस कारण यज्ञ में वध, अवध या अहिंसा है।" परन्तु वर्तमान भारत के हिन्दू-समाज में वैदिक याग-यज्ञादि का प्रायः लोप-सा हो गया है। इसलिए आजकल पशु-वध पाप-रूप से माना जाने लगा है। बड़ा प्राणी छोटे प्राणी को खा जाता है। साँस, जल और अन्न के साथ हम प्रतिदिन लाखों जीवों को अपने शरीर में मिला लेते हैं। इसी कारण भागवत में लिखा है कि—जीवो जीवस्य जीवनम्—"जीव ही जीव का जीवन है।" दूसरे अगणित जीवों को खा कर अपने शरीर में बिना मिलाये कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता। इस प्रकार के असंख्य जीवहत्या करने पर भी मनुष्य के मन में कोई ताप नहीं उत्पन्न होता। हिंसा-बुद्धि के न रहने से वह पाप भी नहीं है। इस प्रकार विचार करने से तुम समझ सकोगे कि किसी कार्य के द्वारा जब तक तुम्हारे मन में ताप नहीं लगेगा तब तक उसमें कोई पाप नहीं है। और जिस कार्य के द्वारा जभी मन में पश्चात्ताप आयेगा तभी समझना चाहिये कि वह पाप है।

बेटा ! कर्म के द्वारा मन में एक प्रकार की छाप पड़ जाती है, इसीका
कर्म-संस्कार है। मन में उस प्रकार के संस्कार रहने से ही कालान्तर में
स्मृति हो सकती है। कर्म तो समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है, इसलिए
स्मरण भी नहीं होना चाहिये था और उससे फल का भी होना सम्भव नहीं।
जब स्मरण होता है तब समझना चाहिये, कर्म स्वयं मर जाने पर भी अन्तःकरण
में संस्कार छोड़ गया है, इसी संस्कार का नाम पाप या पुण्य है। योगशास्त्र
इसीको 'कृष्ण संस्कार' और 'शुक्ल संस्कार' कहते हैं। ये ही संस्कार मनुष्य
सुख-दुःख का भोग कराते हैं। मान लो, तुमने गुप्त भाव से एक नरहत्या
वह हत्याकार्य तो उसी समय समाप्त हो गया, परन्तु 'मैंने नरहत्या की है,'
प्रकार का एक संस्कार उस कार्य के साथ ही साथ तुम्हारे मन में पड़ गया
अब प्रकट होने से फाँसी की सजा मिलेगी इस भय से तुम्हारा मन सदा
भीत, शंकित और त्रस्त रहता है। इस प्रकार का भय-रूप ताप ही पाप का
'कृष्ण संस्कार' का फल है। मैं ऐसा एक नरहत्याकारी को जानता हूँ जो
बहनोई की हत्या कर भाग गया था। जहाँ वह छिपा हुआ था, एक दिन
उससे वहाँ मिलने गया था। वह पश्चात्ताप के कारण इतना अधिक बेचैन
कि मेरे पैर पकड़कर रोने लगा और पुलिस को खबर देकर अपने को फाँसी
देने के लिए मुझसे बार-बार प्रार्थना करने लगा। पश्चात्ताप की आग में
आदमी कितनी नरक-यन्त्रणा भोग रहा था, इसका अनुमान सहज ही
कर सकते हो। वह चाहता था कि किसी तरह पुलिस उसे पकड़ ले और
पर लटकाकर उस नरक-यन्त्रणा से मुक्त कर दे। इसी प्रकार तुम्हारे उस
का संस्कार तुम्हारे अन्तःकरण में रहकर तुम्हें बहुत दिनों तक दुःख देता
इसी प्रकार उस नरहत्या के पाप का फल तुम्हारा मन ही तुम्हें सुदीर्घ
बारंबार भोग करायेगा, उसे फिर कौन रोक सकेगा? परन्तु यदि किसी
के संसर्ग और उपदेश से तुम्हारे मन में विचार-वैराग्य उत्पन्न हो जाय
विचार-शक्ति के द्वारा तुम्हारे मन में ज्ञान-संस्कार पड़ जायगा और
नाम पुण्य या शुक्ल संस्कार है। और इसीसे तुम्हारे मन में शान्ति
उन दोनों संस्कारों में 'शुक्ल संस्कार' की शक्ति असीम है। योगशास्त्र में
कि जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी विराट् तृण-स्तूप को भस्म कर

उसी प्रकार एक 'शुक्ल संस्कार' राशि-राशि पाप संस्कारों को भस्म कर डालता है। जिस प्रकार एक दियासलाई के प्रकाश से घर का सारा अन्धकार दूरीभूत हो जाता है, उसी प्रकार एक शुक्ल संस्कार में जीवनभर के कृष्ण संस्कारों को भस्म करने की शक्ति है। सारांश यह है कि मन का अज्ञान ही पाप और ज्ञान ही पुण्य है। पाप और पुण्य इस संसार में चार प्रकार के कर्मों से उत्पन्न होते हैं, जैसे—सामाजिक, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक।

भक्त—प्रभु ! इन चार प्रकार के कर्मों के विषय में मुझे विस्तृत रूप से उपदेश दीजिये।

महात्मा १—सामाजिक प्रथा के विरुद्ध कार्य करने से उसके द्वारा समाज में विशृंखला होकर लोगों में अशान्ति उत्पन्न होगी। इसलिए समाज के लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे और शारीरिक शास्ति का भी विधान करेंगे। फलस्वरूप तुम्हारे मन में दुःख का ताप लगेगा, जैसे चोरी, व्यभिचार, हत्या आदि। यही सामाजिक पाप है और चरित्रवान् सत्यनिष्ठ तथा अहिंसा-परायण रहने से लोगों में प्रशंसा के कारण तुम्हारे मन में शान्ति रहेगी। इसीलिए दान, परोपकार आदि सामाजिक पुण्य कार्य हैं। इसके फलस्वरूप तुम्हें समाज में प्रशंसा मिलेगी। २—अत्यन्त भोजन, अत्यधिक परिश्रम, अधिक मात्रा में वीर्यनाश आदि द्वारा अपने शरीर पर जो अत्याचार किया जाता है, उसे शारीरिक पाप कहते हैं। मान लो, तुम्हें प्रतिदिन स्नान का अभ्यास नहीं है तथापि एकाएक एक दिन स्नान करते हुए एक सौ डुबकियाँ लगायीं। अब इस शारीरिक पाप के फलस्वरूप तुम्हें ज्वर हो गया। दूसरे के साथ प्रतिद्वन्द्विता करके तुमने एक दिन तीन सेर मिठाई खायी तो उस शारीरिक पाप के कारण तुम्हें उदरामय हो गया। इसके विपरीत संयत आहार-विहार तथा ब्रह्मचर्य पालन करने से शरीर स्वस्थ रहेगा और उससे आनन्द की प्राप्ति होगी। इसलिए ऐसे कार्यों को शारीरिक पुण्य कहते हैं। इसके फलस्वरूप दैहिक शान्ति मिलेगी। ३—तुम काम-क्रोधादि किसी रिपु की उत्तेजना से आगे-पीछे का विचार न करके एकाएक कोई गुरुतर अकार्य कर बैठे, जैसे तुमने हठात् क्रोधित होकर माता-पिता को प्रहार किया; या साधारण कारण-वश किसी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की निन्दा की इत्यादि; परन्तु दूसरे ही क्षण विचार-बुद्धि के उत्पन्न

होने से उस कार्य के लिए मन में पश्चात्ताप होने लगा। इसे मानसिक पाप कहते हैं। इस पापकार्य का फल संचित रह गया, यह बाद को तुम्हें दुःख देगा और अपने विवेक-विचार के द्वारा जो व्यक्ति धीरता से सब कार्य करते हैं, वे ज्ञानी कहलाते हैं, जिससे उनके मन में शान्ति रहती है। इस प्रकार शान्ति को ही मानसिक पुण्य कहते हैं। ४—मन के सुख को ही पुण्य या स्वर्ग और दुःख को ही पाप या नरक कहते हैं। अतः तुमलोग जो पुण्य या पाप, स्वर्ग या नरक की कल्पना करते हो, वे बाहर नहीं हैं। वे तुम्हारे ही भीतर की तत्परता और साधन-विमुखता मात्र हैं। मैंने पहले ही बताया है कि शान्ति ही स्वर्ग है। आत्मा के दर्शन से जो परितृप्त हैं संसार में वही यथार्थ ज्ञानी, और सुखी हैं। साधना के द्वारा बहिर्मुख मन अन्तमुख होने से ही आत्म-लाभ कर स्वर्ग-सुख का भोग कर सकता है। यही यथार्थ में आध्यात्मिक का फल है। दूसरी ओर साधना से विमुख होकर यदि मन सदा बहिर्मुख कार्य करता रहे तो वही अज्ञान, अधर्म और महापाप कहलायेगा, क्योंकि विषयों के संयोग से नाना प्रकार के पश्चात्ताप, दुःख, क्लेश, अशान्ति, निरानन्द आकर मनुष्य को नरक-यातन का भोग कराता है। अर्थात् अपने को अति क्षुद्र, नराधम, महापापी समझकर मनुष्य अनुमान पर किसी शक्तिशाली देवता का अनुसन्धान करता है। मनुष्य के लिए यही सबसे पापकार्य है और यही आध्यात्मिक पाप है। भावार्थ यह है कि आत्मा और मन के नियामक है और आत्माधीनता ही स्वाधीनता या स्वराज्य है। के अन्तमुखी हुए बिना ऐसी स्वाधीनता अर्जित नहीं हो सकती और के बिना शान्ति-सुख का लाभ होना भी सम्भव नहीं है। सदा अविकारी ही सत् है तथा देह और मन सदा परिवर्तनशील, क्षणभंगुर और देह और मन की अधीनता और सुख-दुःख के दासत्व से नरक-दुःख का भोग है। इसलिए वही सर्वश्रेष्ठ पापकार्य है और उपरोक्त स्वाधीनता ही स्वर्ग मूल है। अतः वही सर्वश्रेष्ठ पुण्य कार्य है। बेटा! मनुष्य जब मन के गुण का परित्याग कर ब्रह्म-गुण में मिल जाता है अर्थात् इन्द्रियों की अधीनता आत्माधीन या स्वाधीन हो जाता है, तभी जान लेना कि वह सर्वव्यापी है। जिस समय मनुष्य 'मैं देहेन्द्रियमनोबुद्धि से परे हूँ,' ऐसा समझ

होना कि वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सभी उपाधियों से वर्जित, स्वाधीन मुक्त हो गया है। इस विषय में पीठमाला तन्त्र भी कहते हैं—

सर्वमात्मवशं सौख्यं दुःखं तद् विपरीतकम्।
इति विद्वान् महेशानि! लोको विजयते खलु॥

अर्थात्—"सब विषयों में आत्मवश रहना ही सुख है और उसके विपरीत होना ही दुःख है। जो व्यक्ति इस बात को जानता है, संसार में उसीकी है।" बेटा! स्वाधीनता पुरुष-रूप में और अधीनता प्रकृति, माया या इन्द्रिय आदि के रूप में विद्यमान है। जब मनःप्रकृति अन्तर्मुख होकर की अधीनता-सेवी हो जाती है तभी उसके और आत्मा पुरुष के युगल-से यथार्थ स्वाधीनता का लाभ होता है। यही यथार्थ में 'सतीत्व धर्म' और यही यथार्थ में पुण्य-पाप या स्वर्ग-नरक शब्द का तात्पर्य है।

---

## अदृष्ट कर्मफल

भक्त—प्रभु! अपने किये कर्मों से यदि सुख-दुःख होता हो तो 'ईश्वर सुख-का विधान करते हैं,' ऐसा क्यों कहा जाता है?

महात्मा— बेटा! अपना दोष दूसरों के सिर मढ़ना मनुष्य की साधारण है। हम अपना दोष नहीं देखते—जैसे कि आँख अपने को नहीं देख, परन्तु दूसरों को आँखों को देखती है। जब तक दूसरों के सिर दोष का मौका मिलता है तब तक मनुष्य होकर भी हम लोग अपनी दुर्बलता अपनी त्रुटि स्वीकार करना नहीं चाहते। मनुष्य प्रायः अपना दोष-भ्रम-को पड़ोसियों पर लादना चाहता है, उसमें असमर्थ होने पर ईश्वर नामक कल्पित व्यक्ति पर लादता है, अन्त में उसमें भी तृप्ति न होने से अदृष्ट एक वस्तु की कल्पना करके उसी पर दोषारोप करता है। परन्तु यह क्या वस्तु है और कहाँ रहता है, वह जानने की आवश्यकता है। यह

बात सत्य है कि जो बोया जाता है, वही मिलता है। इमली का बीज बोकर अमृतफल नहीं मिल सकता। हम लोग स्वयं ही अपने अदृष्ट के कर्त्ता हैं, इस कारण अदृष्ट बुरा होने पर दूसरों पर दोष नहीं लादा जा सकता। अच्छा होने पर भी किसी दूसरे की प्रशंसा नहीं की जा सकती। अतः कष्ट भोगते हो तब अपने को ही दोषी ठहराओ और जिससे आगे कष्ट उसी की चेष्टा करो। प्रायः दुर्भाग्य और दुर्बल-मस्तिष्क मनुष्य ही अपने कष्ट के लिए दूसरों पर दोषारोप करते हैं। अपने कार्य से ही ऐसी आ पड़ी है, वह वे एकदम समझ ही नहीं सकते। परन्तु इससे अवस्था में कुछ भी परिवर्तन या कोई भी उपकार नहीं होता। अतः भविष्य को सुखकर बनाने के लिए प्रयत्नशील हो जाओ। गतस्य नास्ति—"गत विषय के लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिये।" आगे सत् और सत् कर्म के द्वारा जिससे आत्मोन्नति कर सको, उसीकी चेष्टा करो। तुम्हें सुख-दुःख देने वाला कौन है, उसे कभी सोचा है? सूक्ष्म विचार खोज करने पर पता लगेगा कि तुम स्वयं ही अपने सुख-दुःख के विधायक तुम्हारे मनःकल्पित मनुष्य रूपी ईश्वर कहीं बैठे नहीं हैं। इसे सुनकर तुम आश्चर्य-चकित हो उठोगे, परन्तु चौंकने का कारण नहीं है। हमारा शरीर स्थूल पंचभूतों से गठित है। इस स्थूल शरीर के पीछे सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है सही, किन्तु वह अति सूक्ष्म भूतों से बना है। सूक्ष्म शरीर का नाम ही मन है। यही हमारे सब कर्मों के आधार हम प्रयत्न से पुरुषार्थ के बल जो-जो कर्म करते हैं उन सभी कर्मों के इस सूक्ष्म शरीर-रूप मन में विद्यमान रहते हैं। इस कारण वे संस्कार नियम से सदा ही उन कर्मों का फल देने के लिए तैयार रहते हैं। जो कुछ कार्य करते रहे हैं या भीतर जो कुछ चिन्ता करते हैं उसी संस्कार मन में पड़ जाता है; और वही इस सूक्ष्म शरीर मन में विद्यमान रहता है। समयान्तर में वह पुनः प्रकट होता है और फल मनुष्य का सारा जीवन ही इसी तरह चलता है। इसी प्रकार मनुष्य अदृष्ट स्वयं ही गठित करता है। सूक्ष्म शरीर रूप मन इस स्थूल शरीर समय जिस प्रकार की मनोवृत्तियों को लेकर गमन करता है, अगले जन्म

...वृत्तियों के अनुसार मन अपने लिए नया स्थूल शरीर बना लेता है। तुम ऑफिस जाते समय अथवा किसी भद्र पुरुष से मिलने के लिए जाते समय जिस प्रकार इस शरीर को अच्छे वस्त्रादि से सजा कर जाते हो, मल-मूत्र त्याग के लिए पखाने जाते समय वैसे वस्त्र पहन कर नहीं जाते। इसी से प्रमाणित होता है कि तुम जब जैसा काम करते हो, पोशाक भी उसी तरह पहन लेते हो। अर्थात् काम के अनुसार पोशाक में भी भेद होता है—यही स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार मन जिस जन्म में जैसे योगानन्द या भोगानन्द का काम करने के लिए दृढ़ संकल्प करता है, उस जन्म में ठीक उसी प्रकार का शरीर-रूप पोशाक पहन लेता है। जिस जन्म में वह परम देवता परमात्मा से मिलने के लिए दृढ़ संकल्प करता है, उस जन्म में मन सुन्दर और पवित्र शरीर-रूप पोशाक पहन लेता है। इस कारण तुम लोग प्रायः देखते हो कि आत्मज्ञ महापुरुषों का चेहरा सुन्दर और ...न है और जिस जन्म में मन पर-स्त्री-हरण, पर-द्रव्य-लुण्ठन आदि कुकार्य करने के लिए दृढ़ संकल्प करता है, उस जन्म में वह कुत्सित, अपवित्र शरीर-रूप पोशाक पहनता है। इसी कारण लोग कहा करते हैं कि 'जैसी प्रकृति वैसी आकृति है' अर्थात् मनःप्रकृति का संकल्प जैसा है शरीर की आकृति भी वैसी ही होती है। अतः जिसका सूक्ष्म शरीर (मन) कुत्सित है, उसका शरीर कभी सुन्दर नहीं हो सकता। इसी कारण जिसकी मनोवृत्ति जैसी है, उसका बाहरी चेहरा भी वैसा ही दिखायी पड़ता है। इसी कारण अनुभवी व्यक्ति दूसरे का चेहरा देखकर उसका मनोभाव बतला सकते हैं। शास्त्र भी कहते हैं—मनःस्थानं गलान्तं, बुद्धेर्वदनम्—"मन का स्थान गले का अन्त भाग और बुद्धि का वदन-मण्डल।" अंग्रेज भी कहते हैं—Face is the index of mind—मुख ही मन का दर्पण है। अतः जिनके मन में कपट, धोखा, दुराचार आदि कुवृत्तियाँ नहीं हैं, वे ही मृत्यु के बाद विशुद्ध ब्रह्मलोक पाने के योग्य हैं। मृत्यु के समय जीव का मन जिस प्रकार के विषयों में आसक्त रहता है, मन तेजोयुक्त होकर भोक्ता जीवात्मा के साथ पुरुष को उसी अभीष्ट लोक में ले जाता है। श्रुति कहती है—

स यावत् क्रतुरयमस्माल्लोकात् प्रैति।

अर्थात्—"जिसका ध्यान करते-करते जीव इस शरीर का त्याग करता है, वह उसीको प्राप्त होता है।" भगवद्गीता कहती है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः॥

अर्थात्—"हे अर्जुन ! जीव मृत्यु के समय जिस प्रकार के भाव का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, जीवनभर उसी भाव में भावित रहने के कारण उसी प्रकार का लोक प्राप्त होता है।" अतः तुमने पूर्वजन्म के शरीर-मन से जीवनभर जिस प्रकार के कार्य किये थे, तुम्हारा मन उस शरीर को छोड़ते समय उसी भाव में भावित होकर ध्यान करते-करते मरण प्राप्त हुआ, इस कारण वे कर्म-संस्कार तुम्हारे मन में संचित पड़े हैं। उन्हीं कर्मों के फल के योग्यतानुसार तुम्हारे मन ने वर्तमान जन्म के शरीर का आकार-प्रकार सुन्दर-कुत्सित, धनी-दरिद्र, पशु-पक्षी या मनुष्य के रूप में गठित कर लिया है। उस पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों के क्या क्या फल संचित हैं, वह इस जन्म में दृष्ट नहीं हो रहे हैं, इस कारण लोग उन्हें अदृष्ट कहते हैं। जो दृष्ट नहीं होता, वही अदृष्ट है। कोई-कोई इसे दैव भी कहते हैं। अतः तुम्हारे पूर्व-जन्मार्जित अपने किये कर्मों के संस्कार ही तुम्हारे दैव या अदृष्ट रूप में परिणत होकर इस वर्तमान जन्म में तुम्हारे सुख-दुःख का विधान कर रहे हैं और उसीका तुम इस जन्म में भोग कर रहे हो, यह निश्चित रूप से प्रमाणित हुआ। ठीक उसी प्रकार तुम्हारे वर्तमान शरीर-मन के द्वारा पुरुषार्थ के बल किये हुए कर्मों के जो संस्कार तुम्हारे मन में संचित हो जायेंगे, तुम्हारे इस शरीर के नाश के बाद उन्हीं संचित कर्मों का फल भोग करने के लिए पुनः तुम्हें नया शरीर धारण करना ही पड़ेगा। उस समय इस जन्म के संचित कर्म-संस्कार ही अदृष्ट रूप से परिणत होकर तुम्हारे नये शरीर के सुख-दुःख का विधान करेंगे। श्रुति कहती है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ (कठोपनिषद्)

अर्थात्—"जब तक जीव को तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक उपार्जित ज्ञान और कर्म के अनुसार कोई जंगम देह और कोई स्थावर देह पाने के लिए



हिमालय के पथ पर स्वामी कालिकानन्द परमहंस महाराज।

र की योनि में गमन करता है।" इस शास्त्रोक्ति में अनात्म-ज्ञानी के लिए र्जन्म अर्थात् संसार-गति का उपदेश दिया गया है और मृत्यु में निरवशेष नहीं होता, पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है, यह भी निश्चित हुआ है। प्रकार मनुष्य अपने ही जाल में स्वयं बद्ध हो जाता है। क्योंकि हमलोग प्रकार कर्म या चिन्ता करते हैं वे हमारे बन्धन करने वाले जाल के एक-सूत्र मात्र है। रेशम-कीट की तरह अपने ही भीतर से जाल फैलाकर उसीमें आबद्ध हो जाता है, परन्तु इस कारण निरन्तर आबद्ध ही रहना होगा, बात नहीं है। आत्मज्ञान के प्रभाव से मनुष्य उस जाल को फाड़कर स्वयं र आकर मुक्त हो जायगा। इस कर्म-जाल को फाड़कर मुक्त होने के र सहायता की प्रार्थना कर लोग प्रायः कल्पित मूर्तियों के सामने प्रार्थना, , नति किया करते हैं। परन्तु बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती, यता मिलती है भीतर से। मैं भी प्रथम जीवन में अर्थात् श्रीगुरु के दर्शन-म के पहले सालों तक जहाँ-तहाँ अनेक देवमूर्तियों के सामने प्रार्थना, स्तुति, करता था। अन्त में देखा, बाहर से सहायता मिलने की आशा वृथा है। दिनों के बाद अपने ही भीतर से सहायता मिल गयी। भ्रान्ति के वश जिस प्रकार के कर्म मैं करता था, श्रीगुरु की कृपा से मेरी वह भ्रान्ति विदू-हो गयी। बुद्धिमान मनुष्य मात्र को ही धर्म के लिए नाना प्रकार की देव-यों के निकट प्रार्थना करके या जादू दिखने वाले साधुओं के साथ घूमकर समय नष्ट न करके किसी आत्मज्ञ गुरु के पास रहकर उनकी सेवा करने से मन की शक्ति बढ़ती है और जीवन सार्थक हो जाता है। बेटा! तुम जाल में फँस गये हो, उसे तुम्हीं को फाड़ डालना होगा और उसके फाड़ने शक्ति भी तुम्हारे ही भीतर है, केवल फाड़ डालने का कौशल जान चाहिये।

भक्त—प्रभु! यदि हमारा पूर्वजन्म रहता तो उसका कुछ भी स्मरण हमें नहीं होता?

महात्मा—हे सुनते! तुम्हारे इस जन्म की सभी बीती हुई घटनाएँ क्या याद कर सकते हो? तुम्हारे बचपन की बातें बिलकुल याद नहीं आतीं, लिए क्या उस समय तुम्हारा अस्तित्व नहीं था, यही मानना होगा? पदद

दिन या एक महीना पहले इसी दिन तुमने क्या खाया था, याद नहीं कर सकते। इसलिए क्या यही कहना होगा कि उस दिन तुमने कुछ खाया ही नहीं था? अतः पूर्वजन्म की बात याद नहीं है, इसलिए पूर्वजन्म नहीं है, ऐसा कहना युक्ति-विरुद्ध है। यथार्थ में पूर्वजन्म के कर्म-संस्कारों को लेकर जीव वर्तमान शरीर गठित करके उसमें निवास कर रहा है। इन कर्म-संस्कारों का नाम ही अदृष्ट या प्रारब्ध है। इस प्रारब्ध का भोग ज्ञानी, अज्ञानी सबको करना पड़ता है। इस विषय में वेदान्त कहते हैं—

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समेऽप्यारब्धकर्मणि।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यात् मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः॥ (

"ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के प्रारब्ध कर्म समान होने पर भी धैर्य से ज्ञानी को क्लेश नहीं होता और अधैर्य से अज्ञानी क्लेश पाता है।"

एक पौराणिक कथा सुनो—तुमने अष्टावक्र मुनि का नाम तो सुना होगा। प्रवाद है, शरीर के आठ स्थान टेढ़े होने के कारण उनका नाम अष्टावक्र हुआ था। अष्टावक्र मुनि अति दरिद्र थे और टेढ़े-मेढ़े शरीर को लेकर अनेक स्थानों में घूमकर भोजन संग्रह करने में उन्हें बहुत कष्ट होता था। एक समय वह अपने कष्ट से क्लेशित होकर दूसरा उपाय न देख एकान्त स्थान में बैठे सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा का ध्यान करने लगे। उनके विशुद्ध चित्त के ध्यान से आकृष्ट होकर ब्रह्मा ने आकर पूछा—"बेटा! तुमने क्यों मुझे बुलाया?"

अष्टावक्र—प्रभु! क्या आप ही इस संसार के सृजन करने वाले हैं?

ब्रह्मा—हाँ, मैं ही संसार-प्रपंच की सृष्टि करता हूँ।

अष्टावक्र—प्रभु! आपने मेरे इस टेढ़े-मेढ़े शरीर को बनाकर मुझे कष्टों में क्यों डाला? कृपा करके अब मेरे शरीर को सीधा कर दीजिए। जब आप सृष्टिकर्ता हैं, तब आप चाहें तो क्षणभर में मेरे शरीर को सीधा कर सकते हैं—यही मेरी धारणा है।

ब्रह्मा—बेटा! मैं सृष्टिकर्ता होने पर भी तुम्हारे इस शरीर को सीधा नहीं कर सकता, क्योंकि पूर्वजन्म के पुरुषार्थ से तुमने जिस प्रकार

उसीके अनुसार तुम्हारा शरीर आठ स्थानों में टेढ़ा हो गया है। तुम्हारे कर्मफल के ऊपर मेरी कोई शक्ति नहीं है कि मैं तुम्हारे उस कर्मफल को उलट कर दूसरी तरह से तुम्हारे शरीर को बना दूँ।'

उनकी बात सुनकर अष्टावक्र मुनि अत्यन्त दुःखी और क्रोधान्वित होकर कहने लगे—यदि आप अपनी ही सृष्टि को तोड़-फोड़ कर अपनी इच्छा के अनुसार गढ़ ही न सके या मनुष्य के कर्मफलों पर हस्तक्षेप करने की आप में शक्ति ही न हो तो आप कैसे सृष्टिकर्ता ईश्वर हुए? जिसमें अपने इच्छानुसार करने की शक्ति नहीं है, वह सृष्टिकर्ता कैसे हो सकते हैं? आप-जैसे निरुपाय सृष्टिकर्ता से जीवों को क्या लाभ?

ब्रह्मा ने कहा—बेटा! इस संसार में जितने प्रकार के जीव देखते हो, सभी अपने-अपने कर्म-संस्कारों के अनुसार निज-निज शरीर गठित कर लेते हैं, उसमें कुछ भी परिवर्तन या परिवर्धन करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं सृष्टि-कार्य के किसी में लिप्त नहीं हूँ। मैं निर्लिप्त भाव से उनका द्रष्टा मात्र हूँ। अतः तुम अपने पुरुषार्थ के बल पुनः उत्तम शरीर प्राप्त करने का प्रबन्ध कर लो।

इतना कहकर ब्रह्मा अन्तर्हित हो गये। तदनन्तर अष्टावक्र मुनि संसार के पालनकर्ता विष्णु का ध्यान करने लगे। कुछ समय के अनन्तर विष्णु ने आकर अष्टावक्र मुनि से पूछा—बेटा! तुमने मुझे क्यों बुलाया?

अष्टावक्र—क्या आप ही इस संसार के पालनकर्ता हैं?

विष्णु—हाँ बेटा, मैं ही इस विश्व का पालनकर्ता हूँ।

अष्टावक्र—आप मुझे इतना दरिद्र बनाकर कष्ट क्यों देते हैं? मेरे इस टेढ़े-मेढ़े शरीर को लेकर नाना स्थानों में दौड़-धूप कर भोजन-वस्त्र के संग्रह करने में मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। अतः आप जब माता-पिता के समान जीवों के पालन-पोषण करने वाले हैं तो कृपा करके मेरे लिए किसी उपाय से धन का प्रबन्ध कर दीजिये, जिससे मैं एक ही स्थान में रहकर अपने खाने-पहनने का काम चला सकूँ।

विष्णु—बेटा! तुम्हारे इस धनाभाव या दुःख-कष्ट दूर करने की शक्ति मुझमें नहीं है, क्योंकि इस संसार-प्रपंच के सभी जीव अपने-अपने पूर्वजन्म

के किये कर्मों का ही फलभोग करते हैं। इस कारण तुम भी निजकृत कर्म-फल ही भोग रहे हो। इस कर्मफल के घटाने-बढ़ाने की शक्ति मुझमें नहीं

विष्णु की बात सुनकर अष्टावक्र मुनि क्रोधित होकर बोल उठे—आप भी ब्रह्मा की तरह एक ही बात बोल रहे हैं। अच्छा प्रभु! यदि आप के दुःख से कृपालु होकर उनके दुःख-कष्टों को दूर करने और उनके पोषण करने की शक्ति नहीं रखते तो आप पालन-कर्ता कैसे कहला सकते जिनमें पालन करने की शक्ति नहीं है, उन्हें कौन पालनकर्ता कहेगा प्रकार की अयोग्य उपाधि आपको किसने दी?'

अष्टावक्र मुनि की बात सुनकर विष्णु बोले—बेटा! तुमलोग मुझे कर्ता कहते हो सही, परन्तु असल में तुमलोग अपने ही कर्मफलों के द्वारा पालन-पोषण कर रहे हो और मैं उन कार्यों में निर्लिप्त रहकर स्थित रहता हूँ।

इतना कहकर विष्णु अन्तर्हित हो गये। अनन्तर अष्टावक्र संहार-कर्ता शिव की आराधना करने लगे। उनकी आराधना से प्रसन्न कुछ समय के अनन्तर त्रिशूल हाथ में लिये संहार-कर्ता शिव आकर से बोले—बेटा! तुम मुझे क्यों बुला रहे हो?

अष्टावक्र—प्रभु! क्या आप ही संसार के संहारकर्ता हैं?

शिव—हाँ बेटा! मैं ही संसार का संहारकर्ता हूँ।

अष्टावक्र—प्रभु! मुझे इस टेढ़े-मेढ़े शरीर को लेकर भोजन-वस्त्र में असहनीय कष्ट भोगना पड़ रहा है। एक तो शरीर का कष्ट, उसके -धनाभाव का भयंकर क्लेश। अतः अब इस देह के विनष्ट होने से ही प्रकार के दुःख-कष्टों के हाथ से मुक्त हो सकता हूँ। आप संहारकर्ता करके इस अधम के शरीर का नाश कर दीजिये—यही आप से मेरी प्रार्थना

शिव—बेटा! तुम्हारे इस शरीर का अभी नाश कर सकूँ, ऐसी मुझमें नहीं है। क्योंकि अभी तुम्हारे देहत्याग के उपयोगी समय है। तुम्हारे पूर्वजन्मार्जित कर्मों के प्रारब्ध का फल अभी इसी शरीर में बाकी है। सभी मनुष्यों को इसी प्रकार अपने किये कर्मों का फल

है। इस कर्मफल का भोग समाप्त न होने तक मैं चाहूँ तो जब तब का संहार नहीं कर सकता।

अब तो अष्टावक्र मुनि शिव की बात सुनकर अत्यन्त क्रोधित हो गये, परन्तु हो हुए अपने को संभालकर शिव से बोले—प्रभु! आप कैसे संहारकर्ता तो मैं नहीं समझ सका। यदि मेरे प्रारब्ध-भोग समाप्त होने पर मेरा नष्ट हो जाय तो आपने इस नाश-कार्य में क्या किया? भोग के अन्त में ही तो अपने शरीर का नाश किया। अच्छा कहिये तो क्या ब्रह्मा, विष्णु, आप तीनों एक ही गाँव और एक ही मकान में रहते हैं? क्योंकि मैं हूँ, आप तीनों की बातें एक ही तरह की हैं, कुछ भी न्यूनाधिक है।

तब शिव हँसते हुए बोले—बेटा! मेरी बातों को विशेष ध्यान देकर । हम तीन व्यक्ति पृथक नहीं हैं, एक ही पुरुष हैं। परन्तु अज्ञानी लोग से तीन व्यक्तियों की कल्पना कर तीन नामों से पुकारते हैं। इसीलिए भी अज्ञान-वश तीन व्यक्तियों के रूप में ज्ञान हो रहा है। दूसरी बात यह कि संसार में मनुष्य अपने-अपने पुरुषार्थ के बल पूर्व-पूर्व जन्मों में जैसे-जैसे कर आये हैं और इस जन्म में जैसे-जैसे कर्म कर रहे हैं, उन-उन कर्मों द्वारा ही वे अपने-अपने सृष्टि-स्थिति-संहार-कार्य सम्पन्न कर रहे हैं, किसी दूसरे के हस्तक्षेप करके ह्रास-वृद्धि करने की शक्ति नहीं है।

इतना कहकर शिव भी अन्तर्हित हो गये। बेटा! अब विचार कर देखो, स्वयं ही अपने अदृष्ट के बनाने वाले हो या नहीं। अतः यदि यही निश्चित हुआ तो उसे दृढ़ता के साथ स्मरण में रखकर वर्तमान दुर्लभ मनुष्य में अपने शरीर-मन और धन-सम्पत्ति आदि की शक्ति लगाकर ऐसे-ऐसे कर्मों का सम्पादन कर लो, जिनसे आगामी जन्म में अदृष्ट कर्मफल भोगते तुम्हारा मन यह न कह सके कि पूर्वजन्म के कुकर्मों के फलस्वरूप दुःख रहा हूँ। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में विभोर होकर गाना लगे—

वारे वारे जन्म निये, कारे खोंजो भूमण्डले?
शान्तिदाता केउ नाइ कोथा, वृथा खुँजे हयरान होले॥

'धन दाओ, जन दाओ' बोले, काँदे विश्ववासी सवे।
बाहिरेते केउ नाइ दाता, कैनो भासो नयन-जले ?
( तुमि ) निजेइ निजेर बिधाता, इहाइ जेनो सत्य कथा।
आत्ततत्त ना जानाते, शान्ति कोथाओ ना पेले।
( ऐखन ) ज्ञानी गुरुर आदेश निये, आपनाके खोंजो गिये;
बिबेक असि हाते निये, चलो सदा बिचार बले ॥
देख्बे तखन अज्ञानाँधार, तोमार मने थाक्बे ना आर।
सुख-शान्ति सब मिल्बे तोमार, आपनाके खुँजे पेले ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

बार बार जन्म लेकर भूमण्डल में किसे खोजते हो ?
शान्तिदाता कहीं कोई नहीं है, तुम वृथा खोज कर हैरान हुए
'धन दो, जन दो' कहकर विश्व के लोग रोते हैं।
बाहर कोई दाता नहीं है, क्यों आँसुओं से भीगते हो ?
तुम स्वयं ही अपना विधाता हो, यही जानना सत्य बात है।
आत्मतत्त्व न जानने से ( तुमने ) शान्ति कहीं नहीं पायी॥
अब ज्ञानी गुरु के आदेश से अपने को खोज निकालो।
विवेक खड्ग हाथ में लिये, सदा विचार के बल चलो॥
तब देखोगे अज्ञान अन्धकार तुम्हारे मन में नहीं रहेगा।
अपने को खोज निकालने पर सभी सुख-शान्ति मिल जायगी।

भक्त—हे भगवान ! समय-समय पर ऐसा एक प्रश्न हमारे मन में हुआ करता है कि अदृष्ट प्रबल है या पुरुषार्थ। युक्तिपूर्ण विचार से अदृष्ट की ही प्रबलता निश्चित होती है। आज आपके उपदेश से भी अदृष्ट कर्मफल की ही प्रधानता प्रतीत हो रही है। अतः मेरे अदृष्ट में कुछ लिखा है, वही होगा तो पुरुषार्थ के साथ काम करके वृथा परिश्रम कष्ट क्यों सहूँ ?

महात्मा—बेटा ! अब मैं समझ गया कि अदृष्ट और पुरुषार्थ के सम्पूर्ण विवरण तुम मेरी बातों का आशय न समझ सकने के कारण

...रते हो। साधारण मनुष्य शास्त्र का भावार्थ न समझ कर अनेक स्थलों ...से ऐसा विरुद्धार्थ ग्रहण करते हैं। इस कारण उसका फल भी अशुभ ही ...ता है। अतः इस विषय में मैं पुनः जिस प्रकार बयान करता हूँ, उसे ...ध्यान के साथ सुनो। बेटा! तीव्र पुरुषार्थ अर्थात् दृढ़तर शास्त्रोक्त ...के बिना किसी भी कार्य में शुभ फल प्राप्त करने की सम्भावना नहीं है। ...में रहने से होगा, ईश्वर की कृपा से होगा—इस प्रकार भावयुक्त तमःप्रधान ...के द्वारा अशुभ के सिवाय कभी शुभ नहीं हो सकता। लोग जो दैव या ...की बात कहते हैं, वह कोई मूर्तिमान पदार्थ नहीं है। जिसका नाम ...और जिसका नाम नियति है, उसीको दैव कहते हैं। वह दैव भी पुरुषा-...है। जिसमें जब जिस प्रकार हर्ष या विषाद बिना कारण या अदृष्ट कारण उपस्थित होता है, उस समय लोग उसे दैव कहा करते हैं। दैव ...का ही नामान्तर है और वह भी पुरुषार्थ का ही परिणाम है। ...र्थ का प्रयोग कर मनुष्य जो संकल्प करता है, दृढ़ होने पर प्रायः वैसा ...होता है—यह प्रायः लोगों में देखा जाता है। 'अमुक कर्म का ...फल' इस प्रकार के नियम का नाम ही नियति है। यह नियति भी मन ...से उत्पन्न होती है। अतः मन ही सब विषयों का कर्ता है। मन सुदृढ़ ...से जो कल्पना करता है, वही नियति नाम से परिणत होकर योग्य ...में उसीके अनुसार फल देती है। इससे निश्चित हुआ कि चित्त या ...ही कर्म-नियति और फल-नियति का योजक है। इस मन के अस्तगत (संकल्प-विकल्प-हीन) होने से नियति या दैव भी अस्तगत हो जाता है। ...! तुम निश्चय जान लेना कि इस लोक में पुरुषार्थ के अतिरिक्त कोई ...उत्तम वस्तु नहीं है। अतः उत्कृष्ट पुरुषार्थ का आश्रय कर भोग के ...मन से उपेक्षा का भाव रखो। जब तक भोग में उपेक्षा नहीं आती तब तक ...शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

हे सुमते! अभ्यास की सहायता से बलपूर्वक इन्द्रियों को वशीभूत करके ...के द्वारा चित्त को विचार में संलग्न करो। किसी भी स्थान में, किसी ...आदि के द्वारा कोई भी वस्तु प्राप्त क्यों न हो, सभी प्रत्येक की मनःशक्ति के ...द्वारा ही सम्पन्न होता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। इसीलिए मैं कहता

हूँ तुम भी पौरुष प्रयत्न आश्रय करके इन्द्रिय-पर्वत का उल्लंघन करो संसार-समुद्र उत्तीर्ण होकर इसके दूसरे पार जाकर परम पद प्राप्त शिष्य के भक्ति-रूप पौरुष के बिना गुरु भी उसका उद्धार नहीं कर सकते यदि वे वैसा कर सकते तो गाय, घोड़े, गधे का भी उद्धार हो जाता। संसार में सम्यक् रूप से पुरुषार्थ का प्रयोग कर सकने से सभी व्यक्ति लाभ कर सकते हैं। जिस स्थल में कार्य-सिद्धि या फल-लाभ का मूल पुरुषार्थ अप्रत्यक्ष रहता है या समझ में नहीं आता, वहाँ उस पुरुषार्थ मूढ़ लोग दैव कहते हैं। आत्मज्ञ पुरुषों के उपदिष्ट मार्ग का अवलम्बन शरीर, मन, वाणी से जो सत्कार्यों का अनुष्ठान किया जाता है, उन को ही सफल तथा उसे ही पुरुषार्थ कहते हैं। उसके विपरीत कार्य चेष्टा के समान विफल है और उसे पुरुषार्थ नहीं कहते।

पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं—प्राक्तन (पूर्वजन्मकृत) और ऐहिक (इस जन्मकृत)। उनमें इस जन्मकृत प्रबल पुरुषार्थ प्राक्तन पुरुषार्थ को करने में समर्थ है। दृढ़-अभ्यास-परायण और उत्साहयुक्त पुरुष इस पुरुषार्थ के द्वारा सुमेरु पर्वत आदि को भी विदीर्ण कर रहे हैं, पर्वत के से जहाजों को एक समुद्र से दूसरे समुद्र में ले जा रहे हैं। आकाश-गमन श्रवण, दूर-दर्शन आदि विषय तो प्रतिदिन ही प्रत्यक्ष में आ रहे हैं। पुरुषार्थ की शक्ति असीम है। जिस पुरुषार्थ को शास्त्र के अनुसार और प्रयुक्त किया जाता है वही सफल पुरुषार्थ है। वेटा! निज निज उपयुक्त काल में दैव रूप से परिणत हो जाते हैं, उसके अतिरिक्त दैव नहीं है। ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि मनुष्य केवल प्राक्तन का ही अनुगामी है। 'जो काम कल किया जायगा, उसे मैं आज करूँगा', इस प्रकार उद्योग के साथ उद्यत चित्त से कार्य करने पर उस में अवश्य ही सफलता मिलती है। जिस स्थल में शास्त्रीय पुरुषार्थ करने पर भी अशुभ फल दिखाई पड़ता है, वहाँ समझना होगा कि वह असत् पुरुषार्थ के द्वारा दुर्बल हो गया है। ऐसे स्थलों में हतोत्साह न बार बार प्रबलतर पुरुषार्थ का अवलम्बन करके दाँतों से दाँत विचूर्णित की तरह ऐहिक शुभ उत्पन्न करने के लिए प्राक्तन अशुभ को चूर्णित

है। प्राक्तन पुरुषार्थ ऐहिक पुरुषार्थ से प्रबल नहीं है। जिस प्रकार पूर्व दिन के अति-भोजन से उत्पन्न अजीर्ण रोग वर्तमान दिन के उपवास के द्वारा क्षय हो जाता है, उसी प्रकार ऐहिक प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा भी प्राक्तन पुरुषार्थ (दैव-दोष) विनष्ट हो जाता है। इस विषय में वसिष्ठ मुनि ने रामचन्द्र को उपदेश देते समय कहा था—"हे रामचन्द्र! उद्योग विहीन पुरुष गर्दभ से भी निकृष्ट है। जिस प्रकार सिंह शत्रु के द्वारा पिंजड़े में आबद्ध होने पर भी अपने पुरुषार्थ के द्वारा उस पिंजड़े को तोड़कर मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार तुम भी पुरुषार्थ के बल इस संसार-कारागार से मुक्त हो सकते हैं। तुम पूछ सकते हो कि पुरुषोचित कार्य क्या है? पुरुषोचित कार्य साधुसंग और सत्शास्त्रों का अध्ययन है। 'सम्भवतः दैव आकर मेरे पुरुषार्थ में विघ्न डाल देगा', ऐसे अनुमान की ताड़ना से जो मनुष्य पुरुषार्थ का प्रयोग करने में डरता है, वह मनुष्य अपनी भुजाओं को सर्प समझकर भाग जाने की चेष्टा करता है। 'अदृष्ट में जो कुछ लिखा है वही होगा', ऐसा समझकर जो मूढ़ अपने पुरुषार्थ में विश्वास खो देता है तथा निश्चिन्त और उद्योग-रहित रहता है, भाग्यलक्ष्मी उस अदृष्टवादी पुरुष की निश्चिन्तता देखकर उसे छोड़ चली जाती हैं। अतः मनुष्य को पहले पुरुषार्थ के अवलम्बन द्वारा विवेकाश्रय ग्रहण करना चाहिये। उसके अनन्तर परमार्थ-प्रतिपादक अध्यात्म शास्त्र का आश्रय लेना होगा। आत्मतत्त्व के अपरोक्ष होने तक पुरुषार्थ का प्रयोग करना अत्यन्त कर्तव्य है। आत्मतत्त्व के अपरोक्ष होने पर पुरुषार्थ निवृत्त या समाप्त हो जाता है।"

अतः बेटा! मैंने जो कुछ कहा है वह कहानी नहीं है। उसका मैंने स्वयं अनुभव किया है और गुरुमुख से श्रवण कर अपने विचार द्वारा अपरोक्ष भी किया है। जो लोग समझते हैं कि ऐसे पुरुषार्थ का फल एकाएक होता है, वे अत्यन्त मूर्ख तथा दुर्बुद्धिशाली हैं। यद्यपि पुरुषार्थ में उस प्रकार की शक्ति है किन्तु आलस्य उसका परम शत्रु तथा विघ्नकारक है। मनुष्य यदि आलस्य न करे तो संसार इतना अनर्थपूर्ण न हो। आलस्य के कारण ही यह संसार दुःखी तथा निर्धन जीवों से पूर्ण हो गया है। इस विषय में पीठमाला-तन्त्र कहते हैं—

लोभो जनयतेऽलक्ष्मीं आलस्यं दुःखसन्ततिम्।
दैवं विडम्बनां भद्रे ! उद्योगः सुखनित्यताम्॥

अर्थात्—"जहाँ लोभ, वहीं अलक्ष्मी, जहाँ आलस्य वहाँ निरन्तर दुःख, जहाँ दैव के ऊपर निर्भरता वहीं विडम्बना, परन्तु जहाँ उद्योग (पुरुषार्थ) वहीं नित्य सुख विराजमान है।" अतः बचपन से ही नियमित रूप से सत्शास्त्रों का अध्ययन, सत्संसर्ग में निवास, सद्गुरु की सेवा द्वारा पौरुष प्रयत्न करते सकने पर अपने इच्छित फल अवश्य प्राप्त किया जा सकता है। बेटा! कथित रूप से पूर्वजन्मार्जित कर्मसंस्कार को ही दैव कहते हैं। उसके अतिरिक्त और कोई दैव नहीं है। पुरुषार्थ ही मनुष्य का बलपूर्वक उद्धार करता है। जैसे-जैसे यत्नाधिक्य होगा, वैसे-वैसे फल भी मिलेगा। अतः बलवान व्यक्ति जिस प्रकार दुर्बल बालक को अनायास पराजित कर लेता है, उसी प्रकार बलवान ऐहिक पुरुषार्थ भी प्राक्तन दैव को पराभूत करने में समर्थ है। शास्त्रानुशीलन, गुरूपदेश और अपना परिश्रम इन तीनों के द्वारा ही पुरुषार्थ सिद्ध होता है। मैं जैसा प्रयत्न करूँगा शीघ्र ही वैसा फल पाऊँगा, ऐसा निश्चय करके ही मैंने पौरुष-प्रकाश का फल पाया है। बुद्धिमान मनुष्य अपने पुरुषार्थ के प्रभाव से अनायास दुस्तर संकट से उत्तीर्ण हो जाते हैं, परन्तु दैव के भरोसे निश्चेष्ट होकर बैठे रहने पर कभी संकट से परित्राण नहीं पाया जा सकता। बेटा! दैव क्या है, उसे कोई निश्चय रूप से बता नहीं सकता। परन्तु मूर्ख व्यक्ति दैव-दैव कहकर भय से जीवन बिताते हैं। बेटा! क्षत्रिय कुल में उत्पन्न महर्षि विश्वामित्र आदि महात्मा दैव की चिन्ता छोड़ एकमात्र प्रयत्न के प्रभाव से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सके थे और हम भी पुरुषार्थ के द्वारा ही आत्मज्ञ हुए हैं।

भक्त—प्रभु! यदि ज्ञानी और अज्ञानी सभी को प्रारब्ध या अदृष्ट के फल का समान रूप से ही भोग करना होता है तो आत्मज्ञान लाभ करने का क्या फल होगा? भगवान श्रीकृष्ण ने जो अर्जुन से कहा था कि—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्थात्—"हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ज्ञान-रूप अग्नि भी समस्त कर्म-संस्कारों को भस्म कर देती है।"—इस बात का आशय क्या है?

महात्मा—बेटा! तुम्हारा मन पूर्व-पूर्व जन्मों में अनेक प्रकार के कर्म करता आया है। उन सारे कर्मों के फलों का भोग इस एक ही मनुष्य-देह में सम्भव होना सम्पूर्ण असम्भव है। क्योंकि उन कर्मों में कुछ कर्म ऐसे हैं जिसका फल-भोग तुम्हें पशु या पक्षी के शरीर में भी करना होगा और कुछ कर्मफल ऐसे हैं, जिनका भोग इस मानव-शरीर में ही करना होगा। जिन कर्मफलों का भोग इस मानव-देह में हो सकता है, केवल उन कर्म-संस्कारों को लेकर ही तुम्हारे मन ने इस जन्म में इस मनुष्य-देह को धारण कर लिया है। जिन कर्म-संस्कारों की समष्टि को लेकर वर्तमान देह का आरम्भ हुआ है, उसे ही प्रारब्ध कर्म या अदृष्ट कहते हैं। जिन कर्मों के फलों का भोग दूसरे जन्म में पशु या पक्षी के शरीर के द्वारा होने को है, वे तुम्हारे कर्माशय में अर्थात् मन में संचित रहते हैं, इसी कारण उन्हें संचित कर्म कहते हैं। एक बात और है, पूर्वोक्त प्रारब्ध कर्मफलों का भोग करते हुए वर्तमान जन्म में पुरुषार्थ के बल तुम जो नये-नये कर्म करोगे, उन कर्मों के भी संस्कार उत्पन्न होंगे। इस प्रकार के नये उत्पन्न संस्कारों का नाम क्रियमाण कर्म है। अतः संक्षिप्त रूप से मनुष्य के मन में प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण ये तीन प्रकार के कर्म-संस्कार विद्यमान रहते हैं। बेटा! प्रारब्ध कर्म के दो अंश हैं—एक बाहरी क्रिया और दूसरी मन की उपलब्धि। मान लो, तुम्हारे और मेरे प्रारब्ध में है कि पुत्र-शोक भोगना होगा। तो इनमें तुम आत्मज्ञान-रहित हो इसलिए दृश्यमान संसार प्रपंच को सत्य समझ कर व्यवहार कर रहे हो और पत्नी-पुत्र, गृह-क्षेत्र आदि के साथ दृढ़ रूप से ममत्व के बन्धन के द्वारा बँधे हुए हो। इस कारण पुत्र की मृत्यु होने पर 'हाय मेरा पुत्र मर गया', इस प्रकार के अज्ञान-संस्कार से ही तुम्हारे मन में पुत्र-शोक का असहनीय दुःख उत्पन्न हुआ। दूसरी ओर मैं आत्मज्ञ हूँ, इस कारण दृश्यमान संसार-प्रपंच यथार्थ में ही स्वप्नतुल्य या नाट्यशाला-स्वरूप है तथा यहाँ जो पत्नी-पुत्र आदि दिखायी पड़ रहे हैं और अभिनय करने वालों की तरह मेरी पत्नी,

मेरा पुत्र आदि कहकर व्यवहार करता हूँ वह बिल्कुल मिथ्या है—यह मेरे भीतर दृढ़तर हो गया है। इस लिए अपने पुत्र के ऊपर मुझमें म बुद्धि न रहने के कारण पुत्र की मृत्यु से मेरे मन में कुछ भी शोक अनुभूत नहीं होगा। इसी प्रकार ज्ञानी के अर्थनाश और स्वजन आदि प्रारब्ध कर्मों का फलभोग प्राकृतिक नियम से जिस समय जो है, बाहर वह होता जा रहा है सही, किन्तु उन कर्मों का फल (सुख-दु ज्ञानी के हृदय को छू भी नहीं सकता। श्रुति कहती—"तरति शोकम वित्—आत्मज्ञ पुरुष शोक से उत्तीर्ण हो जाते हैं। शोक-ताप उनके को छू भी नहीं सकते।" अब विचार कर देखो, पुत्र की मृत्यु होना पु ही प्रारब्ध है। क्योंकि वह पुत्र जितने दिनों की आयु लेकर उत्पन्न हुआ उतने ही दिनों तक वह जीवित रहेगा। और पुत्र को मृत्युजनित शोक मन की अज्ञान-कल्पना मात्र है। इसी तरह अज्ञानियों का मन सदा विषाद, आनन्द-निरानन्द, सुख-दुःख आदि तरंगों के बीच में पड़कर भर हँसता और रोता है। परन्तु आत्मज्ञ महापुरुष की ज्ञानाग्नि से प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित आदि सब प्रकार के कर्मसंस्कार ही भस्म जाते हैं। इस कारण हर्ष-विषादादि उनके मन को छू भी नहीं सकते। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा कर्मसंस्कार का नाश नहीं यही गीता के उस श्लोक का तात्पर्य है। और साधारण अज्ञानी मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों तक उन तीन प्रकार के कर्मफलों का भोग करते रहते इस विषय में वेदान्त कहते हैं—

> प्रवृत्तफलस्य तु कर्मणो मुक्तेषोरिव वेगक्षयात् निवृत्तिः।
> 'तस्य तावदेव चिरम्' इति शरीरपातक्षेपकरणात्॥

अर्थात्—"जो कर्मसंस्कार फल देने में प्रवृत्त हुए हैं अर्थात् उत्पन्न कर लिया है, उनका फल अवश्य भोगना होगा। जिस प्रकार निर्मुक्त तीर वेगक्षय न होने तक चलता रहता है, उसी प्रकार शरीर-नाश न होने तक प्रारब्ध कर्मों का भोग अवश्य होता है। नाश होने पर आत्मज्ञ ... सर्वविकार-वर्जित अद्वय ... प्राप्त करते

जैसे हो, किसी आदमी ने भ्रम से एक गाय को शेर समझकर अपने धनुष से एक तीर छोड़ दिया। तीर छोड़ने के दूसरे ही क्षण उसका भ्रम निवृत्त होकर गाय का ज्ञान होने पर भी उसका छोड़ा हुआ तीर अपनी शक्ति से लक्ष्य वस्तु को भेद करेगा; ज्ञान के द्वारा उस तीर का वेग न घटा और न वह तीर रुका। इसी प्रकार जो कर्मसंस्कार अपनी शक्ति से फल देने के लिए उन्मुख हो गये हैं, बिना फल दिये वे कभी निवृत्त नहीं होते। प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोग के द्वारा ही होता है। इस विषय में शास्त्र भी कहते हैं—प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः—"प्रारब्ध कर्मों का भोग से ही क्षय होता है।" नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि—"भोग बिना शतकोटि कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं होता।" अतएव हे सत्यकाम! अदृष्ट के प्रति ध्यान न देकर परिपूर्ण उद्यम से प्रबल पुरुषार्थ का प्रयोग करते चलो और सत्संग में रहकर तत्त्व की आलोचना द्वारा इस संसार-रूपी शोकसागर से उत्तीर्ण होकर कृतकृत्य हो जाओ।

---

# देह और मन की उपासना

भक्त—प्रभु! हमें इतने शोक-दुःख होने का कारण क्या है?

महात्मा—बेटा! धनी-दरिद्र, विद्वान-अविद्वान सभी प्रकार के लोग वैदिक सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर पुराण-कल्पित मिथ्या को आश्रय करके चल रहे हैं। अपनी आत्म-शक्ति पर निर्भरता छोड़ परमुखापेक्षी हो गये हैं। इस कारण तुम्हारे मन में ऐसी धारणा हो गयी है कि, क्या करने से लोग मेरी निन्दा न करके सम्मान करेंगे, कैसे मेरा यश बढ़ेगा इत्यादि। इस प्रकार अपने भीतर की विवेक-बुद्धि के प्रति ध्यान न देकर केवल दूसरों का मुँह ताकते हुए, तुमलोग

सब काम करते हो। इसलिए अपना सुख-दुःख, मान-अपमान दूसरों के हाथ में देने से ही तुमलोग निरन्तर दुःख भोग रहे हो। अतः जब तक आत्मा पर निर्भर रहकर अपने विचार के द्वारा काम नहीं करोगे, तब तक दूसरे प्रकार भी सुख प्राप्त न कर सकोगे। दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा प्रचार करने, चर्चा करने और सुनने में तुम्हारा मन सदा सुख अनुभव करता है। दूसरी ओर दूसरों की प्रशंसा और अपनी निन्दा की चर्चा सुनने से मन मानो विदीर्ण हो जाता है, यही मन का स्वभाव है। इस जब तक तुम्हारा मन अपना दोष देखने में समर्थ न होगा तब तक किसी तुम्हारा साधन-भजन न होगा और न शान्ति ही मिलेगी। केवल दूसरों ताकते रहने और मिथ्या धर्म का स्वाँग रचने से कभी मनुष्य सुखी सकता। अब तक केवल बाहरी धर्म का ढोंग रचकर मूर्तिपूजा आदि के आडम्बर ही दिखाते आये हो। अब उपयुक्त आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति की सेवा-पूजा द्वारा उन्हें प्रसन्न करके उनसे अपने मन की पूजा करना उन्हींके उपदेशानुसार व्यवहारिक और पारमार्थिक जगत की उन्नति में अग्रसर होने के लिए शरीर, मन, वाणी से प्रयत्न करो, तभी घट जायगा।

भक्त—प्रभु! आपने जो अभी अपने मन की पूजा सीखने की इसका आशय मैं नहीं समझ सका और ब्रह्म या आत्मा यदि अद्वितीय वहाँ साध्य और साधक पृथक् नहीं रहते। अतः आत्मा का साधन कैसे होगा?

महात्मा—बेटा! तुमने सत्य ही कहा है, आत्मा का कोई साधन नहीं हो सकता। पहले हमारी यह स्थूल देह, उसके भीतर मन, उसके भी ऊपर सबसे अन्त में सबके साक्षी-स्वरूप आत्मा या ब्रह्म विराजमान अब तुम्हें स्थूल (बाहर) की ओर से क्रमशः सूक्ष्म (भीतर) की ओर आत्मा में पहुँचना होगा। अर्थात् आत्मा को अपरोक्ष रूप से जानना इस स्थूल देह का ज्ञान रहते समय सूक्ष्म देह मन की भी उपलब्धि अर्थात् मन से ही यह देह जानी जाती है, परन्तु देह के द्वारा मन की नहीं होती। क्योंकि मन की अपेक्षा देह स्थूल और जड़ है। मन की

से ही देह में चेतना आती है। फिर वह मन भी जड़ है, उसके ऊपर स्थित आत्मा की चेतना से ही मन चेतन की तरह प्रतीत होता है। देह, मन और आत्मा इन तीनों का मिलन ही जीवभाव है, उनमें आत्मा अद्वितीय और अविकारी वस्तु है। साधन-भजन के द्वारा उसमें कुछ भी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। एकमात्र उस आत्मा के अतिरिक्त दूसरी वस्तु के न रहने के कारण वहाँ आत्मा की उपासना भी नहीं हो सकती। तुम्हारे मन की सीमा तक ही द्वैत जगत है और यह स्थूल देह भी तुम्हारे मन के ही अधीन है। इस कारण तुम कोई भी साधन-भजन क्यों न करो, सभी देह-मन का ही साधन-भजन है। स्थूल देह और सूक्ष्म देह को मन की साधना द्वारा स्वस्थ रख सकने से ही आत्मा प्रकाशित होते हैं। दुर्बल मलिन मन में कभी उनका प्रकाश नहीं होता। इसी कारण श्रुति कहती है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः—"बलहीन व्यक्ति आत्मा का लाभ नहीं कर सकता।" अतः तुम्हें देह और मन की ही उपासना करनी चाहिये। उनमें मन की उपासना करने से ही विचार के प्रभाव के साथ-साथ देह की भी उपासना हो जाती है और इस उपासना की या साधन-भजन की ह्रास-वृद्धि के कारण देह, मन की अवनति या उन्नति हुआ करती है तथा आत्मा का अदर्शन या दर्शन भी इसी कारण होता है। उपरोक्त रीति से स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों के द्वारा साधन करते-करते जब तुम्हारा मन वैराग्य-युक्त होकर निर्मल और सबल होगा, तभी वह स्वाभाविक क्रम से अन्तर्मुखी होकर आत्मा में लवलीन हो जायगा। उस समय मन सुख-दुःख के परे आत्मा के शान्तिनिकेतन में जाकर निरवच्छिन्न परमानन्द का भोग करता है; केवल अपने मन की उपासना या पूजा करने के लिए ही मनुष्य इस दुर्लभ मानव-कुल में जन्मा है और केवल इस मन की उपासना द्वारा ही वह इस जगत में श्रेष्ठत्व प्राप्त कर सकता है। अतः जो व्यक्ति इस दुर्लभ मनुष्य-देह तथा पुरुष-देह प्राप्त होकर भी अपने मन की पूजा नहीं करता वह मनुष्य-रूप में पशु के समान है। उसका जन्म ही वृथा है। अपने मन की पूजा कर सकने से ही तुम देख सकोगे कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सारे देवताओं की पूजा सम्पन्न हो गयी है और साथ-साथ उस पूजा के फलस्वरूप उपासना के प्रभाव से अपने मन के सारे भोग्य ऐश्वर्य प्राप्त होकर तुम पूर्णकाम

हो गये हो। इस कारण संसार में जितने प्रकार की पूजाएँ हैं, उनमें मन की पूजा ही सबसे श्रेष्ठ है। इससे उत्कृष्ट तुरन्त फल देने वाली पूजा नहीं है। मनुष्य एक-एक कौर अन्न खाते ही साथ ही साथ क्षुधा-निवृत्ति फल पाते हैं, अपने मन की पूजा के साथ उसी प्रकार मन की वासना-निवृत्ति होने से तुम भी परम शान्ति की उपलब्धि कर सकोगे। इतना कह महात्मा आँखें बन्द करके भजन गाने लगे—

(सदा) मनेर प्रभाव देखा जाय।
मन बिना त्रिजगते किछु नाहि हय॥
मन करे, मन गड़े, मन भाङ्गे, मन चूरे।
आनन्द-निरानन्द सब, मनेतेइ रय॥
पाप-पुण्य, धर्माधर्म, मनेतेइ सर्ब कर्म।
(ए सब) मनेतेइ उदय स्थिति, मनेते हय लय॥
चित्त बुद्धि अहंकार, मनइ तार मूलाधार।
(एइ) मनेर धाँधाय पोड़े लोके बिवेक-हारा हय॥
शत्रु मित्र जतो किछु, निज मनइ सब किछु।
मन जार मित्र हय तार, शत्रु कि आर रय?
जार मन बशे रय, सेइ जन राजा हय।
त्रिभुवन-जयी सेइ, (तार) नाहि थाके भय॥
ब्रह्मा बिष्णु महेश्वर, एइ मनइ सर्बेश्वर।
मनके जे पूजे सेइ जगत्-पूज्य हय॥
मनेर शक्ति जे ना जाने, शास्त्र तारे पशु गणे।
हइया से नर-पशु, दुःखे काल काटाय॥
सत्संगे मनस्तत्त्व, जेने नैओ हे परम तत्त्व।
परम शान्ति लाभेर, नाहि अन्य उपाय।

इसका आशय इस प्रकार है—

सदा मन का प्रभाव दिखाई पड़ता है।
मन बिना त्रिभुवन में और कुछ नहीं है॥

मन करता है, मन गढ़ता है, मन तोड़ता है।
आनन्द-निरानन्द सब मन में ही है ॥
पाप-पुण्य, धर्माधर्म, मन में ही है सब कर्म।
मन में ही उदय-स्थिति और मन में ही है लय ॥
चित्त बुद्धि अहंकार, मन है सब का मूलाधार।
मन के धोखे में फँस लोग विवेक खो देते हैं ॥
शत्रु मित्र सब कुछ, अपने ही मन में सब कुछ।
मन जिसका मित्र है, शत्रु उसका कहाँ है ?
जिसका मन वश में है, वही राजा विश्वमय।
त्रिभुवनजयी है वह, नहीं रहे भय ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश्वर, यह मन ही है सर्वेश्वर।
मन को जो पूजता है, वह जगत्-पूज्य है ॥
मन की शक्ति न जानने पर, शास्त्र उसे पशु कहते हैं।
वह नर-पशु होकर, दुःख से जीवन बिताता है ॥
सत्संग में मनस्तत्त्व, जान लो यह परम तत्त्व।
परम शान्ति लाभ का अन्य उपाय नहीं है ॥

भक्त—भगवन् ! मन की पूजा कैसे की जाती है ?

महात्मा—बेटा ! जिस कार्य के करने से जिसको शान्ति मिलती है, वही यथार्थ पूजा है। यदि कहो कि धन-जन आदि विषयों के उपभोग ही तो मन शान्ति पाता है। अतः मन को उन विषयों का उपभोग देने से ही तो मन की पूजा हो जाती है। उसके उत्तर में कहना है विषयों के उपभोग से कभी चिरशान्ति नहीं मिलती। जो क्षणिक शान्ति होती है वह तुम्हारे समझने का भ्रम है। विचार करने से तुम्हें मालूम कि विषयों के उपभोग से तुम्हारा मन विषय-विष की जलन से सदा ही जलता रहता है। जब तक मन अपने सृष्टि-स्थिति-लय का कारण यथार्थ रूप जान न सके, तब तक वह शान्ति नहीं पाता। अतः जिससे मन में अपने सृष्टि-स्थिति-लय का कारण जानने के लिए तीव्र आग्रह उत्पन्न हो और विचार जिससे मन उस कारण के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सके, गुरु-

वाक्य और वेदवाक्य के द्वारा उसीके अनुरूप प्रयत्न करते रहना ही
पूजा है। बेटा! तुम्हारे घर के बर्तनों को प्रतिदिन मलकर साफ
होता है, घर-द्वार भी प्रतिदिन झाड़-पोंछ कर साफ-सुथरा कर लेना है
स्नान के समय शरीर को मल-मलकर प्रतिदिन ही परिष्कृत कर लेना है
इन कामों को यदि प्रतिदिन न किया जाय तो ये सभी चीजें व्यवहार के
हो जाती हैं। उसी प्रकार प्रतिदिन सत्संग में रहकर सदुपदेश
मन को मार्जित कर लेना होता है, नहीं तो तुम्हारा मन भी व्यवहार के
हो जायगा और उससे बाहरी और भीतरी जगत् के सर्वत्र ही काम लेना
हो जायगा। परन्तु दिन-रात चौबीस घण्टों में क्षणभर के लिए भी तुम
भी अपने मन की ओर ध्यान नहीं देते और न एकान्त में बैठकर कभी
मन के साथ वार्तालाप ही करते । अतः तुम अपने मन की पूजा कैसे
तुम मन को प्यार नहीं करते, इसलिए वह इतना अधिक दुःख
रहा है। यदि सचमुच ही तुम अपने मन को प्यार करते तो जिससे वह
में न भटके और विचार-शक्ति के बल अपना दोष देखकर विष
पान न करके (विषयों के साथ ममत्व-बुद्धि स्थापित करके तन्मय न
अपने सृष्टि-स्थिति-लय का कारण जानकर चिरशान्ति का भोग कर
शरीर, मन, वाणी से उसीका प्रबन्ध करते और सदा ही उस मार्ग
के लिए मन को सुपरामर्श देते। परन्तु तुम उसके सम्पूर्ण विरुद्ध
शत्रुता का आचरण करते हो, क्योंकि तुम अपने अन्ध मन के
रूप में सुसज्जित सांसारिक विषयों के विषफल ला देते हो और
उन नाम-रूपों के मोह में पड़कर उस विषफल को खाकर विष
जलते हुए हाहाकार कर रहा है। अपनी बुद्धि की त्रुटि से तुम ठीक
से अनेक जन्मों तक इस प्रकार अपने मन के साथ शत्रुता का
आ रहे हो। इस प्रकार विष पिलाकर जीवन को जर्जरित करने
अधिक शत्रुता का कार्य संसार में और क्या हो सकता है?

भक्त—करुणामय! आपने जो मेरे अपने मन के साथ वार्तालाप
की बात बतायी, वह वार्तालाप कैसे किया जाता है? इसका आशय मैं
नहीं समझ सका।

महात्मा—हे सुव्रत ! आत्मज्ञ व्यक्ति का उपदेश सुनते-सुनते तुम्हारे मन विचार-शक्ति के उत्पन्न होने पर तुम एकान्त में अपने जीवन की बीती हुई घटनाओं की विशेष रूप से आलोचना करते रहो और अपने विवेक को मन पहरा देने के लिए नियुक्त करो, मन किस ओर जा रहा है, क्या सोच रहा है, इस पर ध्यान रखकर कुमार्ग से उसे लौटा लाओ। इस प्रकार मनोराज्य दृष्टि रखने का नाम ही मन के साथ वार्तालाप करना है। इस प्रकार से जाग्रत, स्वप्न और संकल्प आदि चित्त के सभी कार्यों का अनुसन्धान करते तभी देख सकोगे कि चित्त की लीला से सुख को दुःख, दुःख को सुख, शान्ति को अशान्ति, अशान्ति को शान्ति और अनेक योजनों को गोष्पद के तथा अल्प दूर भी अनेक योजनों के समान प्रतीत हो रहे हैं। इसीलिए अज्ञानी की दृष्टि से यह संसार अनेक योजन विस्तृत तथा विवेकी की दृष्टि से पदतुल्य है।

भक्त—प्रभु ! आपकी बात से ऐसा लग रहा है कि ईश्वर को पृथक समझ-कर उनकी उपासना द्वारा वह प्राप्त नहीं होते। क्योंकि उससे अपने को नहीं पा सकता। प्रभु ! तो ईश्वर की उपासना कैसे की जायगी ?

महात्मा—बेटा ! ईश्वर सर्वव्यापी हैं, यह बात तो तुम बचपन से ही सुनते आये हो। यदि वह सर्वव्यापी हैं तो तुम्हें भी व्याप्त कर वह विराजमान हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। नहीं तो तुम्हें छोड़ देने से उनकी सर्व-व्यापकता खण्डित हो जाती है। अतः जब वह तुम्हारे भीतर-बाहर सर्वत्र व्याप्त होकर विद्यमान हैं तो तुम अपने भीतर उत्तम रूप से अनुसन्धान करने पर ही ईश्वर को पा सकोगे। इसीका नाम परम तत्त्व या आत्मज्ञान है। ईश्वर तुम्हारे इतने निकट रहने पर भी तुम क्यों हाथ उठाकर 'आओ आओ,' इस प्रकार चिल्लाकर गगन-पवन विदीर्ण कर रहे हो और दूर-दूर तीर्थों में भटक-भटककर वृथा क्यों इतना कष्ट सह रहे हो ? क्यों ईश्वर को अपने से बहुत दूर समझ कर नाना प्रकार की देव-देवियों की मूर्ति बना रहे हो ? क्यों फूल, बेलपत्ती आदि का संग्रह करके क्यों दुःख का बोझ मस्तक पर लेते हो ? बेटा ! शरीर-संचालन के बिना ये सब कर्म सम्पादित नहीं होते, परन्तु शरीर संचालन न करके भी केवल मनोवृत्तियों को रुद्ध करके परमार्थ-पद प्राप्त

किया जा सकता है । स्वासन में उपवेशन, यथासम्भव भोजन, ... वासना का विसर्जन, सत्पथ का अनुसरण, देश-काल-पात्र के अनुसार ... विचार, सद्गुरु की सेवा, साधुसंग का अनुवर्तन, इस ग्रन्थ तथा अन्य मोक्षशास्त्रों का पठन-पाठन आदि द्वारा शोक-शान्ति-रूप परमात्मज्ञान प्राप्त ... है। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में विभोर होकर गाना गाने लगे—

'एसो प्रभु एसो' बोले, हात बाड़ाये डाको कारे।
से जे अन्तरेते रे भाई, वृथा लोके चीत्कार करे॥
समाजेरइ चाल-चलने, जन्मावधि देखे-शुने।
(तुमि) मनेर भ्रम-कल्पनाते, राखछो ताँरे वहु दूरे॥
सूर्जेर आलो आर अन्धकार, अन्धेर निकट सब एकाकार।
तेम्नि आत्तसूर्जेर ज्योति, अज्ञानान्ध आँधार हेरे॥
बहु जन्म ए भावे गैलो, एबार बिचार कोरे चलो।
ज्ञानी गुरुर आदेश मान्ले, पावे ताँरे हृद्माझारे॥

इसका आशय इस प्रकार है—

'आओ प्रभु आओ' कहकर हाथ फैलाकर किसे पुकारते हो?
वह तो अन्तर में हैं, लोग वृथा पुकारते हैं॥
समाज के चाल-चलन जन्म से देख सुनकर।
तुम मन की भ्रम-कल्पना से उन्हें बहुत दूर रखते हो॥
सूर्य का प्रकाश और अन्धकार, अन्ध के निकट सब एकाकार।
वैसे ही आत्मसूर्य की ज्योति में अज्ञानान्ध देखता अन्धकार॥
अनेक जन्म ऐसे बीते, अब विचार कर चलते जाओ।
ज्ञानी गुरु का आदेश मानने पर उन्हें हृदय में ही पाओगे॥

पुनः महात्मा कहने लगे—हे सुमते! उपासना करूँगा, कहकर जो ... बार चिल्लाते हो उस उपासना शब्द का अर्थ क्या है, जानते हो? उप=... आसीन=उपविष्ट। अर्थात् अत्यन्त निकट में उपवेशन को उपासना ... मन जब अपने उपास्य देव के अति समीप रहकर उनकी चिन्ता ... तभी उपासना सिद्ध होती है। साधारण मनुष्य खुशामद करने को ही ...

सकते हैं। परन्तु शास्त्र में है—ज्ञानी व्यक्ति ब्रह्मोपासना करते हैं। यह ज्ञानी व्यक्ति किसलिए किसकी खुशामद करेंगे? अद्वैत ब्रह्म की तो खुशामद नहीं की जा सकती। अतः समझना चाहिये कि उपासना का अर्थ खुशामद नहीं है बल्कि समीप में उपवेशन करना है।

भक्त—प्रभु! आपने पहले कहा है—'मैं अन्य हूँ और देवता अन्य हैं, इस भाव से ईश्वर की उपासना नहीं होती।' तो इस प्रकार समीप में उपवेशन की बात क्यों कह रहे हैं? कौन किसके समीप बैठेगा?

महात्मा—बेटा! तुम्हारा मन तुम्हारे अर्थात् अपने आत्मा के समीप बैठेगा। जरा सोचकर देखो, तुम्हारी देह के किसी स्थान में बैठे रहने पर भी तुम्हारा मन सदा ही बाहर नाना प्रकार के विषयों में, देश देशान्तरों में कामिनी-काञ्चन के रसास्वादन में घूमता रहता है। क्षणभर के लिए भी वह मन तुम्हारे समीप आकर नहीं बैठता। जब तुम्हारा मन उस प्रकार की दौड़-धूप या चंचलता छोड़ शान्त भाव से आकर तुम्हारे पास बैठेगा, तभी तुम्हारी यथार्थ उपासना का कार्य चलता रहेगा। हे सुमते! आँख खोलने पर बाहरी पदार्थों के रूप, चंचलता आदि दिखायी पड़ते हैं और आँख मूँद लेने पर अपने भीतर मन के रूप, चंचलता आदि दिखायी पड़ते हैं। जो अपने मन की चंचलता देखकर उस चंचल मन को स्थिर कर सके हैं, केवल वही संसार के दूसरे मनों की स्थिति, समाचार आदि जानने में समर्थ हैं—दूसरा नहीं। सत्संग में रहकर महापुरुष के वाक्यों के श्रवण-मनन द्वारा विचार-शक्ति के बल मन को शान्त करके अपने समीप अर्थात् आत्मस्थ रखने के लिए जो चेष्टा की जाती है, उसीका नाम 'मन की उपासना' है। अतः व्यवहारिक जगत् की सब प्रकार की बाहरी उपासना छोड़ अन्तर्मुखी होकर एकमात्र मन की उपासना करना ही तुम्हारा प्रधान कर्तव्य है।

भक्त—प्रभु! मैं कितनी ही प्रकार के प्रश्न क्यों न करूँ, आप अकाट्य युक्ति-प्रमाणों द्वारा समझाते हुए भगवत्प्राप्ति तथा आत्मज्ञान लाभ एक ही विषय है, उसे प्रतिपादित कर उस एक ही स्थान में मुझे बार बार पहुँचा दे रहे हैं। यह मुझे कुछ आश्चर्य-सा लग रहा है।

महात्मा—बेटा ! गुड्डी उड़ाते समय वह कितनी ही ऊँचाई पर पहुँचे, परेता अपने हाथ में ही रहता है। अतः सूत खींचते ही वह गुड्डी हाथ में आ जाती है, इसमें बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है। उसी प्रकार कितने ही प्रश्न क्यों न करो, तुम्हें घूम-फिरकर ठीक उसी परम स्थान (ब्रह्म) में ही पहुँचना होगा। क्योंकि जाने का अन्य कोई पृथक् स्थान नहीं है। एक के साथ ही सारा संसार बँधा हुआ है। अतः इस सत्य विषय में की बात क्या है ?

हे सत्यकाम ! समुद्र की लहर समुद्र से ही उठकर समुद्र में ही रहती है और अन्त में उसी समुद्रमें लय-प्राप्त हो जाती है। अतः समुद्र को छोड़कर क्या कभी लहर देखना या लहरों के विषय में करना सम्भव है ? ठीक उसी प्रकार यह दृश्यमान संसार भी ब्रह्म-समुद्र की लहरों के समान है। यह ब्रह्म से उठकर ब्रह्म में ही स्थिति और लय प्राप्त कर रहा है। अतः ब्रह्म को छोड़कर संसार के अस्तित्व का अनुभव करना या संसार के विषय में किसी प्रकार की चर्चा करना कदापि सम्भव नहीं है, यही सिद्ध सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध में वैष्णव कवि कह गये हैं—

"ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होकर ब्रह्म में ही स्थित होता है। फिर वही जगत् ब्रह्म में ही लय प्राप्त हो जाता है।"

---

# नास्तिक और आस्तिक

भक्त—प्रभु ! मैं देखता हूँ कि आपके उपदेशानुसार चलने से लोग मेरी उपहास करेंगे।

महात्मा—बेटा ! अनादिकाल से ही ज्ञानियों की संख्या अल्प है, कारण उनके आचार-व्यवहार और वार्तालाप से अज्ञानियों को उपहास

अवसर मिलता है ; कभी कभी वे घृणा या तुच्छता भी दिखा सकते हैं। तुम उस ओर ख्याल न करके तुम स्वाधीन नित्य मुक्त आत्मा हो, यह जान कर उन अज्ञानियों को अज्ञान से मुक्त करो। अर्थात् जो लोग माया-आवरण और अन्धकार में दृष्टिहीन होकर दिन-रात छटपटा रहे हैं, उन्हें ज्ञानालोक और शान्ति के राज्य में पहुँचा दो। बेटा ! पिता अपने शिशु-पुत्र के द्वारा तिरस्कृत या ताड़ित होकर भी क्लेशित या क्रोधान्वित नहीं होता। शिशु सम्भवतः पिता का कान पकड़कर खींच रहा है और बार बार कह रहा है— बाबूजी, मिठाई दो, खिलौना दो इत्यादि। परन्तु उसके उस वचन को वह अमृतं बालभाषितम् समझकर क्रोधित नहीं होते, बल्कि उसे लाड़-प्यार करते हैं। ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञ महात्मा अज्ञानियों के द्वारा निन्दित या प्रशंसित होने पर भी क्रोधित या आनन्दित नहीं होते और न उनकी निन्दा या प्रशंसा ही करते हैं। अज्ञानियों को जिससे तत्त्वज्ञान लाभ हो, ज्ञानी महात्मा ठीक उसीके अनुसार व्यवहार करते हैं। अज्ञानियों को उपदेश देने के अतिरिक्त आत्मज्ञ महापुरुष का कोई दूसरा कर्तव्य कर्म संसार में नहीं है।

भक्त—प्रभु ! आपकी तत्त्वज्ञान की बातें सुनकर साधारण मनुष्य आपको नास्तिक कहेंगे।

महात्मा—बेटा ! मेरी इन आत्मतत्त्व की बातें या अपरोक्ष रूप से अनुभूत यथार्थ सत्य बातें सुनकर तुम्हारे जैसे साधारण अज्ञानी चौंक उठेंगे। कुछ लोग भय से विकल होकर नास्तिक, अधार्मिक आदि कहकर अनेक प्रकार के प्रलाप बकेंगे। इस विषय में वेदान्त कहते हैं—

मग्नस्याब्धौ यथाक्षाणि विह्वलानि तथास्य धीः।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः॥
गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम्।
साकारध्याननिष्ठानामत्यन्तं भयामुचिरे॥
अस्पर्शयोगनामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥ (पञ्चदशी)

अर्थात्—"जिस प्रकार समुद्र में मग्न व्यक्ति की इन्द्रियाँ मृत्युभय से

विकल हो जाती हैं, उसी प्रकार असत्तावादी का अन्तःकरण भी अखण्ड एक अद्वितीय आनन्द स्वरूप ब्रह्म की बात सुनकर उसमें अपनी बुद्धि का प्रवेश न होने के कारण भयभीत हो जाता है। इस विषय में गोड़पाद आचार्य ने कहा है कि निर्विकल्प समाधि की बात सुनकर साकार-ध्याननिष्ठ अन्य योगी अत्यन्त भय प्राप्त होते हैं। इसका नाम अस्पर्श योग है। अन्य सब प्रकार के योगियों के लिए यह दुर्दर्श है। इस अभयपद में अन्य योगी भयभीत होते हैं, जैसे कि निर्जन स्थान में छोटा बालक भय-प्राप्त होता है।"

नास्तिक किसे कहते हैं, जानते हो? साधारण लोग जिसे नास्तिक कहते हैं, यथार्थ में वही आस्तिक है। जिसके मन में सांसारिक कोई भी वस्तु सत्य रूप से स्थित नहीं रहती, वही यथार्थ आस्तिक है। अतः ऐसे मनुष्य संसार में दुर्लभ हैं। मन में अन्य कुछ विषय स्थित न होने पर भी 'मैं हूँ' यह ज्ञान हर मनुष्य के मन में रहता है। परन्तु तुम जो नास्तिक की बात कहते हो वह एक पक्ष के लिए नास्तिक है। मान लो, ५० आदमियों को एक रस्सी में सर्प भ्रम हुआ है। इस कारण वे सभी सत्य और प्रत्यक्ष सर्प देख रहे हैं। एक व्यक्ति को मालूम था कि वहाँ एक रस्सी पड़ी हुई थी। उसने आकर उन सब को बताया कि यह साँप नहीं, रस्सी है। अब किसकी बात सत्य होगी? देखा जाता है कि अधिक संख्यक लोग जिसे सत्य मानते हैं, उसी को करना उचित है। इस कारण उन ५० व्यक्तियों की बात से वहाँ सर्प सत्य मान लेना होगा। अब वे ५० सर्प-विश्वासी व्यक्ति रस्सी-विश्वासी से कहते हैं—"हम सभी इसे सर्प मानते हैं, परन्तु तुम इसे नहीं मानते। तुम नास्तिक हो।" दूसरी ओर रस्सी-विश्वासी व्यक्ति सर्प-विश्वासियों को कहता है—"यहाँ सर्प कहाँ? एक रस्सी मात्र पड़ी हुई है। अतः रस्सी को सर्प मानने वाले तुमलोग नास्तिक हो।" इसी प्रकार दोनों ही अन्य पक्ष को नास्तिक कहते हैं। अब विचार कर देखो, नास्तिक कौन है? बाद में रज्जु-विश्वासी उनका हाथ पकड़कर दिखा देता है कि वहाँ रस्सी मात्र है, तब सर्प-विश्वासियों का भ्रम दूर हो जाता है। इस दृश्यमान संसार में भी नास्तिक और आस्तिक के विषय में ठीक वही नियम है। रस्सी में सर्प-भ्रम की तरह साधारण लोगों को जगत्-भ्रम हुआ है। संसार के १००० व्यक्तियों में ६६६ व्यक्ति कहेंगे—

अस्ति, ब्रह्म नास्ति' और केवल एक व्यक्ति कहेगा—'जगत नास्ति, ब्रह्म ही अस्ति।' अतः पूर्व दृष्टान्त की तरह यहाँ भी दोनों ही दूसरे पक्ष की दृष्टि नास्तिक हैं। बाद में उस रस्सी की तरह जब सचमुच ही जगत् नास्ति और अस्ति प्रमाणित होगा तब तुम मुझे नास्तिक नहीं कहोगे। पहले रस्सी के के अभाव के कारण वे लोग रस्सी-विश्वासी को नास्तिक कहते थे, तुम भी ठीक उसी प्रकार अज्ञानवश मुझे नास्तिक कहोगे। परन्तु भ्रम के दूर पर यथार्थ रस्सी का ज्ञान होने से वे लोग रस्सी-विश्वासी को फिर नास्तिक कह सके थे, तुम लोगों को भी जब उसी प्रकार जगत् का भ्रम दूर होकर ज्ञान या ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगी, तब फिर मुझे नास्तिक नहीं कह सकोगे। ! यह संसार असत्य है एकमात्र आत्मा ही सत्य और नित्य है। इस वाक्य जो उपहास करते हैं, वे मूढ़ हैं, सारदर्शी नहीं। अतः उनका वह उपहास के प्रलाप के समान है। मृत शरीर को सहस्रों बार कर्म में नियुक्त करने जैसे वह उठकर कोई काम नहीं करता, वैसी ही अनेक प्रकार के युक्ति-यों से समझाने पर भी विषयासक्त द्वैतभाव-निबद्ध तथा विचारशक्ति-रहित अद्वैत आत्मा की बात नहीं समझेगा। 'जगत ब्रह्ममय है' यह बात अज्ञानी नहीं कह सकते, मुख से कहने पर भी अन्तर में उस बात पर विश्वास नहीं अथवा अज्ञानियों के प्रति ऐसा उपदेश फलप्रद नहीं है, क्योंकि वे ज्ञानादि के अनुभव के बाहर रहकर चिरकाल तक केवल नाम-रूप-मय भाव ही का दर्शन कर रहे हैं। जो लोग अल्प प्रबुद्ध हुए हैं अर्थात् विचार आदि विषयों में कुछ अभ्यस्त हुए हैं, उन्हींके प्रति अहं ब्रह्म अस्मि, नानास्ति किंचन—मैं ब्रह्म हूँ, इस संसार में कुछ भी नाना वस्तु नहीं है, ब्रह्म है—आदि उपदेश सफल होते हैं। हे सुव्रत! रस्सी में सर्प-भ्रम के में एक ही साथ रस्सी और सर्प दोनों ही दिखायी नहीं पड़ते। जब सर्प तब रज्जु नास्ति होता है, फिर जब रज्जु अस्ति, तब सर्प नास्ति हो जाता उसी प्रकार एक ही साथ ब्रह्म और जगत् दोनों ही का प्रत्यक्ष नहीं हो है। जब विचार द्वारा निःसन्देह रूप से जगत् नास्ति ज्ञान होगा तभी यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होगा और जब तक जगत् अस्ति ज्ञान रहेगा, तब तक ब्रह्म-का सम्पूर्ण अभाव रहेगा... यही सिद्धान्त है। रस्सी में सर्प-भ्रम होने पर

उस व्यक्ति को जब सत्य रस्सी का ज्ञान होता है तब वह स्पष्ट हो देखता है कि अब तक अपनी अज्ञानता के वश में सत्य रस्सी में मिथ्या सर्प की कल्पना कर भय से अशान्ति भोग रहा था। ठीक उसी प्रकार जब किसी को आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान) होता है तब वह समझता है कि मैं अब तक अज्ञानवश सत्य नित्य आत्मा में मिथ्या जगत् की कल्पना कर शोक-ताप से जर्जरित हो रहा था।

मैंने पहले ही तुम से कहा है कि इस संसार में आत्मा का ही अस्तित्व है। नाम-रूप-मय संसार दिखाई पड़ने पर भी यथार्थ में वह नहीं है। अतः जो आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करता है, वही यथार्थ में आस्तिक है और जो मिथ्या संसार की मूर्ति आदि को सत्य समझता है, आत्मा को नहीं मानता वह यथार्थ में नास्तिक है। अतः तुम मन की उपासना के द्वारा योग का अभ्यास किये बिना जगत् अस्ति या ब्रह्म अस्ति समझ न सकोगे।

भक्त—प्रभु! योग किसे कहते हैं?

महात्मा—बेटा! अब रात हो गयी है, आगामी कल तुम्हें योगतत्त्व बताऊँगा।

---

# योग

भक्त—प्रभु! आपने कल कहा था कि आज योगतत्त्व बतावेंगे, कृपापूर्वक उसीका वर्णन कीजिये।

महात्मा—बेटा! मनुष्य इस योग के द्वारा आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व जान कर माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

भक्त—प्रभु! योग किसे कहते हैं?

महात्मा—तुमने बचपन में गणित का योग किया है या नहीं?

जैसे १+३+४=८ होता है, ठीक उसी प्रकार अनेक संख्याओं को एक में परिणत करने का नाम योग है।

भक्त—लोग माया-बन्धन से मुक्त होकर आत्मदर्शन के लिए जो योग करते हैं, वह योग कैसा है?

महात्मा—आत्मदर्शन के लिए जो योग करते हैं, वह भी ठीक इसी प्रकार अनेक को एक में परिणत करना है। परन्तु इस आत्मदर्शन-योग को योग न कहकर वियोग कहना ही उचित है। क्योंकि इस योग की विशेषता यह है कि इसमें योग स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान है। इसलिए यहाँ पहले अन्य वस्तुओं से वियोग ही करना चाहिये। परन्तु खेद की बात है कि मनुष्य यह वियोग करना नहीं चाहते। यथार्थ में केवल वियोग करने से ही योग अपने आप हो जाता है। उस समय योग के लिए तुम्हें अणुमात्र भी चेष्टा नहीं करनी होगी। अतः इसे योग न कहकर वियोग कहना ही उपयुक्त है।

भक्त—भगवन्! आप जो इस योग को वियोग कह रहे हैं, इसका तात्पर्य मैं नहीं समझ सका।

महात्मा—बेटा! तुम्हारा मन पत्नी-पुत्र, गृह-क्षेत्र, पशु-वित्त आदि अगणित अन्य विषयों के साथ मिलकर असंख्य भागों में चिन्ता के द्वारा सदा ही योग-युक्त रहता है। यह योग तुम्हें अपनी चेष्टा से नहीं करना पड़ा है, इन्द्रियाँ बहिर्मुख होने से यह योग अपने आप हो जाता है। अब उस असंख्य भागों में विभक्त मन को एकत्रित करके एक संख्या में परिणत करना होगा। इसलिए अपने मन से सारी विषय-चिन्ता छोड़नी होगी। इस प्रकार मन से विषयों का सम्बन्ध या संकल्प-विकल्प छोड़ देने पर तुम समझ जाओगे कि मन अकेला ही रह गया है। इस प्रकार अकेला होकर खाली हो जाने पर तुम्हारा मन स्वाभाविक रूप से अपने आत्मा के साथ युक्त हो जायगा। इस कारण उस समय मन रूप जीव और आत्मा में अभिन्नता का बोध होता है, यही यथार्थ में योग शब्द का अर्थ है। अब विचार कर देखो कि इसे योग और वियोग दोनों ही कह सकते हो। परन्तु मन से विषयों का वियोग करने के लिए मन के साथ बिना संग्राम किये वह कभी सिद्ध होने का नहीं। फिर देखो, योग के बिना त्याग भी नहीं होता।

योगसाधना ही मुख्य साधना है। योगसाधना का फल है त्याग। प्रकृति के पु
के साथ युक्त होने से ही योग सिद्ध होता है। पुरुष हैं—परमात्मा और
प्रकृति है—जीवात्मा। यह जीवात्मा जब परमात्मा के साथ युक्त होता है
योग सिद्ध होता है। इस योग के द्वारा चित्त-वृत्ति का वहिर्मुखित्व निरुद्ध
मनुष्य मुक्त हो जाता है।

भक्त—दयामय! लोग कहते हैं—नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्—
मुनि नहीं हैं जिनका मत भिन्न न हो। अतः नाना शास्त्रों में नाना प्र
योग प्रतिपादित हैं, परन्तु आप जिस योग की बात कह रहे हैं वह किस
का योग है? और उन अनेक प्रकार के योगों में कौन सत्य और कौन मिथ्या
उसका मैं कैसे निश्चय करूँगा?

महात्मा—बेटा! अल्पज्ञ मुनि-ऋषियों में मत-भेद रहने पर भी परम
महर्षियों का मत आत्मा के विषय में एक ही है। जिस प्रकार गंगा,
गोदावरी, कावेरी आदि विभिन्न नदियाँ अन्त में समुद्र में जाकर मिल
उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ महात्मा ज्ञान-नेत्र से देखते हैं कि संसार के सभी
में एक ही ब्रह्म-समुद्र में जा मिल जाते हैं। अतः इस प्रकार के महापुरु
वाक्यों का भावार्थ कभी भिन्न नहीं हो सकता। किसी किसी स्थल में शब्दों
हो सकता है, परन्तु अर्थ में नहीं। जैसे जल शब्द के स्थान में पानी
कहा जाता है। मैं तो हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई आदि सम्प्रदा
महात्माओं के वाक्यों में कोई भी मतभेद नहीं देखता। इसलिए कहता हूँ
विभिन्न सम्प्रदाय जो कुछ कहते हैं वह सम्पूर्ण सत्य है, परन्तु उन वाक्यों
ठीक आशय क्या है, समझ लेना होगा। कभी कभी लोग विभिन्न
उपदेशों को विरुद्ध समझते हैं। विशेष करके उन लोगों ने भी उन
को स्पष्ट रूप से नहीं बताया है। वेदान्त भी कहते हैं—

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा॥ (ब्रह्मबिन्दु उप

अर्थात्—"गाय अनेक प्रकार के रंग की होने पर भी दूध एक ही
होता है और उसी प्रकार ज्ञानी के उपदेश विभिन्न प्रकार के होने पर भी

ज्ञान एक ही प्रकार का है। जैसे सारे दूध में घी व्याप्त है उसी प्रकार जीवों के भीतर चैतन्य-स्वरूप आत्मा गूढ़ भाव से विराजमान है। मन्थन-दण्ड के द्वारा दूध को मथने से जिस प्रकार उसके भीतर का घी मक्खन के रूप से दूध के ऊपर तैरने लगता है, उसी प्रकार आत्मा भी जीव के अन्तर में गुप्त रूप से व्याप्त है। इस कारण मनोदण्ड के द्वारा मथने से ही उनका स्वरूप प्रकट होता है।"

भक्त—प्रभु! हिन्दुओं में वैष्णव और शाक्त में, सनातनी और आर्यसमाजी में विरोध है। उसके ऊपर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सम्प्रदायों में तो मतभेद इतना अधिक है कि समय-समय पर भयंकर साम्प्रदायिक झगड़े हुआ करते हैं। यह तो हमने अपने जीवन में अनेक बार प्रत्यक्ष ही देखा है। अतः उनमें कोई मतभेद नहीं है, ऐसा आप कैसे कहते हैं?

महात्मा—बेटा! बचपन में जिस प्रकार तुम मामूली खाने की चीज पर भाई-भाई झगड़ा कर बैठते थे, वयस अधिक होने पर फिर वैसा नहीं करते। बल्कि तब भाई-भाइयों में अत्यन्त प्रेम का भाव ही दिखायी पड़ता है। ठीक उसी प्रकार धर्मराज्य के निम्नस्तर के अज्ञानी व्यक्तियों में साम्प्रदायिक विरोध दिखायी पड़ते हैं सही, परन्तु उन उन सम्प्रदायों के ज्ञान-वृद्ध व्यक्तियों में तत्त्व के विषय में मेल है और उनमें अत्यन्त प्रेम-भाव ही रहता है, कोई विरोध नहीं। सभी महापुरुष इसे जानते हैं। हे सुमते! ब्रह्मज्ञ गुरु की कृपा से विचार-शक्ति के द्वारा जब तुम्हारे मन में सारे शब्दों का एक ही अर्थ प्रतीत होगा, जब सारी क्रियाओं का एक ही उद्देश्य उपलब्ध होगा, जब समस्त रूपों के द्वारा एक ही वस्तु का दर्शन होगा और जब सभी शास्त्रों का एक ही आशय ज्ञात होगा तभी तुम्हारे मन में ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानना चाहिये। आशय यह है कि सभी मार्गों का लक्ष्य एक है, सभी मतों में मेल है, सारे शास्त्रों का सार एक है, सभी धर्म एक धर्म हैं, ईश्वर, खुदा, गॉड आदि शब्द एक ही आत्मा के बोधक हैं, केवल जल, पानी, वाटर, शब्दों की तरह नाम-भेद मात्र है—जब तुम्हारे मन में इस प्रकार की उपलब्धि होगी तभी तुम ज्ञानराज्य के प्रथम सोपान में उठ आये हो, ऐसा समझना होगा।

भक्त—प्रभु ! आपने सर्व-धर्म-समन्वय करके मुझे जो उपदेश दिया केवल भारत के निम्न श्रेणी के हिन्दू ही द्वैतवादी और साकारवादी हैं, परन्तु मुसलमान आदि अन्य सम्प्रदायों में सभी निराकारवादी और अद्वैत हैं ; अतः सब सम्प्रदाय एक कैसे हुए ?

महात्मा—हे सुबुद्धे ! सर्वत्र हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी की निम्न कोटि के अज्ञानी मनुष्य ही साकार उपासक या द्वैतवादी हैं, परन्तु विचार शक्ति के न रहने से तुमलोग समझ नहीं सकते, इसलिए झगड़े खड़े हो जाते हैं। निम्न कोटि के अज्ञानी हिन्दू साधक अपने में जाकर अपने से पृथक् एक निर्दिष्ट मूर्ति में सर्वव्यापक ईश्वर की कल्पना उपासना करते हैं; ठीक उसी प्रकार निम्न श्रेणी के अज्ञानी मुसलमान भी अपने खुदा के मन्दिर मस्जिद में जाकर उस मस्जिद के पश्चिम निर्दिष्ट स्थान में सर्वव्यापी खुदा की कल्पना कर आराधना करते हैं तथा ईसाई साधक भी अपने गॉड के मन्दिर गिरजाघर में जाकर निर्दिष्ट स्थान निराकार गॉड की कल्पना करके उपासना करते हैं। हिन्दू साधकों की यह है कि वे एक मूर्ति बना लेते हैं और उसमें असीम, अनन्त परमेश्वर सीमाबद्ध रूप से कल्पना कर लेते हैं और दूसरे साम्प्रदायी साधक मूर्ति न एक निर्दिष्ट स्थान में ही असीम परमेश्वर की सीमाबद्ध रूप से कल्पना हैं। और भी देखो, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी सम्प्रदायों के निम्नाधिकारी न कोई मन्त्र वा किसी प्रकार की माला में जप करते हैं। हिन्दू जिस प्रकार आदि सुगन्धित वस्तुओं को पुष्प-पत्र और शरीर में लगाकर मूर्ति की पूजा हैं, मुसलमान और ईसाई भी उपासना के समय इत्र, एसेन्स आदि वस्तुओं को अपने वस्त्र में लगा लेते हैं। इस प्रकार से सूक्ष्म विचार तुम्हें मालूम होगा कि असीम, अनन्त, अन्तर्यामी ईश्वर को अज्ञानी से पृथक् समझकर द्वैत और साकार भाव से तथा सीमाबद्ध रूप से मिथ्या करके उपासना करते हैं। इस कारण उनके मनोभावों में कोई भेद नहीं है। और सभी सम्प्रदायों में जिन लोगों ने सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर स्वरूप अद्वैत है अर्थात् वह अपने से भिन्न नहीं है, ऐसी उपलब्धि की है वे ही यथार्थ ज्ञानी, अद्वैतवादी और निराकार-उपासक हैं। इसलिए उन

लिए कोई मन्दिर, मस्जिद, गिरजा आदि उपासना का कोई निर्दिष्ट स्थान समय नहीं रहता। अतः जो सार वस्तु है, उसमें कोई विवाद नहीं है, केवल और रूप की कल्पना में कलह है। इस कारण आत्मज्ञान लाभ न होने तक अज्ञानी मनुष्य द्वैतवादी और साकार-उपासक हैं। जब तक तुम्हारे मन में कार का बोध दृढ़ रूप से उत्पन्न न होगा तब तक समझ लेना चाहिये कि समझना पूरा नहीं हुआ है और तब तक बार बार गुरुदेव से पूछकर मन के सन्देहों को मिटा लेना चाहिये। हे सुमते! हिन्दू, मुसलमान आदि सम्प्रदायों में जो पूजार्चना, माला-तिलक, दण्ड-कमण्डलु और नमाज-आदि अनुष्ठान दिखाई पड़ते हैं, वे यथार्थ में धर्म नहीं हैं। वह धर्म का आवरण या छिलका मात्र है। शास्त्र भी कहते हैं—धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्—"धर्म का सूक्ष्म तत्त्व हृदय रूप गुफा में गुप्त है, बाहरी माला-तिलक, घड़ियाल, नमाज-प्रार्थना आदि आडम्बरों में वह प्रकट नहीं है।" एक अंग्रेज नारियल खाने की तरह अज्ञानी मनुष्य धर्म के बाहरी आवरण या छिलका खींचातानी करते हैं। भीतरी सार रूप धर्म का स्वाद वे लोग नहीं पाते।

भक्त—प्रभु! अंग्रेज का नारियल खाना कैसा है?

महात्मा—एक अंग्रेज ने विलायत से भारत में आकर सुना कि इस देश नारियल एक उत्तम फल है, खाने में वह बहुत ही स्वादिष्ट है। तब उस ने अपने नौकर को बाजार से एक नारियल खरीद लाने को कहा। नौकर से नारियल लाकर रसोईघर में रखकर कहीं चला गया। इतने में वह रसोई में जाकर उस नये ढंग के फल को देखकर समझ गये कि यही है। वह उसे हाथ में उठाकर खाने के लिए दाँतों से काटने लगे। से काटते समय उसके छिलके के रेशे से उनके होंठ और मसूढ़ा कट खून निकलने लगा। तब वह अत्यन्त क्रोधित होकर उस नारियल को एक पटककर चले गये और इस प्रकार रसहीन नारियल फल को उत्तम स्वादिष्ट कहने वाले भारतीयों को मन में कोसने लगे। थोड़ी देर बाद नौकर ने कहा—"साहब, नारियल लाया हूँ। अभी खायेंगे क्या?" साहब ने —"कहाँ नारियल है, चलो खाऊँगा।" इसके बाद साहब को रसोईखाने में जाकर नौकर ने देखा कि उस नारियल का एक छिलका किसी ने खींचकर

निकाला है। इधर साहब तो पहले से ही खफा थे, अब नौकर को उस
फल को उठाते हुए देखकर साहब ने कहा—"उसे मैंने खाकर देखा
उसके खाने में मेरा होंठ कट गया है। तुम लोग भारत के निवासी
समान मूर्ख हो। इसीलिए इतने बड़े देश को हम थोड़े से अंग्रेज शासन में
रख सके हैं। तुम लोग इतने मूर्ख हो कि ऐसे नीरस, स्वादरहित सूखे फल
अति स्वादिष्ट फल कहकर प्रशंसा करते हो।" नौकर ने कहा—"साहब,
नारियल नहीं खाया जाता। ऊपर से छिलका निकालकर और भीतर के
भाग को तोड़कर एकदम भीतर की गरी खायी जाती है।" इतना कहकर
नारियल के ऊपर का छिलका निकालने लगा और साहब खड़े-खड़े उसे देख
रहे। नौकर ने गरी निकाल कर उसके बारीक कतरे काटकर साहब के खाने
के लिए दिया। साहब खाकर बहुत खुश हुए और उस नारियल की
तारीफ करने लगे। उस दिन से रोज नारियल खरीद लाने के लिए उन्होंने
अपने नौकर को कह दिया। हे सत्यकाम! नारियल के ऊपर वाला छिलका
चबाकर जैसे उस साहब को कोई स्वाद नहीं मिला था, तुमलोग भी उसी
प्रकार धर्म या आत्मा का पता न पाकर बाहरी अनुष्ठानों में मत्त रहकर
साहब की तरह छिलका लेकर ही खींचा-तानी कर रहे हो। इस कारण
के मूल सर्व-दुःख-नाशक यथार्थ धर्म का पता न पाकर केवल दुःख
ही भोग कर रहे हो तथा शोक-ताप से छटपटा रहे हो। नारियल का तत्त्व
वाले नौकर ने उसके बाहरी छिलके को निकालकर और भीतर के कड़े भाग
को तोड़कर साहब को नारियल खाने का कौशल सिखा दिया था और
साहब को नारियल खाने का आनन्द मिला। धर्म या आत्मा के विषय में
उसी प्रकार धर्मज्ञ ( आत्मज्ञ ) गुरु के उपदेश के श्रवण-मनन द्वारा पहले
के बाहरी आवरण, धर्मानुष्ठान का विचार-पूर्वक त्याग करके भीतर जाकर देखो
कि संस्कार या अज्ञान का सुदृढ़ आवरण विद्यमान है। लोहा, पत्थर आदि से
वह आवरण दृढ़ है। विचार रूप खड्ग के द्वारा उस आवरण के टुकड़े
काट डालने होंगे; तभी तुम उसके भीतर स्थित सर्व शान्ति और परमानन्द
वाले धर्म या आत्मा को प्राप्त करके कृतार्थ हो सकोगे। बेटा! इस संसार
का मूल ही है—धर्म या आत्मा।

हे सुबुद्धे ! तुम संसार-वृक्ष के चित्र को ध्यान से देखने पर सभी समझ जाओगे। इस संसार-वृक्ष का मूल ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। चित्र के नीचे से सभी मनुष्यों को ऊपर उठकर उस वृक्ष के मूल (सं० १ रेखा-स्थान) अर्थात् धर्म में पहुँचना होता है। क्योंकि धर्म या आत्मा का आश्रय लेकर ही यह सारा संसार प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार जल को आश्रय करके लहरें पैदा होती हैं, यह भी ठीक उसी प्रकार है। इस धर्म के साम्प्रदायिक नाम हैं—धर्म, सत्य, आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म, विष्णु, खुदा, गॉड आदि। जैसे जल के साम्प्रदायिक नाम हैं—जल, पानी, वाटर, एक्वा आदि; यह भी ठीक उसी प्रकार है। एक ही सूर्य विश्व के सर्वत्र किरणें फैलाकर सारे विश्व को प्रकाशित करता है और विश्व के सभी जीव उस प्रकाश में आनन्द से विचरण करते हैं; ठीक उसी प्रकार धर्म ही संसार का आत्मा और आत्मा ही इस संसार-वृक्ष का मूल है। एक आत्मा ही सूर्य के समान विश्व के समस्त व्यक्तियों और वस्तुओं को चैतन्य और अस्तित्व देकर इस दृश्यमान संसार-प्रपंच को चैतन्यवान् तथा अस्तित्व-युक्त बना रखते हैं। अर्थात् आत्मा के चैतन्य और अस्तित्व से ही संसार का चैतन्य और अस्तित्व है। उसके अतिरिक्त संसार का अपना कोई चैतन्य या अस्तित्व नहीं है, इस बात को पहले तुम्हें मैंने विशेष रूप से बताया है। चित्र की ओर ध्यान देने से तुम देख सकोगे, मूल धर्म या आत्मा से ही संसार-वृक्ष के ऊपर सूर्य-किरणों की तरह चैतन्यशक्ति और अस्तित्व फैले हुए हैं और संसार के सारे जीव उस प्रकाश में ही विचरण कर रहे हैं। आत्मा या धर्म एक अद्वितीय वस्तु है। उस धर्म के भीतर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि का कोई पृथक विभाग नहीं है और रह भी नहीं सकता। इस सत्य तत्त्व को संसार के साधारण अज्ञानी मनुष्य समझ न सकने के कारण अपनी अल्प बुद्धि से पृथक-पृथक सम्प्रदायों की सृष्टि करके अनेक अनर्थ उत्पन्न कर रहे हैं। चित्र के नीचे सं० ४ रेखा की ओर देखो, वे अज्ञानी उस वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में अलग-अलग सम्प्रदाय में रहकर साम्प्रदायिक झगड़े पैदा करके अशान्ति भोग रहे हैं। ये लोग अत्यन्त अज्ञानी हैं, इस कारण हिन्दू सम्प्रदाय में रहकर 'मैं शाक्त, मैं वैष्णव, मैं शैव, मैं सनातनी, मैं आर्यसमाजी हूँ' आदि कहकर आपस में झगड़े उत्पन्न कर लेते हैं। दूसरे सम्प्रदायों में बौद्ध, मुसलमान या ईसाई सम्प्रदाय में

रहकर 'मैं आमिष-भोजी, मैं निरामिष-भोजी, मैं जैन, मैं शिया, मैं सुन्नी, खुदावादी, मैं रोमन कैथोलिक, मैं प्रोटेस्टेन्ट हूँ' आदि असंख्य भाव लेकर में झगड़े पैदा कर लेते हैं। चित्र की सं० ४ रेखा के नीचे हिन्दू आदि की जो शाखा-प्रशाखाओं के नाम दिखाये गये हैं विशेष अनुसन्धान से तुम्हें प्रतीत होगा कि उनके अतिरिक्त उन अज्ञानियों में और भी छोटी-छोटी साम्प्रदायिक शाखा-उपशाखाएँ विद्यमान हैं। ये लोग सम्पूर्ण और साकार-उपासक हैं। इस कारण ये अज्ञानी से भी अज्ञानी हैं और काल के आत्मज्ञ शास्त्रकारों ने इन्हें 'कलि के जीव' * कहा है।

चित्र की सं० ४ में कलि के लोगों के भीतर जो विचार-प्रभाव से उन यिक शाखा-प्रशाखाओं का विरोध दूर कर क्रमशः चित्र की सं० ३ रेखा में उठेंगे, तब वे शास्त्रकथित द्वापर के लोग अर्थात् द्वितीय मनुष्य रूप से गिने जायेंगे। ये लोग भी द्वैत-वादी और साकार-वादी ही हैं। उस समय भी इनके मन में—मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, का साधारण साम्प्रदायिक संस्कार रहेगा और ये सब सम्प्रदाय पृथक् हैं इस तरह के प्रश्न मन में उठने पर उनके उत्तर जानने के लिए उत्कंठा उत्पन्न होगी। उसके अनन्तर सं० ३ रेखा के द्वापर के लोगों में, जिनके इस दृश्यमान जगत् के विषय में नाना प्रकार के प्रश्न उठेंगे, वे का आश्रय ग्रहण करने पर शास्त्र-वाक्य तथा युक्ति-प्रमाण द्वारा के विषय में अर्थात् देहतत्त्व और मनस्तत्त्व के विषय में समझ सकेंगे। तदनन्तर विचार और ज्ञान के द्वारा शाखा ( संसार-वृक्ष की शाखा ) के आश्रय से साधन-भजन द्वारा श्रवण-मनन की शक्ति से वे क्रमशः सं० २ की रेखा के स्थान में तभी वे शास्त्रानुसार त्रेता या तृतीय सोपान के व्यक्ति रूप से गिने इस सं० २ की रेखास्थित त्रेता के लोगों को ही वेदान्त में 'परोक्ष ज्ञानी' वर्णित किया गया है। तब ये परोक्ष ज्ञानी मनुष्य द्वैत और अद्वैत तत्त्व हैं, उसका मर्म अच्छी तरह समझकर अद्वैतभाव में प्रतिष्ठित होते हैं। सं० २ की रेखा पर खड़े होकर नीचे की ओर सं० ३ और ४



* २६६ पृष्ठ में 'चार युग' अध्याय द्रष्टव्य है।

संसार वृक्ष ऊर्ध्वं




वृक्ष की शाखा-प्रशाखा अधः

...ग्रामिक द्वैतवादियों के विरोध को ओर देखकर अपनी पूर्वावस्था स्मरण ...हुए विचार केवल स्पष्ट ही देखते ( उपलब्धि करते ) हैं कि यथार्थ ...आत्मा या ब्रह्म एक अद्वितीय वस्तु है और उस आत्मा में हिन्दू, मुसल- ...ईसाई आदि कोई साम्प्रदायिक भाव नहीं है। तथापि अज्ञानी मनुष्य अपने ... उस निर्मल और पवित्र धर्म में इस प्रकार की पृथक-पृथक साम्प्रदायिक ...कल्पना के द्वारा संसार में नाना प्रकार से दुःख-अशान्ति उत्पन्न कर चुके ...कर रहे हैं। एकमात्र मिथ्या द्वैत प्रपंच के ज्ञान से ही दुःख-अशान्ति ...हुआ करती है और जो लोग ऊपर की ओर वृक्ष के मूल के प्रति दृष्टि ...रखते हैं, उन्हें सत्य-स्वरूप एकमात्र अद्वैत धर्म या आत्मा के द्वारा ही ...प्रकार की दुःख-अशान्ति दूर होकर अविच्छिन्न परम शान्ति का लाभ होता ... इसी कारण उस समय ऊपर की ओर संसार-वृक्ष के मूल अर्थात् धर्म ...न में पहुँचने के लिए उनके मन में तीव्र आकांक्षा उत्पन्न होती है। ...के अनन्तर सं० २ रेखास्थित उन जिज्ञासु मानवों में जो लोग ब्रह्मज्ञ गुरु के ...आनुसार उस वृक्ष के अति सूक्ष्म तने को पकड़ कर निर्विषयी ध्यान-योग ...मशः ऊपर की ओर चित्र की सं० १ रेखा के स्थान में अर्थात् संसार-वृक्ष ...मूल में चढ़ जाते हैं और अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा धर्म या सत्य की उपलब्धि ...सफल प्राप्त करते हैं, वे ही शास्त्र-कथित सत्य युग के लोग अर्थात् अपरोक्ष ...ी या जीवन्मुक्त रूप से कहे जाते हैं। इस सत्ययुग या संसार-वृक्ष के मूल ...स्थित मनुष्य ही यथार्थ निराकारवादी और अद्वैतवादी हैं। इससे परे और ...बढ़ने का स्थान नहीं है। यहीं—इस संसार-वृक्ष के मूल में अर्थात् धर्म या ...म में ही मनुष्यों के सारे प्राप्यों की प्राप्ति की अन्तिम सीमा है। हे सुमते! ...-शास्त्र ने इस संसार-वृक्ष को अव्यय अश्वत्थ वृक्ष कहकर वर्णित किया ...क्योंकि अव्यय अर्थात् व्ययरहित, अक्षय और अश्वत्थ अर्थात् अ(न) + श्वः= ...स्था = रहना, कल रहेगा या नहीं इसका निश्चय नहीं है। इसी प्रकार ...त्य रूप यह संसार है। इसका आशय यह है, प्रवाह रूप से अव्यय पर नित्य ...वर्तनशील यह संसार-वृक्ष ब्रह्माण्ड के रूप में दिखाई पड़ रहा है, परन्तु साधारण ...सी मनुष्य संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष को उपरोक्त रीति से न जानकर

अज्ञानवश निरर्थक ही बाहरी जगत् के अश्वत्थ वृक्ष के मूल में ...
देकर पूजा करके क्लान्त हो रहे हैं। वेदान्त में वर्णित है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे
तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्। (कठो...

अर्थात्—"यह संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष ऊर्ध्व मूल और निम्नगामी ...
से युक्त होकर अनादि काल से विद्यमान है। जो इसके मूलरूप हैं ...
वही ब्रह्म और वही अमृत रूप हैं। सारा ब्रह्माण्ड उन्हीं के आश्रित है ...
भी उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता, वही अन्तर्यामी आत्मा है।"
श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च सं...
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूलमसङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा...

अर्थात्—"यह संसार अश्वत्थ वृक्ष रूप है। ऊपर की ओर ...
अवस्था में परम पुरुष परमात्मा इसका मूल स्वरूप है। ...
मनुष्य, पशु-पक्षी, हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, पाप-पुण्य, धर्म...
शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं। श्रुति इसे अव्यय अश्वत्थ कहती...
इसके पत्र-रूप हैं। इस प्रकार से मूलसहित संसार-वृक्ष को जो जानते...
वेदवित् हैं। इस संसार में स्थित साधारण मनुष्य पूर्व-वर्णित रूप से ...
अश्वत्थ वृक्ष का स्वरूप नहीं समझ सकते—इसके आदि, अन्त और ...
हैं, उसे भी नहीं जानते। तीव्र वैराग्य रूप तेज धार वाली तलवार से ...
संसार-वृक्ष को काटकर उसका सार रूप तत्त्व वस्तु ब्रह्म को जानना होगा..."

बेटा! प्यास बुझाने के लिए कोई कहता है कि 'जल पान करो', ...
है 'पानी पियो', तीसरा कहता है 'ड्रिंक वाटर'। मान लो, कोई प्यास ...
प्रकार तीन व्यक्तियों से तीन प्रकार की बातें सुनकर उनमें से किसी एक ...

ता है और जल पीकर प्यास बुझा लेता है। उसके बाद यदि वह जिज्ञासु अन्य दो व्यक्तियों के वाक्यों पर भी विचार करेगा। तब वह समझ जायगा व्यक्तियों के कथन का लक्ष्य एक ही है। तीनों प्रकार के वाक्यों से वस्तु लक्षित है। इस आत्मदर्शन-योग के विषय में भी तुम उसी प्रकार पड़ गये हो। क्रमशः तुम इन वाक्यों की सत्यता समझ सकोगे।
कर महात्मा भजन गाने लगे—

ऐक वस्तु बहु नाम दिये, जगते व्यवहार करे।
ताते कोनो मतभेद नाइ, सब कलह धर्मेर तरे॥
जल, पानी, वाटर नामे, हिन्दू, मुसलमान, ख्रीष्टाने।
पिपासाते पान करिछे, केउ नाहि झगड़ा करे॥
धर्मकेओ सेरूप जानो, शिव, कृष्ण, गाड, खोदा मानो।
(अइ) जलेर मतो ताँरा सबे ऐक, शान्तिदाता सबार तरे॥
सर्व शास्त्रेर एइ सार मर्म, जगतेर हय ऐकइ धर्म।
तबुओ धर्म पृथक भेवे, अज्ञ सदाइ बिवाद करे॥
अतएव शोनो वलि, ज्ञानी गुरुर संगे चलि।
मनके अन्तर्मुखी कोरे, धर्म दैखो निज अन्तरे॥

का आशय इस प्रकार है—

वस्तु के अनेक नाम देकर लोग व्यवहार करते हैं। उसमें कोई मतभेद केवल झगड़ा है धर्म के लिए। जल, पानी, वाटर नाम से हिन्दू मुसल-ईसाई पिपासा में पीते हैं, कोई झगड़ा नहीं करता। धर्म को भी वैसा ही शिव, कृष्ण, गाड, खुदा मानो। जल के समान वे एक हैं, सभी को शान्ति सब शास्त्रों का यही मर्म, विश्व का है एक ही धर्म ; तो भी धर्म को अज्ञानी सदा झगड़ा करते हैं। अतः सुनो मैं बताऊँ, ज्ञानी गुरु के कर मन को अन्तर्मुखी रख धर्म को अपने भीतर देखो।
—प्रभु! शास्त्रकारों ने किसे योग कहा है?
त्मा—वेदान्त शास्त्र कहते हैं—
योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्॥ (कठोपनिषद्)

अर्थात्—"इन्द्रियों को बाहरी विषयों से खींचकर चित्त को समाहित करने का नाम योग है।"

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (पातञ्जल

अर्थात्—"चित्त या मन सदा ही काम-क्रोधादि वृत्तियों के द्वारा विषयों में विक्षिप्त रहता है। मन की उन वृत्तियों के निरोध का नाम योग है।" तन्त्रशास्त्र कहते हैं—

योगो जीवात्मनोरैक्यम्। (महानिर्वाण तन्त्र)

अर्थात्—"मन रूपी जीव देह में 'अहं बुद्धि' स्थापित कर सदा ही विषयों में संलिप्त रहता है। उस बहिर्मुखी जीव को अन्तर्मुखी करके और आत्मा की जो एकता का बोध होता है, वही योग है।"

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते॥ (पीठमाला

अर्थात्—"जिस अवस्था में सारी चिन्ताएँ रुद्ध होकर मन आ होता है, उसीका नाम योग है।" संहिताकार कहते हैं—

सङ्कल्प-विकल्प-त्यागो योगः। (हिरण्यगर्भ संहिता)

अर्थात्—"मन सदा ही जागतिक विषय-भोग के लिए नाना संकल्प-विकल्प करता रहता है। उन संकल्प-विकल्पों का त्याग करके निर्विकल्प कर लेना ही योग है।"

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः। (योगी याज्ञ

अर्थात्—"जीवात्मा और परमात्मा के संयोग का नाम ही योग है।"

आशय यह है कि आत्मा कभी दो नहीं हो सकता। इस कारण जीव अन्तर्मुखी होकर जब आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करता है, योग कहते हैं। इन शास्त्रों में स्थूल दृष्टि से भेद प्रतीत होने पर भी दृष्टि से उनके भावार्थ की ओर ध्यान देने से समझ में आ जाएगा शास्त्रों का लक्ष्य एक है। एक मन द्वारा योग करके अर्थात् इस अस्थिर सुस्थिर करके आत्मा का या 'मैं' का दर्शन लाभ करना होगा। इस मन के साथ ही योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है।



भक्त—भगवन्! आपने वेदान्तादि शास्त्रों द्वारा जिस योग का

योग किस भाव से किया जाता है ? अब वही मुझे विशेष रूप से समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा ! अपने इस शरीर का विश्लेषण करने से तुम्हें मालूम होगा कि इसमें—पहले यह स्थूल शरीर, उसके बाद सूक्ष्म शरीर—मन या जीव और सबसे ऊपर आत्मा—ये तीन वस्तुएँ हैं। मन रूपी यह जीव अज्ञान-वश अपना तत्त्व (आत्मतत्त्व) भूल कर 'यह स्थूल शरीर ही मैं हूँ' इस ज्ञान से शरीर में 'अहं (मैं) बुद्धि' और सांसारिक अन्य वस्तुओं में ममत्व-बुद्धि स्थापित करके अनन्त दुःख-कष्टों को भोग रहा है। अब उस मन या जीव को, शरीर की 'अहं बुद्धि' मिटाकर उसे आत्मज्ञान प्राप्त कराकर, आत्मा के साथ मिला देना ही योग है। और इसी को राजयोग कहते हैं। मन का संयम करके योग द्वारा जीव को उस मोह-बन्धन से मुक्त करना होगा। मन की काम-क्रोधादि वृत्तियों को विचारशक्ति के द्वारा बाहर जाने से रोककर अन्तर्मुखी करने से इंद्रियाँ संयत हो जाती हैं। इसलिए उस समय मन में फिर कोई संकल्प-विकल्प नहीं उठता। संकल्प-विकल्प-रहित होकर मन क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता इस कारण उस समय वह निर्विकल्प मन और आत्मा अभिन्न हो जाते हैं। अर्थात् मन ही आत्मस्वरूप हो जाता है। मन को बहिर्मुख से अन्तर्मुखी करने के उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। बार बार अभ्यास द्वारा यह सिद्ध होता है। इसी कारण पातंजल दर्शन कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अर्थात्—"अभ्यास और वैराग्य इन दोनों के द्वारा मन का निरोध होता है।" इस स्थिति में मन के लय होने से आत्मा और अनात्मा या जीव और ब्रह्म नाम से कोई पृथक वस्तु नहीं रहती। समस्त एकाकार होकर एक ब्रह्म का ही भान होता रहता है। मन या माया के रहने से ही ममत्व का बोध होता है। अतः केवल मन द्वारा ही योग का साधन करना होता है। इस चित्तवृत्ति-निरोध के विषय में सांख्यदर्शन भी कहते हैं—

वैराग्यादभ्यासाच्च।

अर्थात्—"अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त निरुद्ध होकर समाधि (मन की अन्तर्मुखी अवस्था) आती है।" श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ।

अर्थात्—"हे अर्जुन ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उस मन को वशीभूत किया जाता है ।"

भक्त—प्रभु ! आपने जो अभ्यास की बात बतायी, यह किस विषय या काम का अभ्यास है, उसे समझाकर बताइये ।

महात्मा—मन इस स्थूल शरीर, इन्द्रिय और मन, बुद्धि, चित्त, अहं इन सबों को लेकर सदा 'अहं बुद्धि' से बाहरी जगत् में क्रिया करता है । उन का परित्याग कर मन के मनातीत आत्मा में स्थित रखने के लिए जो शरीर, वाणी से चेष्टा की जाती है, उसीका नाम अभ्यास है ।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । (पातञ्जल-

अर्थात्—"मन को परम पुरुष में स्थित रखने के लिए जो पुनः पुनः प्रयत्न किया जाता है, उसीका नाम अभ्यास है ।" आशय यह है कि किसी विषय में बार-बार प्रयत्न करने का नाम ही अभ्यास है । भोगी का चित्त भोग से कभी कभी विषयों के प्रति विरक्त हो जाता है ; रूप, रस आदि विषयों को मिथ्या समझता है । उस समय उसका चित्त बहुत कुछ प्रस जाता है । जिन जिन भावों के अन्तःकरण में उपस्थित होने से चित्त विषय- प्रसन्न और स्थिर होता है, उन उन भावों की ओर पुनः पुनः चित्त के होने पर चित्त-वृत्ति-निरोध में अभ्यास उत्पन्न होता है । सदा ब्रह्म- परस्पर ब्रह्म-कथन, परस्पर ब्रह्म के विषय में उपदेश-दान, तथा सदा रहने का नाम ब्रह्माभ्यास है । इस प्रकार ब्रह्माभ्यास तत्त्वबोध का कारण है । जिनकी आनन्द-प्रसविनी बुद्धि वैराग्य-रस में आप्लुत है, उत्तम अभ्यासी हैं । 'दृश्य नहीं है, अतः उसका अस्तित्व अलीक और है'; इस प्रकार का ज्ञान अविचलित होने से राग-द्वेषादि क्षय-प्राप्त हो और मन की गति आत्मगामी होकर आत्मा में रमण करती रहती है । इस आत्मरति को भी ब्रह्माभ्यास कहते हैं । राग-द्वेषादि के ह्रास और दृश्य के के बोध (जो कुछ दिखाई पड़ता है, सभी मिथ्या है, इस प्रकार बोध) बिना कितनी ही तपस्या क्यों न करो, सभी अज्ञान-कल्पित और दुःख- है । वेदान्त कहते हैं—

मच्चिन्तनं मत्कथनमन्योन्यं मत्प्रभाषणम् ।
मदेकपरमो भूत्वा कालं नय महामते ॥ (वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"हे महामते ! तुम मेरी (आत्मा की) चिन्ता करो । मेरी (आत्मा की) बात बोलो, परस्पर मेरे (आत्मा के) स्वरूप का कीर्तन करो, (आत्मा) ही परम तत्त्व हूँ, ऐसा जानकर समय व्यतीत करो । इस प्रकार ध्यान ही मुक्ति का कारण है ।

भक्त—प्रभु ! वैराग्य किसे कहते हैं ?

महात्मा—जब कोई भोग्य विषय सामने रहने पर भी भोग में स्पृहा नहीं और उस विषय के प्रति तुम्हारे मन में किसी प्रकार की विरक्ति का भाव नहीं है—इस प्रकार आसक्ति और विरक्ति से रहित मन की अवस्था को ही कहते हैं । मान लो, तुम किसी के यहाँ भोजन करने बैठे हो । बहुत सी वस्तुओं के खाने से तुम्हारा पेट भर गया है । इसलिए अब तुम्हें खाने इच्छा नहीं है तथापि गृहस्थ तुम्हारे पास कई प्रकार की उत्तम मिठाइयाँ तुम्हें और कुछ लेने के लिए बार-बार अनुरोध करने लगे । परन्तु तुम्हें की इच्छा न रहने से 'मुझे उसमें से कुछ दीजिये' कहकर तुम मन का या आसक्ति का भाव नहीं दिखाते अथवा 'महाशय तुरन्त इन वस्तुओं सामने से हटा लीजिये, मैं उन्हें देखना भी नहीं चाहता ।' ऐसा कहकर अपने मन की विरक्ति का भाव भी नहीं प्रकट करते, केवल सहज भाव से हो—"नहीं जी, मुझे और कुछ नहीं चाहिये, तृप्ति हो गयी है ।" अर्थात् उन वस्तुओं के विषय में तुम्हारे मन में आग्रह या निग्रह कुछ भी नहीं है । उन वस्तुओं के ऊपर तुम्हारे मन का जो आसक्ति और विरक्ति हीन अवस्था उसीका नाम वैराग्य है । इस लोक और स्वर्गादि परलोक के भोग के विषय मन उसी प्रकार आसक्ति-विरक्ति-रहित हो जाता है, तभी उसे विशुद्ध कहते हैं । यह वैराग्य प्रतिदिन ही तुम्हारे मन में स्वाभाविक रूप से उदय होता है । परन्तु तुम इसकी उपलब्धि नहीं कर सकते । जरा ध्यान समझो, सुषुप्ति के ठीक पहले सांसारिक और पारलौकिक समस्त भोग्य विषयों के प्रति तुम्हारे मन में वैराग्य होता है । उस समय कोई मिठाई लाकर

खाने को दे या स्त्री आकर आलिंगन करे तो भी तुम्हारा मन आसक्त नहीं
क्योंकि वह उस समय परमानन्द-रूप आत्मा में लवलीन होने के लिए
हो रहा है। उस आनन्द के सामने विषय का आनन्द तुच्छ है।
धन-जन आदि विषय या स्वर्ग-नरक आदि रहे या न रहे, उनसे मेरा
प्रयोजन नहीं है। बेटा! इस प्रकार सब विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न
से जिस प्रकार सुषुप्ति नहीं आती, उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति
तीन अवस्थाओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न न होने पर भी मन समाधिस्थ नहीं
अतः वैराग्यहीन मन योग के सम्पूर्ण अनुपयोगी है। केवल सत्संग में
गुरुमुख से आत्मतत्त्व श्रवण करते-करते हृदय-निहित वैराग्य का बीज
होता है। वेदान्त कहते हैं—

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः। (अध्यात्मोपनिषद्)

अर्थात्—"इस लोक में भोग्य वस्तु के सामने रहते हुए भी जब
भोग-वासना का उदय नहीं होता और परलोक के स्वर्गादि सुख-भोग
लिए भी इच्छा नहीं रहती, तभी विशुद्ध वैराग्य हुआ है, जानना चाहि
पातंजल-दर्शन कहते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात्—"दृष्ट (इस लोक के) और अदृष्ट (परलोक के)
जो वितृष्णा होती है, उसीका नाम मन की आत्मवैश्यता अर्थात् वैराग्य
आशय यह है, इस लोक के भोग्य पदार्थ दृष्ट हैं और जो सुखभोग
होगा ऐसा सुना जाता है, वह आनुश्रविक है। यह दृष्ट और आनुश्रविक
चिरस्थायी नहीं हैं—ऐसा ज्ञान चित्त में विशेष रूप से उदित होने पर
का संचार होता है। बेटा! मन में अल्प समय के लिए वैराग्य का
से कोई लाभ नहीं होता। इस कारण वैराग्य को दृढ़ करना आवश्यक
अभ्यास द्वारा वैराग्य दृढ़ होता है। पहले जो मैंने तुमसे अभ्यास
बतायी है, उसी अभ्यास के द्वारा ही वैराग्य परिपक्व होता है। अतः
प्रभाव से विषय-वैराग्य-रूप अग्नि में जिसके चित्त की काम-क्रोधादि
जलकर भस्म हो गयी है, उसे अन्य किसी दूसरे प्रकार के साधन की आवश्यकता

नहीं है। ब्रह्मज्ञ गुरु का वाक्य श्रवण करते ही उस वाक्यार्थ का मनन करके उसका मन सांसारिक विषय और अपनी देह-इन्द्रियादि का सम्पर्क छोड़कर अनायास ही आत्मस्थ हो जाता है। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में विभोर होकर गाना गाने लगे—

वैराग्य-विहीन मने, जगते शान्ति पावे ना।
मुखेते वैराग्येर भाषा, अन्तरे तोर भोग-बासना !!
त्यागी साजि बाहिरेते, भोगेर आशा अन्तरेते।
ए भावे कपटी होले, पूर्णानन्द तार मिले ना॥
स्वजन-बियोग, अर्थनाशे, कारो जदि वैराग्य आसे।
एइ शशान-बैराग्येते, कभु केहो शान्ति पाय ना॥
'देहो आछे विषयेते, मन आछे परमार्थेते'।
ए भावके 'वैराग्य' बले, इहाइ धर्मेर साधना॥
मर्कट-वैराग्य मनेते, कोरो ना रे लोक देखाते।
आसक्ति-विरक्ति-हीन भाव बिना आत्मानन्द हय ना॥

इसका आशय इस प्रकार है—

वैराग्य-विहीन मन में संसार में शान्ति नहीं मिलेगी। मुख में वैराग्य की भाषा, और भीतर तेरी भोग-वासना है। बाहर सजे त्यागी, भीतर रहे भोगी—ऐसे कपटी होने से पूर्णानन्द नहीं मिलेगा। स्वजन-विभोग, धन-नाश से यदि किसी को वैराग्य हो तो इस श्मशान-वैराग्य से कभी शान्ति नहीं मिलेगी। देह है विषय में, मन है परमार्थ में—इस भाव को वैराग्य कहते हैं। यही है धर्म की साधना। लोगों को दिखाने के लिए मन में मर्कट-वैराग्य न करो। आसक्ति-विरक्ति-हीन भाव बिना आत्मानन्द नहीं मिलेगा।

भक्त—प्रभु ! आपकी बात से समझ में आया कि मन में विषय-वैराग्य न होने से योग में अधिकार नहीं होता। अतः जिसके मन में वैराग्य नहीं है, उसके आत्मतत्त्व-लाभ का क्या उपाय है ?

महात्मा—हे महामते ! वैराग्यरहित चित्त में विचारशक्ति नहीं उत्पन्न होती। इस कारण वह योग के सम्पूर्ण अनधिकारी है। वैराग्य सहित ध्यान रूप

अभ्यास द्वारा ही ज्ञानयोग की सिद्धि प्राप्त होती है और जो लोग मुख्य अधिकारी हैं, उन्हें प्राणायाम और प्रत्याहार आदि किसी योग की भी आवश्यकता नहीं है। केवल धारणा, ध्यान, समाधि इन त्रिविध संयमों के द्वारा ही उनमें ज्ञान-भक्ति और योगसिद्धि होती है।

बेटा ! कोई भूखा आदमी खाने के लिए बैठकर पूर्ण रूप से भूख की निवृत्ति होकर तृप्ति न होने तक जैसे भोजन का त्याग नहीं करता, वैसे ही भोग-पिपासु, विषयासक्त मन भी भोग-पिपासा की तृप्ति न होने तक किसी तरह विषय-वासना छोड़ना नहीं चाहता। जैसे एक ही समय एक ही घर में प्रकाश और अन्धकार नहीं रह सकते, उसी प्रकार योग और भोग दोनों एक ही मन में एक ही समय उत्पन्न नहीं हो सकते। अतः जिनका मन वैराग्यरहित है, वे निम्नाधिकारी हैं। उनके लिए बहिरंग और अन्तरंग दो प्रकार की साधन प्रणालियाँ हैं। पहले बहिरंग साधन करते-करते साधन की बाहरी बाधा-विघ्नों के दूर होने पर क्रमशः अन्तरंग साधन का अधिकार उत्पन्न होता है। आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि योग के ये छः अंग हैं। इनमें आसन, प्राण-संरोध ( मनोनिरोध ) और प्रत्याहार ये तीन बहिरंग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन अन्तरंग साधन हैं। ये अन्तरंग साधन साधक को भक्ति और ज्ञान के राज्य में ले जाते हैं।

भक्त—प्रभु ! योग के इन छहों अंगों का साधन कैसे किया जाता है ?

महात्मा—बेटा ! सत्संग और गुरुसंग में रह कर वेद-वाक्यों से आत्मतत्त्व के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा वह साधित होता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये तीन योग के प्रधान सहायक हैं। सभी योगांग इन तीनों के अन्तर्गत हैं। बेटा ! मैंने पहले ही तुम से कहा है कि मनोनिरोध या चित्त-विनाश को ही योग कहते हैं। इस चित्त-विनाश के दो उपाय हैं— एक वृत्ति-निरोध नामक योग और दूसरा तत्त्वज्ञान। मन की विक्षेप-शक्ति को वृत्तिनिरोध द्वारा और विषयों की अस्तित्व-बुद्धि को तत्त्वज्ञान द्वारा नाश करना होता है। ये दोनों उपाय एक साथ अनुष्ठित हुए बिना चित्त का विनाश नहीं होता।

भक्त—भगवान् ! केवल वृत्तिनिरोध द्वारा क्या मनोनाश नहीं हो सकता ? यदि मैं अपने विषय में विक्षिप्त मन को नाना प्रकार के कौशलों से बार बार लौटा लाता हूँ तो अभ्यास के द्वारा कुछ काल के अनन्तर मन फिर विषयों में नहीं जायगा ; अतः उस समय मन की वृत्तियों का निरोध होने से मुक्ति अनायास हो जायगी। अतः इस मनोनाश या चित्त-निरोध के लिए कष्टसाध्य तत्त्वज्ञान की क्या आवश्यकता है ? इस विषय में विस्तारित वर्णन करके मेरे मन का अन्धकार विदूरित कीजिये।

महात्मा—हे सुव्रत ! तुम कितने ही कौशलों का अवलम्बन क्यों न करो, विचार, वैराग्य और आत्मतत्त्वज्ञान के विना चित्त कभी मूलसहित नाश प्राप्त नहीं होगा। एक दृष्टान्त लो। बचपन में गुड़ियों पर तुम्हें अत्यन्त आस्तिक्य बुद्धि थी अर्थात् गुड़िया सब विषयों में मनुष्य की तरह ही है—ऐसी तुम्हें दृढ़ बुद्धि थी, इसलिए परमानन्द से तुम उनके साथ खेलने में तन्मय रहा करते थे। उस समय तुम्हारे पिता उस खेल को रोककर तुम्हें पढ़ने-लिखने में लगाने की चेष्टा करते थे। पिता के रोकने से तुम्हारे मन में गुड़िया के खेल के प्रति अरुचि नहीं उत्पन्न हुई थी। रोकने से केवल तुम थोड़ी देर के लिए खेल बन्द कर देते थे, परन्तु तुम्हारे मन में खेलने के लिए तीव्र आकांक्षा रहने के कारण पिता के चले जाते ही फिर से गुड़िया लेकर खेलने लग जाते थे। इस स्थल में प्रतीत होता है कि गुड़िया के ऊपर तुम्हारे मन में सत्यत्व-बुद्धि रहने के कारण केवल रोकने मात्र से तुम्हारी खेल की वासना विनाश प्राप्त नहीं हुई है। उसके अनन्तर वयस की वृद्धि के साथ साथ ज्ञान की वृद्धि होने से उस गुड़िया के विषय में विचार आने पर तुम्हारे मन में नास्तिक्य बुद्धि ( अर्थात् पहले मैंने जैसा समझा था, वह मिथ्या है, गुड़िया जीवन-रहित है ; अतः उसके साथ खेलकर जीवन का अमूल्य समय नष्ट करना उचित नहीं है, ऐसी बुद्धि ) उत्पन्न होने लगी और तभी उस गुड़िया को निरर्थक जानकर उसके साथ खेलना अपने आप छूट गया। यहाँ दिखाई पड़ता है कि गुड़िया के विषय में नास्तिक्य बुद्धि उत्पन्न होने के बाद ही तुम्हारी खेल की वासना नाश प्राप्त हो गयी है। ठीक उसी प्रकार जब तक तुम्हारे मन में 'जगत् सत्य अस्ति' ऐसा बोध रहेगा तब तक तुम्हारे मन से भोग की वासना कभी निवृत्त न

होगी। यदि तत्त्व-विचार न करके केवल मनोवृत्तियों के निरोध की चेष्टा में हठयोग आदि नाना प्रकार के कौशलों का अवलम्बन करते तो तुम्हारी मनोवृत्तियाँ सुषुप्त व्यक्ति की मनोवृत्ति की तरह कुछ समय के लिए निरुद्ध हो जायेंगी। परन्तु उसके बाद ही फिर से वे मनोवृत्तियाँ प्रकट होकर पूर्वानुरूप कार्य करने लग जायेंगी। अतः ब्रह्मज्ञ गुरु के आदेश से वृत्तिनिरोध की चेष्टा और तत्त्व-विचार द्वारा विषयों की आस्तिक्य बुद्धि ... करने की चेष्टा करो। एक साथ इन दोनों के अनुष्ठान करने से तत्त्वज्ञान और मनोनाश होकर मोक्ष लाभ होगा, इसमें विन्दुमात्र भी सन्देह नहीं। परन्तु एक ही समय इन दोनों साधनों के न होने से शत जन्मों में भी मोक्ष परम पद लाभ की सम्भावना नहीं है।

भक्त—दयामय! पद्मासन, सिद्धासन आदि अनेक प्रकार के आसन ... नासिका से वायु आकर्षण पूर्वक लोग प्राणायाम के द्वारा योग किया करते हैं और उससे सिद्धि-लाभ होने पर अनेक प्रकार की अलौकिक विभूतियाँ ... होती हैं, ऐसा लोग कहते हैं। वह किस प्रकार का योग है?

महात्मा—वह हठयोग है! उससे केवल मनुष्य का स्थूल शरीर ... और लघु होता है, इसलिए वह शारीरिक व्यायाम मात्र है। परन्तु उसमें यदि हठयोग के उपयुक्त गुरु और साधक के कठोर ब्रह्मचर्य तथा उपयुक्त ... का अभाव होता है तो यक्ष्मा, दमा आदि दुरारोग्य रोग उत्पन्न होकर साधक की जीवनी-शक्ति नष्ट कर देता है।

भक्त—ऐसा सुनने में आता है कि हठयोग में रेचक, पूरक और कुम्भक के द्वारा प्राण वायु को आकर्षित करते-करते वायु स्थिर हो जाती है। ... निरोध होने से चित्त-वृत्ति का भी निरोध होकर सहज में ही समाधि प्राप्त होती है। यहाँ तक कि वायु का निरोध करने से यह शरीर इतना हल्का हो जाता है कि वह आकाश में भी विचरण कर सकता है। इस कारण हठयोग ही ... प्रधान योग रूप से वर्णित है।

महात्मा—हे सुबुद्धे! वर्तमान समय में राजयोगी गुरु अति दुर्लभ हैं। ... कारण राजयोग का प्राणायाम साधारण व्यक्तियों की समझ में नहीं आता ... आजकल योग शब्द सुनते ही साधारण लोग श्वास-प्रश्वास-निरोध ही ...

होते हैं। परन्तु वास्तव में श्वास-प्रश्वास-निरोध ही योग नहीं है। पातंजल दर्शन चित्त-वृत्ति-निरोध को योग तथा अभ्यास और वैराग्य को चित्त-वृत्ति-निरोध का उपाय बताते हैं तथा श्वास-निरोध रूप बाहरी प्राणायाम को योग का अंग रूप से निर्धारित करते हैं। योगवासिष्ठ ग्रन्थ में चार प्रकार चित्त-वृत्ति-निरोध के उपायों में श्वास-निरोध को गौण रूप से (मुख्य रूप नहीं) बताया गया है। और उपनिषद् ग्रन्थों में ब्रह्मज्ञान-लाभ का उपाय बताते समय श्वास-निरोध-पूर्वक चित्त-निरोध की कोई भी आवश्यकता नहीं बतायी गयी है। तथापि अविचारी अज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक शब्द और श्लोक में श्वास-निरोध-पूर्वक बाहरी प्राणायाम को ही योग का एकमात्र उपाय प्रतिपादित करने के लिए वृथा परिश्रम करके चिंतान्वित होते हैं। वेद ! हठयोग के पूरक रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा मन को निःशेष रूप से विलीन कर देने की कोई भी सम्भावना नहीं है। क्योंकि इच्छा-शक्ति द्वारा मन, प्राण-वायु को कुछ समय के लिए रुद्ध कर सकता है, परन्तु इच्छाशक्ति द्वारा वायु कभी मन को निरुद्ध नहीं कर सकती। अभी तुम वायु-निरोध कर देखो कि वायु के बन्द होने से भी तुम्हारा मन स्वतन्त्र-रूप से किसी भी विषय की चिन्ता कर सकता है। उसमें वह वायु मन को रोक नहीं सकती। अतः वायु-निरोध से मन की गति को रोकना कदापि सम्भव नहीं है। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म है, उसकी शक्ति भी उतनी ही अधिक है, यही सिद्धान्त है। शरीर में वायु की अपेक्षा मन अनेक-गुणा सूक्ष्म है और वायु मन की तुलना में बहुत स्थूल है। इस कारण स्थूल वायु सूक्ष्म मन की असीम गति को रोक नहीं सकती। केवल मात्र मन स्वयं ही अपनी गति को रोक सकता है अर्थात् मन विचारशक्ति के बल स्वयं ही अपनी गति का यदि रोध न करे तो संसार में ऐसा कोई शक्तिशाली पदार्थ नहीं है, जिससे मन का रोध किया जा सके। हठयोगी जो नासिका द्वारा प्राणवायु को खींचकर कुम्भक करके कुछ काल के लिए मन को रुद्ध करते हैं, वहाँ भी प्राणवायु की शक्ति से मन निरुद्ध नहीं होता। उस समय भी मन अपनी इच्छाशक्ति द्वारा किसी मूर्ति का ध्यान करके अपनी वृत्तियों को रोकता है। इसी कारण थोड़े समय तक मन इच्छा से रुद्ध रहता है। यह हमारी प्रत्यक्ष उपलब्धि का विषय है। यह

विषय केवल शास्त्रीय पांडित्य अथवा तर्कयुक्ति के द्वारा समझ में नहीं
वसिष्ठ मुनि ने भी श्रीरामचन्द्र को योग का उपदेश देते समय कहा था—

मन एव समर्थः स्यात् मनसो दृढ़निग्रहे। (योगवाशिष्ठ)

अर्थात्—"केवल मन ही मन का दृढ़ रूप से निग्रह (दमन) करने में समर्थ है।" अतः जो लोग अपने मन की गति की ओर ध्यान नहीं रखते
के प्राणायाम के मार्ग पर नहीं चलते, केवल वैसे अज्ञानी ही
प्राणवायु का रोध करके मन का निरोध करना होगा, इस प्रकार
दिया करते हैं। केवल विचार, वैराग्य के द्वारा ही मनोवृत्तियों का
है, यही सब शास्त्रों का उपदेश है तथा हमलोग भी इस सत्य
उपलब्धि करते हैं। और भी देखो, मानव-शरीर में वायु और रक्त
क्रिया प्राकृतिक है। इस प्राकृतिक नियम के विरुद्ध बलपूर्वक
करने से शान्ति न होकर अत्यन्त अशान्ति की ही उत्पत्ति होती है।
व्यक्ति में मन के कुम्भक द्वारा जो समाधि प्राप्त होती है, वह कभी
दुःखदायक नहीं है। केवल मनोलय होने से ही यदि प्राणवायु
जाता या साधक को समाधि की प्राप्ति होती तो प्रतिदिन ही
अवस्था में मन स्वकारण अज्ञान में लय-प्राप्त हो जाता है, तो उस
का निरोध होकर मन समाधिस्थ क्यों नहीं होता? अतः स्पष्ट ही
हो, मन का लय और समाधि प्राप्त करने के लिए प्राणवायु के निरोध
आवश्यकता नहीं है। विचार द्वारा संसार को मिथ्या जानकर मन
उत्पन्न होने पर मन अपने आप समाधि-प्राप्त हो जाता है। और भी
करके प्रत्यक्ष प्रमाण देख लो, जन्म से लेकर आज तक लाखों,
तुम्हारे मन में उत्पन्न हुई हैं, फिर मन के ही विचार शक्ति के द्वारा
रूप से वे निवृत्त होकर लय-प्राप्त भी हो गयी हैं। परन्तु उन वृत्तियों
करते समय अस्वाभाविक रूप से तुन्हें प्राणवायु को रुद्ध करने की
नहीं हुई थी। सोचकर देखो, बचपन में तुम्हारी मनोवृत्ति
में आसक्त थी। वयस की वृद्धि होने पर उस मनोवृत्ति को रोकने
तुम्हें कभी प्राणवायु रुद्ध करने का प्रयोजन नहीं हुआ था। यहाँ तक
वायु किसे कहते हैं, यह भी तुम्हें ज्ञात नहीं था। वयस की वृद्धि के

विचार-शक्ति के उत्पन्न होने से खेल की वृत्ति अपने आप रुद्ध हो गयी थी। अब तुम्हारे मन में गुड़िया के साथ खेलने की कोई वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि विचार-शक्ति के द्वारा मन में ज्ञान उत्पन्न होने से वह वृत्ति अपने आप विनाश प्राप्त हो गयी है। अब किसी तरह वह वृत्ति तुम्हारे मन में नहीं आती। यदि कभी विनोद के लिए बच्चों के साथ तुम खेलने भी लगते हो तो उसमें सत्यत्व बुद्धि न रहने के कारण तुम्हारे मन में उसके प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न होती। ठीक उसी प्रकार वेदान्त-विचार द्वारा संसार नश्वर और मिथ्या है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने पर इस संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ रहते रहने पर भी तुम्हारा चित्त उनके प्रति आसक्त नहीं होगा, यही यथार्थ में योग का चित्त-वृत्ति-निरोध है। हे सुमते! चित्त के अतिरिक्त कुछ नहीं है, ज्ञान और उसके दृढ़ता-साधक योग (समाधि) का अभ्यास होने पर चित्त का विषय-दर्शन लुप्त हो जाता है। मनुष्य जब उस प्रकार का ज्ञानी और योगी हो जाता है तब वह बाहरी कार्य करे या न करे, 'मुक्त पुरुष' कहलाता है। मनुष्य जिस प्रकार अल्प नशे से चित्त की विक्षिप्त अवस्था और अत्यन्त नशे से निश्चेष्ट भाव प्राप्त होता है, उसी प्रकार चैतन्य के अल्प प्रकाश से चित्त का दृश्य दर्शन और घनीभूत चैतन्य से दृश्य दर्शन का उपशम हुआ करता है। चित्त उस समय न रहने की तरह हो जाता है तथा निर्विषय होता है और उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए चित्त-वृत्ति की सहायता के अतिरिक्त किसी प्रकार के दूसरे उपाय का अवलम्बन नहीं करना होता। अतः समझना होगा, चित्त-वृत्ति का निरोध विचार द्वारा स्वाभाविक रूप से ही होता है; अस्वाभाविक रूप से प्राणवायु के निरोध या बाहरी किसी प्रकार के अनुष्ठान से वह कदापि नहीं हो सकता। अतः वायुनिरोध द्वारा मन को स्थिर करने की चेष्टा वृथा श्रम मात्र है। ऐसे बाह्यिक उपायों के द्वारा कभी चित्त-वृत्ति का निरोध नहीं होता। अतः मनुष्य मुक्त भी नहीं हो सकता। श्री रामचन्द्र को योगतत्त्व का उपदेश देते समय महर्षि वसिष्ठ मुनि ने कहा था—"हे रामचन्द्र! इस संसार नामक रोग की एकमात्र औषधि है ज्ञान अर्थात् संसार मिथ्या तथा आत्मा सत्य है, ऐसा बोध। इस ज्ञान के अर्जित करने में ज्ञानयोग के बिना कोई दूसरा दूसरी उपाय सहायक नहीं है।" (योगवासिष्ठ उ० प्र० स० ६६, श्लोक १८)

भक्त—अनेक व्यक्ति कहते हैं—'मन को स्थिर करने के लिए नासिका वायु खींच कर पूरक, कुम्भक रेचक, आदि प्राणायाम का अवलम्बन कर का भेदन करते हुए मन की स्थिरता लानी होगी।' इस बात के साथ पहले कही हुई बात का सामञ्जस्य न होने से मैं कुछ समझ नहीं सका। पूर्वक विस्तारित रूप से वर्णन करके मेरे मन का संशय मिटा दीजिये।

महात्मा—बेटा! मन के संकल्प-विकल्प का प्रवाह बन्द करके राजयोगी का कुम्भक करते हुए परमात्मा में मन को विलीन कर देते हैं। उस का प्रवाह अर्थात् विषय-चिन्ता-प्रवाह बन्द करने के लिए कहने पर अज्ञानी व्यक्ति समझते हैं कि नासिका द्वारा जो वायु-प्रवाह चलता है, प्राणवायु को रुद्ध कर सकने से ही विषय-चिन्ता का प्रवाह रुद्ध हो परन्तु नासिका की प्राणवायु और मन की विषय-चिन्ता इन दोनों में जो का पार्थक्य है वह उनकी धारणा से अतीत है। मन के रेचक, पूरक, के बिना नासिका द्वारा प्राणवायु का रेचक, पूरक, कुम्भक करने से मन के संकल्प-विकल्प का प्रवाह रुद्ध नहीं होता। तो भी साधारण मन में ऐसी धारणा बद्धमूल हो गयी है कि श्वासवायु की क्रिया न होने स्थिर नहीं होता। बेटा! स्थूल और सूक्ष्म के भेद से जगत् दो प्रकार स्थूल जगत् की क्रिया द्वारा कभी सूक्ष्म जगत् में नहीं पहुँचा जा सकता सूक्ष्म जगत् में पहुँचने के लिए स्थूल जगत् से सम्बन्ध छिन्न करना पड़ता तथापि साधारण अज्ञानी स्थूल जगत की स्थूल वायु के आकर्षण रूप द्वारा ही उस सूक्ष्म से भी सूक्ष्म मनोवृत्तियों का निरोध करना चाहते हैं उनका बड़ा भ्रम है। स्थूल शरीर के मूलाधार आदि छः चक्रों का भेदन हठयोगी जो साधना करते हैं, उससे स्थूल शरीर की ही उन्नति या अवनति है। परन्तु मन के काम-क्रोधादि छः रिपु ही सूक्ष्म देह (मन) के छः इन छः चक्रों के अवलम्बन से ही मन विषयों में विचरण करता है। इन छः चक्रों का भेदन करके राजयोग के द्वारा मनुष्य भव-बन्धन से जाता है। शरीर के षट्चक्रों के भेदन (हठयोग) द्वारा कभी भी षट्चक्र भेद (राजयोग) नहीं होता। उसके करने पर भी मन के की क्रिया पहले की तरह ही होती रहती है। इसकी सत्यता को हम

अनुभव कर चुके हैं। मिट्टी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों द्वारा ही यह शरीर बना है। अब मन को स्थिर करने के लिए आदि और अन्त के चार भूतों को छोड़ केवल वायु को ही मन स्थिर करने का उपाय क्यों कहा गया है? यदि कहो कि 'वायु बहुत सूक्ष्म है, इस कारण सूक्ष्म मन के लिए वायु का ही आश्रय लिया गया है।'[2] उसका उत्तर यह है कि वायु से भी सूक्ष्म आकाश का आश्रय मन स्थिर करने के लिए क्यों नहीं लिया गया? मन तो उस आकाश से भी सूक्ष्म है। अतः यह धारणा अज्ञानियों की है। और तुम जो इन्द्रियों की समता लाने की बात कहते हो, यथार्थ में तत्त्वज्ञान की वृद्धि होने से ही इन्द्रियों की समता, मन की समता और वायु की समता होती है। परन्तु इन्द्रिय, मन और वायु की समता से कभी तत्त्वज्ञान नहीं होता। इन्द्रियों की समता से ज्ञान होता तो बालक को भी तत्त्वबोध होता। यदि मन की समता से तत्त्वबोध होता तो सभी को सुषुप्ति अवस्था में या मूर्छित अवस्था में भी तत्त्वज्ञान होता और वायु की समता से तत्त्वबोध होने से जो सर्प मास तक श्वास-रोध कर रह सकता है उसे भी तत्त्वज्ञान होता। प्राणवायु द्वारा रेचक, पूरक और कुम्भक करने से स्थूल शरीर के भीतर के फेफड़ों में भाथी की भाँति अधिक वायु धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो सकती है। परन्तु वह भी कठिन कार्य है। पुस्तक में लिखित नियम से हठयोग सीखते हुए अनेक लोग यक्ष्मा, दमा आदि नाना प्रकार के फेफड़े के रोगों से आक्रान्त होकर शरीर को निकम्मा कर डालते हैं, कोई कोई तो मर ही जाते हैं। ऐसी अनेक घटनाओं को मैंने प्रत्यक्ष देखा है। हठयोग करने में भी शास्त्रानुसार हठयोग के अनुभवी गुरु, योग्य स्थान और घी-दूध आदि उपयुक्त भोजन का प्रबन्ध चाहिए। यदि कोई अपने इच्छानुसार हठयोग करने की चेष्टा करता है तो उसे रोगाक्रान्त होकर असमय में काल के कवलित होना पड़ता है, यह ध्रुव सत्य है। और इतना कष्ट सहते हुए हठयोग सीखने पर भी उसके द्वारा कभी आत्मज्ञान लाभ या राजयोग नहीं हो सकता। इस कारण उसके द्वारा मुक्ति या शान्ति भी नहीं मिल सकती। प्राणवायु के निरोध से हठयोग तथा सूक्ष्म मन के निरोध से राजयोग या आत्मज्ञान लाभ होता है। इस कारण मन और शरीर के भेद का यथार्थ ज्ञान जिनमें नहीं है, केवल वे ही हठयोग से चित्त-वृत्ति

का रोध करने या मन को स्थिर करने की निष्फल चेष्टा करते हैं। ... आकाश में उड़ने से यदि आत्मज्ञान प्राप्त होकर मनुष्य मुक्त होता और ... प्राप्त कर सकता तो आकाश में विचरने वाले चील, गीध आदि ... हवाई जहाज में चलने वाले मनुष्य सबसे पहले संसार-बन्धन से मुक्त ... परमशान्ति प्राप्त करते और बाहरी वायु के निरोध द्वारा यदि मनुष्य ... सकता तो वायुपूर्ण फुटबाल भी अपने आप ऊपर उठता। यदि वायु ... द्वारा ही मन स्थिर होकर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता तो मेंढक, कछुआ, ... आदि जो दीर्घकाल तक वायु-निरोध कर रह सकते हैं, उन्हें ही ... मन स्थिर होकर तत्त्वज्ञान लाभ और परमपद में स्थिति प्राप्त होती। ... अधिक परिमाण में वायु भर सकने से ही यदि योगी पुरुष की ... तो लुहारों की धौंकनी को भी योगी कह सकते। अतः निश्चय जानें ... वायु के निरोध से कभी ज्ञान की वृद्धि नहीं होती और ज्ञान की वृद्धि न ... अर्थात् मन में विचार-शक्ति के न उत्पन्न होने से मन स्थिर होकर तत्त्व... उत्पत्ति भी नहीं होती। अतः आत्मज्ञानरहित व्यक्ति को मुक्ति या ... कहाँ है ? कोई कोई महापुरुष प्रथम जीवन में हठयोग अभ्यास करके ... राजयोग में प्रविष्ट हुए हैं और उससे उनको शारीरिक सहायता मिली ... परन्तु इस कारण सभी मुमुक्षुओं को हठयोग करना ही होगा या ... करने से राजयोग में पहुँचना सम्भव न होगा, ऐसा निर्दिष्ट नियम या ... नहीं है। और मैं भी युक्ति से इसका समर्थन नहीं कर सकता। ... जो आकाश-गमन आदि सिद्धि की बात कही, वह एक प्रकार की ... है। उसका कारण है—वस्तुधर्म। अर्थात् जिस वस्तु का जैसा धर्म ... है, वह उसी तरह चल-फिर सकती है। जैसे पक्षी आकाश में ... सकता है, परन्तु मनुष्य या पशु का शरीर इतना भारी है कि ... आकाश में नहीं चढ़ सकता। इसलिए मनुष्य में जो आकाश-गमन... है वह यन्त्र-विशेष के कौशल से ही सम्भव है। परन्तु अज्ञानी ... शास्त्र की फलश्रुति से मोहित होकर आकाश-गमनादि अलौकिक ... संसार को ठगने की इच्छा करते हैं। जैसे वर्षा के समय दीमक आदि ... पर पैदा हो जाते हैं और वे आकाश में विचरण करते हैं, उसी ...

समझते हैं कि योग की प्रक्रिया द्वारा वे भी आकाश में उड़ सकेंगे। अतः आकाशगमनादि क्रिया अज्ञानियों का विषय है। आत्मज्ञानी अपने आत्मानन्द में लीन हैं। अज्ञानियों के कार्यों में उन्हें कोई रुचि नहीं है, बल्कि हठयोग ज्ञान के मुक्ति-पथ की बाधा है, यह बात शिवसंहिता से सिद्ध होती है—

यत्तु विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने !
गोमुखाद्यासनं कृत्वा धौती-प्रक्षालनं वसेत् ॥
नाड़ीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम् ।
कुक्षिसञ्चालनं क्षीरप्रवेश इन्द्रियाध्वना ॥

अर्थात्—"हे वरानने ! मोक्ष के विषय में जो ज्ञान रूप विघ्न उत्पन्न हैं, उन्हें भी बतलाता हूँ। गोमुखासन आदि कोई आसन करके धौतियोग नाड़ी के धोने में प्रवृत्त होना, नाड़ी-संचार-विज्ञान अर्थात् बहत्तर हजार नाड़ियों में कौन नाड़ी कहाँ है, केवल उसीका अनुसंधान, प्रत्याहार करने के उद्देश्य से इन्द्रियों का निरोध, लोहे की साँकल से लिंग का बन्धन, लोहे की सलाई से चक्षु या उपस्थ को विद्ध करना, वायु को चालना द्वारा पेट का संचालन, लिंग द्वारा दूध को भीतर खींच लेना आदि हठयोग के कार्य ज्ञान के मुक्ति-पथ में ज्ञान-रूप विघ्न हैं।"

द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याप्नोति मुनिश्वर !
नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् ॥
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ।
सर्वेच्छाफलनाशान्तावात्मलाभोदयाभिधः ॥
स कथं सिद्धिवाञ्छायां कथमर्हत्यचित्तगः। (वराहोपनिषद)

अर्थात्—"मनुष्य द्रव्य, मन्त्र, क्रिया, काल और युक्ति के द्वारा अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं किन्तु ये आत्मज्ञ के प्राप्तव्य विषय नहीं हैं। क्योंकि आत्मज्ञ एकमात्र आत्मा के दर्शन से ही परितृप्त हैं। वे सिद्धियाँ ब्रह्मपद प्राप्ति में कुछ उपकार न करके यथेष्ट अपकार ही करती हैं। वासनाओं के नष्ट होने से ही आत्मलाभ होता है। अतः ऐसा पुरुष मनोवृत्तियों के अभाव के कारण क्यों अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा करेगा ?"

यमाद्यासनजायासहठाभ्यासात् पुनः पुनः।
विघ्नबाहुल्यसञ्जात अणिमादिवशादिह ॥ (वराहोप...)

अर्थात्—"जो लोग यम, नियम, आसन आदि क्लेशकर ... अभ्यास द्वारा इस जन्म में ही अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, उनके ... अनेक विघ्न उत्पन्न होते हैं।" वराहोपनिषद् और भी कहती है—

अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले।
पुनर्वासनयैवायं योगाभ्यासं पुनश्चरन् ॥
अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा।
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

अर्थात्—"यह हठयोगी योगफल सम्यक् रूप से न पाकर महाकु... उत्पन्न होकर पूर्व संस्कारों के द्वारा योगानुष्ठान करके अनेक जन्मों ... सहते हुए ऋषि वामदेव के द्वारा आचरित राजयोग का अवलम्बन ... तदनन्तर विष्णु का परमस्थान प्राप्त करके मुक्ति लाभ करते हैं।

भक्त—प्रभु! शास्त्र में सुना है, प्राणायाम द्वारा मन ... कुण्डलनी शक्ति को जाग्रत किये बिना साधन-भजन का कोई भी ... नहीं होता। क्या यह बात मिथ्या है?

महात्मा—बेटा! युक्ति-प्रमाणों के द्वारा सिद्ध, शास्त्र या आत्मज्ञ ... का वाक्य क्या कभी मिथ्या हो सकता है? केवल अज्ञानियों के समझने ... अर्थ का विपर्यय होता है। तुम जो कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने ... कहते हो, वह कुण्डलिनी क्या है, वह तुम्हें पहले जान लेना चाहिये। ... बाद उसे जाग्रत कर लेना। वह कुण्डलिनी कोई स्थूल वस्तु ... इस स्थूल नासिका द्वारा प्राणवायु को खींचकर रुद्ध करते ही ... हो उठेगी। मन की बुद्धि-शक्ति का नामान्तर ही है—कुण्ड... तुम्हारी इस बुद्धि रूपी कुण्डलिनी अपनी मिथ्या कल्पना से तुम्हारे ... को—यह साढ़े तीन हाथ ही मैं हूँ—समझ कर सांसारिक अन्यान्य ... नाम-रूपों के मोह से अभिभूत हो रही है। विचार-शक्ति के द्वारा उ... से बुद्धि रूपी कुण्डलिनी को जाग्रत कर लेना होगा। इस रूप से ...

सदसत्-विचार द्वारा मोह-निद्रा से जाग्रत करने को ही तन्त्रशास्त्रकारों ने कुण्डलिनी शक्ति जागरण' नाम दिया है। बाहरी हठयोग की क्रिया फल-मूल अथवा उपवास द्वारा सूक्ष्म मनोवृत्तियों की निवृत्ति नहीं होती, इस विषय पुराणादि ग्रन्थों में भी अनेक उदाहरण हैं। इस कारण विचारशील व्यक्ति हठ और राजयोग का भेद उत्तम रूप से जानकर सर्वश्रेष्ठ राजयोग का अवलम्बन करके चित्त-निरोध द्वारा संसार-पारावार उत्तीर्ण हो जाते हैं।

भक्त—करुणामय! पहले आपने जिन छः योगांगों की बात बतायी है, कृपापूर्वक उनका वर्णन कीजिये।

महात्मा—बेटा! आसन, प्राणसंरोध (मनःसंयम), प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—योग के इन छः अंगों के विषय में मैं क्रमशः बतलाता हूँ, सुनो। बैठने के ढंग को आसन कहते हैं। घेरण्ड-संहिता में घेरण्ड मुनि कहते हैं—"प्राचीन काल में महादेव ८४ लाख आसनों का कीर्तन कर गये हैं।" इन आसनों के विषय में यहाँ चर्चा करना अनावश्यक है, क्योंकि वह हठयोगियों का विषय है। जिस यथार्थ आसन को जानने से तुम संसार-बन्धन से मुक्त हो सकोगे, वही मेरी आलोचना का विषय है। आसन कहने से सुखासन समझना चाहिये अर्थात् जिस ढंग से आसन लगाये बैठने पर शरीर में क्लेशबोध न होकर सुखबोध हो और दीर्घ काल तक स्थिर होकर बैठा रहा जा सके, मस्तक से मूलाधार तक मेरुदण्ड सीधा रहे, शरीर में स्पन्दन न हो, शरीर दीर्घ काल तक स्थिर रहे उसीको सुखासन कहते हैं। इसीलिए योगदर्शन में लिखा है—स्थिर सुखमासनम्—"योगसाधन या ब्रह्मज्ञान-साधन के समय जिस ढंग से बैठने पर शरीर बहुत समय तक स्थिर रहता है तथा सुखानुभव होता है, उसीका नाम आसन है; योगसाधन में पद्मासन आदि किसी निर्दिष्ट आसन का नियम नहीं है।" कैवल्योपनिषद् में लिखा है—

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः ॥

अर्थात्—"जिस प्रकार बैठने से क्लेशानुभाव नहीं होता, उसी भाव से कुशासन या कम्बलासन पर एकांत में बैठकर बाहरी और भीतरी शुद्धि सम्पादित करके ग्रीवा, मस्तक और शरीर को सरल भाव से स्थापित कर आसन बन्धन पूर्वक समाधिस्थ हो जाय।" बेटा! पहले जो आसन की प्रशंसा कही गयी है, वह इस

स्थूल देह का ही आसन है। अब मैं सूक्ष्म देह (मन) के आसन की बात कहता हूँ। इसे ही प्रकृत आसन जानना। सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों से अतीत स्थान में ब्रह्म या आत्मा विराजमान हैं। उसी आत्मा में निरन्तर मन की जो स्थिति है, उसीको यथार्थ में सुखासन या ब्रह्मासन कहते हैं। इस आसन के सिद्ध न होने तक केवल स्थूल आसन के द्वारा कभी किसी को आत्मज्ञान नहीं होती। इसी कारण वेदान्त भी कहते हैं—

सुखेनैव भवेद् यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नाजस्रं सुखनाशकम् ॥

अर्थात्—"जिस ढंग से बैठने पर अनायास, अविराम ब्रह्म-चिन्तन हो जाता है, वही आसन-शब्द वाच्य है। इसके अतिरिक्त और सभी आसन सुखनाशक हैं।"

भक्त—भगवन्! कैसे स्थान में बैठकर उस प्रकार का साधन किया जाता है?

महात्मा—बेटा! इस विषय में कोई नियम नहीं है। अर्थात् इस प्रकार के ब्रह्म-सम्बन्धी मनन आदि साधन करने के लिए किसी तीर्थ में, किसी गुफा में, किसी निर्जन स्थान में या एकान्त गृह में रहने की आवश्यकता नहीं है। केवल एकान्त स्थान में रहने से ही मनन आदि साधन हो सकता है, दूसरे स्थान में नहीं, ऐसा नियम नहीं है। जिस स्थान में मन की स्थिरता हो सकती है, वहीं ब्रह्मध्यान करना उत्तम है। बेटा! पहाड़-पर्वत या वन-जंगल में घूमने से ही किसी को आत्मदर्शन नहीं हुआ है। उससे वृथा शक्ति क्षय ही होता है, किन्तु, वह शक्ति ब्रह्मज्ञ गुरु के पास रहकर उनका उपदेश सुनकर चित्त-शुद्धि के द्वारा निर्मल करने के प्रयत्न में लगाने से ही सार्थक होती है। प्रथम अवस्था में विचार-वैराग्य प्राप्त करने की आशा से मैं भी कुछ वर्षों तक हिमालय की अँधेरी गुफा में रहा था। उस समय मैंने देखा कि संसार के सारे विषय तथा समस्त संसार अपने ही मन में निरन्तर घूम-फिर रहे हैं। विचार-वैराग्य लोकालय में रहकर ही मुझे प्राप्त करना पड़ा है। सांख्यदर्शन ने इस विषय में स्पष्ट ही कहा है—"न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्—चित्त को प्रसन्न करने के लिए वन या गुफादि किसी स्थान का नियम नहीं है।" इसका कारण ...

कि विषयों में रहकर भी जिसका चित्त आसक्ति-रहित हो गया है, केवल उसके चित्त में ध्यान-धारणा भी हो सकते हैं। प्रसन्नचित्त व्यक्ति किसी भी स्थान में क्यों न रहे, सर्वत्र ही उसमें ध्यान की सिद्धि हो सकती है और विषयासक्त मलिन-चित्त व्यक्ति पर्वत की गुफा में बैठे रहने पर भी ध्यान-साधन नहीं कर सकता। क्योंकि बार-बार विषय-चिन्ता ही उसके मन में उठती रहती है।

भक्त – प्रभु! शास्त्र तो वन, पर्वत और गुफा आदि स्थान को ही योग-साधन के उपयोगी कहकर वर्णन करते हैं। इसका क्या आशय है?

महात्मा – बेटा! उसे गौण समझना चाहिये। संसार से विरक्त होने पर वन, गुफा आदि किसी भी स्थान में रहकर योगसिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु गुफा आदि ही योगियों के लिए परमावश्यक है और गुफा आदि स्थान न होने से कभी योगसिद्धि न होगी, ऐसी बात नहीं है। ब्रह्मोपासना में किसी देश या दिशा का नियम नहीं है। पवित्र प्रदेश में चित्त-स्थैर्य-कारक आसन लगाकर बैठ जाय। इस उपासना में पूर्व, उत्तर आदि दिशा, काशी, प्रयाग आदि देश और प्रदोष, रात्रि आदि काल का कोई नियम नहीं है। परन्तु उन शास्त्रों में 'अर्थ-लक्षण' नियम है। जिस देश में, जिस ओर और जिस समय जिस प्रकार के आसन पर बैठने से उपासक अपने मन की स्वच्छन्दता का बोध करे और एकाग्र-चित्त हो सके, उसी स्थान पर उस ओर, उस समय और उस आसन पर ही उपासना के लिए बैठे। यही वेदान्त-शास्त्र का अभिप्राय है।

भक्त – भगवन्! शास्त्र में तो कहा गया है कि समतल, पवित्र, कंकरों से रहित, पास में अग्नि न रहे, स्थान बालुकामय न हो, कोलाहल सुनाई न दे, जल के समीप न हो, मन के अनुकूल हो, मच्छर आदि का उत्पीड़न न हो, प्रबल वायु प्रवाहित न हो, ऐसे एकान्त स्थान में योगानुष्ठान करना चाहिये। इसका क्या आशय है?

महात्मा – बेटा! योगानुष्ठान के लिए उस प्रकार का नियम लिखा है सही, किन्तु उनमें किसी एक को ही निर्दिष्ट नियम के अन्तर्गत नहीं किया गया है। अर्थात् समतल देश के बिना योग नहीं होगा, ऐसी बात शास्त्र में नहीं लिखी है। उन स्थानों का वर्णन करने के अनन्तर अन्त में कहा गया है–मनोऽनुकूले अर्थात् योगाभ्यास के लिए योगी का चित्त अनुकूल हो, उसी स्थान में योगाभ्यास

करे।" वेदान्तदर्शन में लिखा है—यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्—"जहाँ जिस प्रकार से बैठने पर मन के एकाग्रता-साधन में सुविधा होती है, उसी स्थान में आसन लगावे।" पीठमाला-तन्त्र में भी लिखा है—

न तन्त्र नियमः कश्चित् उपवासादिकः प्रिये !
वने वा विजने वापि आसनानि पृथक् पृथक् ॥

अर्थात्—"आत्मा की साधना में उपवासादि किसी नियम के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, वन में या एकान्त स्थान में रहने का भी प्रयोजन नहीं तथा किसी प्रकार आसन-बन्धन की भी आवश्यकता नहीं होती।" अतः यदि तुम लोकालय में रहकर ही ब्रह्मध्यान कर सको, तो तुम्हें निर्जन स्थान में जाने की क्या आवश्यकता है ? और यदि तुम उसमें असमर्थ होते हो और निर्जन स्थान में जाने पर ही अपने ध्यान-साधन में सहायता समझते हो तो तुम्हें निर्जन स्थान में जाकर ही ध्यान करना होगा। प्रायः दिखाई पड़ता है कि अधिकांश साधकों की प्रथमावस्था में नीरव निर्जन स्थान पर बैठने से ही ध्यान जमता है। बाद में ध्यान के परिपक्व होने पर सुविधा के अनुसार किसी भी स्थान में बैठने पर भी ध्यान-साधन में कोई विघ्न नहीं होता। अतः साधकों की प्रथमावस्था में निर्जन नीरव स्थान में आसन लगाना ही उचित है।

भक्त—प्रभु ! अब तक हम केवल प्राणवायु के नाक से ग्रहण और त्याग को ही प्राणायाम समझते थे। आपके कथित मन के प्राणायाम की क्रिया कभी किसीने नहीं सुनी हैं। अतः मन के पूरक, कुम्भक, रेचक—इन तीन अवस्थाओं में मन की स्थिति कब कैसी रहती है उसे अच्छी तरह समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा ! ब्रह्मज्ञ गुरु का उपदेश श्रवण करना अधिकांश लोगों के भाग्य में नहीं होता। इस कारण उन अभागे व्यक्तियों की ऐसी भ्रान्त धारणा हो गयी है कि प्राणवायु का बलपूर्वक निरोध करना ही साधना का प्रधान अङ्ग है। इस प्रकार के मनुष्य प्रायः वायुनिरोध के द्वारा हठयोग के नाना प्रकार कौशल अवलम्बन करके नाना प्रकार दुरारोग्य व्याधियों से ग्रसित होकर कष्ट भोग करते हैं। तुम अच्छी तरह जान लेना कि मन की स्पन्दन-शक्ति का नाम ही प्राण है। एकमात्र ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के अतिरिक्त साधारण मनुष्य इस प्राण शब्द का अर्थ समझ नहीं सकते। इस प्राण शब्द को स्पष्ट रूप से समझाने के

श्रीरामचन्द्र को योगतत्त्व का उपदेश देते समय महर्षि वसिष्ठ मुनि ने कहा था—"हे राम ! प्राण-शक्ति के निरुद्ध होने से ही मन विलीन हो जाता है। क्यों होता है ? इसलिए कि मन और प्राण मूलतः एक ही वस्तु है। अतः मन के प्राणायाम के ( प्राणवायु के नहीं ) अभ्यास, व्यासन का क्षय अर्थात् अनेक विषयों से चित्त का निरोध और परमार्थ ज्ञान, इन सबों के द्वारा प्राण अर्थात् मन का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।" ( योगवासिष्ठ उप० प्र० अध्याय ९१, श्लोक ८३-८५ )। वेदान्त में भी अनेक स्थानों में मन को 'प्राण' शब्द से वर्णित किया गया है। अतः शास्त्र जहाँ प्राण-संरोध या प्राण-संयमन करने को कहते हैं, वहाँ प्राण शब्द से प्राणवायु को नहीं, मन को संयत करना होगा। लोक-व्यवहार में भी सदा प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कोई पुत्र-शोकार्त पिता दूसरे से कहते हैं 'भाई, शोक से मेरा प्राण छटपटा रहा है। बार-बार मृत पुत्र की स्मृति उठकर मेरे प्राण को व्याकुल कर रही है।' यहाँ दिखाई पड़ता है कि वह व्यक्ति अपने मन की व्याकुलता को प्राण की व्याकुलता रूप से प्रकट कर रहा है। क्योंकि उस व्यक्ति की प्राणवायु में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल उसके मन में पुत्र की चिन्ता उसे अशान्ति दे रही थी। अतः शास्त्र ने भी मन-संरोध को ही प्राण-संरोध कहा है। मन के रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा योगदृष्टि या ब्रह्मदृष्टि करने को ही प्राण-संरोध या मनःसंयम कहते हैं। ... तुम्हारा मन जो विषयों में विक्षिप्त हो जाता है उसीका नाम मन का रेचक है। विचार पूर्वक उन विषयों का मिथ्यात्व-बोध उत्पन्न करके 'एक ब्रह्म ही सत्य और सर्वमय हैं'—ऐसे ज्ञान द्वारा मन को विषयों से लौटा लाने का नाम ही मन का पूरक या प्रत्याहार है। पूर्वोक्त भाव से मन को विषयों से लौटा लाकर उस प्रत्याहृत मन को जो पूर्ण रूप से विषयों या सर्वप्रकार की वृत्तियों से शून्य करके रखा जाता है ( अर्थात् उस समय वहाँ केवल मन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता ), उसीका नाम मन का कुम्भक है। इस प्रकार मन को वृत्ति-शून्य करने से ही वह आत्मा में स्थिति लाभ करता है, इसीको धारणा कहते हैं। पूर्वोक्त कुम्भक अवस्था में स्थित मन 'समस्त जगत ही ब्रह्म या आत्ममय है' इस ज्ञान से जब अपने देहेन्द्रिय और मन के ज्ञान तक को लुप्त कर देता है अर्थात् तब मन अपने अस्तित्व की उपलब्धि भी नहीं

कर सकता, मन की इस अवस्था को ही 'आत्मध्यान' कहते हैं। इस आत्म... के सिद्ध होने से ही उस निर्विकार मन में अपने को आत्मस्वरूप ... सांसारिक सब प्रकार के भावों का सम्पूर्ण रूप से अभाव हो जाता है ... मन में जब किसी विषय का प्रकाश नहीं रहता, मन और बुद्धि ... एकदम लुप्त हो जाती है, केवल चिदात्मा अवशिष्ट रहते हैं, ऐसी अवस्था ... ही 'समाधि' कहते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य ने भी कहा है—

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रविलोकिनी ॥
दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रविलोकिनी ॥ (अपरोक्षा...)

अर्थात्—"दृष्टि को ज्ञानमयी करके उसके द्वारा संसार को ब्रह्ममय ... चाहिये, ऐसी परम उदार दृष्टि का नाम ही योग या ब्रह्मदृष्टि है। ... दृष्टि केवलमात्र नासाग्र-भाग में निबद्ध है, उसे योगदृष्टि नहीं कहते। ... दृष्टि, दर्शन और दृश्य का विराम होता है, उसी (आत्मा) में दृष्टि ... चाहिये, केवल नासाग्र में ही दृष्टि रखना अकर्तव्य है।"

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधं सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचनाख्यः समीरणः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयञ्चापि प्रबुद्धानामज्ञानं घ्राणपीडनम् ॥
विषये स्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥
यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणञ्चैव धारणा सा परा मता ॥
ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः॥ (अपरोक्षानुभूति)

अर्थात्—"चित्तादि सब प्रकार के भाव पदार्थों में ब्रह्मत्व भावना द्वारा सर्व प्रकार की इन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध होता है, उसे प्राणायाम कहते प्रपंच का निषेध, अर्थात् मन जो विषयों में विक्षिप्त हो जाता है, विचार उन विषयों का मिथ्यात्व जानने को ही रेचक वायु कहते हैं। एक ही सर्वमय है, ऐसे ज्ञान के द्वारा विषयों से मन को लौटा लाने को ही वायु कहते हैं। उसके बाद एक ब्रह्म ही सर्वमय हैं, ऐसी मनोवृत्ति के रोध को अर्थात् जब मन में किसी प्रकार की वृत्ति नहीं रहती, तब उसे कुम्भक हते हैं। इस प्रकार के रेचक, पूरक और कुम्भक रूप प्राणायाम ही ज्ञानियों प्राणायाम है। अज्ञानी व्यक्ति ही नासिका द्वारा प्राणवायु के निरोध को णायाम कहते हैं। विषय में आत्मानात्म-तत्त्व का अनुसन्धान करके उन्हें नात्मा समझकर उन विषयों का परित्याग पूर्वक परमात्मा में मन को संलग्न रना ही प्रत्याहार है। आत्मज्ञान-पिपासु मुमुक्षु व्यक्ति इस प्रत्याहार का भ्यास करते हैं। मन जिस विषय में जाता है, उस विजय में ब्रह्मस्वरूप र्शन पूर्वक ब्रह्म में मन का स्थापन अर्थात् मन को प्रत्याहृत करके आत्मा स्थिर करना ही उत्कृष्ट धारणा है। समस्त बाधाओं का अतिक्रमण करके रीर की चिन्ता छोड़कर 'सभी ब्रह्ममय' इस ज्ञान से मन सर्वत्यागी होकर जब स्वरूप में अवस्थित होता है अर्थात् जब मन के सिवाय मन में अन्य सी भावना का अस्तित्व नहीं रहता, तभी उसे आत्मध्यान कहते हैं। इसे परमानन्द का लाभ होता है। इस आत्मध्यान द्वारा चित्त के निर्विकार ने से, उस निर्विकार चित्त में अपने को ब्रह्मस्वरूप जानकर सब प्रकार के च-भावों का परित्याग होने पर उसे ज्ञान-समाधि कहते हैं।"—वेदान्त भी ते हैं—

बाह्यस्थं विषयं सर्वं रेचकः समुदाहृतः।
पूरकं शास्त्रविज्ञानं कुम्भकं स्वगतं स्मृतम्॥ (वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"सर्व प्रकार बाह्य विषयों के अवलम्बन से ही मन का रेचक होता है, शास्त्रज्ञान द्वारा विषयों का नश्वरत्व समझ कर मन को उनसे लौटा

लाने का नाम ही पूरक है। और कुम्भक आत्मगत है अर्थात् मन को [illegible] में स्थिर रखने का नाम ही कुम्भक है। जो इस अभ्यास-योग द्वारा [illegible] वश में कर सकते हैं वह मुक्त हो जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं।"

यच्छेद् वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (कठो[illegible]

अर्थात्—बुद्धिमान योगी पहले वागेन्द्रिय को मन में संयत करें [illegible] बाहरी इन्द्रियों का व्यापार छोड़कर केवल मन में अवस्थित रहें, उसके [illegible] मन को ज्ञान में संस्थित करें अर्थात् विषयों का दोष-दर्शन पूर्वक विषय[illegible] मन को निश्चयात्मिका बुद्धि में डुबो दें। अनन्तर बुद्धि को महदात्मा में [illegible] करें अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवात्मा में प्रविष्ट करा दें। अन्त में उस [illegible] को शान्त आत्मा (परमात्मा) में प्रतिष्ठापित करें। यही आत्मा सब [illegible] परमपुरुष और प्राप्य वस्तुओं का अन्तिम सीमा है और जीवात्मा को इ[illegible] लवलीन करने का नाम ही योग है।"

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥
(ब्रह्मबिन्दु उप

अर्थात्—"जब तक मन कूटस्थ चैतन्य में विलीन नहीं होता, [illegible] उस चिन्ता से दूर रखें, इसीका नाम ध्यान और इसीका नाम ज्ञान है [illegible] पूर्वोक्त प्रणाली का अनुसरण करके मन का निरोध कर सकने से ही [illegible] विकसित होता है, यही सारतत्त्व है। इसके सिवाय अन्य विषय [illegible] विस्तार मात्र है।" अमृतबिन्दु उपनिषद् में लिखा है—

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा॥
निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि।
यदायात्यात्मनो भावं तदा तत्परमं पदम्॥

अर्थात्—"मन विषयाभिलाष-शून्य होने से ही माया-बन्धन से मु[illegible] जाता है। इस कारण जो लोग मुक्ति की कामना करते हैं, उन्हें सभी सम[illegible] को विषयाभिलाष-शून्य रखना चाहिये। विषयाभिलाष से निर्मुक्त हृदय में [illegible]

...ने निरुद्ध अन्तःकरण जब आत्मभाव अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ'. ऐसे जीव और ब्रह्म एकत्व-ज्ञान प्राप्त करता है तब इस ज्ञान रूप परम प्राप्य वस्तु ही निरोध का फलस्वरूप होता है।" महायोगी घेरण्ड मुनि ने भी कहा है—

घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कुर्यात्परात्मनि।
समाधिं तद् विजानीयात् मुक्तसञ्ज्ञो दशादिभिः॥

(घेरण्डसंहिता)

अर्थात्—"शरीर से मन को पृथक् करके परमात्मा के साथ एक कर दें, ...ही समाधि कहते हैं। ऐसी समाधि के द्वारा ही जीव मुक्त हो जाता है।" ...! इस प्रकार वेदान्तादि सर्व शास्त्रों का एक ही कथन है। अतः एकमात्र चित्त-वृत्तिनिरोध द्वारा ही राजयोग सिद्ध होता है,—प्राणवायु-निरोध के द्वारा नहीं।

भक्त—प्रभु! आप जो मन को निर्विषय करने अर्थात् विषयानुराग से रहित ...का उपदेश दे रहे हैं, वह कैसे सम्भव हो सकता है! क्योंकि आत्मतत्त्व ...चिन्ता और विषयों की विस्मृति लाने में भी उन उन विषयों की मन में चिन्ता ...आवश्यकता होती है। अतः मन कभी विषय-शून्य नहीं हो सकता।

महात्मा—बेटा! मन जिस समय चिन्ता और अचिन्ता के बाहर चला ...ता है और किसी विषय का अवलम्बन न लेकर निरालम्ब अवस्था में रहता ...तभी मन आत्मा में युक्त हो जाता है। इसी का नाम योग है। इस कारण राजयोग को 'निरालम्बयोग' कहते हैं। श्रुति भी कहती है—

नैवं चिन्त्यं न वाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

अर्थात्—"जो वस्तु मन के अगोचर है उसकी चिन्ता नहीं की जा सकती, निरुपाधि ब्रह्म, और चिन्ता के योग्य विषय भी मिथ्या होने के कारण ...चिन्तनीय नहीं है। अतः जिस समय मन आत्मतत्त्व की चिन्ता या मिथ्या वस्तु ...विस्मृति, इन दोनों में किसी पक्ष का अवलम्बन नहीं करता अर्थात् मन ...निरालम्ब अवस्था में स्थित होता है, तभी वह ब्रह्मभावापन्न हो जाता है।" ...! इसी कारण वेदान्त ने इसे 'निरालम्बयोग' कहा है।

भक्त—प्रभु! आपने जिस राजयोग का वर्णन किया, साधक पहले अभ्यास

के समय कैसे उस योग को प्राप्त करेगा ? इस विषय में शास्त्र क्या कहते हैं, कृपा करके उसीका उपदेश दीजिये।

महात्मा—बेटा ! प्रथमतः गुरु के उपदेश से ॐकार शब्द का लेकर चित्तवृत्ति-निरोध का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् बहिर्मुखी जिससे अन्तर्मुखी होकर किसी एक केन्द्र में निरुद्ध हो जाय उसे प्रणव ( ॐकार ) शब्द का निरन्तर मुख से जप करते रहना चाहिये तथा साथ ही साथ शब्दातीत परब्रह्म की चिन्ता द्वारा ही भाव-वस्तु ब्रह्म की होगी, कभी भी अभाव की उपलब्धि नहीं होगी। वह ब्रह्म परिपूर्ण, विकल्पादि-संशय-शून्य तथा निर्मल है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से कर सकने पर जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म के सिवाय दूसरा अनुभूत न होने से जीव उस समय ब्रह्मस्वरूप ही प्राप्त करता है।

अतः बेटा ! तुम गुरूपदेश, श्रुति-वाक्य और अपनी अनुभूति से ज्ञान-चक्षु प्राप्त करके आत्मसाक्षात्कार की चेष्टा करते चलो। इस साक्षात्कार में प्रवृत्त होने पर 'मैं निष्कल, निर्मल, शान्त-स्वरूप हूँ' इस ज्ञान के अभ्युदय होने से जब तुम सदा अपनी आत्मा में स्थित हो सकोगे तुम्हारा मन नाश-प्राप्त होगा। निद्रा, वृथा बातचीत, बाहरी शब्द विषयों का अनुभव और आत्मविस्मरण का अवकाश तुम अपने मन को न दो, सदा आत्मा में अवस्थित रहकर तुम आत्मचिन्ता करते रहो। के शुक्र-शोणित रूप मल से उत्पन्न कुत्सित मल-मूत्र-पूर्ण यह शरीर चाण्डाल-देह की तरह घृणा-योग्य है ; इस कारण उसकी चिन्ता छोड़कर भावना में तन्मय रहो। स्वयं सदात्मक रूप से स्वप्रकाश अधिष्ठान-स्वरूप करके पिण्डग्रास के तुल्य ब्रह्माण्ड को भी मलभाण्ड की भाँति परित्याग होगा। शरीर में उत्पन्न 'अहं बुद्धि' को सदानन्द-स्वरूप चैतन्य-रूप में लीन करके सूक्ष्म लिंगदेह परित्याग पूर्वक सदा केवल ब्रह्मरूप में रहना होगा। 'दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर की भाँति यह जगत् प्रतिबिम्बित प्रतीत हो रहा है वह ब्रह्म ही मैं हूँ', इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके तुम जाओ। उक्त प्रकार से मन को चालित करने पर तुम्हें मालूम होगा जिस प्रकार राहुमुक्त होकर निर्मल पूर्ण स्वरूप में प्रकाशित होता है

प्रकार स्वयं प्रकाशपूर्ण, सर्वव्यापक, सदानन्द रूप ( सत्ता और आनन्द स्वरूप ) परमात्मा भी अविद्याकल्पित अहंकार रूप ग्रह से मुक्त होकर तुम्हारे भीतर अपने स्वयं स्वरूप में प्रकाशित हो रहे हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी लिखित है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥

अर्थात्—"अरी मैत्रेयि! आत्मा की बात सुनना कर्तव्य है अर्थात् पहले गुरु-मुख से श्रवण करके बाद में स्वयं गुरु और वेदान्त वाक्य की आलोचना करनी चाहिये। उसके अनन्तर श्रुत्युक्त उन उपदेशों के प्रतिकूल तर्क छोड़कर अनुकूल तर्क द्वारा आत्मतत्त्व का निश्चय या मनन करना उचित है। अन्त में स्थिरीकृत उस उपदिष्ट आत्मतत्त्व का एकाग्रता के साथ ध्यान यानी निदिध्यासन करना चाहिये। उपरोक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीन प्रकार के साधनों के सिद्ध होने पर जब मन एक ही आत्म-भाव में लवलीन हो जाता है तभी सम्यक् रूप से आत्मदर्शन सम्पन्न होता है।" अमृतनादोपनिषद कहती है—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥

अर्थात्—"मेधावी व्यक्ति शास्त्रों का अध्ययन और उनका बार-बार अभ्यास करके ब्रह्मविद्या लाभ होने पर, पथिक जिस प्रकार मशाल की सहायता से गन्तव्य स्थान में पहुँचकर मशाल का परित्याग करता है, उसी प्रकार सभी शास्त्रों का परित्याग करें।" इसका भावार्थ यह है कि पथिक अपने घर में प्रविष्ट होने के पहले मार्ग के अन्धकार में जैसे मशाल का प्रकाश नहीं छोड़ता उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार न होने तक साक्षात्कार के उपाय रूप वेदान्तादि शास्त्रों का अध्ययन तथा परस्पर तत्त्व की आलोचना कभी छोड़नी नहीं चाहिये।

तावद् रथेन गन्तव्यं यावद् रथपथि स्थितः।
स्थित्वा रथपथस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति॥ (अमृतनादोपनिषद्)

अर्थात्—"जब तक राजमार्ग में मनुष्य चलता है तब तक वह रथ आदि यान से जा सकता है परन्तु जब रथ का मार्ग समाप्त हो जाता है तब वह उस यान को छोड़कर पैदल ही चलता है।" आशय यह है—आत्मसाक्षात्कार के

पूर्व पर्यन्त साध्य-साधन-मात्र वर्तमान रहता है। अतः ॐकार-साधन अवलम्बन लेकर साध्य आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में चलना होता है। जब आत्मदर्शन हो जाता है तब फिर कौन किसका साधन करेगा ! इस उस ॐकार साधन रूप रथ भी परित्यक्त हो जाता है।

बेटा ! अध्यात्मविद्या का लाभ, साधुसंग, वासनात्याग और प्राण का निरोध, ये चित्तजय के प्रधान साधन हैं। परन्तु जो अनभिज्ञ एकाएक चित्तजय में उद्योगी होता है, समझना चाहिये कि वह मृ के द्वारा उन्मत्त हस्ती को बाँधने की चेष्टा करता है। लोकवासना (१) शास्त्रवासना (२) और देहवासना (३)—इन त्रिविध वासनाओं के मनुष्य के मन में यथायोग्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। वासनाएँ दो प्र हैं—एक शुभ और दूसरी अशुभ। इसमें यदि तुम शुभ वासनाओं के द्वा मात्मा का अनुसन्धान करोगे तो उससे क्रमशः आत्मा का स्थान परमात्म प्राप्त कर सकोगे। और यदि अशुभ वासना का आश्रय लेते हो तो संकट में पतित हो जाओगे। वासनाओं का क्षय, विज्ञान और चित्तलय- एक-साथ दीर्घ काल तक अभ्यस्त होने पर फलप्रद होते हैं। जब तीनों का बार बार अभ्यास नहीं होता, तब तक शत वर्षों में भी ब्रह्म होती। इसी कारण दीर्घकाल तक ब्रह्मज्ञ गुरु की सेवा और वेदान्त श्रवण अत्यन्त आवश्यक है और उन्हीं के द्वारा उन तीनों को किया जा सकता है। इन तीनों का दीर्घकाल अभ्यास दृढ़ होने से कामना-ग्रन्थि खुल जाती है। अतएव बेटा ! तुम पुरुषकार रूप द्वारा भोगवासना का परित्याग कर उपरोक्त तीन उपायों का करो। मन जब वासनारहित होता है, कभी संकल्प नहीं करता उत्कृष्ट निर्वृत्ति देने वाली मनःशून्यता आविर्भूत होती है।

(१) लोकवासना = लोगों के साथ खेलने या बातचीत करने की
(२) शास्त्रवासना = शास्त्रों का अध्ययन द्वारा प्रसिद्ध विद्वान रूप में यश प्राप्ति की कामना।
(३) देहवासना = स्थूल देह को नाना प्रकार से सुसज्जित करने और लाभ करने की वासना।

समय मानो मन है ही नहीं ऐसा बोध होता है। अतः जब तक तुम्हारा वशीभूत नहीं होगा, जब तक वह प्राप्त वस्तु अज्ञात ही रह जायगी, तब तक और शास्त्र रूप प्रमाण के द्वारा यथार्थ तत्त्व का अनुसन्धान करते रहो। जब तुम्हारे हृदय को कामादि वृत्तियाँ चली जायेंगी, जब यथार्थ वस्तु सकोगे, मन की वेदना जब दूर हो जायगी, तब तुम शुभ वासनाओं का परित्याग करोगे। सांख्यदर्शन का कथन है—

रागोऽपहतिर्ध्यानम्।

अर्थात्—"विषयानुराग निवृत्त होने से ध्यान ही ज्ञान का हेतु होता है। मनुष्यमात्र को ही विषयों में अनुराग रहता है, उस विषयानुराग की निवृत्ति होने से ही ध्यान उत्पन्न होता है। आत्मतत्त्व का चिन्तन ही विषयानुराग-निवृत्ति का हेतु है, इस कारण आत्मध्यान ही ज्ञान का उत्पादक है।" ध्यान अर्थ यहाँ धारणा, ध्यान और समाधि तीनों है और ये तीन ही ज्ञान के साधन हैं।

भक्त—प्रभु! उस ध्यान का लक्षण कैसा है?

महात्मा—बेटा! ध्यान करते करते ध्येय के अतिरिक्त विषयों से बुद्धि रहित हो जाती है, अर्थात् ध्येय के अतिरिक्त अन्य कोई भी विषय बुद्धि में उदित नहीं होता; सदा ही बुद्धि ध्येय विषय में अनुरक्त रहती है। ऐसा होने से ही 'ध्याननिष्पत्ति' सिद्ध होती है। ऐसी ध्याननिष्पत्ति ही तत्त्वज्ञान उत्पादित कर सकती है। अतः जब तक उस प्रकार की ध्याननिष्पत्ति नहीं होती, तब तक धारणा, ध्यान और समाधि रूप ध्यान करना होगा। ध्यान के द्वारा अन्य वृत्तियों का निरोध होने पर विषयान्तर-संचरण रूप प्रतिबन्धक दूर होकर ध्येय का साक्षात्कार होता है। इसीलिए सांख्यदर्शन की उक्ति है—

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः।

अर्थात्—"मन की वृत्तियों का निरोध होने से ध्यानसिद्धि होती है।"

भक्त—भगवन्! ध्यान किसे कहते हैं? किस प्रकार मूर्ति का ध्यान करने से तत्त्वज्ञान या ब्रह्मज्ञान साधित होता है?

महात्मा—हे सुमते! ध्यान द्विविध है—स्थूल और सूक्ष्म। मन्त्रोच्चारण

पूर्वक मूर्ति-ध्यान को स्थूल ध्यान तथा मन्त्र और मूर्ति हीन ध्यान
ध्यान कहते हैं। इस विषय में आदियामल में भी लिखित है—

ध्यानन्तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः।
स्थूलं मन्त्रमयं विद्धि सूक्ष्मन्तु मन्त्रवर्जितम्॥

अर्थात्—ध्यान दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। मन्त्रमय ध्यान
और मन्त्रहीन ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।" योगिवर घेरण्ड मुनि

स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तम्।
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता॥ (घेरण्ड

अर्थात्—"जिसमें मूर्तिमान अभीष्ट देव की या परमगुरु की
जाती है, उसीका नाम स्थूल ध्यान है तथा जिस ध्यान से बिन्दुमय
कुलकुण्डलिनी-शक्ति का साक्षात्कार होता है, उसीका नाम सूक्ष्म ध्यान

अतः किसी मूर्ति की चिन्ता करने का नाम आत्मध्यान नहीं है।
चिन्ताशून्यता ही सूक्ष्म ध्यान या आत्मध्यान है। इसी कारण
स्पष्ट ही कहते हैं—

ध्यानं निर्विषयं मनः।

अर्थात्—"मन को विषयचिन्ता से रहित करने का नाम ही
तात्पर्य यह है कि मन से विषय दूर होने पर ही ध्यान होता है और
ही योग कहलाता है।" वेदान्त का भी कथन है—

अचिन्तैव परं ध्यानम्।

अर्थात्—"किसी भी विषय की चिन्ता न करना ही परम ध्यान
है।" और इस प्रकार के ध्यान को ही 'चित्तवृत्ति-निरोध-योग'
पीठमाला-तन्त्र कहते हैं—

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।

अर्थात्—"जिस अवस्था में मन सब चिन्ताओं को छोड़कर
होता है, उसीका नाम योग है।" अतः ध्यान के नाम से
की कल्पना क्यों करते हो? वह कभी आत्मध्यान नहीं हो सकता।
करेगा कौन? हड्डी-खून-माँस से गठित तुम्हारा यह स्थूल शरीर तो
न करेगा! ध्यान करने का कर्ता है बुद्धि तथा मन। उस

कोई मूर्ति नहीं है तब ध्येय वस्तु की मूर्ति के लिए इतना दुराग्रह क्यों करते ! तुम्हारा मन अनन्तकाल तक मूर्तिहीन और निरवयव ही रहेगा। अतः कारण ध्येय वस्तुको साकार बनाने की चेष्टा निरर्थक है। इसमें लाभ है! सबसे निम्न कोटि के अनधिकारी अज्ञानियों के लिए ही स्थूल ध्यान रचना की गयी है।

भक्त—प्रभु ! विषयों में जो मन का अनुराग है उसे रोकने के लिए ही हम ध्यान करते हैं।

महात्मा—बेटा ! स्थूल मूर्ति के ध्यान के द्वारा कभी भी विषयानुराग दूर हो सकता। स्थूल मूर्ति के ध्यान की अपेक्षा सूक्ष्म आत्मध्यान सहस्रों गुणा है। योगिराज घेरण्ड मुनि का उपदेश है कि "स्थूल ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाखों गुणा श्रेष्ठ है।" (घेरण्डसंहिता उः ६, श्लोक २१) कारण ब्रह्मज्ञ गुरु के आदेशानुसार ध्यान-धारणादि करना और सत्संग करकर आत्मतत्त्व की आलोचना करना ही विषयानुराग दूर करने का एक उपाय है। सांख्यदर्शन भी कहते हैं—

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः।

अर्थात्—"समाधि के द्वारा जो ध्यान होता है, वही योग का कारण है। इस का कारण धारणा, धारणा का कारण अभ्यास अर्थात् चित्त के स्थिरता-न का अनुष्ठान है। इस अभ्यास का कारण है—विषय-वैराग्य। विषयों दोष-दर्शन और यम-नियमादि साधन के द्वारा विषयों में अनुराग लुप्त हो है।" अतः प्रतीत हुआ कि चित्तवृत्ति के निरोध से विषयानुराग विलुप्त है, स्थूल मूर्तिध्यान के द्वारा नहीं। बेटा ! इस भाव से चित्तगत ध्यानादि वृत्तिशून्य होकर विषयानुराग दूर करते समय साधक को जो विघ्न उपस्थित होते हैं, उन्हें भी बतलाता हूँ, सुनो ! पहली अवस्था में ध्यान-साधन हुए निद्रावृत्ति आकर मन को वशीभूत कर डालती है, यही मन की 'लयावस्था' है। इस निद्रा को वशीभूत कर सकने पर भी उस समय सांसारिक विषयों में सत्यत्व बुद्धि रहने से मन विषयों में विक्षिप्त हो जाता है। यही मन की 'विक्षेपावस्था' है। अतः ध्यानावस्था में उपरोक्त लय और विक्षेप ये ही दोनों

साधक के बड़े विघ्न हैं। विशुद्ध वैराग्यवान व्यक्ति के बिना इन दोनों से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

इस समय सन्ध्या हो चली, इसलिए भक्त यथाशक्ति वस्त्रादि ... देकर महात्मा को प्रणाम करते हुए अपने स्थान को चला गया।

## आहार-विचार

दूसरे दिन सुबह भक्त आकर महात्मा को दण्डवत् प्रणाम करते हुए सामने बैठ गया और विनय के साथ बोला—प्रभु! अब मैंने स्पष्ट ... लिया कि मन के रेचक, पूरक और कुम्भक कर सकने से ही मन ... मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है। परन्तु केवल मन ही यदि साधना ... सब कार्य कर सके तो इस स्थूल देह की रक्षा करने की इतनी चेष्टा ... जाती है?

महात्मा—बेटा! इस संसार में अच्छे-बुरे, सत्-असत् जितने ... कार्य होते हैं, केवल मात्र मन ही उन सब कार्यों को इस स्थूल देह के ... सम्पादित करता है। अतः मन ही कर्म करता है। मन के आदेश ... स्थूल देहेन्द्रिय कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकती। अतः तुम्हारा ... यन्त्र है और मन है यन्त्री। यन्त्री की शक्ति के बिना यन्त्र अपने ... कार्य नहीं कर सकता; दूसरी ओर यन्त्री भी यन्त्र की सहायता बिना अपनी ... शक्ति बाहर प्रकट नहीं कर सकता। एक उदाहरण लो। एक ... किसी जमींदार के यहाँ लकड़ी का काम बना रहा था। उसके हथियार ... ही उत्तम थे परन्तु उसका शरीर अस्वस्थ रहने के कारण उसके हथियार ... रहने पर भी उसका काम अच्छी तरह नहीं हो रहा था। इसे देखकर ... ने पूछा—"कहो जी, तुम तो अच्छे कारीगर हो। आज तुम्हारा काम ऐसा ... क्यों हो रहा है!" बढ़ई ने उत्तर दिया—"बाबू जी, आज मेरा शरीर ... है।" कुछ दिनों के बाद वह बढ़ई जब स्वस्थ हुआ तब फिर जमींदार के ...

गये आया। इतने में उसके सभी अच्छे हथियार चोरी चले गये थे। जो पुराने टूटे हथियार थे, उन्हींसे उस दिन उसने काम करना शुरू किया। हथियारों खराब रहने के कारण आज भी उसका काम बिगड़ता ही जा रहा था। इसे देखकर जमींदार ने पूछा—“कहो जी, आज तो तुम चंगे हो। आज मैं तुम्हारा काम खराब क्यों हो रहा है?” इसके उत्तर में बढ़ई ने बताया—“मालूम, आज हथियार खराब हैं। इसलिए काम भी खराब हो रहा है।” इस उदाहरण से तुम समझ सकते हो कि यन्त्री और यन्त्र दोनों के अच्छे रहने से ही काम अच्छी तरह हो सकता है। अतः तुम्हारा यह स्थूल-देह-रूप यन्त्र और मन रूपी यन्त्री इन दोनों को स्वस्थ रख सकने से ही संसार में सब कार्य उत्तम रूप से हो सकते हैं। इसी कारण शास्त्र कहते हैं—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

अर्थात्—“इस स्थूल शरीर रूप यन्त्र ही धर्मसाधन का मूल कारण है अतः इसे स्वस्थ रखना परम कर्तव्य है।” तदनन्तर श्रुति कहती है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—“मन ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण है (केवल शरीर को स्वस्थ रखने से काम नहीं चलेगा)”। अतः मन रूप यन्त्री और शरीर रूप यन्त्र दोनों को स्वस्थ और सबल रखने का प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है।

भक्त—हठयोग के बिना इस शरीर को स्वस्थ कैसे रखा जा सकता है?

महात्मा—बेटा! यन्त्र कभी यन्त्री को ठीक नहीं रख सकता बल्कि, यन्त्री ही यन्त्र को ठीक रखता है। उपरोक्त बढ़ई की बात याद करो। वह अपने हथियारों को शान धराकर, टूट जाने पर मरम्मत कराकर अच्छी तरह रखता था। परन्तु वे हथियार कभी उस बढ़ई के शरीर को स्वस्थ रखने में समर्थ नहीं होते। अतः यदि यन्त्री ही अस्वस्थ हो जाता है तो यन्त्र को कौन अच्छी तरह रखेगा। यहाँ भी ठीक वैसा ही है। तुम्हारा मन यदि सत्संग में रहकर तथा सद्गुरु का आश्रय लेकर गुरूपदेश और वेदवाक्य श्रवण करते करते (भवव्याधिग्रस्त यानी विषयासक्त न होकर) स्वस्थ और सबल रहता है (विचार-वैराग्य के द्वारा विषयोंसे विमुक्त हो जाता है), तो उस समय तुम्हारा मन रूपी यन्त्री परिमित आहार और परिमित परिश्रम द्वारा ब्रह्मचर्य पालन करके देहयन्त्र को स्वस्थ रखने में

समर्थ होगा । दूसरी ओर यदि तुम्हारा मन रूपी यन्त्री असावधान होकर पड़कर विषयमद में मत्त होकर स्वयं ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तो तुम्हारे देहयन्त्र को ब्रह्मचर्यादि पालन द्वारा कौन सुरक्षित रखेगा ? मन-यन्त्री को स्वस्थ और सबल रख सकने से वही मन देह को स्वस्थ और सबल रखने का प्रबन्ध करेगा ।

भक्त—प्रभु ! कैसे मन को स्वस्थ और सबल रखा जा सकता है ?

महात्मा—मन को सात्त्विक आहार देने से ही वह स्वस्थ और सबल रहता है ।

भक्त—दयामय ! मन का सात्त्विक आहार क्या है ? प्रायः देखा जाता है लोग मांस-मछली आदि आमिष भोजन छोड़कर निरामिष भोजन करते हैं और उसीको वे 'सात्त्विक आहार' कहते हैं । अतः केवल निरामिष भोजन द्वारा ही क्या मन स्वस्थ और सबल रहेगा ?

महात्मा—बेटा ! वेदान्तादि किसी भी शास्त्र में स्थूल निरामिष भोजन को सात्त्विकाहार नहीं कहा गया है और यथार्थ में ही इसके द्वारा मन स्वस्थ और सबल नहीं रह सकता । क्योंकि वह मन का आहार नहीं है । मन स्थूल पंचभूतों से उत्पन्न नहीं हुआ है । वह अतिसूक्ष्म माया का व्यष्टि अंशमात्र है । इसी कारण स्थूल खाद्य वस्तु मांस-मछली, दाल-रोटी आदि का गुणागुण कभी सूक्ष्म मन में संक्रामित नहीं हो सकता । स्थूल पंचभूतों से उत्पन्न हड्डी-खून-मांस से गठित इस स्थूल शरीर में ही उस स्थूल आहार की शक्ति प्रविष्ट होती है । मन सूक्ष्म है, इस कारण उसका आहार भी सूक्ष्म होना चाहिये । मन पंच इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय आहरण करता है । सूक्ष्मदर्शी शास्त्रवेत्ता ज्ञानी लोग इस आहरण को ही मन का आहार या सूक्ष्म आहार कहते हैं । इस सूक्ष्म आहार के सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है—

(विवे...)

इन्द्रियैर्विषयाणामाहरणं ग्रहणमाहारः ।

अर्थात्—"नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सांसारिक सभी विषयों का आहरण किया जाता है । इसलिए यही शास्त्र में आहार कहलाता है ।" हे सुमते ! फल-मूल, पत्ते, जल या केवल वायु

धारण करने वाले इन्द्रिय-संयमकारी कठोर-तपस्या-परायण अनेक ऋषि उर्वशी, रम्भा आदि सुन्दरियों के कटाक्ष से तपस्या-भंग द्वारा अधःपतित हुए, ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं है। इसी कारण शास्त्रकार लोग अनेक शास्त्रों नाना प्रकार की कहानियों के द्वारा मनुष्य को उपदेश देकर समझा गये हैं उपवास या निरामिष भोजन के द्वारा कभी इन्द्रिय-संयम नहीं होता। मांस-मछली आदि स्थूल आहार के द्वारा मन की कुछ भी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। इस सम्बन्ध में तन्त्रशास्त्र कहते हैं—

आहारसंयमक्लिष्टा यथेष्टाहारतुन्दिलाः।
ब्रह्मज्ञानविहिनाश्चेन्निष्कृतिं ते व्रजन्ति किम् ?

( महानिर्वाणतन्त्र )

अर्थात्—"मनुष्य बाहरी आहार संयत करके क्लेश भोग करे या ( मछली-आदि नानाविध ) यथेष्ट आहार द्वारा शरीर को पुष्ट करे, उससे कुछ भी नहीं होता! यदि वे ब्रह्मज्ञान-विहीन रहते हैं तो कभी परमानन्द रूप मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।"

वायु-पर्ण-कणा-तोय-व्रतिनो मोक्षभागिनः।
सन्ति चेत् पन्नगा मुक्ताः पशुपक्षिजलेचराः॥ (महानिर्वाणतन्त्र)

अर्थात्—"जो लोग वायु या पत्ती खाते हैं अथवा कण-भक्षण या जलपान रूप व्रत धारण करते हैं, यदि उन्हें मोक्ष मिलता तो सर्प, पशु, पक्षी और जल-जन्तु भी मोक्ष-भागी होते।" आशय यह है कि बाहरी स्थूल आहार का संयम करने से ही तत्त्वज्ञान लाभ द्वारा मोक्ष होगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि केवल बाहरी आहार-संयम से धर्म नहीं होता; यदि धर्म के प्रति मन का यथार्थ अनुराग न हो। श्रीमती मीराबाई गाया करती थीं—

नित नाहन् से हरि मिले तो, जलजन्तु होई।
फल मूल खाके हरि मिले तो, बादुर-बाँदराई॥
तीरन भखन से हरि मिले तो बहुत मृग अजा।
स्त्री छोड़ के हरि मिले तो बहुत रहे खोजा॥
दूध पीके हरि मिले तो बहुत वत्स बाला।
मीरा कहे बिना प्रेम से नाहि मिले नन्दलाला॥

भक्त—प्रभु ! सुनाई पड़ता है कि मछली-मांसादि आमिष भोजन से रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होती है। इस कारण प्राचीन समय में वेद के ऋषि-महर्षि सभी फल-मूल आदि निरामिष खाया करते थे। अतः आप कैसे मछली-मांसादि आमिष भोजन की विधि देते हैं ?

महात्मा—बेटा ! वर्तमान युग के शास्त्रज्ञान-रहित व्यक्ति ही ऐसी मिथ्या उक्ति करते हैं। वेद-वेदान्तादि शास्त्रों के अध्ययन तथा भूत और वर्तमान मनुष्य जगत के प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही दिखाई पड़ता है कि सृष्टि की आदि से आज तक, केवल भारतवर्ष में ही नहीं, पृथ्वी के सर्वत्र ही सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक, वैज्ञानिक, धर्मप्रचारक और ब्रह्मज्ञानी अथवा भूतत्त्ववित्, चिकित्सक आदि विज्ञ व्यक्ति मात्र ही आमिष ( मत्स्य-मांस )-भोजी थे और हैं। उनमें से किसी ने भी निरामिष भोजन को सर्वसाधारण के लिए श्रेष्ठ नहीं बताया है। और निरामिष-भोजियों में एक भी व्यक्ति उस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुआ है। आज भी मनुष्य-समाज में आमिष-भोजी ही ज्ञान-विज्ञान, विद्या-बुद्धि, शौर्य-वीर्य, धन-सम्पद्, व्यवसाय-वाणिज्य और राज्यशासन-संरक्षण आदि सब कार्यों में श्रेष्ठत्व का परिचय देकर स्वर्गसुख भोग रहे हैं। इस भारत में भी दर्शन और विज्ञान आदि विषयों में जो कुछ आविष्कार हुए हैं, वे सब भी आमिष-भोजियों के मस्तिष्क से ही प्रकाशित हुए हैं। सारी पृथ्वी में खोज करने से मालूम होगा कि बहुत थोड़े से धर्म-संस्कारान्ध मनुष्य ही निरामिष शाक-पत्ती आदि खाया करते हैं और उनमें भी बहुत से अपने शरीर को स्वस्थ और सबल रखने के लिए गुप्त रूप से मछली, माँस, मदिरा आदि का सेवन किया करते हैं। इसीलिए कहता हूँ बेटा ! तुम्हारे श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण आदि विष्णु-अवतार तथा व्यास, वसिष्ठ आदि ऋषि-महर्षि सभी आमिष-भोजी थे। वे लोग नाना प्रकार के मछली-मांसादि आमिष भोजन करके ही सब विषयों में श्रेष्ठत्व लाभ करके गौरवान्वित जीवन व्यतीत कर गये और हम लोगों को भी आमिष भोजन के लिए आदेश दे गये हैं। परन्तु उन विष्णु-अवतारों के उपासक तुम आज 'वैष्णव' हो गये और उन आर्य ऋषियों के वंशज होकर भी तुम कुसंस्कार-वश उनके बताये आमिष भोजन छोड़कर शाक-पत्ती आदि से उदरपूर्ण करके तुंदिल बनते जा रहे हो। आगे यदि तुम 'गोरस' अथवा

घी, दूध, दही भी छोड़ देते तो तुम्हारे मस्तिष्क की क्या अवस्था होती वह धारणा भी अतीत है।

वत्स! खाद्य कभी त्रिगुणात्मक नहीं होता, वह पंचभूतात्मक है, अतः खाद्य द्वारा कभी मन में सत्त्वादि गुणों की उत्पत्ति नहीं होती। हमारा मन त्रिगुणात्मक है, इस कारण गुणत्रय मन में ही रहता है। आयुर्वेद-शास्त्र ने खाद्य को त्रिगुणात्मक नहीं बताया है। तो भी विचारशक्ति के न रहने से साधारण मनुष्य खाद्य में गुणत्रय की कल्पना करके निरामिष भोजन को ही सात्त्विक आहार कहकर प्रचारित करते हैं। यथार्थ में जिसके मन में जिस गुण की अधिकता रहती है, खाद्य के द्वारा देह पुष्ट होकर उसके भीतर से वही गुण अधिक मात्रा में प्रकट होता है। उसका प्रमाण आधुनिक वैष्णव सम्प्रदाय ही है। अनेक असंयमी स्त्री-पुरुष माला-तिलक के वेश में निरामिष भोजन करके धारी धर्म का ढोंग रचने पर भी मन को संयत न रख सकने के कारण छिपकर व्यभिचार, भ्रूणहत्यादि किया करते हैं। दूसरी ओर आमिषभोजी सम्प्रदाय में ऐसे अनेक संयमी स्त्री-पुरुष दिखाई पड़ते हैं, जो आमिष भोजन करते रहने पर भी विचार के बल प्रबल रिपुओं को संयत रखते हैं। सिंह मांसाहारी होने पर भी साल में केवल एक बार सिंहिनी में गर्भाधान करता है और भेड़-बकरे घास-पत्ती खाने पर भी हर रोज अनेक बार भेड़-बकरियों का सहवास करते हैं। इस दृष्टान्त से स्पष्ट ही समझ सकते हो कि निरामिष भोजन द्वारा काम-क्रोधादि वृत्तियों की निवृत्ति अथवा आमिष भोजन द्वारा उन वृत्तियों की उत्तेजना नहीं होती। प्राणियों का स्वभाव ही इसका कारण है। बल्कि सारहीन निरामिष भोजन से शरीर दुर्बल होने पर इन्द्रियाँ और भी प्रबल होती जाती हैं। वास्तव में इन्द्रियों की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, भीतर कर्तारूपी मन अपने स्वभाव के अनुसार जब जैसी आज्ञा देता है इन्द्रियाँ बिना विचारे उसका पालन करने में बाध्य हो जाती हैं। इस कारण बाहरी भोजन के निरामिष और आमिष के विषय में झगड़े खड़े कर क्यों वृथा दुःखभोग करोगे? पहले जिन अवतारों और ऋषियों का नाम लिया गया है, उनमें इस प्रकार के खाद्य का विचार नहीं था बल्कि, आधुनिक धर्मध्वजी पण्डित ही 'अमुक उवाच', 'अमुक उवाच' कहकर मिथ्या ग्रन्थ छपवाकर अपने अपने मतानुसार

मांसादि आमिष भोजन के विषय में निषेधाज्ञा प्रचारित कर रहे हैं। इस मिथ्या भाषण पर तुम कान न दो। हर एक मनुष्य अपने अपने विचार और रुचि के अनुसार आमिष और निरामिष दोनों प्रकार का ग्रहण करके ब्रह्मचर्य पालन द्वारा शरीर और मन में शान्ति स्थापित क्रमशः समाज और देश की उन्नति होकर लोग धर्म-पथ पर अग्रसर हो सकें।

भक्त—प्रभु! नशा पीने से मन विचलित होता है, यह सदा ही दिखाई पड़ता है। विभिन्न खाद्यों का स्वाद और गुण भी पृथक् पृथक् हुआ है। अतः खाद्य के भेद से मन क्यों नहीं परिवर्तित होगा?

महात्मा—बेटा! मान लो, एक ही पात्र में भाँग घोंटकर कई आदमियों ने पी। नशा सभी को चढ़ा, परन्तु कोई कामातुर हुआ, किसी ने अपने शत्रु को देखकर क्रोध से उस पर आक्रमण कर दिया और कोई से गद्गद् होकर ऊँचे स्वर से भजन गाने लगा अर्थात् एक ही भाँग पीने वालों के मन में एक ही भाव का उदय न होकर हरएक के मन में पृथक् भाव उत्पन्न हुआ। अतः यहाँ 'भाँग पीने से मन विचलित होता है' कैसे कहा जा सकता है। यदि वैसा ही होता तो उस एक ही वस्तु के उन सभी के मन में एक ही भाव का उदय होता। इस कारण यहाँ प्रतीत है कि उस मादक वस्तु के पीने के पहले से जिसके मन में जो वृत्ति थी, नशा पीने पर भी वह ठीक वैसा ही कार्य कर रही है। नशा उनका मस्तिष्क उत्तेजित होने के कारण वृत्तियाँ वेग से क्रिया करती हैं। अतिरिक्त उनके मन में कोई नयी वृत्ति उत्पन्न होकर उनके मन को नहीं करती है। अतः 'मादक वस्तु के सेवन से मन विचलित होता है' बात युक्तिसिद्ध नहीं है। बेटा! स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर (मन) के विषय में यथार्थ ज्ञान न रहने के कारण तुम्हारे जैसे विचार-रहित व्यक्ति खाद्य के गुणागुण मन में संक्रामित होते हैं' ऐसी भ्रान्त धारणा किया करते हैं।

भक्त—प्रभु! स्थूल खाद्य के साथ मन का कोई सम्बन्ध नहीं है— इस बात से मैं समझता हूँ कि स्थूल देह के साथ भी मन का कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु स्थूल देह का स्वास्थ्य बिगड़ जाने से मन क्यों विचलित हो जाता है?



महात्मा—बेटा! देह और मन में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इसीलिए देह और मन एक ही वस्तु है, यह मानना पड़ेगा ? तुम्हें पहले ही मैंने बताया है कि देह यन्त्र है और मन यन्त्री। यहाँ तुम उस बढ़ई की घटना को याद करो। यदि उस बढ़ई के हथियार टूट-फूट कर नष्ट हो जायँ तो क्या उसकी कार्यशक्ति भी नष्ट हो जायगी ? उस बढ़ई ने बहुत दिनों की चेष्टा से जो कारीगरी प्राप्त की थी, हथियारों के टूट जाने से क्या वह नष्ट हो जायगी ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। यन्त्र के अभाव होने से भी उसकी कार्यशक्ति पहले की तरह ही विद्यमान रहेगी। परन्तु यन्त्र के न रहने से वह बाहर प्रकट नहीं होगी। बाद में फिर यन्त्र पाने पर उस बढ़ई की शक्ति पुनः प्रकट होगी। ठीक उसी तरह मान लो कोई घोर कामातुर, लम्पट विद्वान व्यक्ति छः मास से बीमार है। शरीर सूखकर ठठरीमात्र रह गयी है। उस समय यदि उसकी सुन्दरी युवती स्त्री आती है तो वह उस पर ध्यान भी नहीं देता। इससे क्या यही कहा जायगा कि उसके मन में भोग-वासना का क्षय होकर वैराग्य का उदय हुआ है ? वह रुग्ण व्यक्ति सम्भवतः किसी विद्यालय का अध्यापक है, परन्तु इस समय वह एक साधारण पत्र लिखने में भी असमर्थ है। क्या इससे उसकी शिक्षा का ज्ञान बिल्कुल विनष्ट हो गया है, कहना होगा ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। ठीक उसी बढ़ई की तरह उस व्यक्ति में भोग-वासना और शिक्षा का संस्कार पूर्णरूप से ही विद्यमान है। केवल देह रूप यन्त्र (शिश्न और मस्तिष्क) के विकृत हो जाने से मन अपनी शक्ति को बाहर प्रकट नहीं कर सकता। औषध-पथ्यादि द्वारा देहयन्त्र के स्वस्थ होने पर ही उसके मन की शक्ति पुनः बाहर प्रकट होगी। बढ़ई की शक्ति के बाहर प्रकट करने के लिए जिस प्रकार यन्त्र आवश्यक है, मनुष्य के मन की शक्ति संसार में प्रकट करने में भी ठीक उसी प्रकार भोगायतन देहयन्त्र की आवश्यकता है। इसी कारण देह के साथ मन की इतनी घनिष्ठता तुम्हें दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट ही समझ सकते हो कि सूक्ष्म देह (मन) इस स्थूल देह से सम्पूर्ण भिन्न वस्तु है। इस कारण दोनों देहों के आहार भी एक नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न है। इन बातों पर सूक्ष्म विचार के द्वारा स्वयं उपलब्धि करने की आवश्यकता है। साधारण मनुष्यों की बुद्धि से यह परे है।

भक्त—प्रभु ! शास्त्रों में जो निरामिष आहार करने और आहार-शुद्धि के लिए बार बार उपदेश दिये गये हैं, क्या वे मिथ्या हैं ?

महात्मा—बेटा ! शास्त्रवाक्य कभी मिथ्या नहीं है। आमिष शब्द का अर्थ है—सांसारिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि भोग्य विषय। इसी कारण आमिष तथा निरामिष आहार के विषय में शास्त्र में लिखा है—

आमिषं विषयाः, तद्भिलाषराहित्यं
निरामिषं, आमिषवर्जनं वा । (देवल-...)

अर्थात्—"सांसारिक धन, जन आदि सारे भोग्य विषयों को ही आमिष कहते हैं। अतः विषय-भोग की अभिलाषा से रहित होने से ही वह निरामिष भोजन या आमिष-वर्जन होता है। इसी प्रकार सूक्ष्मदर्शी आत्मज्ञानी ने आमिष शब्द से धनजनादि भोग्य वस्तुओं को ही लक्षित किया है। विषय-भोग की तीव्र इच्छा रहते हुए कभी निरामिष भोजन नहीं हो सकता। इसीलिए आहार-शुद्धि के विषय में भी वेदान्त का कथन है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । (छान्दोग्य उ...)

इस मन्त्र का शांकरभाष्य—

विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिः आहारशुद्धिः
राग-द्वेष-मोह-दोषैरसंसृष्टविषयविज्ञानमित्यर्थः ।

अर्थात्—"जो कुछ आहृत या संगृहीत होता है उसीका नाम आहार ... शब्दादि भोग्य विषयों के विशेष ज्ञान को ही आहार कहते हैं। ... भोक्ता के भोग सम्पादनार्थ वे विषय संगृहीत हुआ करते हैं। अतः ... विषयों की उपलब्धि अर्थात् अनुभवात्मक विज्ञान की शुद्धि ही आहार-शुद्धि है। अर्थात् राग, द्वेष, मोहादि दोषों का संस्पर्शरहित शब्दादि विषयों का ... ही आहार-शुद्धि है। उस आहार (विषय-विज्ञान) की शुद्धि होने ... उस प्रकार के ज्ञानी व्यक्ति के मन की शुद्धि अर्थात् निर्मलता सिद्ध होती ... ऐसे चित्तशुद्धि होने पर पहले जो भूमा आत्मा का तत्त्व अवगत हुआ ... विषय में ध्रुवा (अविच्छिन्ना) स्मृतिधारा उत्पन्न होती है। अर्थात् उस ...

ति कभी विलुप्त नहीं होती। ध्रुवा स्मृति का लाभ होने पर जन्म-जन्मान्तरों की द्याजनित दृढ़ीभूत हृदयाश्रित ग्रन्थियों अर्थात् अविद्याजनित सब प्रकार के र्ग रूप पाशों या बन्धन-रज्जुओं का विप्रमोक्ष (विशेष रूप से मोक्ष या क्ष्य) हो जाता है। इस कारण उस प्रकार की आहार-शुद्धि ही उत्तरोत्तर स्थित इन साधनों का मूल कारण है। इसीलिए उसी प्रकार की आहार-शुद्धि ों को नितान्त आवश्यक है।" इसका आशय यह है—भोक्ता मन के भोग लिए ही नेत्र-कर्णादि इन्द्रियाँ बाहरी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन यों का आहरण करती हैं और इसीका नाम आहार है। इस आहार के ग्रहण के समय यदि मन में राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न न हो तो उसी को आहार-द्धि कहा जायगा।

मान लो, तुम किसी ब्रह्मज्ञ महापुरुष के पास बैठे हो। ऐसे समय एक परम र युवती उन महापुरुष का दर्शन करने के लिए कुछ फल हाथ में लिये वहाँ यी। उसे देखते ही तुम्हारा मन उसके अलौकिक रूप में मुग्ध होकर सम्भवतः भोग-कामना से उसकी ओर एकटक देखने लगा। यहाँ तक कि तुम्हारा मन ना अधिक कामनापूर्ण हो गया कि उसके हाथ में किस प्रकार के कितने थे, उसे देखने का भी तुम्हें अवकाश नहीं मिला। नेत्रों के द्वारा तुम्हारा उस स्त्री का रूप आहरण करने लगा। इस आहार कार्य के करते समय ने कामना-युक्त (विकार-ग्रस्त) होकर आहार किया था। इसी कारण वह त्विक आहार न होकर तामसिक आहार हुआ। इस कारण तुम्हारे मन की हार-शुद्धि नहीं हुई। दूसरी ओर उस स्त्री को देखते ही उन महापुरुष के ने सोचा—'यह एक हड्डी-खून-मांस से गठित ठठरी मात्र है। मिट्टी गुड़ियाँ जिस प्रकार एक काली है तो दूसरी पीली, परन्तु भीतर सभी के मिट्टी। उसी प्रकार माया-कल्पित हड्डी-खून-मांस की बनी यह मनुष्य रूप गुड़िया है। इसका शरीर भी अपने ही शरीर की तरह दुर्गन्धित और मल-मूत्र आदि पूर्ण है।' इस प्रकार से महापुरुष ने अपनी देह और उस स्त्री की देह को ही माया की कल्पना समझकर दोनों देहों को समान मान कर उसे माता कर बिठाया और उसके दिये हुए फल लेकर उसे कुछ प्रसाद भी दिया। उस के साथ बातचीत करके उसके हाथ से फल लेकर और उसके हाथ में

प्रसाद देकर महापुरुष के मन में कामादि वृत्ति का उदय नहीं हुआ। म... के मन ने विकृत न होकर उस स्त्री का रूप आहरण किया था, इसलि... सात्त्विक आहार हुआ। और इसी कारण उनके मन की आहार-शुद्धि... ठीक इसी तरह नेत्र-कर्णादि पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्द स्पर्शादि निर्... पूर्वोक्त महापुरुष के मन की तरह जब तुम्हारा मन विचार पूर्वक निर्वि... से आहार करेगा तभी तुम्हारी आहार-शुद्धि हुई है, जानना होगा। तु... और वेदवाक्य श्रवण द्वारा मन में विचार-शक्ति उत्पन्न होने पर विचार... उस प्रकार की आहार-शुद्धि को ही 'मन का सात्त्विक आहार' कहते हैं।... प्रकार आहार-शुद्धि होने पर मनुष्य की बुद्धि निर्मल हो जाती है; तब ... सत्त्व-शुद्धि कहते हैं। इस प्रकार सत्त्व-शुद्धि होने से आत्मा-सम्बन्धी ... निश्चय भाव धारण करके अविराम धारा से वह ज्ञान-स्रोत बहता रहता है।... इससे हृदय स्थित अविद्या या माया की गाँठें खुल जाती हैं तथा परमात्म... मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः पूर्वोक्त विधि से, आहार-शुद्धि ही मनुष्य के... प्राप्त करने का हेतु है। मनुष्य मात्र को ही इस प्रकार आहार-शुद्धि ... चाहिये। ऊपर की श्रुति से स्पष्ट ही समझ गये हो कि स्थूल निरामिष आ... से यथार्थ निरामिष आहार नहीं होता और न आहार-शुद्धि ही होती है।... कारण बाहरी निरामिष आहार से कभी चित्तशुद्धि नहीं हो सकती। वैसे ... आहार के द्वारा बाहरी इन्द्रियाँ थोड़े समय के लिए केवल कुछ दुर्बल... हो जाती हैं, जो तमोगुण का लक्षण है। परन्तु भीतर-भीतर मन ... तरह असंयत ही रह जाता है। अतः प्रतीत होता है कि बाहरी निरामिष ... से काम-क्रोधादि रिपु संयत न होकर देहेन्द्रियाँ क्रमशः क्षीण होकर तमो... वर्धित होता है।

भक्त—'अहिंसा परमो धर्मः' यही तो शास्त्र की वाणी है। अतः ... के भोजन करने से क्या जीवहिंसा-जनित पाप नहीं उत्पन्न होगा? जो ... आमिष आहार छोड़ कर निरामिष भोजन करते हैं, लोग उन्हीं को ... परायण कहते हैं?

महात्मा—बेटा! हिंसा और वध—ये दो शब्द एकार्थ-वाचक ... इसी कारण तुम शब्दार्थ ग्रहण करने में भूल करते हो। किसी के प्रति द्वेष...

...वित होकर आक्रमण करने का नाम ही हिंसा है। परन्तु स्वास्थ्य-रक्षा ...र या भोजनयज्ञ* के अनुष्ठान के समय अथवा युद्ध के समय प्राणिवध ...हिंसा नहीं है। भगवान मनु ने भी कहा है—

नात्ता दुष्यत्यदन्नद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च॥

अर्थात्—"किसी प्रकार की हिंसा या क्रोध आदि वृत्ति का उदय न करके ...आहार-बुद्धि से भक्ष्य जीव को प्रतिदिन खाने से भी भोक्ता को कोई ...नहीं लगता। क्योंकि ईश्वर ने ही कुछ जीवों को भक्ष्य और कुछों को ...रूप से उत्पन्न किया है।" भागवत में लिखा है—

जीवो जीवस्य जीवनम्

अर्थात्—"जीव ही जीव का जीवन है। अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को ...कर जीवित नहीं रह सकता। यह तो प्रत्यक्ष विज्ञान से भी सिद्ध है। ...यों को मेंढक खा जाते हैं, मेंढक को साँप खाते हैं, साँप को चील खा ...ती है। मनुष्य को बाघ या मगर खा जाते हैं। मनुष्य अगणित जीवों ...मांस खाते हैं। जो लोग अपने को निरामिषाशी कहते हैं उन्हें भी जीवित ...के लिए जल और वायु के साथ करोड़ों जीवों को प्रतिदिन अपने शरीर में ...लेना पड़ता है। अगणित जीवों से यह ब्रह्माण्ड सर्वदा परिपूर्ण है, फिर ...विक रीति से ही समय के अनुसार उनका जन्म तथा मृत्यु हो रही है। ...व जीव-हत्या के बिना इस संसार में आमिष या निरामिष किसी प्रकार का ...हो ही नहीं सकता। फल-मूल या दूध-घृतादि सब प्रकार का भोजन ...अगणित कीटों से परिपूर्ण है, जो तुम लोगों की साधारण दृष्टि के बाहर है। ...शयों में स्थित अगणित जीवों का भी भक्षण करना पड़ता है। अतः संसार

* केवल आग जलाकर होम करने को ही 'यज्ञ' नहीं कहते, कोई भी ...कर्म यज्ञ हो सकता है। जैसे—विद्या-अध्ययन या आत्मतत्त्व की आलोचना ...नाम 'ज्ञान-यज्ञ' है, दूसरे को कुछ दे देने का नाम 'दान-यज्ञ' है, स्वयं ...जन करना तथा दूसरे को भोजन कराने का नाम 'भोजन-यज्ञ' है, तथा आग ...कर होम करने का नाम 'होमयज्ञ' इत्यादि। ऐसा शास्त्र में विधान है।

में कोई भी पूर्ण निरामिषभोजी नहीं है। अज्ञानी व्यक्ति ही निरामि... करने वालों को अहिंसक नाम देते हैं। यथार्थ में निर्विकारी मन ही अ... और विकारग्रस्त मन ही हिंसक कहलाता है। आत्मज्ञानी महापुरुषों का... निर्विकार है, इसीलिए वे अहिंसक और धार्मिक हैं। और अज्ञानियों का म... ही काम-क्रोधादि विकारों से ग्रसित है। इसीलिए वे हिंसक और अधा... हैं। हे सुबद्धे ! गोमांस भक्षण करके भी यदि कोई परमात्म-तत्त्व की आ... में और आत्मध्यान में तन्मय रहता है तो वही यथार्थ में नैष्ठिक, निरामिष... अहिंसक और परम वैष्णव है। दूसरी ओर यदि कोई शाक-पत्ती खाकर अ... निरामिषभोजी बतलाता है और सदा विषय की चर्चा और विषय के... में निमग्न रहता है तो वही यथार्थ में अभक्ष्य-भोजी, म्लेच्छ, हिंसक और... मिक है। अतएव बेटा ! इन्द्रियों को संयतकर धर्म पथ पर अग्रसर होने के... स्थूल जड़ खाद्य के विषय में साम्प्रदायिक झगड़े और अशान्ति उ... करके अपनी अपनी रुचि के अनुसार आमिष-निरामिष उत्तमोत्तम... शरीर पुष्ट करना तथा ब्रह्मचर्य पालन द्वारा शरीर को स्वस्थ और सब... आवश्यक है और सदा आत्मज्ञानी महापुरुषों के सदुपदेश श्रवण द्वा... को संयत रखकर विचारशक्ति के बल क्रमशः मन का निरोध करना... इसीसे इन्द्रियाँ बाहर न जाकर अन्तर्मुखी हो जायेंगी और मन परमा... या आत्मध्यान में निमग्न रहेगा। यही आत्मोन्नति का प्रधान उपाय है। मन को सात्विक आहार देने के लिए सद्गुरु की कृपा विशेष आवश्... अतः ब्रह्मज्ञ गुरु का आश्रय ग्रहण और उनका उपदेश श्रवण करने से... स्वस्थ और सबल रहेगा। साधारण गृहस्थों के लिए प्रतिदिन ए... कम से कम सप्ताह में एक दिन साधु-संग में तत्त्व की आलोचना करना... आवश्यक है। तब समझ में आयेगा कि स्वाभाविक ब्रह्मचर्य पालन... पुष्टिकर और बलवर्धक खाद्य खाने से देह और मन स्वस्थ और सब... हैं, इसमें हठयोग का कोई प्रयोजन नहीं है। इतना कहकर महात्मा... गाने लगे—

बिश्वे जतो मानब देखो, सबे मानुष नय रे भाइ।
(एक सुर) अहमामेदे लैंकारेकी, मानुष मेला वड़ो दाव।

हिन्दू, मुसलमान, खृष्टान, सबे करे धर्मेर भान।
अन्तरे सदाइ ताहादेर, साम्प्रदायिक बिद्वेशेर गान॥
मनोराज्य नाहि चेने, धर्म कि ता नाहि जाने।
(केबल) बाहिरे निशान टानाये, धार्मिक होते चाय सबाइ॥
केउ करे गोमांस भक्खन, अन्ये तारे बले जबन।
कारो निरासिष अन्नेते, तुलसी सह हय भोजन॥
केहो कृष्ण उपासक, केउ 'पंचमकार' साधक।
कारो शक्ति उपासनाय, सर्वदा मद-मांस चाइ॥
मानुष होते चाहे जारा, सब सम्प्रदाय छेड़े तारा।
निज मनोराज्य सदाइ, करिछे पर्जवेक्खन॥
काली कृष्ण गड खोदा, ए सब साम्प्रदायिक धाँधा।
मानव जारा धाँधा छेड़, आत्तध्याने रहे ताइ।

इसका आशय इस प्रकार है—

विश्व में जितने मनुष्य देखते हो, सब मनुष्य नहीं हैं भाई। सब अज्ञानियों [illegible]न्द, में-में, मनुष्य मिलना कठिन है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी धर्म [illegible]ढोंग रचते हैं। उनके भीतर साम्प्रदायिक विद्वेष की धुन है। वे मनोराज्य [illegible] है, नहीं जानते, धर्म क्या है, नहीं समझते। केवल बाहर झण्डा फहराकर [illegible] धार्मिक होना चाहते हैं। कोई करता है गोमांस-भक्षण, दूसरा उसे कहता [illegible]न। किसी का निरामिष अन्न का तुलसी के साथ होता भोजन। कोई कृष्ण [illegible] उपासक, कोई 'पंचमकार' साधक। किसी को शक्ति-उपासना में मांस मदिरा [आ]वश्यक है। जो मनुष्य होना चाहते हैं, वे सब सम्प्रदाय छोड़ अपने [म]नोराज्य का सदा पर्यवेक्षण कर रहे हैं। काली कृष्ण गाड खुदा, ये [सब] साम्प्रदायिक धोखा हैं। जो मनुष्य हैं वे धोखा छोड़ आत्मध्यान में मग्न [र]हते हैं।

---

# साधक के कुछ नियम

भक्त—प्रभु ! आपके बताये हुए राजयोग के पथ पर चलने वाले आहार-विहार आदि के विषय में क्या-क्या करना चाहिये, कृपा करके अब उसे वर्णन कीजिये ।

महात्मा—बेटा ! समय का वसन्त, स्थान का वसन्त, शरीर का वसन्त और मन का वसन्त ऐसे चार वसन्त जिस सौभाग्यवान व्यक्ति के पास हैं, वे साधना में सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है और केवल वही कृतकृत्य होकर भवबन्धन से मुक्त हो सकते हैं। इसका आशय यह है कि साल भर में जो छः ऋतु हैं एक दिन-रात्रि के चौबीस घण्टों में भी उसी प्रकार समय के छः विभाग हैं। सालभर में जिस प्रकार वसन्तऋतु ही सर्वोत्तम काल है, चौबीस घण्टों में रात्रि के अन्तिम दस दण्ड और अर्थात् चार घण्टे उसी तरह सर्वोत्तम वसन्त हैं। क्योंकि संसार के अधिकांश प्राणी उस समय निद्रित रहते हैं और उन का मन रात्रि की सुषुप्ति में विषयरहित रहने से उस समय उसका शरीर और मन प्रफुल्ल ही रहते हैं। इस कारण साधक लोग दिन के उस वसन्तसमय अर्थात् रात्रि के अन्तिम चार घण्टों में ध्यान, धारणादि कार्य करते हैं। इसीलिये उस समय को 'समय का वसन्त' कहते हैं।

जिस स्थान पर आसन लगाये बैठने से किसी प्रकार का बाधा-विघ्न न उत्पन्न होता, वह स्थान नीरव और निर्जन हो, मच्छर, बिच्छू आदि हिंसक जीव का उपद्रव न रहे तथा साधक के मन के एकाग्रता-साधन के अनुकूल हो, ऐसे साधनोपयोगी उत्तम स्थान को ही 'स्थान का वसन्त' कहते हैं।

मनुष्य के जीवन में यौवन से प्रौढ़ काल तक सर्वोत्तम समय है, क्योंकि उस समय ही अधिकांश मनुष्यों के जीवन के उत्थान-पतन का परिचय मिल जाता है। किसका मन किस मार्ग पर चलकर उन्नत होगा, उसे प्रकट करने के लिये उस समय ही मन उस मार्ग पर चलकर उन्नत या अवनत हो जाता

समय प्रायः जीवन के २० से ४० वर्ष के वयस में ही होता है। अतः मानव-जीवन के उपरोक्त काल में शरीर नीरोग और सबल रहने से ही उसे 'शरीर वसन्त' कहते हैं।

साधक का मन यदि हिंसा-द्वेष-शून्य तथा धन-जन-वियोगजनित शोक-ताप रहित, निर्विकार और निर्मल अवस्था में रहे तो उसीको 'मन का वसन्त' कहते हैं।

ब्राह्ममुहूर्त और सन्ध्या या गोधूलि का समय ही मन स्थिर करने का उत्तम काल है। अतः साधक को इन दोनों समयों में ध्यानाभ्यास करना चाहिये। साधना के लिए ऐसा एक घर या कमरा रहना आवश्यक है जो एकदम निर्जन और शब्दरहित हो और उस कमरे की दिवालों में किसी प्रकार के सांसारिक चीजों के चित्र न रखकर केवल अपने गुरुदेव और ब्रह्मज्ञ महापुरुष के चित्र ही लगा रखने चाहिये। उस कमरे में सुबह-शाम धूप-दीप जलाये जायें और आत्मतत्त्व की आलोचना के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की विषय-चर्चा वहाँ न हो।

शौच दो प्रकार के हैं—बाह्य शौच और अन्तःशौच। शरीर को पवित्र रखने से बाह्य शौच और मन को पवित्र रखने से अन्तःशौच होता है। बाह्य शौच से अन्तःशौच अधिक हितकारी है, परन्तु दोनों की ही आवश्यकता है। फिर इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिये कि अन्तःशौच के बिना केवल बाह्य शौच से कोई फल नहीं होता। तुम लोग जिस प्रकार स्थूल देह को स्वस्थ और सबल रखने के लिए प्रतिदिन स्नान करते समय शरीर का मर्दन और समय पर भोजन करते हो उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर मन को स्वस्थ और सबल रखने के लिए भी प्रतिदिन तत्त्वालोचना द्वारा मन को थोड़ा थोड़ा खाद्य देना और ध्यान, धारणा द्वारा मन की मलिनता दूर करना आवश्यक है। बेटा! लौकिक व्यवहार की उपेक्षा करने से बुद्धि परमात्म-चिन्तन में संलग्न रह सकती है। उस समय नट की तरह कृत्रिम अभिनय द्वारा लौकिक व्यवहार होता रहता है। जिससे मन दुर्बल हो ऐसा संग और ऐसी आलोचना एकदम छोड़ देनी चाहिये। 'मुझे यथेष्ट धनागम नहीं हुआ और न सुख-शान्ति की ही प्राप्ति हुई' इस प्रकार चिन्ता से अपने मन को व्याकुल नहीं करना चाहिये। इसप्रकार की

वासना का परित्याग करके स्वाभाविक चेष्टा से निजकृत कर्मफल के द्वारा कुछ प्राप्त होता है, उसीसे प्रसन्न रहकर प्रारब्ध पर निर्भर रहते हुए जीवन यापन करना चाहिये। साधक को रात्रि में भूमि पर शयन करना और प्रकार के कुसंस्कारों से रहित होकर शरीर-धारण के उपयोगी परिमित आहार करना चाहिये। रात्रि में अत्यन्त अल्प लघुपाच्य खाद्य खाना चाहिये। दक्षिण नासिका में साँस चलते समय भोजन और मलत्याग तथा वाम नासिका में साँस चलते समय जलपान और पेशाब करना उचित है। छाती का एक भाग दबाकर कुछ क्षण तक लेटे रहने से ही साँस विपरीत दिशा की नासिका में चलती है। अपने इच्छानुसार नासिका में वायुपरिवर्तन की यही प्रणाली है। साधक अकेला सहायकरहित अवस्था में रहकर राग-द्वेषादि-परिशून्य होकर इन्द्रिय-निग्रह में यत्नपरायण होकर यथेच्छ विचरण करे। यदि किसी कारण-वश अकेला विचरण करने में असमर्थ हो तो गुरु या एकमतावलम्बी के साथ विचरण करे। साधक कभी अधिक मनुष्यों के साथ न रहे। क्योंकि अनेकों के मिलन से मत के अनैक्य होने पर विवाद की सम्भावना होती है और उससे योगभ्रंश हो सकता है। इसलिए जनसंग साधन के लिये है। स्त्रियों के हाथ में एकाधिक चूड़ियाँ रहने से ही उनमें झंकार उत्पन्न होती है, परन्तु एक एक चूड़ी रहने से शब्द नहीं उत्पन्न होता। इसी तरह समाज में न रहकर अकेला योगसाधन में प्रवृत्त होने से किसी प्रकार का झगड़ा या विवाद नहीं होता। इसीसे अनायास योगसिद्धि हो सकती है। अतः कि योगसाधन के समय दो व्यक्ति एकसाथ एक स्थान में न रहकर अकेले रहना ही कल्याणकर है। इस विषय में वेदान्त की आज्ञा है—

संगी हि बध्यते लोके निःसंगः सुखमश्नुते।
तेन संगः परित्याज्य सर्वदा सुखमिच्छता॥

अर्थात्—"जन-संसर्ग करने वाला व्यक्ति ही पापकर्म में आबद्ध होता है और संगरहित होने से सुखी हो सकता है। इस कारण सुख चाहने वाले व्यक्ति को सदा जनसंसर्ग का परित्याग करना चाहिए।" पीठमाला तन्त्र का उपदेश है—

संसर्गात् बहवो दोषो निःसंगात् बहवो गुणाः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यती संगं परित्यजेत्॥

अर्थात्--"जनसंसर्ग से अनेक दोष और असंसर्ग से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। इस कारण साधक को सब प्रकार के प्रयत्नों से जनसंसर्ग का परित्याग करना चाहिये।" शिवसंहिता कहती है—

न भवेत् सङ्गयुक्तानां तथाऽविश्वासिनामपि।
गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम्॥
मिथ्यावादरतानाञ्च तथा निष्ठुरभाषिणाम्।
गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात् कदाचन॥
फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्।
द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्॥
चतुर्थं समताभावः पंचमेन्द्रियनिग्रहः।
षष्ठं च प्रमिताहारः सप्तमं नैव विद्यते॥

अर्थात्—"जो मनुष्य विषयों में आसक्त, अविश्वासी, गुरुपूजा-विहीन हैं। जो अनेक मनुष्यों में निवास करते हैं, मिथ्या बोलते हैं, कठोर वाक्य बोलते हैं अथवा जो गुरु को सन्तुष्ट नहीं करते, उन्हें कभी भी योगसिद्धि नहीं होती। 'अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी', ऐसा दृढ़ विश्वास ही सिद्धि का प्रथम लक्षण है। सिद्धि का द्वितीय लक्षण है—श्रद्धा, तृतीय लक्षण गुरुपूजा, चतुर्थ लक्षण समताभाव (सर्वत्र समदर्शन), पंचम लक्षण इन्द्रिय-संयम, षष्ठ लक्षण परिमित आहार है। इनके अतिरिक्त सप्तमादि लक्षण कुछ भी नहीं है।" बेटा! संग करने से तपस्या नहीं होती। अतः जब तक तुम्हारा मन संग चाहेगा तब तक किसी तरह भी तुम्हारी तपस्या सिद्ध न होगी। अधिक मनुष्यों का संग तथा बहु-स्पृहा मनुष्यों के मस्तिष्क को अधिक दुर्बल कर डालती है। अतः जनसंग जितना ही रहित हो उतना ही साधक के लिए मंगल है। क्योंकि वाक्य-निरोध ही साधना का प्रथम द्वार है। साधक को तर्क नहीं करना चाहिये। यदि कोई तर्क करना चाहता है तो मौन रहना चाहिये, क्योंकि तर्क से मन की चंचलता बढ़ती है। जब तक अपने मन में विचारशक्ति उत्पन्न होकर बुद्धि सतेज नहीं होगी तब तक ही गुरुजी के साथ तर्क का प्रयोजन रहता है। यह सम्पूर्ण हो गया तो फिर मन और मस्तिष्क को वृथा चंचल करके चित्त में हलचल पैदा कर साधन-पथ में विघ्न उपस्थित करने की क्या आवश्यकता है? दृढ़, स्वस्थ

और सबल युवक, युवती और साहसी व्यक्ति ही साधक होने के योग्य ...
साधक के सामने सभी सुखमय प्रतीत होते हैं और किसी भी व्यक्ति ...
से उसके हृदय में आनन्द लहराने लगता है, यही धार्मिक का चिह्न है। ...
में आत्मनिर्भरता का रहना नितान्त आवश्यक है। अ.ने ऊपर पूर्ण ...
रखना चाहिये, नहीं तो वह कभी अपनी साधना में सफल-काम नहीं हो ...
अभिमान से ही योग-विभूतियों के प्रति ध्यान जाता है। उस समय ऐसा ...
है कि 'मेरे समान संसार में और कोई नहीं है'—इसीका नाम दर्प है। ...
दर्प से अनेक कामनाओं की सृष्टि होती है। उस समय काम्य वस्तु के न ...
से अथवा मिलने पर भोग में बाधा पड़ने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। ...
कारण साधक को आत्माभिमान अर्थात् देह में 'अहं बुद्धि' का परित्याग कर ...
और ममताशून्य होकर रहना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान-निष्ठा के द्वारा ही ...
ज्ञान लाभ हुआ करता है। इसलिए बेटा! अन्धे की भाँति वस्तुओं ...
देखते रहो अर्थात् वस्तु का रूप अन्धे के मन में जिस प्रकार कोई विकार ...
उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार किसी भी रूप से तुम्हारे मन में विकार ...
उत्पन्न होना चाहिये। बहरे की तरह शब्द सुनते रहो अर्थात् मधुर शब्द ...
से तुम विह्वल न हो। अपने शरीर को काष्ठ की तरह समझो। अर्थात् ...
बोध से उसमें आत्माभिमान स्थापित न करो, यही प्रशान्त चित्त का लक्षण ...
चित्त को प्रशान्त करने के विषय में योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने ...
दिया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

अर्थात्—"सुखी के साथ मित्रता, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यवान के ...
हर्ष और अपुण्यवान के प्रति उपेक्षा का भाव रखने से चित्त प्रसन्न हो ...
है।" अन्तःकरण प्रशान्त न होने से धारणा सम्भव नहीं हो सकती। ...
में ध्यानविन्दु उपनिषद् का उपदेश है—

लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्विषम्।
शीतोष्णं क्षुत्पिपासं च सङ्कल्पञ्च विकल्पकम्।
न ब्रह्म कुलदर्पं च न च मुक्तिं ग्रन्थसञ्चयम्॥

अर्थात्—"लोभ, मोह, भय, दर्प, कामना और क्रोध रूप पाप को आश्रय देने से; शीत, उष्ण, क्षुधा और पिपासा का अनुभव करने से अथवा मन में संकल्प-विकल्प-वृत्ति और 'मैं ब्राह्मण-कुल में जन्मा हूँ,' ऐसा दर्प न छोड़ने से सब शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी मनुष्य किसी तरह भी साधना का अधिकारी नहीं हो सकता।"

न भयं सुख-दुःखं च तथा मानापमानयोः।
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद् ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम्॥ (ध्यानबिन्दु उपनिषद्)

अर्थात्—"लोकलज्जा, भय तथा सुख-दुःख-युक्त व्यक्ति और मानापमान में भेदभाव रखने वाले व्यक्ति कभी ब्रह्म-दर्शन नहीं कर सकते। इन सब भावों से विमुक्त व्यक्ति ही ब्रह्मलाभ कर सकते हैं। वे ही सर्वापेक्षा उत्कृष्ट, वे ही श्रेष्ठ और ब्रह्मसाक्षात्कार करने में समर्थ हैं, दूसरे नहीं।"

भक्त—भगवन्! आपने एक बार कहा है कि विषय में मन और मन में विषय विद्यमान है। फिर योगी पुरुष को सब प्रकार का विषय-सम्पर्क छोड़ने का उपदेश देते हैं। अतः आपके कथनानुसार सब प्रकार के विषयों का त्याग करके मनुष्य कैसे जीवन धारण करेगा?

महात्मा—बेटा! मैंने ठीक ही कहा है। तुम लोग एक बात कहा करते हो 'मदिरा पियो, परन्तु देखना मदिरा तुम्हें पी न जाय'। ठीक वैसा ही मैं भी कहता हूँ। तुम 'विषय-मदिरा पियो, परन्तु देखना अधिक नशा न चढ़ जाय। परिमित रूप से पियो, जिससे वह हजम हो जाय और मन में उत्साह तथा शक्ति बढ़े।' मदिरा पीना तो दिखाई पड़ता है, परन्तु विषय-मदिरा किस उपाय से पंचेन्द्रिय के द्वारा मन अनजान में पीता रहता है, वह समझ में नहीं आता। साधारण मदिरा पीने के कुछ समय के अनन्तर ही धीरे धीरे नशा चढ़ता है, परन्तु विषय-मदिरा के दर्शनमात्र से ही नशा चढ़ जाता है। इसका नशा बहुत भयंकर है, इसलिए परिमित रूप से पियो। इसी कारण वेदान्त भी साधक पुरुष से कहते हैं—

देहधारणव्यतिरिक्तविषयेषु स्रक्चन्दनवनितादिषु वान्ताशनमूत्रपुरीषादौ यथेच्छा नास्ति तथेच्छाराहित्यमिति।

अर्थात्—"इस शरीर के धारणोपयोगी विषयों से अतिरिक्त माला, चन्दन, स्त्री, पुत्र आदि विषयों में घृणित मल-मूत्र आदि की तरह इच्छारहित होना ही

वैराग्य है। अर्थात् शरीर धारण के उपयोगी विषयों के सिवाय अन्य सभी विषयों से सम्बन्ध त्याग करके साधक अवस्थान करे।"

जिताहारो जितक्रोधो जितसंगो जितेन्द्रियः।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारो निराशीरपरिग्रहः॥ (तेजबिन्दु उपनिषद्)

अर्थात्—"जो व्यक्ति हितजनक और परिमित भोजन करते हैं, जो क्रोध पर विजय पा चुके हैं और जो जितेन्द्रिय हैं, उन्हें संग-दोष आक्रान्त नहीं कर सकता। जिनके लिए ग्राह्य और त्याज्य कोई वस्तु नहीं है, जो आशा का परित्याग कर अप्रतिग्रहव्रत (किसी से कुछ न लेने का व्रत) ग्रहण किये हुए हैं, वे योगमार्ग के अधिकारी हैं।" अर्जुन को उपदेश देते समय भगवान श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात्—"हे अर्जुन! अधिक आहार करने वाले या नितान्त अनाहारी अथवा अत्यन्त निद्रापरायण या निद्रात्यागी व्यक्ति को योग-समाधि नहीं होती। जो नियमित आहार-विहार करते हैं, धर्म-कर्म में जिनकी नियमित चेष्टा है, जो नियमपूर्वक निद्रित और जाग्रत रहते हैं, समाधि रूप योग उन्हीं का भव-दुःख दूर करने में समर्थ होता है।"

भक्त—हे करुणामय! साधक को उपवास आदि के विषय में क्या नियम है?

महात्मा—शारीरिक उपवास के द्वारा कभी ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। मानसिक उपवास ही यथार्थ उपवास है और वही आत्मदर्शन लाभ के लिए परमावश्यक है। वराहोपनिषद् में लिखा है—

उप-समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम्॥

अर्थात्—"जीवात्मा और परमात्मा के अत्यन्त समीप में अवस्थान करना ही उपवास है। परन्तु शरीर-शोषण को उपवास नहीं कहते।

कायशोषणमात्रेण का तत्र ह्यविवेकिनाम्।
वल्मीकताड़नादेव मृतः किं नु महोरगः? (वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"जो लोग अज्ञानी हैं, उन्हें शरीर-शोषण रूप उपवास से क्या होगा? उससे उन्हें कभी ब्रह्मप्राप्ति नहीं होगी। क्यों कि जो काला नाग के भीतर रहता है, क्या बाँबी पर प्रहार करने से वह मर जायगा?" वेटा! इस देह रूप बाँबी के भीतर मन रूप काला नाग निवास करता है। श्री कृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है—

मूढ़ग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गीता-१७ अ:)

अर्थात्—"अविचार से अपने शरीर आदि को पीड़ित करके (उपवास आदि शारीरिक कष्ट सहन कर) अथवा दूसरे के विनाश के निमित्त जो तप का अनुष्ठान वह तामसिक कहलाता है।"

भक्त—तो हमलोग जो एकादशी आदि पुण्य तिथि में उपवास रहते हैं, उससे कोई उपकार नहीं होता?

महात्मा—वेटा! शरीर की अवस्था के विचार से एकादशी तिथि में उपवास करने से स्थूल शरीर का कुछ संयम होकर स्वास्थ्य का उपकार हो सकता है। किन्तु उसे यथार्थ एकादशी का उपवास नहीं कहते, उसे 'स्थूल एकादशी' कह सकते हो। आत्मदर्शन के उद्देश्य से सूक्ष्म एकादशी का उपवास करने में पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन, इन एकादश इन्द्रियों को कुछ भी आहार न देकर (अर्थात् उनके खाद्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन पाँच विषयों से एकादश इन्द्रियों को निरुद्ध करके) उपवासी रखने से जीवात्मा और परमात्मा का एकत्र अवस्थान होता है, इसी का नाम यथार्थ एकादशी का उपवास है।

इतना कहकर महात्मा ने मौन धारण कर लिया। क्योंकि उस समय सूर्य अस्ताचल को चले गये। इसे देखकर भक्त उन्हें प्रणाम करके अपने स्थान को चला गया।

———

# शान्ति कहाँ ?

दूसरे दिन सुबह वह मुमुक्षु और प्रशान्तचित्त भक्त आकर महात्मा को दण्डवत् प्रणाम करके बैठ गया और अति विनीत भाव से बोला—प्रभु! धन-जन आदि के भोग से मैं परम शान्ति नहीं पा सका ; इसी कारण आपकी शरण में आया हूँ। किस प्रकार से परमशान्ति प्राप्त हो सकती है, कृपा करके बतलाइये। हे महात्मन्! जो एकमात्र सत्य का आश्रय और सब प्रकार के दुःखों से रहीत है; जहाँ जाने से जीव को शोक मोहादि के वश में नहीं आना पड़ता, वह परम सुखजनक विश्राम-स्थान कहाँ है, मुझे बतलाइये। संसार में किस प्रकार से रहने पर संसार-पंक में अर्थात् पाप-पुण्य और शोक मोहादि में लिप्त नहीं होना पड़ता, उसे मुझे बताइये। आप जैसे महात्मा किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके इस अनेक दोषों के खान संसार में निःसंग, निर्लिप्त, महानुभव और जीवन्मुक्त होकर निर्भयता से विचरण कर रहे हैं, उसका उपदेश दीजिये। संसार में किस प्रकार के कर्म करने से कल्याण साधित होता है, किस प्रकार से यथायोग्य फल मिल सकता है और इसमें रहकर कैसा व्यवहार करना चाहिये, इन विषयों को मुझे समझा दीजिये। आप तत्वज्ञान सम्पन्न महात्मा हैं मैं जिससे अपने अन्तःकरण में परिपूर्णता प्राप्त कर सकूँ, जिससे शोक-दुःख में फिर पतित न हो जाऊँ, इन विषयों में मुझे सदुपदेश दीजिये।

महात्मा—बेटा! तुम्हारे धन-जनादि भोग्य वस्तुएँ कहाँ से आयी हैं, और तुम ही कहाँ से आये हो? इस समय जिस स्थान में रहकर उनका उपभोग कर रहे हो, यह स्थान ही क्या है? उन भोग्य वस्तुओं का और तुम्हारा ध्वंस होने पर कहाँ चले जाओगे? इन सब के सृष्टि-स्थिति-लय का कारण उत्तम रूप से जान सकने पर ही परम शान्ति की प्राप्ति होगी, दूसरे उपाय से नहीं।

भक्त—प्रभु! सांसारिक वस्तुएँ कहाँ से आती हैं और ध्वंस होने पर कहाँ चली जाती हैं?

महात्मा—बेटा! संसार में जितनी शक्तियों का विकास दिखाई पड़ता है, उनकी समष्टि सर्वदा, सर्वत्र समान है। अर्थात् कोई भी उससे एक बिन्दु

एक बिन्दु शक्ति बढ़ा या घटा नहीं सकता। अतः संसार में किसी भी वस्तु का विनाश नहीं है, केवल परिवर्तन मात्र होता है। तुम कहोगे—सभी वस्तुओं का नाश हम प्रत्यक्ष देखते हैं, यह क्या है ? बेटा ! विनाश कहने से हम क्या समझते हैं, जानते हो ? एक मिट्टी का घट है। उसे मैंने उठाकर पटक दिया, चूर-चूर हो गया। अब वह घट कहाँ गया ? वह सूक्ष्म रूप में परिणत हो गया, परन्तु तुम कहोगे घट का विनाश हो गया है। परन्तु यथार्थ में विनाश का अर्थ है—स्थूल की सूक्ष्म में परिणति। मिट्टी का उपादान परमाणु एक में मिलकर घट नामक कार्य बन गया था। वे फिर अपने कारण में चले गये, इसका नाम नाश या 'कारण में लय' है।

भक्त—प्रभु ! कार्य किसे कहते हैं ?

महात्मा—कारण का व्यक्त भाव ही कार्य है, नहीं तो कार्य और कारण में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। संसार के सारे पदार्थ सूक्ष्म कारण से स्थूल कार्य रूप में प्रकट होकर फिर वह कार्य कारण में ही लय प्राप्त हो रहे हैं। इसी तरह सभी पदार्थ सूक्ष्म से एक बार स्थूल में फिर स्थूल से सूक्ष्म में विवर्तित होकर प्रकाशित और संकुचित हो रहे हैं और उसके साथ साथ उनके नाम और रूप में केवल परिवर्तन मात्र होता है। जैसे जब जल भाप हो गया तब उस जल का ही नाम भाप पड़ा और रूप का भी परिवर्तन हो गया। फिर जब भाप जल बन गयी तब उस भाप का नाम जल पड़ा और रूप का भी परिवर्तन हो गया। इसी तरह यह जगत् सदा परिवर्तित होता रहता है। यथार्थ में कोई भी पदार्थ उत्पन्न या विनाश नहीं होता। बीज-वृक्ष की तरह सारे पदार्थ चक्रवत बार बार परिवर्तित होते रहते हैं। अर्थात् संसार में जितने प्रकार की गतियाँ हैं, सभी नदी की लहरों के समान एक बार उठती हैं और एक बार गिरती हैं। परन्तु तुम्हारे सामने नये नये रूप में प्रतीत होते हैं। मनुष्य अज्ञान के कारण किसी वस्तु के सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में आते समय आनन्द प्रकट करते हैं, फिर उस वस्तु के स्थूलावस्था से सूक्ष्मावस्था में परिणत होते समय लोग उसे मृत्यु या ध्वंस कहकर दुःख या शोक प्रकट करते हैं। वास्तव में मृत्यु या ध्वंस नहीं है। सभी पदार्थ एक बार सूक्ष्म से स्थूल में, फिर स्थूल से सूक्ष्म में विवर्तित हो रहे हैं।

भक्त—प्रभु ! किस प्रकार से ज्ञान प्राप्त करके मैं इस संसार की सृष्टि, स्थिति, लय का कारण जान सकूँगा, उसका उपदेश दीजिये।

महात्मा—केवल मात्र आत्मतत्त्वज्ञान लाभ द्वारा ही वैसा ज्ञान हो सकता है।

भक्त—आत्मज्ञान के द्वारा किस प्रकार से ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति, लय का कारण जाना जायगा, उसे समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा ! आत्मतत्त्व अर्थात् अपने स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञानलाभ होने से ही मनुष्य का अशान्त मन शान्त होता है इसीसे शान्ति पाता है ! मन के शान्त न होने तक कोई भी कभी शान्ति नहीं और न पा सकेगा। दृश्यमान जगत् के सारे पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और का कारण जानने के लिए पहले अपनी सृष्टि, स्थिति और लय का कारण जानना होगा। अपना कारण या तत्त्व जानने का नाम ही आत्मतत्त्व। पहले दिन मैंने जो 'मैं' और 'मेरा' इन दो शब्दों के द्वारा तुम्हें आत्म उपदेश दिया था, उसीका नाम आत्मतत्त्व है। भात पकाने में हण्डी का चावल सीझा है या नहीं जानने के लिए उसमें से एक चावल को दबाने से ही सारे चावल सीझ गये हैं या नहीं यह जाना जा सकता है। तरह इस संसार के सारे पदार्थों और जीवों की सृष्टि, स्थिति और लय का जानना हो तो सबसे पहले अपनी सृष्टि, स्थिति और लय का कारण होगा और उसीसे विश्व का कारण जाना जा सकेगा। इसमें सन्देह नहीं है। यह भी याद रखना कि इस सृष्टि, स्थिति और लय एकमात्र मनुष्य के सिवाय संसार के किसी अन्य जीव में जानने की है। केवल इसी कारण मनुष्य-जाति संसार में अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। जो अपना कारण नहीं जान सका वह करोड़ों देव-देवियों की आराधना यज्ञादि करने पर भी आत्मतत्त्व नहीं जान सकता। इसीलिए उसे परम लाभ की भी आशा नहीं है।

भक्त—प्रभु ! संसार में धनी, दरिद्र, सुखी, दुःखी, स्वास्थ्यवान, धार्मिक, अधार्मिक सभी मनुष्य चारों ओर दौड़-धूप क्यों कर रहे हैं? लक्ष्य क्या है?

महात्मा—बेटा ! तुम्हें तो मैंने पहले ही बता दिया है कि मनुष्य जब तक अपने मन के समीप जाकर प्रश्न नहीं पूछता यानी अपने मन से परामर्श नहीं करता, तब तक संसार के किसी व्यापार का भी कारण वह नहीं जान सकता। अपने प्रश्न के विषय में भी तुम अपने मन से पूछो, तभी यथार्थ उत्तर मिलेगा।

भक्त—अपने मन से स्वयं कैसे प्रश्न पूछा जायगा, यह तो मैं कुछ भी नहीं समझ सका।

महात्मा—अच्छा, मैं समझा देता हूँ। जो ब्रह्माण्ड के मनुष्य नाना प्रकार के उद्देश्यों से दौड़-धूप मचा रहे हैं, इनमें तुम भी तो एक हो। अब बताओ तुम किस उद्देश्य से धावित होकर यहाँ तक आये हो ?

भक्त—प्रभु ! मेरा स्वास्थ्य बहुत ही खराब है, कुछ भी हजम नहीं होता। अनेक धन व्यय करके नाना प्रकार की चिकित्सा करा कर कोई फल नहीं पाया है। केवल इसीलिए मन जहाँ तहाँ दौड़-धूप कर रहा है।

महात्मा—तुम्हारी पाचन-शक्ति की वृद्धि होकर शरीर स्वस्थ होने से तुम्हें क्या लाभ होगा ?

भक्त—दयामय ! आपकी कृपा से मेरा स्वाथ्य अच्छा हो जाय तो शरीर को शक्ति मिल जाने से मन में भी शान्ति मिलेगी।

महात्मा—बेटा ! अपनी बात से ही तुम समझ लो, स्वास्थ्य अच्छा होने से ही तुम शान्ति पा जाओगे, यह प्रकट कर रहे हो अर्थात् तुम्हारा अन्तिम लक्ष्य शान्ति प्राप्त करना ही है। इस संसार में सभी मनुष्यों को वही एक लक्ष्य है। मनुष्य क्या चाहता है ? सब प्रकार के दुःखों को तिरोहित कर परमानन्द या चिरशान्ति प्राप्त करना चाहता है, यही जीवमात्र का स्वभाव है। किन्तु वे नहीं जानते कि परमानन्द या अविच्छिन्न शान्ति कहाँ है ? विषय-भोग में या विषय-त्याग में ? यद्यपि मुख से नाना प्रकार के अभाव बताकर सब उन अभावों की पूर्ति करने की अभिलाषा से निरन्तर दौड़-धूप कर रहे हैं, किन्तु उन अभावों को विदूरित करके केवलमात्र शान्ति लाभ करना ही सबका लक्ष्य है। अब सोचो, अब तक मैंने तुम्हारे मन से पूछ-पूछकर जिस प्रकार तुम्हारे मन की बात निकाल ली है यदि तुम विचारशील और मानसिक शक्तिशाली होते तो तुम स्वयं ही अपने मन से पूछ-पूछकर इसी बात को जान

सकते। केवल मात्र अविच्छिन्न शान्ति ही जीवन का काम्य विषय है, यह तुम्हारा मन ही तुम्हें बता देता। तुम अपने को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के मन का उद्देश्य जानना चाहते थे, इसीलिए जान नहीं सके। यदि तुम संसार के अन्य मनुष्यों में अपने को भी एक व्यक्ति समझते तो पहले ही अपनी बेचैनी का कारण जान लेते और उसी से अन्य मनुष्यों की व्याकुलता का भी कारण जान सकते। अतः याद रखना दूसरे के मनोभाव जानने के लिए किसी भाषा या किसी नयी विद्या की आवश्यकता नहीं होती। अपने मनोभाव जान सकने से ही विश्व मानवों के मनोभाव जाने जा सकते हैं। दूसरे को जानने के लिए अर्थात् संसार के किसी भी विषय को जानने के लिए पहले अपने को जानना आवश्यक है। पहले अपने को ही स्वयं देखना होगा, यह बात मैंने तुम्हें अनेक बार बतायी है। परन्तु तुम सभी कर्मों के समय अपनी खोज न करके अपने को भूलकर केवल बाहर ही बाहर ढूंढ़ रहे हो। इसीसे सभी कार्यों में तुम्हें बाधा पड़ रही है। एक कहानी सुनो!

किसी स्थान के दस मूर्ख व्यक्ति तैरकर नदी के उस पार जाकर गिनकर देखने लगे कि दस आदमी हैं या नहीं। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि जो गिनता है वही अपने को छोड़कर गिनने से नौ आदमी पाता है। अतः गिनने वाला स्वयं दशम पुरुष है, यह कोई भी नहीं जान सका। तब वे अज्ञान के वश कहने लगे कि दसवाँ आदमी दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए वह जरूर ही पानी में डूबकर मर गया है। ऐसा कहकर दसवें आदमी के लिए सभी रोने-पीटने और शोक करने लगे। इतने में एक अभ्रान्त पुरुष वहाँ आ गया और उन्हें रोते-पीटते देखकर पूछा—"तुम्हें क्या हो गया है?" उत्तर में उन लोगों ने बताया—"हमारे में से दसवाँ आदमी डूब गया है।" आगन्तुक व्यक्ति ने देखा कि वे दस ही आदमी हैं। उन्होंने उन लोगों से कहा—"तुम्हारा दसवाँ आदमी मरा नहीं है, जीवित ही है, तुम लोग शोक न करो। इस बार मेरे सामने गिनते ही तुम्हारे में दसवाँ आदमी निकल आयेगा।" तब वे पहले की तरह गणना करते करते जब नौ संख्या की पूर्ति हुई तभी उस आगन्तुक ने उँगली से गिनने वाले को दिखाकर कहा—"तुम्हीं दशम पुरुष हो!" तब वे प्रत्यक्ष रूप से दशम पुरुष को पाकर रोदन और शोक से मुक्त होकर आनन्द

थे और उनमें हर एक ने जो पहले गिनते समय भ्रम से अपने को छोड़-कर दूसरे नौ आदमियों को गिना था, अपनी उस अज्ञानता या भ्रम भी वे स्पष्ट समझ सके। बेटा ! तुम्हारे मन की अवस्था भी ठीक इसी प्रकार की है। जो व्यक्ति अपने को भूलकर सांसारिक अन्य व्यक्तियों या वस्तुओं अथवा किसी मूर्ति के द्वारा परमेश्वर को जानना चाहता है, उसके समान मूर्ख इस संसार में और कौन है ! हर एक व्यक्ति के मन में दृश्यमान विश्व प्रकाश पा रहा है, यह बात वे समझ नहीं सके। इसकी अपेक्षा आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है ? इस विषय में वसिष्ठ मुनि ने भी रामचन्द्र को उपदेश दिया था कि—"संसार मनः-कल्पित है" अर्थात् यह दृश्यमान विश्व जीवों के मन का कल्पना-प्रवाह मात्र है। बेटा ! यदि कोई अपनी मनोवृत्तियों को उत्तम रूप से जान सके तो वह जीवमात्र के मन का विषय जान सकता है। इसमें बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है। अतः व्यवहार करते समय कभी अपने को न भूलो।

भक्त—प्रभु ! अब आपकी कृपा से मैं समझ गया कि लोग सन्ध्या-पूजन, आराधना, धनोपार्जन आदि कोई भी कर्म क्यों करें सभी का अन्तिम लक्ष्य है—अविच्छिन्न शान्ति। परन्तु संसार में किस वस्तु के भोग से मैं वह अविच्छिन्न शान्ति प्राप्त कर सकूँ, उसे समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा ! तुम्हारा मन चाहता है किसी विषय भोग के द्वारा अविच्छिन्न शान्ति लाभ करना। अतः उस शान्ति-भोग का कर्ता तुम्हारा मन ही है, यह तो तुम समझ ही गये होगे। अब तुम्हारे मन से मुझे यह पूछना है कि वह दिन रात चौबीस घण्टों में कभी विषय-भोग करता है और कभी विषय छोड़ देता है—इन दो अवस्थाओं में उसे शान्ति किस अवस्था में मिलती है ?

भक्त—प्रभु ! मैं तो प्रत्यक्ष ही देखता हूँ कि जब उत्तमोत्तम विषयों का भोग करता हूँ, तभी शान्ति मिलती है। विषय-भोग के बिना शान्ति कहाँ ? जिसके पत्नी-पुत्र आदि स्वजन नहीं हैं और रुपये-पैसे का भी अभाव है, वह व्यक्ति कैसे शान्ति पायेगा ? विषय-भोग के द्वारा शान्ति पाने की आशा से ही लोग धन-सम्पत्ति के संग्रह में प्राण-पण से चेष्टा कर रहे हैं। अतः विषय-भोग से हमारा मन शान्ति पाता है।

महात्मा—बेटा ! तुम तो स्पष्ट ही बतला रहे हो कि विषय-भोग से तुम्हारा मन शान्ति पाता है और विषय के अभाव से अशान्ति का अनुभव करता है। क्या यह बात सत्य है ? तुमने कहा था कि धन-जन के भोग में शान्ति न मिलने के कारण ही शान्ति-लाभ की आशा से तुम मेरे पास आये हो। उसी तरह और भी जो मनुष्य धन-सम्पत्ति का यथेष्ट भोग करके भी उस विषय की ज्वाला से सन्तप्त होकर 'शान्ति कहाँ, शान्ति कहाँ' कहकर चिल्ला रहे हैं, उनकी दशा विषय-भोग से कैसी हुई है, बतला सकते हो ? पहले मैंने तुम्हारे मन की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं की बात तुम्हें अच्छी तरह समझा दिया है। वह याद है न ?

भक्त— जी हाँ, आपकी कृपा से मुझे अच्छी तरह उसकी याद है।

महात्मा—अच्छा तो बताओ, मन की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में कब-कब तुम्हारे मन के साथ भोग्य विषयों का संयोग रहता है और मन उन विषयों का भोग करता है ?

भक्त—दयामय ! जाग्रत और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में ही मन के साथ विषयों का संयोग रहता है और इन दोनों अवस्थाओं में ही मन विषयों का भोग करता है।

महात्मा—अच्छा तो बताओ, मन के इन दो अवस्थाओं में तुम शान्ति में रहते हो या अशान्ति में ? तुम अच्छी तरह सोचकर इसका उत्तर दो।

भक्त—भगवन् ! जाग्रतावस्था में तो मैं अस्वस्थता के कारण अशान्ति का भोग करता हूँ। उसके अतिरिक्त लोगों के साथ लेन-देन और बातचीत में अशान्ति ही बढ़ती है। इसलिए जाग्रतावस्था में शान्ति कहाँ मिलती है ?

महात्मा—अपने बन्धुओं में कोई जाग्रतावस्था में शान्ति पा रहा है, ऐसे एक भी व्यक्ति का नाम बता सकते हो ?

भक्त—प्रभु ! आपकी बात से मुझे अब धीरे धीरे याद आ रहा है कि मित्र-बन्धुओं में अनेकों से मैंने पूछकर देखा कि वह जीवन में सुखी है ? परन्तु हर एक मनुष्य अपनी अपनी राम-कहानी सुनाकर बताता है कि उनके जैसा दुःखी संसार में और कोई नहीं है। कोई कहता है—"मेरा लड़का बड़ा ही ... घर का सामान चुरा-चुराकर बेच देता है, रोकने से मारने आता है। ...

रहा है।" दूसरा कहता है—"मेरी स्त्री बड़ी कर्कशा है, दिन-रात झगड़ा किया करती है। घर के सभी लोगों से उसका विरोध है। इस कारण घर भी मेरे लिए कष्टकर प्रतीत हो रहा है।" आगे तीसरा कहता है—"मुझसे दुःखी इस संसार में कोई नहीं है। मैं वृद्ध हो गया हूँ, कमाने की नहीं है, बड़ी-बड़ी लड़कियों का धनाभाव से विवाह नहीं हो रहा है, लड़के छोटे-छोटे हैं, दोनों समय का भोजन जुटाना कठिन हो रहा है, बाजारों में उधार हो गया है कि रास्ता चलना मुश्किल हो रहा है, कभी ऐसी इच्छा है कि गले में फाँसी डालकर प्राण ही दे दूँ।" इस प्रकार जितने व्यक्तियों से पूछा है, सभीका एक ही कहना है कि संसार में सुख नहीं है। किसी ने आजतक प्रसन्न चित्त से नहीं बताया कि 'मुझे किसी विषय का अभाव नहीं है, मैं परम शान्ति में हूँ।' अतः जाग्रतावस्था में हरएक मनुष्य किसी न किसी विषय में अशान्ति का भोग कर रहा है, इसमें मुझे अणु मात्र भी सन्देह नहीं है।

महात्मा—बेटा ! संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो जाग्रतावस्था में मन के साथ विषयों के संयोग से सुख शान्ति का भोग कर रहा हो। विषयों से जो क्षणिक सुख का बोध होता है वह दुःख का ही नामान्तर मात्र है। इस विषय में तुम्हें दृढ़ निश्चय हो गया है न ? मनुष्य का मन जाग्रत अवस्था से स्वप्न-राज्य होकर सुषुप्ति में पहुँचता है; पुनः सुषुप्ति से स्वप्नराज्य होकर उसे जाग्रतावस्था में आना पड़ता है। अच्छा तो बताओ जिस दिन रात्रि को तुम्हें सुषुप्ति (स्वप्नरहित निद्रा) नहीं होती अर्थात् तुम्हारा मन जाग्रतावस्था से केवल स्वप्नावस्था में जाता है, सुषुप्ति में पहुँच नहीं सकता, उस दिन क्या तुम्हारा मन निद्रा से उठकर कभी कहता है कि मैं आज परम शान्ति से सोया था ?

भक्त—नहीं प्रभु ! स्वप्नावस्था में मैं शान्ति में था, ऐसा कोई नहीं कहता। बल्कि लोग उसका विपरीत भाव ही प्रकट करते हैं। कोई कहता है—गत रात्रि को मुझे सुनिद्रा (सुषुप्ति) नहीं हुई, केवल स्वप्न में बहुत से बाघ, भालू, नदी, पहाड़ देखे। कभी ऐसा लगा कि मैं हवाई जहाज में उड़ता हुआ जा रहा था, अचानक उसमें आग लग गयी और मैं कूद पड़ा। नींद टूट गयी। स्वप्न में

राजा होने पर भी कोई उस अवस्था में शान्ति नहीं पाता, यह व्यक्त व्यक्ति प्रकट करते हैं और मैंने भी उसका अनुभव किया है।

महात्मा—बेटा! अनेक स्थलों में अनेक स्वप्न देखने वाला व्यक्ति कहलाता है। इसीलिए उसे स्वप्न न हो और अच्छी निद्रा आवे, उसके औषधि का भी प्रबन्ध किया जाता है। अतः जाग्रत और स्वप्न में केवल क्यों विश्व के किसी भी व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती, अब तुम इसको अच्छी तरह समझ गये न? अब तुम अपनी सुषुप्ति अवस्था की बात याद कर बताओ तो उस सुषुप्ति अवस्था में तुम कैसे थे? शान्ति में या अशान्ति में?

भक्त—भगवन्! सुषुप्ति अवस्था से जाग्रत होकर मुझे स्मरण होता उस गंभीर निद्रा में मुझे शान्ति ही थी।

महात्मा—बेटा! सुषुप्ति के समय विषयरहित होने से मन शान्ति करता है, इसलिए सुषुप्ति में दीर्घकाल तक सोते रहने से भी उस निद्रा से किसी को अरुचि नहीं होती बल्कि जितना ही अधिक सोता है, उतना ही भी अधिक सोने की इच्छा होती है। दूसरी ओर केवल स्वप्न में या रहना चाहता है, ऐसा आदमी संसार में कोई है? बल्कि तुम सदा देख आ रहे हो कि कोई सुषुप्ति अवस्था में शान्ति से सो रहा हो और उसे कोई जगा दे तो वह जगकर क्रोध के साथ बोलता है—"मैं बहुत आराम से रहा था, तुमने क्यों मेरी शान्ति भंग की?" जिसका पैर टूट गया था, ने काटकर उसे फेंक दिया, वह भी सुषुप्ति से उठकर कहता है—" मुझे कुछ भी दर्द नहीं हो रहा था, मैं परमशान्ति से था। अब असह्य हो रहा है।" अर्थात् उस समय सुषुप्ति में वह इतनी शान्ति में था कि शरीर ही मैं हूँ,' ऐसा बोध भी उसे नहीं था। इस प्रमाण से स्पष्ट समझ सकते हो कि सुषुप्ति अवस्था सभी के निकट अत्यन्त प्रिय और है। इसलिए जाग्रत और स्वप्न से लोग सुषुप्ति को अधिक चाहते हैं। सुषुप्ति के वर्णन में कहती है—

सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति।

स्वमपीतो भवति।

नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः ।
न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ।

...र्थ—"जीव सुषुप्ति काल में सत् के साथ एक हो जाता है। उस समय ...न्धु होता है, दिन और रात्रि आदि मानो मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, जरा, ...क, सुकृत, दुष्कृत कुछ भी नहीं रहता।" अर्थात् जीव जो सुकृत-...पुण्य-पाप प्राप्त होता है, वह है सुखित्व दुखित्व-ज्ञान-पूर्वक। परन्तु ...में उस प्रकार का सुखित्व या दुःखित्व का कोई ज्ञान नहीं रहता। क्योंकि ...परमात्मा में लीन हो जाता है। अतः सुषुप्ति में किसी को कभी अरुचि ...सकती, यह स्वतः सिद्ध बात है। अब तुम विचार कर समझ सकते हो ...और स्वप्न की अवस्था कितनी घृणास्पद और अप्रिय है तथा सुषुप्ति ...कितनी प्रिय और जाग्रत से भी शान्तिप्रद है। तुम्हारी जाग्रत, स्वप्न, ...इन तीन अवस्थाओं में केवल सुषुप्ति अवस्था ही सर्वोत्तम और शान्ति-...है, वह विषय तुम अच्छी तरह अब समझ गये न ?

...—महात्मन् ! मन की उन तीन अवस्थाओं में सुषुप्ति ही सबसे अधिक ...द अवस्था है, यह बिल्कुल सत्य बात है। परन्तु प्रभु ! मन की जाग्रत ...न इन दो अवस्थाओं में मन में अशान्ति होने का कारण क्या है ?

...त्मा—बेटा ! नदी में जब जोर की हवा चलने लगती है, तब लहरें ...हैं और वे नावों के मल्लाहों को कम्पित कर डालती हैं। ठीक उसी ...मन रूप नदी में विषय रूप हवा लगने से जो वासना रूप लहरें उठती हैं, ...जीव कम्पित होते हैं और अशान्ति का भोग करते हैं तथा सारे आत्म-...डूब जाते हैं। जाग्रत और स्वप्न इन दो अवस्थाओं में मन के साथ ...विषयों का संयोग रहता है और मन उस समय विषय रूप विष पीकर ...र्थात् विषय-भोग करके) उस विष की ज्वाला से व्याकुल होकर छटपटाता ...है। क्योंकि सांसारिक धन-जन आदि का लगातार तीन दिन तक भोग ...से उसमें मन की अरुचि उत्पन्न होती है और स्वप्न में महाराजा होने पर ...सुख-स्वप्न के टूट जाने पर दुःख ही होता है। अतः इन दो अवस्थाओं ...विषयों के संयोग से जो क्षणिक सुख होता है वह दुःख का ही नामान्तर मात्र ...दूसरी ओर सुषुप्ति अवस्था में मन सब विषयों को छोड़कर अपने कारण

अर्थात् आत्मा में लीन हो जाता है। उस समय मन किसी भी विषय का ... नहीं करता। इसी कारण मन उस समय अत्यन्त शान्ति का अनुभव ... है। यह 'विषयहीन सुख' होने से मनुष्य का मन जीवन भर उस सुषुप्ति ... का भोग करके कभी भी वितृष्ण नहीं होता। बल्कि उसी सुख के लिए ... निरन्तर लालायित रहते हैं। यह बात सभी ने प्रत्यक्ष की है। अतः सांसारिक विषय के त्याग से ही मन में शान्ति और विषय भोग से ही अशान्ति होती है, यह तो तुमने अच्छी तरह समझ लिया न? इस विषय में गीता भी कहती है— त्यागात् शान्तिः—विषय-भोग की स्पृहा के त्याग से ही मन में शान्ति ... होती है। भगवान् शंकराचार्य ने भी कहा है—मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः— मनुष्य के मन में विषय-भोग वासना की निवृत्ति होने से ही परम शान्ति ... प्राप्ति होती है। अतः धन-जनादि विषयों के भोग से किसीको कभी शान्ति ... मिली है और न मिल ही सकती है, यही सिद्धान्त है। और भी देखो, ... वस्तु का स्वाद न मिलने से कभी उस वस्तु के लिए कोई लालायित नहीं ... यह मन का स्वभाव है। इसीलिए यहाँ भी सुषुप्ति अवस्था में विषय ... के द्वारा मन रूप जीव शान्ति का लोभ पाकर उसकी स्मृति चित्त में ... कारण जाग्रतावस्था में भी उसी निर्विघ्न शान्ति को विषय में खोजता ... है। परन्तु विषयत्याग के द्वारा मन में सुषुप्ति अवस्था में जो शान्ति प्राप्त ... था, विषय-भोग में वह शान्ति उसे कभी नहीं मिल सकती—मन में ... विचार-शक्ति न रहने से नादान बच्चों की तरह वह विषय-भोग में ही सुख ... इच्छा करता है। इसीलिए अविचारी मन केवल 'धनं देहि, जनं देहि' ... हुए विषय-विष से दिन-रात छटपटाता रहता है। इससे आश्चर्य की बात ... क्या हो सकती है? विषय-भोग में जो घोर अशान्ति है, वह युक्ति-प्रमाण ... प्रत्यक्ष उपलब्धि के द्वारा स्वतःसिद्ध रूप से प्रमाणित हो गया, तथापि अज्ञानी ... मन उस पर दृढ़ता स्थापित नहीं कर सकता। अतः मन देखकर भी ... देखता, समझकर भी नहीं समझता, इसीका नाम माया-मरु या संसार ... इसीसे कहता हूँ बेटा! तुम्हारा अज्ञानी मन सदा ही सोचता है कि ... की वृद्धि होने से ही प्रचुर परिमाण में भोग करके शान्ति लाभ कर सकेगा, ... मन कभी विषययोग से या विषयभोग से सुख नहीं पा सकता, ...

विषय-वासना के त्याग से ही मन को शान्ति मिलती है, यही ध्रुव-सत्य है। सर्वज्ञ शास्त्रकारों ने यह सत्य तत्त्व अनेक प्रकार से समझा दिया है तथापि अज्ञानान्ध जीव भ्रम के कारण वासना-त्याग (वैराग्य) का नाम सुनते भय से चौंक उठते हैं। महामाया का मोहजाल इसीका नाम है। अतः वत्स ! एकमात्र ब्रह्मज्ञ गुरु का उपदेश ग्रहण करके अपने पुरुषार्थ के बल युक्ति के द्वारा अपने अज्ञ मन को न जगा सकने से परम शान्ति लाभ की कोई आशा नहीं हैं। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में मग्न होकर भजन गाने लगे—

जगते जे सुख पेते चाय, तार मतो आर मूर्ख नाइ भाइ।
सुखेर आशाय पागल जे जन, दुःख जाय जे ताहारइ ठाँइ॥
धन जन भोगे शान्ति कोथाय ? विचार कोरे देख ना रे ताइ।
जतो भोग ततो रोग बाड़े, ताइ भोगेते शान्ति जे नाइ॥
बिचार-हीनेर जन्म विफल, मरुभूमे मेले कि जल ?
तेम्नि ए संसार-मरुते, शान्ति वारि कोथाओ नाइ॥
सबे पाय रे त्यागे शान्ति, तार प्रमाण देखो सुषुप्ति।
जाग्रते जार मन सुप्तेर न्याय, ताहार शान्ति रय सर्वदाय॥

इसका आशय इस प्रकार है—

संसार में जो सुख पाना चाहता है—उससे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है। सुख की आशा से जो पागल है, दुःख उसीके पास जाता है। धन-जन के भोग में शान्ति कहाँ ? विचार कर देखो न भाई। जितना भोग उतना रोग बढ़ता है, अतः भोग में शान्ति नहीं है। विचारहीन का जन्म निष्फल, मरुस्थल में कहाँ है जल ? वैसे ही इस संसार-मरु में शान्ति जल कहीं नहीं है। सभी त्याग से शान्ति पाते हैं, उसका प्रमाण है सुषुप्ति। जाग्रत में जिसका मन सुप्त-सा है उसकी शान्ति सदा है।

भक्त—प्रभु ! तो क्या इन धन-सम्पदों का बिल्कुल नाश करके मौन धारण किये बैठे रहने से ही शान्ति प्राप्त होगी ?

महात्मा—बेटा ! अपनी सुषुप्ति अवस्था में शान्ति प्राप्त करने के लिए क्या तुम्हें अपनी धन-सम्पदों का नाश कर देना पड़ा था ? नहीं। स्मरण कर देखो, दो मंजिल के ऊपर पलंग पर तुम आराम से सोये हो। दूसरी ओर

तुम्हारे परिवार के पत्नी-पुत्र आदि लोग भी सोये हुए हैं, परन्तु इस प्रकार परिवेष्टित रहने पर भी स्वेच्छा से विषय की ममत्व-बुद्धि तथा भोग की स्पृहा छोड़कर शान्ति प्राप्त करने की आशा से तुम्हारा मन सुषुप्ति में लीन हो गया। जाग्रतावस्था में यदि तुम अपने मन को उसी प्रकार रख सको तो परमानन्द प्राप्त कर सकोगे अर्थात् जाग्रत अवस्था में तुम्हारी देह उन विषयों के बीच रहने पर भी मन विचार-शक्ति के बल स्वेच्छा से यदि उन विषयों में ममत्व-बुद्धि और भोग-वासना का त्याग करता है तो विशुद्ध वैराग्य उत्पन्न होकर तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी।

भक्त—प्रभु ! विषयों के संयोग या भोग से ही अशान्ति होती है और विषयों के त्याग से ही परम शान्ति मिलती है, यह विषय आपकी कृपा से मैं समझ गया। परन्तु हे भगवन् ! 'विषयत्याग में शान्ति है', यह बात जानकर भी जाग्रतावस्था में मन विषय रूप विष पीने के लिए व्याकुल क्यों होता है ? बहुत विचार करने पर भी मैं इस बात को नहीं समझ सका।

महात्मा—बेटा ! 'यथार्थ में विषय विष है और उसके त्याग से परमशान्ति मिलती है' यह जानना या इसकी उपलब्धि करना तो दूर की बात है; इस पर तुम्हें अब तक दृढ़ विश्वास हो नहीं हुआ है। वास्तव में प्रमाण, भक्ति और गुरु के उपदेश के बिना विश्वास दृढ़ नहीं होता। जब तक गुरुवाक्य और वेदवाक्य के श्रवण, मनन आदि द्वारा युक्ति-प्रमाणों के साथ सूक्ष्म विचारपूर्वक तुम्हारा मन विषयों का दोष-दर्शन तथा त्यागात् शान्ति इस बात की धारणा नहीं कर सकेगा, तब तक वह अविचारी और अज्ञानी मन किसी तरह विषयवासना नहीं छोड़ेगा। अतः आत्मज्ञ गुरु के वाक्य और अकाट्य प्रमाण द्वारा अपने तथा विषय के दोषों का अभी तक तुम्हारा मन यथायथ श्रवण नहीं कर पाया है। यदि श्रवण करता तो मनन के द्वारा ही वह समझ सकता कि एकमात्र वासना-त्याग में ही शान्ति है। तुम्हारे मन ने सांसारिक विषयों के नाम-रूपों में मोहित होकर अपनी विचार-शक्ति खो डाली है अर्थात् वह अपने को भूल गया है। विचार के बिना किसी तरह सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों के गुण-दोष समझना कठिन है। अतः जब तुम्हारा मन नामरूप की मोह-निद्रा से जागकर अपनी विचार-शक्ति के बल विषयों का

...न और क्षणिकत्व दोष तथा अपनी अज्ञानता रूप दोष विशेष रूप से देखेगा ...तभी मन विषय को विष समझकर भोग-कामना का त्याग करेगा। विचार ...ने तुम्हें मालूम होगा कि यथार्थ में विषयों का कोई दोष नहीं है। दोष ...न का। मन अपनी अज्ञता रूप दोष के कारण ही शोक-दुःख भोगता ...च्छा बताओ तो बचपन में तुम आग देखते ही उसे क्यों पकड़ने जाते थे।

...—प्रभु! आग में जलाने की शक्ति है और जल जाने से दुःख होता ...ज्ञान मुझे बचपन में नहीं था। इसीलिए आग का सुन्दर लाल रूप ...र ही मैं उसे पकड़ने जाता था।

...त्मा—बचपन में शायद किसी रोज दीये में हाथ देने से तुम्हारा हाथ ...ला था और बहुत देर तक चिल्लाकर तुम रोये भी होगे। परन्तु उस जले ...के सूखने के पहले ही तुम दूसरे रोज फिर उस दीये को क्यों पकड़ने ...!

...—बचपन में अज्ञान के कारण एक दिन हाथ जल जाने पर भी आग ...ने की शक्ति है और उससे दुःख होता है, यह ज्ञान मुझे दृढ़ रूप से नहीं ...। इस कारण आग के बाहरी मनोहर रूप में मुग्ध होकर मैं फिर से ...ग में हाथ डालने गया था।

...त्मा—तुम्हारे आग पकड़ने जाते समय तुम्हारे माता-पिता ने 'यह आग ...न छूओ, हाथ जल जायेगा, छाले पड़ जायेंगे, बड़ा कष्ट होगा' इत्यादि ...बार बार मना किया था तो भी अज्ञान के कारण उनका निषेध मानकर ...के रूप में मोहित होकर तुमने उसे पकड़ा था। और भी देखो, रूप का ...ना ही है कि एक बार तुम्हारा हाथ जल गया तो भी ठीक उसके दूसरे ही ...न आग के मनमोहक रूप में मुग्ध होकर तुम फिर से उसे पकड़ने गये थे। ...इस समय तुम स्वेच्छा से आग में हाथ क्यों नहीं डालते? क्या अग्नि का ...वना रूप नहीं है?

...—प्रभु! इस समय अग्नि की दाहिका शक्ति के विषय में मुझे दृढ़ ...भव हुआ है। अतः अग्नि का सुन्दर रूप रहते हुए भी मुझे उसका ...य प्रत्यक्ष हो रहा है। इस कारण अब मैं उस आग में स्वेच्छा से हाथ ...ता। मैंने उसका त्याग करना सीखा है।

महात्मा—बेटा ! अध्यात्म जगत के तुम्हारे जैसे शिशु भी ठीक वैसे ही है। विषय-रूप अग्नि में शोक-दुःख रूप दाहिका शक्ति है, यह विषय तुम किसी तरह नहीं समझ सकते। तुम्हारे माता-पिता ने जिस प्रकार तुम्हें आग में हाथ डालने से मना किया था। उसी तरह जगत्पिता ब्रह्मज्ञ महापुरुष लोग भी तुम्हारे जैसे विचार-शक्ति-हीन शिशुओं को विषय-रूप अग्नि में शोक-दुःख रूप दाहिका शक्ति है, इसे बार-बार समझा कर विषय-वासना के त्याग करने का उपदेश देते हैं तथापि उस अमृतमय उपदेश का प्रत्याख्यान करके विषयरूप अग्नि के बाहरी रूप में मोहित होकर तुम विषयों के साथ ही तीव्र ममत्व-सम्बन्ध स्थापित करते रहते हो और बाद में अनेक प्रकार के शोक-दुःखों से क्लिष्ट होकर 'हा हतोऽस्मि' कहकर चिल्लाते रहते हो। तुम्हारा मन इतना विचार-शक्ति-रहित है कि इस प्रकार विषय-विष की ज्वाला से सन्तप्त होकर चिल्लाते रहने पर भी फिर से धन-जन-मान-सम्पद आदि विषय कैसे दिनोंदिन बढ़ते रहेंगे, केवल उसीके लिए प्राणपण से चारों ओर दौड़-धूप कर रहे हो। अपने हाथ के घाव के न सूखते ही जिस प्रकार तुमने आग में हाथ डाला था, यह भी ठीक उसी प्रकार है। अग्नि की दाहिका शक्ति के विषय में तुम्हारे अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के बाद जिस प्रकार तुमने आग में हाथ डालना छोड़ दिया था, ठीक उसी प्रकार विषय-विष के सम्बन्ध में जब तुम्हें अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होगा तभी तुम विषय-वासना का त्याग करोगे। वास्तव में मनुष्यों के भीतर जो वैषयिक बुद्धि में अधिक प्रतिभाशाली, चिन्ताशील, धन-ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति है, वही जीवन में अधिक दुःख-यन्त्रणा भोगता है। परन्तु सभी लोग उसीको 'सम्भ्रान्त व्यक्ति' कहते हैं। वह सम्यक् रूप से भ्रान्त अर्थात् विषय के नाम और रूप में मोहित होकर भ्रम में पतित है, यह बात साधारण अज्ञानी मनुष्य नहीं समझ सकते हैं। बेटा ! अनादि काल से अज्ञानी मनुष्य इस संसार में केवल रूप में मोहित होकर आपस में एक दूसरे से प्रेम करते आ रहे हैं और उस मोह-सागर में पड़कर मानो वे कभी डूबते और कभी उतराते हैं। इस तरह सर्वदा शोक-दुःखों से अभिभूत होकर वे अपने जीवन-पथ पर चल रहे हैं। परन्तु कोई भी मनुष्य शान्ति-सुख का लेशमात्र भी नहीं पा रहा है, बल्कि और भी दुःखार्णव में डूब रहा है। इस दुःख-दुर्दशा से परित्राण प्राप्त करना ही धर्म का उद्देश्य है।

जन्मों की सुकृतियों के परिणाम-स्वरूप यदि कोई व्यक्ति आत्मज्ञ गुरु का पा जाता है तो वह आत्मज्ञ व्यक्ति वेदान्त के युक्ति-विचारों द्वारा उस को आत्मबोध करा देते हैं। उस समय यदि शिष्य विचार-बल से ज्ञान-द्वारा विषयों का क्षणिकत्व और मिथ्यात्व रूप दोष का दर्शन करता है तो स्वेच्छा से विषय-भोग की वासना का (शिशु के आग में हाथ देने की इच्छा तरह) त्याग करता है। आत्मज्ञान न होने तक कोई भी इस मोह-सागर उत्तीर्ण नहीं हो सका है और न हो सकेगा। इस कारण आत्मज्ञान के बिना कोटि जन्मों में भी किसी का यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मज्ञ र जी कहते थे—

जब लग नहीं विवेक मन, तब लग लागे ना तीर।
भौसागर नामी तरे, सद्गुरु कहे कबीर ॥

अर्थात्—"कबीर कहते हैं—जब तक मनुष्य के चित्त में विवेक का उदय होता तब तक वह संसार-सागर के उस पार नहीं पहुँच सकता। एकमात्र गुरु के प्राप्त होने से ही संसार-सागर पार किया जा सकता है।" गोस्वामी सीदास जी कहते हैं—

ज्ञानी मारे ज्ञान से, व्याध मारे तीर।
सद्गुरु मारे शब्द से, साले सकल शरीर ॥

अर्थात्—"व्याध जिस प्रकार तीर से पशु-पक्षियों को मारता है, उसी प्रकार नी व्यक्ति ज्ञान के द्वारा दूसरों के चित्त की मलिनता दूर कर देते हैं। परन्तु गुरु उपदेशपूर्ण वाक्यों के प्रयोग रूप प्रहार द्वारा शरीर के अंगों को विद्ध ते हैं। उसी से इन्द्रियाँ पराजित होकर समता प्राप्त होती हैं।" अतएव बेटा! गुरु का उपदेश ग्रहण करके सदा अपने मन का दोष देखते रहो, तभी मानन्द का लाभ हो सकेगा।

———

# मन का दोष है या विषय का ?

भक्त—प्रभु ! आप की बातें सुनकर मुझे ऐसा लग रहा है कि घर-द्वार, धन-सम्पत्ति, पुत्र-परिजन आदि छोड़कर हिमालय पर्वत के किसी सुनसान शिखर पर अकेला बैठे रहने से ही भोग्य विषय मेरे सामने नहीं आवेंगे। अतः उन विषयों के रूप के मोह में मोहित होकर तरह-तरह के सांसारिक दुःख-कष्ट मुझे सहन करने न पड़ेंगे।

महात्मा—बेटा ! सबसे पहले मन में विचार कर देखो कि, तुम्हारा मन विषय को आकर्षित करता है या विषय मन को ? यानी तुम्हारा मन विषय से अभिभूत होता है या विषय आकर अपने प्रभाव से तुम्हारे मन को अभिभूत कर डालता है ? भोग्य विषय और भोक्ता मन इन दोनों में जो विचार से दोषी प्रमाणित होगा उसीको संयत करने की आवश्यकता होगी।

भक्त—प्रभु ! हम तो सदा ही देखते हैं—संसार के विषय नाम-रूप की मोहिनी मूर्त्ति में सजकर उनका भोग करने के लिए हममें ऐसा मोह पैदा करते हैं कि, कोई भोग्य वस्तु देखते ही उसके भोग की लालसा मन में पैदा हो जाती है और उस समय उन कामिनी-कांचनादि का भोग करके हम नाना प्रकार के शोक-दुःखों में छटपटाते रहते हैं। अतः उन विषयों को न देखने पर मन किसके लिए लालायित होगा ?

महात्मा—हे सुमते ! इस बार तुमने सर्वोत्तम बात ही उठायी है। मैं तुम्हारी इस बात का सब प्रकार से समर्थन करता हूँ। क्योंकि जो व्यक्ति या वस्तु तुम्हें शोक-दुःख में निमज्जित करती है, जो तुम्हें सुख का लेशमात्र भी न देकर केवल दुःख ही देती है, शान्ति न देकर अशान्ति देती है, आनन्द न देकर निरानन्द ही प्रदान करती है और जिससे तुम्हारे मन की शक्ति की वृद्धि न होकर दिनों-दिन शक्ति का ह्रास ही होता जाता है, वह व्यक्ति या वस्तु अवश्य ही तुम्हारा शत्रु है और ऐसे शत्रु से दूर रहना ही उचित है—यह बहुत ही सत्य सिद्धान्त है। और यह भी सत्य है कि, शत्रु का इस संसार में

कोई भी आदर-सत्कार नहीं करता। यहाँ तक कि, शत्रु के सुख-शान्ति; सुविधा-असुविधा या शासन-संरक्षण आदि विषयों को भी कोई अपने मन में स्थान नहीं देता। अतः यदि तुमने निश्चय रूप से समझा हो कि सचमुच ही सांसारिक विषय तुम्हारे कहने के अनुसार तुम्हारे साथ शत्रु की तरह बरताव कर रहे हैं, तो तुम जान-बूझकर भी फिर क्यों विषय-रूप शत्रु का सदा अपने मन में ध्यान बनाये रखते हो ? 'कैसे मेरे भोग्य विषय सुरक्षित रहेंगे और धन-जन आदि दिन पर दिन और भी बढ़ते जायेंगे' इस प्रकार से क्यों तुम तल्लीन होकर विषय-चिन्ता करते रहते हो ? विषयों को सब प्रकार से शत्रु जानकर फिर उन्हीं शत्रुओं की वृद्धि के लिए और उन शत्रुओं के दीर्घ काल तक स्थायी रखने के लिए तुम्हारा मन निरन्तर जी-जान से चेष्टा कर रहा है। क्या यह तुम्हारी तरह विचारशील बुद्धिमान मनुष्य का कर्त्तव्य है ? अतः तुम्हारे मन के विषय-चिन्ता छोड़ देते ही संसार में तुम्हारे सब प्रकार के शत्रु विनष्ट हो जायेंगे।

बेटा ! तुम सुनसान पहाड़ पर जाने की बात कह रहे हो। मान लो, तुम हिमालय के किसी उच्च स्थान पर जाकर एकान्त में आसन बिछाये आँखें मूँदकर बैठ गये। उस समय क्या तुम्हारा मन अपने पुत्र-परिवार आदि का रूप नहीं सोच सकेगा ? अथवा तुम्हारे पुत्रों में सम्पत्ति के बँटवारे का जो मुकदमा चल रहा था उसकी क्या मीमांसा हुई उसके विषय में क्या तुम्हारा मन कुछ भी चिन्ता न कर सकेगा ? यदि सुनसान हिमालय पर्वत पर बैठकर भी तुम्हारा मन उन विषयों की चिन्ता करता रहे तो क्या तुम मन का वह चिन्ता-प्रवाह बन्द कर सकोगे ? इसकी परीक्षा के लिए तुम्हें घर छोड़ कर निर्जन पर्वत पर जाने की आवश्यकता नहीं है। किसी भी स्थान पर आँखें मूँदकर तुम यदि अपने मन की परीक्षा लेने लगो तो तुम देखोगे कि आँखें मूँदते ही तुम्हारा मन विषयों की चिन्ता में तन्मय हो सकता है या नहीं। इसलिए निर्जन वन में जाकर अकेला बैठे रहने से ही संसार या विषय नहीं छूट जाता और उससे शान्ति भी नहीं मिलती। तुम तो घर-द्वार, पुत्र-परिजन छोड़कर सुनसान वन में चले गये, किंतु तुम्हारे भीतर रहकर चिन्ता करने वाले मन को तो कहीं छोड़ नहीं जा सके। अपने स्वभाव के अनुसार वह तुम्हारे शरीर के भीतर रहकर तुम्हारे घर-गृहस्थी

और स्त्री-पुत्र आदि विषयों की चिन्ता करता ही रहेगा। क्या इसीसे तुम्हें कोई शान्ति प्राप्त होगी? पहले घर में बैठ कर मन अपनी धन-सम्पत्ति की चिन्ता करता था और इस समय हिमालय पर्वत पर रहकर उन्हीं विषयों की चिन्ता कर रहा है। अतः इसमें तुम्हारे केवल बैठने के स्थान में ही भेद हुआ, परन्तु यथार्थ में चिन्ता-कार्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस कारण तुम्हारा स्थूल शरीर किसी भी निर्जन स्थान में क्यों न जाय, उस शरीर में कल्पनाकारी मन के नीरव न होने तक तुम किसी तरह कहीं भी शान्ति नहीं पाओगे। इसलिए श्री कहते हैं—"मन में वन करो, किन्तु वन में मन न करो।" इसका भावार्थ यह है कि—'तुम्हारे मन को वन की तरह नीरव करो, अर्थात् चिन्ता-रहित बनाओ। मन चिन्ता-रहित न होने से वन में जाना ही व्यर्थ हो जायगा।'

और भी देखो, तुम्हारे उस निर्जन वन में जाने से दूसरे लोग तुम्हें संसार-त्यागी साधु कहेंगे सही, किन्तु उस समय भी तुम्हारे मन के अपनी गृहस्थी की चिन्ता न छोड़ने के कारण तुम उस वन में जाकर गेरुआ वस्त्र पहनकर भी गृही ही रह गये, तुम अपने मन को साधु नहीं बना सके। बेटा! तुम लोग विचारहीन होने से एक बार भी विचार पूर्वक ध्यान नहीं देते कि, प्रलोभन क्या है? प्रलोभन अथवा प्रलुब्ध करने की शक्ति संसार में या विषय में नहीं है—वह पूर्णतया मनुष्य के चित्त में विद्यमान है। इसलिए अपराध-हीन इस जड़ शरीर को जंगल में या पर्वत की गुफा में लेकर रखने से क्या होगा? अतः तुम समझ लो कि, मनुष्य के संसार का मूल ही चित्त है और चिन्ता ही उसकी सम्पत्ति है। इसलिए चित्त रहने से संसार अवश्य ही रहेगा। चिन्ता का रहना ही चित्त का रहना है। चिन्ताहीन होना ही चित्त का न रहना है। अतः चित्त या मन की चिन्ता का त्याग होने से ही यथार्थ में संसार-त्याग होता है। महर्षि अष्टावक्र ने भी राजर्षि जनक को उपदेश देते समय कहा था—

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः॥ (अष्टावक्र-संहिता)

अर्थात्—"जो चिन्ता को ही सारे दुःखों का कारण जानते हैं, किसी अन्य प्रकार से दुःख उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् जो महात्मा चिन्ता से ही सब

र के दुःखों की उत्पत्ति होती है, ऐसा जानते हैं, वही इस संसार में उस चिन्ता रूप शत्रु का त्याग करके और सब विषयों में विगत-स्पृह होकर और शान्त हो जाते हैं।" अतः तुम्हें संसार के सभी धन-जन, पुत्र-जन में रह कर ही विचार-शक्ति के प्रभाव से विषय-चिन्ता का त्याग करना । जितने प्रकार की चिन्ताएँ हैं, उनमें केवल आत्म-चिन्ता ही उन सब ताओं के नाशक है। यह भी दृढ़ रूप से याद रखना कि, तुम्हारी मनः-की अपेक्षा विषयों में ऐसी कोई प्रबल शक्ति नहीं है, जो तुम्हारे मन बलपूर्वक आकर्षित करके भोग में लिप्त रख सके। यथार्थ में तुम्हारा मन ने ही अज्ञान से स्वेच्छाकृत कर्मों के द्वारा सांसारिक विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और बाद में स्वकृत बन्धन के कष्ट से पाता रहता है। जैसे कोई अज्ञान शिशु रस्सी से अपने पैरों को बाँधकर के क्लेश हो रहा है, मैं चल नहीं सकता' ऐसा कहकर चिल्लाते हुए रोने ता है, वैसे ही तुम्हारा मन भी सांसारिक दुःखों के भँवर में पड़कर 'हा रि' कहता हुआ निरन्तर दुःख भोग रहा है। अज्ञानी मन स्वयं ही दुःखों विस्तार करता है और बाद में उसीमें क्लेश का अनुभव कर भागने की करता है। चंचल मन भविष्य की चिन्ता न करके बालक की तरह अनर्थ-क खेल में आसक्त होता है। इस विषय में एक घटना याद आयी। ! आरे से बड़ा-बड़ी लकड़ियाँ चीरी जाती हैं, इसे तुमने देखा ही होगा। उस के सहज में चलने के लिए बढ़ई उस चीरी हुई लकड़ी के सिरे में कील देते हैं। किसी स्थान में बढ़ई वैसी एक बड़ी लकड़ी का आधा चीर कर कील ठोंक कर खाने के लिए घर चले गये। ऐसे समय एक चंचल र उस लकड़ी के ऊपर बैठकर उस कील को हिलाने लगा। उस समय बन्दर का फोता चीरी हुई लकड़ी के छेद में घुस गया था। बार-बार ने-डुलाने से उस लकड़ी का कील खुल गयी। तुरन्त दोनों लकड़ियाँ गयीं और उनके दबाव से बन्दर का फोता कुचल गया। छटपटाते हुए नटखट बन्दर के प्राण-पखेरू उड़ गये। वह बन्दर पहले समझ नहीं था कि 'उस कील के खुल जाने से मैं मरूँगा।' अज्ञानी मनुष्य भी ठीक तरह अपने किये हुए कर्मों के द्वारा स्वयं ही बद्ध होकर प्राण गँवाता

है। बेटा! इस ममत्व-बन्धन को ही माया-बन्धन कहते हैं। मन ही विषयों का प्रकाशक है। मन विषयों के रूप, गुण आदि प्रकाशित करते हुए उन विषयों के साथ ममत्व-बुद्धि स्थापित कर उनमें फँस जाता है, यानी विषयों में मन और मन में विषय सदा ही इसी तरह रहता है। पीठमाला-तन्त्र कहते हैं:

आशा बन्धकरी लोके वासना स्वर्गरोधिका।
स्पृहा प्रसूयते मोहं विरक्तिः केवलं सुखम्॥

अर्थात्—"जो मनुष्य आशा का दास है, वह पग-पग पर बन्धन प्राप्त होता है, जो व्यक्ति वासना का दास है, वह किसी काल में भी स्वर्ग-सुख नहीं प्राप्त कर सकता और जो आदमी इच्छा का दास है वह मोह-मुग्ध होकर दुःख पाता है। परन्तु जिसने आशा, वासना और इच्छा का त्याग कर दिया है वह नित्य सुख लाभ करता है।"

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते। (वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"मनुष्य धन-जनादि में ममत्व-परायण हो तो बद्ध और ममत्व-रहित होने से मुक्त हो जाता है।" सारांश यह है कि, मैं, मेरा और तुम, तुम्हारा—इस प्रकार की मानसिक कल्पना ही माया-बन्धन का मूल कारण है। केवल इस कल्पना से ही विषयों के साथ मन का ममत्व-बन्धन उत्पन्न होता है। इस कल्पना का त्याग कर सकने से ही सब कल्पनाओं का अभाव हो जाने के कारण निर्विकल्प अवस्था स्थायी हो जाती है। इसलिए उस अवस्था में केवल अनन्त आत्म-सत्ता ही अवशिष्ट रहती है।

बेटा! तुम कहते हो 'विषय मोह पैदा करते हैं'। तुम्हारे भोग्य विषय तुम्हारे भीतर मोह पैदा करते हैं या तुम्हारे प्रत्यक्ष गुरु बनकर संसार की नश्वरता का स्पष्ट प्रमाण दिखाकर चले जाते हैं—क्या इसे एक बार भी तुमने सोचकर देखा है? लोगों का स्वभाव ही ऐसा है कि, अपना दोष न देखकर केवल दूसरों का दोष ही देखते हैं; अपने घर की खबर न लेकर केवल दूसरों की खबर लेते हैं। अपनी उन्नति साधित करने के लिए अपने ही दोषों के विषय में सोचना पड़ता है। तुम्हारे मकान के चारों ओर राम, लक्ष्मण, मोहन, सोहन के मकानों में—आज राम का दस साल का लड़का मर गया, कल

के पैंतीस वर्ष की अवस्था वाले योग्य विद्वान और मासिक ५००) कमाने पुत्र की मृत्यु हो गयी, परसों मोहन का मकान आग में जलकर खाक हो , परसों सोहन का सारा माल-असबाब चोर ले गये, दो दिन बाद माधोराम गया, देवेन्द्र का हाथ टूट गया, सुरेन्द्र की सुन्दरी युवती पत्नी उनकी ममता कर परलोक सिधार गयी—इस तरह तुम्हारे सभी के सामने प्रतिदिन इस की घटनाएँ संघटित होकर तुम्हें निरन्तर सचेत करते हुए समझा रही हैं तुम लोगों के धन-जन, पुत्र-परिवार सभी इसी तरह ध्वंस और ह्रास प्राप्त हो गे। ये सब भोग्य विषय प्रतिदिन तुम्हें इसी तरह आँखों में अँगुली डालकर दिखा रहे हैं और उपदेश दे रहे हैं—"हे जीव, इस नाशवान अनित्य में जिस क्षण जो कुछ देखते हो वह सभी चले जा रहे हैं। समय पर सभी -काल के गाल में लय प्राप्त हो जायेंगे, किसीका भी अस्तित्व विद्यमान नहीं । राजा, प्रजा, धनी, निर्धन, सबल, दुर्बल, ऊँच, नीच सभी नाम और स्वांग रच कर छायाचित्र की तरह दृष्टि के सामने से गुजर रहे हैं। जन्म हुआ है, तभी मृत्यु उसके पीछे आकर साथ-साथ चल रही है। इस वान संसार में सुख-दुःख चक्र की तरह प्रतिक्षण घूमते जा रहे हैं—सुख बाद दुःख और दुःख के बाद सुख। राजा कहो, धनी कहो, निर्धन कहो, की अवस्था स्थायी नहीं रह सकती। संसार अस्थिर है और संसार की वस्तुएँ अस्थिर हैं। बचपन के बाद कैशोर, कैशोर के बाद कौमार, र के बाद यौवन, यौवन के बाद वार्धक्य और अन्त में मृत्यु—इस म से संसार के सभी जीव निरन्तर परिवर्तित, परिचालित और र्णित हो रहे हैं। इच्छा करो, बल प्रकाश करो, भय प्रदर्शन करो, विनय , क्रन्दन करो—किसीसे इस नियम को रोक नहीं सकते, किसीसे भी अन्यथा नहीं होती। जनक-जननी ललाट या वक्ष-स्थल पर कराघात करते हाहाकार करें, आसुओं से शरीर प्लावित कर डालें, पत्नी-पुत्र अनन्त प करें, परिजन के लोग शोक करते रहें, मित्र-वर्ग दीर्घनिश्वास त्याग करते सहानुभूति प्रकट करें, परन्तु मृत्यु किसीको भूलती या छोड़ती नहीं है। अकेला एकान्त में छिपा ही क्यों न रहे, सैकड़ों सिपाहियों के भीतर सशस्त्र अत्यन्त सुरक्षित स्थान में निवास ही क्यों न करे, अगणित चिकित्सकों के

साथ स्वास्थ्यकर महल में ही क्यों न रहे, काल के गाल से बचने का किसी को कोई उपाय नहीं है। अद्वितीय महावीर ही हों, वीररस के एकमात्र अवतार ही हों, शौर्य-वीर्य में नरकेशरी ही हों, उन्हें भी काल के कवल में कवलित होना ही होगा। इस अखण्ड नियम का लंघन कोई भी, कभी किसी तरह करने में समर्थ नहीं होगा। अतः हे मानव! तुम प्रत्यक्ष ही देख रहे हो कि मैं (विषय) नाशवान पदार्थ हूँ, मैं सदा ही अस्थिर, अनित्य और ध्वंसोन्मुख हूँ, तथापि मुझ (विषय) में तीव्र ममत्व-बुद्धि करके मुझमें आसक्त रहकर क्यों तुम निरर्थक दुःख भोग रहे हो? तुरन्त मेरा सम्पर्क छोड़ (धन-जन में ममत्व-बुद्धि का त्याग) कर सत्य और नित्य स्वयं-प्रकाशमान आनन्दमय परमात्मा के ध्यान में निमग्न हो जाओ—जिससे अनन्त शान्ति प्राप्त कर सकोगे।" उस विषय-रूपी गुरु की वह हितोपदेशवाणी तुम्हारे-जैसे साधारण मनुष्यों के कानों में प्रविष्ट होकर हृदयंगम नहीं हो रही है। क्या यह तुम्हारे मन का दोष है या भोग्य वस्तु का?

एक बार सोचकर देखो, तुम लोग जो पुत्र की कामना करते हो वह पुत्र माता-पिता के क्लेश का ही हेतु होता है। स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि पुत्र ही माता-पिता के नाना प्रकार के दुःखों का कारण अर्थात् शत्रु है। क्योंकि, यदि पुत्र न पैदा हुआ तो मनुष्य निरन्तर मानसिक अशान्ति भोगता रहता है और गर्भ-लक्षण प्रकट होने पर भी गर्भपात के भय से, प्रसव-वेदना के क्लेश से और पुत्र तथा अपने अमंगल की शंका से जननी दुश्चिन्ता के कारण भयभीत रहती है। उसके बाद सकुशल पुत्र पैदा होने पर भी उसके अंग-दोषादि के विषय में सन्देह और दुश्चिन्ता रहती है। पुत्र बड़े होने से भी मूर्ख और बुद्धिहीन न हो इस चिन्ता से माता-पिता सदा चिन्तित रहते हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार होने पर सम्भवतः वह मूर्ख भी हो सकता है और विद्वान होने पर भी उसका विवाह नहीं हो सकता या उसे सुन्दरी पत्नी प्राप्त होगी या नहीं, युवक पुत्र परदार-गमनादि दोष से कलंकित होगा या नहीं, वैसे दोष से पुत्र दोष-युक्त न होने पर भी बहु परिवार होने से पुत्र दरिद्र हो तो भोजन-वस्त्र का कैसे प्रबन्ध होगा और यदि सब गुणों से गुणवान तथा धनवान होकर भी वह पुत्र मर गया तो शोक-ताप की सीमा नहीं रहेगी। इस प्रकार की अनेक

चिन्ताएँ और आशंकाएँ मातापिता के मन में निरन्तर उपस्थित होकर उन्हें दुःख देती रहती हैं। अतः पुत्र मातापिता के लिए कभी सुखदायी नहीं है, क्लेश का ही हेतु हो जाता है। इस कारण विचार-दृष्टि से दिखाई पड़ता है कि मनुष्य के पुत्र-परिजन ही मित्र के भेस में शत्रु हैं। इस प्रकार विचार-दृष्टि से देखकर ही भगवान शंकराचार्य कहते थे—

के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः। (मणिरत्नमाला)

अर्थात्—"मित्रवत् शत्रु कौन हैं ?—पुत्र, कन्या, पत्नी आदि। आत्मज्ञ ...जी कहते थे—

टूटहिं निजरुचि काज करि, रूटहिं काज बिगारि।
तीय तनय सेवक सखा मनके कण्टक चारि॥

अर्थात्—"पत्नी, पुत्र, भृत्य, सखा—ये चार व्यक्ति चित्त के कण्टक हैं। ... ये मन की रुचि बदल देते हैं और आत्मकर्म बिगाड़ देते हैं।"

अब धन-सम्पत्ति के विषय में भी एक बार विचारो। अर्थ ही संसार ...अनर्थ का कारण है। जिसके पास अर्थ है वह उस अर्थ की रक्षा के लिए ...शंकित रहता है। क्योंकि धन के लोभ से पुत्र भी पिता का और पत्नी भी ...का विनाश करती है। अर्थ के कारण मित्र भी शत्रु हो जाता है। जिस ...र रात्र्यंध व्यक्ति चक्षु में पीड़ा का अनुभव नहीं करता सही, पर रात में कुछ नहीं देख सकता। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य धन के मद से अन्ध और ...रहित हो जाते हैं, पर वे अपना दोष कुछ भी नहीं देख सकते। इसी ...लोभ से मनुष्य एकदम अधःपतित हो जाते हैं। इसे देखकर ही भगवान ...चार्य शिष्यों से कहा करते थे—

अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः, सर्वत्रैषा कथिता नीतिः॥ (मोहमुद्गर)

अर्थात्—"अर्थ को ही सदा अनर्थ रूप से चिन्ता करो। यथार्थ में ही इसमें सुख लेशमात्र भी नहीं है। क्योंकि धनवान व्यक्ति का पुत्र धन-लोभ से ...का जीवन-नाश करेगा, इस भय से धनी लोग सदा भयभीत रहते हैं ...यह नियम सर्वत्र लागू होता है।" वेदान्त कहते हैं—

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिरक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥ (पंचदशी)

अर्थात्—"संसार में धन ही मनुष्य के अशेष दुःखों का निदान है। प्रथम धन उपार्जन करना बहुत ही क्लेशकर कार्य है। कमाया हुआ धन चोर आदि से बचाकर सुरक्षित रखना भी कठिन काम है। यदि कोई उस धन को चुरा ले जाय अथवा अन्य किसी प्रकार से नष्ट हो जाय तो वह भी अत्यन्त दुःखप्रद होता है और यदि किसी निमित्त धन का अधिक परिमाण में व्यय हो जाय तो उससे भी असीम क्लेश होता है। अतः सब प्रकार से दुःख देने वाले धन को धिक्कार है।" बेटा! इन सब बातों को सुनते हुए भी तुम लोग इस प्रकार मोहान्ध हो कि, फिर से अज्ञान शिशु की तरह विकल होकर भगवान से बार बार यह कहकर प्रार्थना करते हो कि, 'हे भगवन्! हमारा यह विषय-भोग कभी क्षय-प्राप्त न हो, बल्कि क्रमशः बढ़ता जाय और कोई विघ्न भी आकर इस भोग में रुकावट न डाले, इसीसे हम लोग धन्य हो जायेंगे।' ऐसा भाव यानी 'देखकर भी न देखना और समझकर भी न समझना' ही अज्ञान या माया-मरीचिका है। ऐसी माया-मरीचिका के ऊपर ही इस रंग-बिरंगे का प्रपंच तुम्हारे नेत्रों के सामने दिखाई पड़ रहा है और तुम भी अज्ञान-वश इसी माया को लिपटकर परम सत्य रूप से व्यवहार कर रहे हो। परन्तु सृष्टि-विषय के तत्त्वज्ञ व्यक्ति के सामने इस माया का विलास कभी सत्य रूप से प्रतीत नहीं होता। अतः अब विचार करके देखो, यथार्थ में उन भोग्य वस्तुओं का कोई दोष नहीं है, सभी दोष तुम्हारे मन के हैं। क्योंकि, वे वस्तुएँ सदा ही अपने दोष प्रकट रूप से तुम्हें दिखा रही हैं। बेटा! तुम जो संसार-प्रपंच का चित्र देख रहे हो, यह चित्र उसी 'मन' या 'चित्त' नामक चित्रकार के द्वारा चित्रित मात्र है।

हे सुबुद्धे! 'मन' नामक चित्रगुप्त केवल संकल्प-विकल्प द्वारा किस प्रकार सुदक्षता से इस जगत-चित्र को बना रहा है और तोड़ रहा है, उसे एक बार विचार कर देखो। मन के अत्यन्त गुप्त रूप से सभी के दृष्टि से परे रहकर चित्रांकन करने से उसका नाम 'चित्रगुप्त' पड़ा है। सोचकर देखो, कोई चित्र बनाने के लिए चित्रकार, चित्रपट (जिस पर चित्र बनायी जायगी), रंग

ग—इन चार चीजों की आवश्यकता होती है। परन्तु मन-चित्रगुप्त संसार कोई वस्तु देखते ही इस तरह गुप्त रूप से चित्रांकन कर लेता है कि, बाहर की ठीक चार वस्तुओं की कोई प्रयोजन ही नहीं होता और उस गुप्त चित्र को र से कोई देख भी नहीं सकता। वह अपने चित्तपट पर स्वयं ही चित्रकार तथा बनकर पल भर में सभी के अनजान तथा अदृश्य में रहकर चित्र को था समाप्त कर डालता है। मान लो, तुम्हें एक पुत्र पैदा हुआ। उस पुत्र को देखते ही तुम्हारा मन-चित्रगुप्त अपने चित्तपट पर रंग इत्यादि सहायता के बिना भी केवल कल्पना से ठीक उसी तरह के एक पुत्र का अंकन लिया। या कोई युवक के मन ने किसी सुन्दरी युवती को देखते ही उस बाहरी री की भाँति एक सुन्दरी युवती का अपने चित्तपट पर अंकित कर डाला और को रात्रि में स्वप्नावस्था में उस चित्तपट पर स्थित सुन्दरी के संग नाना र के रंग-ढंग करते करते उस युवक को शुक्र-क्षय भी हुआ। मन-चित्रगुप्त वे सब गुप्त चित्र तथा गुप्त कर्म बाहर से किसीको मालूम होने या देखने भी नहीं आया और इस अंकन-कार्य में आँख के पलक के सहस्रभागों का क भाग समय भी उसे नहीं लगा। ठीक इसी प्रकार तुम लोगों के हर एक मन-चित्रगुप्त सांसारिक वस्तुओं का अपने चित्तपट पर अंकित करके कल्पना उन वस्तुओं के साथ ममत्व-बुद्धि स्थापित कर बन्धन-दशा प्राप्त करता है और शोक-ताप और दुःख-अशान्ति से छटपटाता रहता है। अविवेकी और निर्बोध न का यही स्वभाव है। इसीलिए इससे यही साबित हुआ कि, मन अपने संकल्प-विकल्प से स्वयं ही अपना शत्रु होकर शोक-ताप की सृष्टि करता है,—र दूसरा कोई भी मन को शोक-ताप देने वाला शत्रु नहीं है। दूसरी ओर न इच्छा करते ही विचार-पूर्वक उन संकल्प-विकल्पों का त्याग कर, आत्म-लोचना में समाहित हो, स्वयं ही अपना मित्र बन सकता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ (गीता ६ अः ५।६ श्लोक)

अर्थात्—"जीवात्मा ( मन ) स्वयं ही अपने को संसार के शब्दादि विषयों से उद्धार करे, जीवात्मा ( मन ) को कभी भी हताश नहीं करना चाहिए। क्यों कि, यह मन ही मन का सुहृद्, और यह मन ही मन का शत्रु है। जिसने स्वयं विचारपूर्वक अपने मन को वशीभूत कर लिया है, वह स्वयं ही अपना मित्र और जो विचार-हीन होकर यथेच्छापूर्वक अन्याय-पथ पर चलता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु होकर अपनी शत्रुता साबित करता है।"

अतः तुम जो कुछ देख रहे हो या सुन रहे हो, सभी निरालंब या निराधार अर्थात् मिथ्या बुद्धि के विलास के सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिए बाहर जो कुछ है उसे रहने दो। तुम काठ के समान मौन रहो अर्थात् संकल्प-विकल्प-रहित होकर चिर शान्ति प्राप्त करो।

बेटा! उस परम कारण परमात्मा से पहले-पहल मन की उत्पत्ति होती है। जो कुछ भोग्य है सभी मनोमय यानी कल्पना मात्र है। जो कुछ दृश्य है उन सभी की स्थिति मन में है और वह मन भी अपने कारण परमात्मा से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण से हार पृथक नहीं है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा या ब्रह्म से मन भी पृथक नहीं है। संसार में जो कुछ भेद दिखाई पड़ते हैं, वे सभी मन के कल्पित हैं। मन के लुप्त हो जाने से इन सभी का भेद-भाव दूर होकर एकत्व की प्रतिष्ठा होती है। मन के द्वारा ही यह संसार रूप दीर्घ-काल-स्थायी वृथा स्वप्न अवस्थित है। जिस प्रकार अन्धकार से दृष्टि धुँधली हो जाने के कारण मनुष्य सूखे पेड़ में भूत देखता है उसी प्रकार मन भी अज्ञान में आच्छन्न रहने के कारण परमात्मा को न देख सकने से मिथ्या संसार-प्रपंच देख रहा है।

भक्त—प्रभो! यदि मन का ही दोष होगा तो मनुष्य धन-जन आदि छोड़कर योग-साधना के लिए पहाड़ों की गुफा में क्यों चले जाते हैं? विषय आकर मन को बल से आकर्षित करता है, यह जानकर ही तो लोग वैसे एकान्त स्थान में चले जाते हैं।

महात्मा—बेटा! जरा सोचकर देखो, तुम्हारे अपने पत्नी-पुत्र के साथ ममत्व-बुद्धि स्थापित करने के लिए क्या किसी शास्त्र ने या तुम्हारे किसी कुटुम्बी या पड़ोसी ने कभी तुम्हें कोई अनुरोध या शासन किया था? बल्कि शास्त्र ने

बारम्बार निषेध ही किया था। सबसे पहले तुम्हारा मन स्वयं ही 'मेरी ..., मेरा पुत्र' कहकर उनके साथ ममत्व-बन्धन से जकड़कर उस बन्धन की ...ना से अब चिल्ला रहा है। तुम्हारी सुन्दर कमीज क्या दूकान से खुद ही चलकर तुम्हारे घर में आ उपस्थित हुई थी? बल्कि तुम्हीं अपने मन के वेग से दूकान में जाकर कौन कमीज अच्छी है उसे ढूँढ़कर खरीद लाते हो और उस पर 'मेरी कमीज' इस प्रकार ममत्व-बुद्धि स्थापित करके उसकी सुरक्षा चिन्ता में विकल हो रहे हो। क्या यह दोष उस सुन्दर कमीज का है या तुम्हारे मन का? इसी तरह मनुष्य सुख-शान्ति की आशा में संसार के नाना ...नों से अपने मन के अनुकूल विषयों को ढूँढ़ निकाल कर उनके साथ ममत्व-बन्धन से बँधकर शोक-दुःख में अशेष क्लेश भोगते रहते हैं। हे सत्यकाम! मन जिसकी खोज करता है इन्द्रियाँ मन्त्रियों के राजाज्ञा-पालन की तरह उसी ... उसका सम्पादन करती हैं। अतः जो अपने मन को संसार की किसी वस्तु की खोज करने नहीं देते वे इन्द्रिय-वृत्ति-वर्जित होकर 'अहं ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूँ) की भावना से परम शान्ति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। विचार करके देखो, मनुष्य स्वयं ही अपनी आँखों पर हाथ दबाकर कह रहा है—'अंधकार, चारों ओर अंधकार ही अंधकार है!' परन्तु हाथ हटा लेते ही प्रकाश से संसार भर जाता है। बेटा! इस संसार में तुम्हें किसी ने बेचा नहीं है, तो तुम इस मिथ्या संसार के हाथ बिके हुए गुलाम की तरह जीवन बिता रहे हो। हाय! कैसा दुःख है! लोग कैसे मूढ़ हैं! इस विषय में श्रीरामचन्द्र को वसिष्ठ मुनि ने कहा था—"हे रामचन्द्र! इस देह रूप गृह में मन रूप पिशाच (भूत) निवास कर रहा है। वही दुरात्मा देही जीव को यह संसार-प्रपंच दिखा रहा है। संसार-जनक, अमंगलकारी और धैर्य-नाशक इस मन रूप पिशाच को नष्ट करके तुम अपने स्वरूप में स्थितिवान हो जाओ। बन्धु-बान्धव, गुरु या मित्र कोई भी चित्त-भूत-ग्रस्त व्यक्ति का परित्राण नहीं कर सकता—यदि वह स्वयं पुरुषकार का प्रयोग न करे। जिसका चित्तभूत शान्त हुआ है, उसीका उद्धार सहज-साध्य है। मन-भूत के द्वारा ही यह ससार नामक शून्य पुरी ध्वंस हो गयी है। यह संसार एक प्रकार का घोर जंगल है। इसमें मन-भूत का अड्डा है। इस कारण ही यह संसार भय की उत्पत्ति का स्थान है। इस

संसार नामक नगर में कुछ इने-गिने ही देह-गृह हैं जिनमें मन-भूत का उपद्रव नहीं है। केवल कुछ महात्माओं में ही इस चित्त-भूत का उपद्रव नहीं है। उनके सिवाय सभीके शरीर चित्त-वेताल्राक्रान्त मशान हैं" (योगवासिष्ठ निर्वाण-प्रकरण २६, सर्ग ६६—७३ श्लोक)।

मनुष्य मात्र के ही प्रथम जीवन में सांसारिक वस्तुओं का तत्त्व (किस वस्तु के द्वारा कौन काम हो सकता है उसे) जानने की आकांक्षा होती है। इसीलिए बच्चे अपने बड़ों से निरन्तर पूछताछ करते रहते हैं कि—यह क्या है! वह क्या है! यह क्यों! वह कैसे! इत्यादि। प्यासे आदमी को गन्दा पानी न देकर विशुद्ध जल पीने को देने से ही उसका शरीर स्वस्थ और सबल रहता है। उसी प्रकार मनुष्य-जीवन के आरम्भ में विषय-तत्त्व के प्यासे मन को भोग्य विषयों से दूर अर्थात् गुरु-गृह में रखकर उसके सामने विचारने को पवित्र वस्तु 'आत्म-तत्त्व' देने से उस तत्त्व में ही मन पवित्र और पूर्ण आनन्द पाता है। उसके अनन्तर विचार के बल सारे विषयों का स्वरूप जानकर मन एक बार शक्ति-शाली हो जाने पर विषयों के बीच में रहने पर भी वह फिर विषय-भोग में उन्मत्त नहीं होता। यहाँ तक कि राजर्षि जनक तक को पहली अवस्था में बहुत दिनों तक विषय छोड़कर एकान्त गुरु-गृह में रहना पड़ा था। इस तरह जीवन के आरम्भ में मन को ठीक तरह से गठित कर उसमें आत्म-तत्त्व-बीज बोने के लिए ही प्राचीन काल में बालकों को गुरु-गृह के ब्रह्मचर्याश्रम में रहना पड़ता था। देखो बेटा! लोकालय में भोग्य विषयों के सामने धैर्य रखकर साधन करने की शक्ति मन में नहीं है। मन बहुत दुर्बल है, इसलिए उसकी शक्ति-वृद्धि के उद्देश्य से लोग निर्जन और नीरव वन में चले जाते हैं। अतः यहाँ जो मन की दुर्बलता है, क्या वह मन का दोष है या विषय का! तुम्हारा मन यदि विषयों के भय से भीत न होकर स्वयं सिंह के समान पुरुषकार के द्वारा विषय-वासना को पददलित करके ध्यान-धारणा कर सके, तो तुम्हें फिर पर्वत-गुफा में जाना क्यों पड़ेगा!

भक्त—हे भगवन्! मन के इस प्रकार के दोष कैसे और कब विनष्ट होंगे?

महात्मा—बेटा! दुष्ट-स्वभाव वाला चित्त या मन यथार्थ में कभी विद्यमान नहीं है। जब तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न होता है तभी उसका नास्तित्व निश्चित होता है—उससे पहले नहीं। अनर्थ का मूल तथा मिथ्या माया से उत्पन्न

पदार्थ में न रहने पर भी तत्त्व-ज्ञान से पहले वह अशेष अनर्थ-प्रद है। जड़ और स्वरूप-हीन है। इन दोनों कारणों से सदा ही मन मृत है। स्वयं मृत होकर भी दूसरों को मार रहा है। यह अल्प आश्चर्य का विषय है। जिसका आकार नहीं है, आत्मा नहीं है (जड़ है), आधार है, देह नहीं है, उसीके द्वारा सारे पदार्थों का भक्षण हो रहा है। यही का विचित्र जाल है! इस संसार में जड़, अन्ध और गूँगे मन के द्वारा मनुष्य निहत होता है, वह मूढ़ शीतलता-पूर्ण चन्द्रमा के किरणों से दग्ध होता है। जो मिथ्या संकल्प से उत्पन्न है, जिसकी स्थिति भी मिथ्या खोजने से जिसका पता नहीं मिलता उसकी फिर शक्ति ही क्या अतः जो मनुष्य अविद्यमान और अत्यन्त असत् (अस्तित्व-हीन) मन विनष्ट नहीं कर सकता, वह उपदेश का पात्र नहीं है। इस असत् मन और अज्ञान-कल्पित सृष्टि को जो वशीभूत नहीं कर सकता वह कैसे उपदेश पात्र होगा? उसका ज्ञान विषयों में फँसा हुआ है इसलिए वह को वशीभूत रखने में एकदम असमर्थ है। अतः उपदेश-वाक्य का अर्थ विचारने में असमर्थता के कारण वह उपदेश के बिलकुल अयोग्य बेटा! साधारण मन का स्वभाव ही बहिर्मुखी रहकर केवल दूसरी वस्तुओं व्यक्तियों का दोष-दर्शन करना है। इसीलिए तुम लोग केवल पराया दोष देखते हो और पर-निन्दा, पर-चर्चा करते हुए समय बिताया करते हो। यदि मन जब बहिर्मुख से अन्तर्मुखी होकर अपने दोष स्वयं प्रत्यक्ष करेगा, मन के सब प्रकार के दोष भस्म होकर हृदय मशान में परिणत हो जायगा तभी तुम अपने उस हृदय-मशान में आत्मा रूपी शिव का दर्शन पाओगे। हे महामते! गृहस्थी की चिन्ता में निमग्न मन को यदि तुम शास्त्रीय उपायों बलपूर्वक उद्धार न कर सको तो उसके उद्धार का और कोई उपाय नहीं है। एकमात्र मन ही मन का निग्रह करने में समर्थ है। मन के द्वारा ही मन-रूप मन-रज्जु को काटकर आत्मा को विमुक्त करना होता है, इसका और दूसरा उपाय नहीं है — जिस प्रकार लोहे से लोहा काटा जाता है यह भी ठीक उसी प्रकार है।

इस समय सूर्यदेव अस्ताचल में अदृश्य हो गये, महात्मा भी मौन तथा

आत्मस्थ हुए। यह देखकर भक्त कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ महात्मा की सेवा के लिए उनके चरणों के समीप रखकर तथा उन्हें दण्डवत् प्रणाम करके अपने स्थान को चला गया।

---

## संसार-मरुभूमि

भक्त—हे धर्मज्ञ! जिस प्रकार वृक्ष-लतादि सूर्य-किरणों से परितृप्त होते हैं, उसी प्रकार मैं भी आज सूर्य के समान आपके वचन रूप अमृत का पान करके परितृप्त हो रहा हूँ। परन्तु मेरी श्रवणेच्छा विराम प्राप्त नहीं हो रही है, इस कारण मैं पुनः पूछता हूँ, उत्तर देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। सुना है शास्त्र कहते हैं—संसार का त्याग करने से ही लोग शान्ति पाते हैं अन्यान्य विज्ञ व्यक्तियों के मुख से भी मैंने वैसा ही सुना है।

महात्मा— हे महामते! "संसार का त्याग करने से शान्ति मिलती है" ऐसा शास्त्रोपदेश ध्रुव सत्य है। परन्तु संसार किसे कहते हैं, जानते हो!

भक्त—प्रभु! संसार कहने से हम पुत्र-परिजन, गृह-क्षेत्र, धन-सम्पत्ति आदि ही समझते हैं।

महात्मा—बेटा! संसार दो प्रकार के हैं—एक बाहरी संसार और दूसरा भीतरी संसार। तुमने जो पत्नी-पुत्र-आदि की बात बतायी, वह बाहरी संसार है और उन पर जो तुम्हारे मन में ममत्व-बुद्धि, भोग-वासना तथा संकल्प-विकल्प है, वही भीतर का संसार है। बाहरी संसार वस्तु-रूप और भीतरी संसार मनोमय है।

भक्त—दयामय! पहले बाहरी संसार ही मुझे समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा! केवल त्याग ही जिसका सार है अर्थात् केवल विनिमय

...र के रूपों में स्वांग रचना ही जिसका स्वरूप है, उसीको संसार ...ते हैं।

भक्त—भगवन् ! आपके इस संक्षिप्त उत्तर से मैं कुछ भी नहीं समझ सका।

महात्मा—यह जो विश्व-ब्रह्माण्ड तुम्हारी दृष्टि के भीतर और बाहर विराज- ...है, इनमें समस्त व्यक्ति और पदार्थ केवल नाम-रूप का स्वांग रचकर ...रे मन के सामने प्रकाशित हो रहे हैं। उस नामरूप के छोड़ देने से ...ब्रह्माण्ड में केवल कारण का ही अस्तित्व रह जाता है, कार्य-वस्तुएँ नहीं ...। जिस प्रकार किसी वस्त्र से एक-एक करके सारे सूत निकाल लिये ...तो उस वस्त्र का नाम और रूप अदृश्य हो जाते हैं, मिट्टी के बरतन से ...मिट्टी खुरच लेने पर अथवा सोने के गहने से सारा सोना खुरच या गलाकर ...लेने से उस बरतन और गहने के नाम और रूप अदृश्य हो जाते हैं, ...प्रकार इस संसार की वस्तुओं से अपने-अपने कारण तथा अन्त में पाँच ...को छोड़ देने पर किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् संक्षेप में ...जा सकता है कि कार्य में कारण ही विद्यमान है। दिखाई पड़ने वाली ...वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है अथवा कारण ही मिथ्या नामरूप का स्वांग ...र सबको मोहित कर रहा है, इस कारण संसार में मिथ्या नाम-रूप का ...ही सार है, वास्तव में उसका कोई भी अस्तित्व नहीं है। 'संसरति इति ...' अर्थात् प्रतिक्षण ही सरकता जा रहा है, क्षणभर भी कोई वस्तु स्थिर ...रहती। इस अर्थ में भी जगत को संसार कहते हैं।

भक्त—प्रभु ! भीतरी मनोमय संसार किसे कहते हैं ?

महात्मा—सांसारिक विषयों पर तुम्हारे मन में जो ममत्व-बुद्धि और वासना-...था चिन्ताराशि है, वही तुम्हारा मनोमय संसार है। यह मनोमय संसार ...ष्य के सब प्रकार के दुःखों का कारण है। इसी संसार को छोड़ने के ...शास्त्र उपदेश देते हैं। इसे छोड़ने पर ही मानव मुक्त होकर परम शान्ति ...र सकता है। इसका आशय यह है, यह विश्व-संसार कभी भी उत्पन्न नहीं ...है, इसी कारण यह नहीं है। यह केवल मन का प्रकाश या मन की ...मात्र है। यह संसार स्वप्न-दृष्ट संसार की तरह है। मन भी वास्तव में ...और असत् ( अस्तित्वहीन ) वस्तु है। नश्वरतम मन ही इस अनेक

दोषों की खान नश्वरतम विश्व-संसार का विस्तार कर रहा है। मन स्वप्न की तरह नितान्त असत् होते हुए भी जगत् को सत् के आकार में प्रकाशित कर रहा है। मन अपनी इच्छा से पहले अपने शरीर की कल्पना करता है, उसके अनन्तर उसीके द्वारा इन्द्रजाल-शोभा की तरह जगत्-शोभा विस्तृत करता है। एकमात्र चलत्शक्तियुक्त मन ही स्फुरित हो रहा है, भ्रमण कर रहा है, गमनागमन कर रहा है, प्रार्थना कर रहा है, निमग्न हो रहा है, मर रहा है और पुनः जन्म ग्रहण कर रहा है, संहार कर रहा है, निम्नगामी हो रहा है, बद्ध हो रहा है और फिर मोक्ष प्राप्त कर रहा है। ये सभी मन के खेल हैं। मन ही विश्वसंसार है, मन के सिवाय और कुछ नहीं है। मन मूल में मिथ्या है, इस कारण उसका विलास रूप यह विश्वसंसार भी मिथ्या है। मुक्तिकोपनिषद् का उपदेश है—

सहस्रांकुरशाखात्वक्फलपल्लवशालिनः।
अस्य संसारवृक्षस्य मनोमूलमिदम् स्थितम्॥
संकल्प एव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तत्।
शोषयाशु यथा शोषमेति संसारपादपः॥

अर्थात्—"सहस्र अंकुर, शाखा, छाल, फल और पल्लव युक्त इस संसार वृक्ष का मन ही मूल है। मन संकल्पात्मक है। संकल्प की निवृत्ति के द्वारा मन को निवृत्त करो, उसीसे तुम्हारा संसार-वृक्ष सूख जायगा।" अब तो समझ हो कि प्रत्येक के मन में ही संसार अवस्थित है। अतः पुत्र-परिजन आदि बाह्य संसार तुम्हारी अशान्ति का कारण नहीं है, यदि तुम अपने मन की ममता-भोगवासना और चिन्तारूप संसार का त्याग कर सको। इसीको यथार्थ संसार त्याग कहते हैं। विचारपूर्वक देखने से इस मनोमय संसार को ही बन्धन कारण माना जायगा। इस विषय में एक दृष्टान्त लो। मान लो, तुम्हारा मेरा लड़का बम्बई के किसी कालेज में पढ़ते हैं। आठ दिन पहले मेरा लड़का वहाँ मर गया, परन्तु समाचार न पाने के कारण आज तक मुझे पुत्र-शोक नहीं हो रहा है। क्योंकि बाहरी पुत्र के मर जाने पर भी भीतरी मनोमय पुत्र अभी मरा नहीं है, जीवित ही है, इस कारण मेरा मन भी शान्त है। इससे यह प्रमाणित हुआ कि बाहरी संसार (सांसारिक पदार्थ) के रहने या न रहने

...के दुःख का कोई कारण नहीं है। नौ दिन के बाद जब समाचार मिला ...रा पुत्र मर गया है तो उसी समय मेरे मनोमय पुत्र की भी मृत्यु हो गयी ...मेरा मन पुत्र-शोक भोग करने लगा। यहाँ भी दिखाई पड़ता है कि मनः-...त पुत्र को स्वयं मार डाले बिना अपने मन को किसी भी प्रकार का शोक-भोगना नहीं पड़ता। दूसरी ओर तुम्हारा स्वस्थ पुत्र बम्बई में रहकर अभी ...ढ़ रहा है, परन्तु तुम्हारे किसी शत्रु ने तुम्हें दुःख देने के लिए वहाँ से मिथ्या तार भेज दिया कि तुम्हारा पुत्र मर गया है। इस समाचार के पाते ...म्हारा मनोमय पुत्र मर गया और तुम पुत्र-शोक से रोने-पीटने लग गये। ...भी विचार से प्रतीत होता है कि बाहरी पुत्र के जीवित रहते हुए भी मिथ्या ...तार से मिथ्या कल्पना के द्वारा तुम्हारा मन पुत्र-शोक भोग रहा है। दो ...बाद जब तुम्हारे पुत्र के स्वहस्तलिखित पत्र पाकर तुम जान गये कि ...रा पुत्र मरा नहीं, जीवित ही है तब तुम्हारा मन मृत मनोमय पुत्र को ...ही कल्पना से जिलाकर शान्ति भोगने लगा। अब इस दृष्टान्त से तुम ...ही समझ गये कि बाहरी पुत्र पर अपने ही मन की कल्पना से मन में एक ...त नया पुत्र उत्पन्न कर उसीमें ममत्व-बुद्धि के कारण पुत्र-शोक का ...भोगना पड़ता है। अतः मनुष्य के मनःकल्पित संसार ही शोक-दुःख देने ...है। मन के संकल्प-विकल्प का त्याग करने से ही मनुष्य सब प्रकार ...शोक-तापों से मुक्त हो सकता है तथा चिरशान्ति का भोग कर सकता है।

...ख बेटा! मनुष्यों में वही धन्य है जिसके बाहरी विषय-सम्पद, धन-जन, ...परिवार आदि के रहने पर भी मन में ममत्व-बुद्धि के द्वारा 'मेरा' कहने ...कुछ भी निर्दिष्ट पदार्थ नहीं है। मनुष्य का मन (चित्त) ही यथार्थ ...र है। उसके अतिरिक्त त्रिभुवन में संसार नाम से कोई वस्तु नहीं है। ममत्व-...का ही नामान्तर 'संसार' है। एक समय राजर्षि जनक ने महर्षि अष्टावक्र ...छा था—'भगवन्! किस प्रकार से इन धनैश्वर्य-पूर्ण संसार का त्याग ...मैं कैसे शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ, कृपा कर उसीको मुझे बताइये।" ...के उत्तर में महर्षि अष्टावक्र ने कहा था—

...वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः।
...त्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा॥ (अष्टावक्र संहिता)

अर्थात्—"वासना ही संसार है, वही संसार का मूल कारण है। अतः उस अनित्य वासना का सदा त्याग करो क्योंकि वासना-त्याग से ही संसार का त्याग होगा। अतः वासना का परित्याग करके प्रारब्ध-वश जहाँ-तहाँ अनासक्त रहो।" पुनः उन्होंने जनक से कहा था—

यत्र यत्र भवेत् तृष्णा संसारो विद्धि तत्र वै।
प्रौढ़वैराग्यमास्थाय वीततृष्णः सुखी भव॥
तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः॥ (अष्टावक्र संहिता)

अर्थात्—"जहाँ-जहाँ तुम्हारे मन में तृष्णा का उदय होगा अर्थात् जिन-जिन विषयों में तुम्हें भोग की स्पृहा होगी, वहीं-वहीं तुम संसारी कहलाओगे क्योंकि पहले ही कहा गया है कि वासना ही संसार है। जिन-जिन विषयों में तुम्हारा मन आकृष्ट होगा, उन-उन विषयों को विपत्ति का कारण समझकर निरन्तर परित्याग करो। तुम दृढ़ वैराग्य का अवलम्बनपूर्वक तृष्णारहित होकर सुखी हो जाओ। तुम्हारी लालसा ही बन्धन है और उसका विनाश ही मोक्ष है। संसार में अनासक्त होने से ही तुम सदा परमानन्द प्राप्त कर सकोगे।" पीठमाला तन्त्र भी कहते हैं—

हिंसाद्वेषसमेतस्य सदासत्पथसेविनः।
पुंसो मुक्तिं स्वयं ब्रह्मा न दातुं क्षमते कदा॥
आशापाशमहाबन्धयोगावेशाद् वशं गतः।
पुंसो मुक्तिं स्वयं ब्रह्मा न दातुं क्षमते कदा॥
अनासक्तरतिर्यस्य विषयावेशतः प्रिये!
मुक्तिस्तस्य सदा देवि! दासवृत्तिवशं गता॥

अर्थात्—"जो मनुष्य हिंसा-द्वेष-सम्पन्न तथा कुमार्ग में प्रवृत्त है, स्वयं ब्रह्मा भी उसे मुक्ति देने में असमर्थ हैं। जो व्यक्ति आशा रूप रज्जु के द्वारा दृढ़ रूप से अपने को बाँधता है, स्वयं ब्रह्मा भी उसे मुक्त करने में समर्थ नहीं हैं। परन्तु हे देवि! जो मनुष्य अनासक्त होकर विषय-भोग करते हैं, मुक्ति सदा वशीभूत रहकर उनकी सेवा करती है।"

देश! अब तुम समझ गये कि हम संसार के बाहर अर्थात् मन की सीमा बाहर जाने से दुःख का विनाश कर चिरशान्ति प्राप्त करते हैं। हे महामते! मनोजय रूप सेतु के द्वारा ही यह भवसागर (दुःखसागर) उत्तीर्ण हुआ जा सकता है। इसके लिए कोई दूसरी क्रिया या उपाय नहीं है। कर्मवृक्ष का मूलरूप मन के विनष्ट होते ही यह संसार-वृक्ष विनष्ट हो जाता है। अतः तुम मन को ही सर्वरूपी करके जानना। मन की चिकित्सा होने से ही संसार रूप व्याधि प्रशमित होती है और इन्द्रियाँ भी पराभूत हो जाती हैं। यह मन ही ...त होता है और जो कुछ किया जाता है सब मन ही करता है। मन ...जु और जात होता है; मन अपनी चिन्ता से या तो बद्ध या मुक्त होता है। संसार मन के भीतर ही विस्तार-प्राप्त हुआ है। मन ही संसार अथवा संसार ही मन है। अतः इन दोनों में एक का विनाश होने से दूसरा भी विनष्ट हो जाता है। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में विमोर होकर गाना गाने लगे—

...तोरे बलि, बासनार झुली, छेड़े दिये कैनो चलो ना।
...के कि दुक्खेते, थाको तुमि ताते, बिचारिये कैनो दैखो ना॥
...ये तोमार आशार अनल, जलितेछे दाउ-दाउ अबिरल।
...आगुने तुमि हइतेछो भस्स, शान्ति कोथाओ ता पेले ना॥
...जन्माबांध कामना-राक्खसी, दिबानिशि रक्तो खाइतेछे चुषि।
...तुमि ताते होये शक्तिहीन, आत्तकथा मने जागे ना॥
...ता छेड़े चाले दैखो एइ बार, (पाबे) जेखाने-सेखाने शान्ति अनिवार
...तध्याने तुमि रहिले मगन, कोना अशान्ति रबे ना॥

इसका आशय इस प्रकार है—

मन तुझे कहता हूँ, वासना की झोली छोड़कर क्यों नहीं चलता। सुख या ...में तुम उसीमें रहो, विचार कर क्यों नहीं देखते। तुम्हारे हृदय में आशा अनल निरन्तर भभक रहा है। उस अनल में तुम भस्म हो रहे हो, कहीं ...नहीं मिलो। अनेक जन्मों से कामना-राक्षसी दिन-रात खून चूस कर पी ...रे। अब तुम उससे शक्तिहीन होने के कारण आत्म-विषय मन में नहीं

उठता। चिन्ता छोड़ अब चलकर देखो, जहाँ तहाँ सदैव नित्य शान्ति मिलेगी। आत्मध्यान में मग्न रहने से तुम्हें कोई अशान्ति नहीं रहेगी।

भक्त—प्रभु! हम संसार के बाहर जा सकें तो दुःख का विनाश होकर परमशान्ति प्राप्त होगी, यदि यह बात सत्य है तो आत्महत्या करने ही से हम जगत् के बाहर जा सकते हैं। अतः आत्महत्या करना ही उचित है क्या?

महात्मा—वेटा! बन्धन और मोक्ष किसके हैं? सुख-दुःख, मानापमान, शान्ति-अशान्ति किसके हैं? देह के या मन के? मन के।—इसलिए देह के ध्वंस होने से मन को क्या लाभ? जिस प्रकार देह के साथ-साथ उसकी छाया रहती है, उसी तरह मन के साथ ही साथ वासना और विषयासक्ति रहती है। देह जहाँ जाती है, छाया भी उसीके साथ-साथ चलती है, उसी प्रकार मन जहाँ जाता है, आसक्ति-वासनादि भी वहीं जाती है। इस कारण देह को नष्ट करने से तुम्हें क्या लाभ होगा? इसे तो मैंने पहले ही तुम्हें बताया है। आत्महत्या करने से तुम दुःख-अशान्ति के हाथ से कैसे मुक्त होगे? मृत्यु के बाद ही तो तुम्हें जननी के जठर में प्रविष्ट होकर फिर से जन्मग्रहण करना होगा। भगवान् शंकराचार्य भी शिष्यों को उपदेश देते थे—

यावज्जननं तावन्मरणं तावज्जननीजठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः, कथमिह मानव! तव सन्तोषः? (मोहमुद्गर)

अर्थात्—"जभी जन्म हुआ, तभी मृत्यु उसके पीछे लग गयी और मृत्यु के बाद भी पुनः जननी-जठर में प्रविष्ट होना पड़ेगा। संसार में यह दोष प्रत्यक्ष है। अतः हे मनुष्य! इसमें तुम्हें सन्तोष का विषय क्या है?" अतः केवल वासनात्याग से ही दुःख का एकान्त नाश होगा और तभी तुम संसार के बाहर अर्थात् मन के बाहर जाकर चिरशान्ति लाभ कर सकोगे। सभी सम्प्रदायों के धर्मविज्ञान में यही उपदेश है कि—'संसार दुःखपूर्ण है, अतः इसका त्याग करो।' सत् को जानने के लिए असत् का त्याग करना होता है। उत्तम को प्राप्त करने के लिए अधम का त्याग करना होता है। ठीक उसी प्रकार सुख प्राप्त करने के लिए भी दुःखमय संसार (विषय-भोग-वासना) का त्याग करना होगा—इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु इस बात का अर्थ ऐसा नहीं समझो कि संसार-त्याग का अर्थ देशत्याग या घर-बार छोड़ वन में जाना है।

क्योंकि देहत्याग कर फिर जाओगे कहाँ ? अन्यत्र स्वर्ग कहाँ है कि इस मर्त्यलोक छोड़ वहाँ जाकर अमरत्व प्राप्त करके चिरशान्ति प्राप्त करोगे ? इस मर्त्य जगत् रहकर ही तुम्हें अमरत्व प्राप्त करना होगा। श्रुति ने इस बात को स्पष्ट रूप बताया है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥ (कठोपनिषद्)

अर्थात्—"जो कामनाएँ मर्त्य जीवों के हृदयों का आश्रय लेकर विद्यमान जब वे विनष्ट हो जाती हैं तभी मर्त्यवासी अमरत्व प्राप्त करता है। और (इस मर्त्यलोक में ही) ब्रह्म को प्राप्त करता है। जब इस लोक में हृदय ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, तभी मर्त्यवासी अमर हो जाता है। केवल इतना उपदेश यथेष्ट है।" अतः सुख-शान्ति हम इसी स्थान में प्राप्त करते हैं। अर्थ में संसार-त्याग का अर्थ है—वासना-त्याग। केवल यह वासना ही संसार सृष्टि करके दुःख लाता है। शास्त्र पार्थिव सुख की आसक्ति का त्याग करने ही उपदेश देते हैं। मैं भी तुम्हें अपनी घर-गृहस्थी, धन-सम्पत्ति आदि विषय अन्यत्र जाने को नहीं कहता। केवलमात्र उन विषयों पर से आसक्ति का करने को कहता हूँ। अपनी पत्नी-पुत्र का परित्याग करने की आवश्यकता है, केवल उन पर आसक्ति या ममत्व बुद्धि छोड़ देनी होगी। बेटा! कार्यवान् और अन्तर में समाहित, इस प्रकार होना ही आत्माभ्यास है और वही प्रकृत 'ज्ञान'-शब्द-वाच्य है। वैसा ज्ञान ही सत्य दूसरी ज्ञान सत्य नहीं है। जनकादि राजर्षि तथा अनेक ऋषि-महर्षि मुक्ति प्राप्त करके अन्तर में सत्यपद में तथा बाहर लोकाचार अनुष्ठान में अवस्थित रहते थे। वे जीवन-मृत्यु का पुरस्कार तिरस्कार नहीं करते थे। उनमें कोई कोई शत्रु-विजय-पूर्वक छत्र-आदियुक्त स्वर्ण-सिंहासन में उपविष्ट रहकर राज्य-शासन भी करते थे। साधन-सम्पन्न होकर विविध-भोग-विलास में विभूषित थे, परन्तु उनमें रहा करते थे। वे समय पर घोर संग्राम करने में भी मुँह नहीं मोड़ते थे;

विपद् के उपस्थित होने पर भी नहीं घबड़ाते और न क्रोधादि के वशीभूत होते थे। बेटा! नाव जल में चलती है—चला करे, उससे कोई हानि नहीं है, परन्तु नाव में जल के प्रविष्ट होने से ही विपत्ति है। नाव में जल उठते ही उसे उलीचकर फेंकना होता है। उसी प्रकार मन विषयों में विचरण करता है, किया करे, परन्तु मन में विषय-वासना के प्रविष्ट होने से ही विपत्ति है। मन में विषय-वासना के प्रविष्ट होते ही युक्ति और विचार द्वारा उसे निकाल देना चाहिये। अतः तुम कार्य करो, परन्तु जाग्रत रहकर भी सुषुप्त की तरह कार्यरत रहो, अर्थात् अन्तर में सर्वत्यागी रहकर बाहर लोक-दृष्टि में कार्य करते चलो। बेटा! तुम अन्तर में निराश और बाहर आशायुक्त की तरह होकर तथा बाहर सन्तप्त की तरह और अन्तर में शीतल रहकर लोक में विचरण करते चलो। तुम बाहर अर्थात् लोक-दृष्टि में कृत्रिम-आडम्बर-सम्पन्न और अन्तर में आडम्बर-वर्जित तथा बाहर कर्ता और अन्तर में अकर्ता होकर संसार में विचरण करो। तुम कृत्रिम उल्लास और हर्ष तथा कृत्रिम उद्वेग और निन्दा, कृत्रिम आडम्बर प्रदर्शनपूर्वक लोक-व्यवहार में अवस्थित रहकर अन्तरस्थ चित्त को चिदात्मा में लवलीन कर दो। इतना कहकर महात्मा भजन गाने लगे—

जगते से मानब श्रेष्ठ, अन्तरे जार किछुइ नाइ।
बाहिरेते महानन्दे, धन-जने खेलछे सदाइ॥
ए सब स्वप्न-राज्य जेने, से आछे तार आपन मने!
बाहिर होते देखे ताँरे, चिने ओठा बड़ो दाय॥
'आमि आमार, तुमि तोमार'—ए सब मने नाइ ताँहार।
( से ) आत्मानन्दे बिभोर होये, आनन्दे भासे सदाइ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

संसार में वही श्रेष्ठ मानव हैं, जिनके अन्तर में कुछ भी नहीं है। बाहर महानन्द से धन-जनों के साथ सदा खेल रहा है। यह सब स्वप्नराज्य समझ वह अपने मन में ही हैं। बाहर से देखकर उन्हें पहचानना बहुत कठिन है। 'मैं मेरा, तुम तुम्हारा,' यह सब उनके मन में नहीं हैं। वह आत्मानन्द में विभोर होकर सदा ही आनन्द में तैरते हैं।

प्रश्न—हे ब्रह्मन् ! साधुओं के लिए गेरुआ वस्त्र तथा दण्ड-कमण्डलु आदि ...न्य है। उनसे मन की वासनाओं का विनाश होकर आत्मज्ञान की सहायता ...है या नहीं ?

महात्मा—हे सुमते ! गेरुआ वस्त्र या दण्ड-कमण्डलु आदि में ऐसी कोई ...ि नहीं है कि मन की भोग-वासना नष्ट करके मन के आत्मज्ञान लाभ की ...यता कर सके। मन ही अपने विचार के द्वारा अपनी वासनाओं का नाश ...ने में समर्थ है, दूसरा कोई नहीं। जैसे फौलाद के अस्त्र से ही लोहा काटा ...ता है, उसी प्रकार परमेश्वर-प्राप्ति की तीव्र वासना के द्वारा ही भोग-वासना ...नाश करना पड़ता है। केवल मात्र आत्मतत्त्व जानने की वासना ही अन्य ...वासनाओं का नाश करने में समर्थ है, इसीलिए विषय वासना का त्याग न ...के केवल गेरुआ वस्त्र पहनकर पहाड़-पर्वत में जाने से अथवा सिर पर लम्बी ...ा रखाकर दिन रात गंजिका-सेवन करके हाथ में लम्बा चिमटा लेकर जन-...धारण को नाना प्रकार की व्याधियों की औषधि देने से अथवा मिट्टी को ...ी के स्वाद में खिलाकर जादू दिखा सकने से ही कोई आत्मज्ञान लाभ करने ...संसार-त्यागी संन्यासी रूप से गण्य होने में समर्थ नहीं हो सकता। इन सब ...री आडम्बरों के द्वारा कभी कोई तत्त्वज्ञान लाभ करने या इस प्रकार बाहरी ...र-त्यागी होकर कोई सुखी होने में समर्थ नहीं हो सका है और न हो सकेगा। ...! दण्ड-कमण्डलु या गेरुआ वस्त्र अथवा सिर पर लम्बी जटा साधु नहीं है। ...ाँ तक कि हड्डी-मांस से गठित यह स्थूल देह भी साधु नहीं हो सकती, साधु ...मन। क्योंकि अपने भीतर की विषय-वासना का त्याग करके मन को साधु ...ना होता है। गेरुआ वस्त्र आदि बाहरी पहनावा पहनकर कुछ लोग इस ...देह को योगी बना लेते हैं सही, परन्तु उनका मन पूर्ण रूप से भोगी ही ...जाता है। हे महामते ! जिसके वाक्य में विवेक और चित्त में अविवेक है ...का भोग-त्याग दुःख का ही कारण है। 'वायु है और चल रही है'—ऐसी ...से वायु का रहना सिद्ध नहीं होता। वायु का स्पर्श होना चाहिये। यदि स्पर्श ...है तभी वायु का रहना सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि इच्छा ...ेग घटते दिखाई देता हो तो विवेक और वैराग्य प्राप्त होना निश्चित होगा। ...प्रकार चित्रित अमृत, अमृत नहीं है; चित्रित अग्नि नहीं है; चित्रलिखित नारी

नारी का कार्य नहीं करती, उसी प्रकार मौखिक विवेक भी ज्ञानफल नहीं उत्प
करता। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते थे—

तन को योगी सब कोई करे, मन योगी करे न कोय।
सहज में सब सिध पाइये, जो मन योगी होय॥

पाखण्डी साधुओं को देखकर आत्मज्ञ कबीर जी कहते थे—

ज्ञान भक्ति में कुछ नहिं देखा, न देखा कुछ पोथी में।
कहे क़बीर सुनो भाई साधो, जो कुछ देखा रोटी में॥

भगवान शंकराचार्य भी कहते थे—

जटिली मुण्डी लुञ्छितकेशः, काषायाम्बरबहुकृतवेशः।
पश्यन्नपि न हि पश्यति मूढ़ ! उदरनिमित्तं बहुकृतवेशः॥

अर्थात्—"हे मूढ़मते ! तुम मस्तक में जटा-भार ढो रहे हो, कभी सिर मु
डालते हो और कभी केशविन्यास करते हो, फिर कभी गेरुआ वस्त्र पहन
साधु का स्वांग रचते हो, अतः तुम्हारे इस प्रकार के वेश केवल उदर-पोषण
लिए ही होते हैं। यह तुम देखकर भी नहीं देखते और समझकर भी न
समझते।" इसीसे कहता हूँ बेटा ! माथे पर जल का तिलक लगाने से
कब तक ठहरेगा ? धोखा देकर या चालाकी करके धार्मिक नहीं हुआ जाता
आभूषणों से सजकर लोगों को बहकाया जा सकता है, परन्तु अल्प सम
ही वह स्थायी होता है। परन्तु अधिकांश स्थानों में बाहरी आडम्बर
साधु-वेश-धारी अज्ञ और पाखण्डी ही नाना प्रकार के जादू दिखाकर मूर्ख
के समाज में सम्मानित और पूजित होते हैं। जहाँ माला-तिलक
कमण्डलु आदि बाहरी आडम्बरों की अधिकता है, वहीं अज्ञानि
की भीड़ लग जाती है। अन्तर की खोज रखने वाले लोग संसार में अल्प
हैं, क्योंकि अपने भीतर कुछ विचार-शक्ति और साधुत्व न रहने से साधु
महात्मा को पहचान लेना कठिन है। अतएव हे सुमते ! यदि तुम सह
वर्ष पर्यन्त कठोर तप का अनुष्ठान करो, यदि प्रज्वलित हुताशन या भीषण
बड़वाग्नि में प्रविष्ट हो जाओ, यदि तुम कण्टक-समाकीर्ण गर्त में निपतित हो
जाओ, यदि अस्त्र के द्वारा अपनी देह को टुकड़े-टुकड़े कर डालो, यदि तुम

…विष्णु, महेश्वर आदि से मन्त्र ग्रहण करके उपदिष्ट भी हो, यदि तुम्हारे …वे करुणाप्लुत भी हो जायँ और यदि तुम्हारे संकल्प और वासना …न हो तो उनसे तुम्हें कभी परित्राण नहीं प्राप्त होगा, यह निश्चित …गा। तुम पाताल में जाओ या स्वर्ग में अथवा इसी मर्त्यलोक में …रहो, केवलमात्र संकल्प-क्षय के बिना किसी उपाय से भी कभी …श्रेयोलाभ नहीं होगा। संकल्प-विनाश के बिना दुःखोपशम का …उपाय नहीं है। अतः तुम पुरुषकार का अवलम्बन पूर्वक विकारशून्य …संकल्पोपशम के लिए प्रयत्न करो। एकमात्र संकल्प-सूत्र में …भाव परम्परा आबद्ध है। उस संकल्प-तन्तु और वासना-सूत्र के …ते ही देखोगे, विषय-भाव कहीं भाग गये हैं। उस समय तुम्हारे …, तुम, तुम्हारा' आदि भाव कहाँ चले गये यह भी नहीं जान सकोगे। …प्रकार रज्जु में सर्पभ्रम होने पर बाद में रज्जु-ज्ञान होता है, तब सर्प कहाँ …चला हुआ—वह जाना नहीं जाता, यहाँ भी ठीक उसी प्रकार है। हे …! यह संसार असत् होकर भी सत् और सत् होने पर भी ज्ञान-दृष्टि …र है। क्योंकि जब यह संकल्प के सिवाय अन्य कुछ नहीं है तब इसकी …कहाँ? मन के संकल्प द्वारा जब जो कल्पित होता है, तब वह सत्य-…तीत होता है। अतः तुम मन के द्वारा ही अपने मन को और …के द्वारा संकल्प को छिन्न करो अर्थात् निर्विकल्प मन द्वारा सविकल्प …'संकल्प नहीं करूँगा' इस प्रकार के संकल्प के द्वारा संकल्प को उपशमित … मन, जीव, चित्त, बुद्धि और वासना यह सभी संकल्प के रूपभेद …है।

…भक्त—प्रभु! दीन दरिद्र से लेकर महाराजा पर्यन्त सभी मेरी तरह धन-…र नाना प्रकार की वस्तुओं के अत्यन्त अभाव के कारण अशान्ति का भोग …रहे हैं। और भी अधिक परिमाण में विषय-सम्पद प्राप्त करके सभी सुखी …के लिए गम्भीर चिन्ता से युक्त होकर प्राणपण चेष्टा कर रहे हैं। फिर …कोई अनेक प्रयत्नों से उन धन-जनादि को प्राप्त करके भी सुखी नहीं हो … बल्कि उन विषयों के संरक्षण की चिन्ता से उनकी अशान्ति की मात्रा …भी बढ़ जाती है। इसका कारण क्या है?

महात्मा—इस संसार में जो जितना चाहता है वह उससे अधिक नहीं पाता ! परन्तु जो कुछ भी नहीं चाहता वह सारे प्राप्तव्य पदार्थों को पाता है और अन्त में सत्य और परमानन्द स्वरूप ब्रह्म वस्तु का भी लाभ होता है। बेटा ! यह संसार एक प्रकार का मरुस्थल है। जीव इसमें सुख की आशा से भटकता रहता है। इसमें सुख नहीं है, परन्तु लोग सुख की आशा करते हैं। जीवों की जो सुख-तृष्णा-जनित ताप है, वही उनकी दोष की अवस्था है। जिस प्रकार दोषज्वरग्रस्त रोगी जल-पिपासा और ताप से कातर और अभिभूत होकर शीतल होने के लिए जहाँ-तहाँ जल खोजता रहता है, उसी प्रकार अज्ञानता दोष से 'मैं और मेरा' इस अभिमान रूप दोषज्वर उपस्थित होने से जीव मात्र सुख-तृष्णा और उसके ताप से अभिभूत होकर उस तृष्णा और ताप के निवारण के लिए संसार-मरुस्थल में सुख का अन्वेषण करते हैं। परन्तु वह नहीं मिलता, इस कारण उनके ताप की शान्ति भी नहीं होती, बल्कि जितने ही दिन जाते हैं उतना ही वे शोक-ताप से जर्जरित होते हैं। हे सुबुद्धे ! मरुभूमि का तत्त्व न जानने वाला एक प्यासा पथिक मरुभूमि के पास से जा रहा था। तब वह उस मरुभूमि को विस्तृत जलाशय समझकर 'इस उत्तम जल को पीकर शान्तिलाभ करूँगा,' इस आशा से वहाँ दौड़कर गया। वह अनभिज्ञ पथिक जितना ही मरुभूमि में प्रविष्ट होता गया उतना ही उसकी पिपासा की शान्ति न होकर क्रमशः तृष्णा बढ़ती ही गयी। उसके बाद बहुत दूर जाने पर उस मरुभूमि में ही वह मूर्ख पथिक जल के अभाव के कारण तीव्र पिपासा से छटपटाते हुए 'जल जल' कहकर मर गया। ठीक वैसे ही इस संसार-मरुभूमि का तत्त्व न जानने के कारण तुम लोग अतृप्त भोग-पिपासा की ज्वाला से इस संसार-मरु-स्थित अस्तित्वरहित वस्तुओं का भोग करके अविच्छिन्न शान्ति-सुख की आशा से इस संसार-मरुभूमि में दौड़-धूप कर रहे हो और उससे तुम्हारी भोग-पिपासा की शान्ति न होकर वह दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। अन्त में तुमलोग मृत्यु के पहले अपरिमित अतृप्त भोग-पिपासा से बेचैन होकर स्त्री-पुत्र-धन-जनादि के लिए आँसू बहाते हुए 'मैंने इस जीवन में कुछ भी शान्ति नहीं पायी,' ऐसा कहते हुए शरीर छोड़ते हो। बेटा ! इस ब्रह्माण्ड में स्त्री-पुत्र, धन, सम्पदादि जितने प्रकार की भोग्य वस्तुएँ दिखाई पड़ रही हैं, इनके कि

देवी शक्ति नहीं है जो तुम्हारा दुःख दूर करके तुम्हें सुखी कर सके। जैसे भूमि की मरीचिका में जल का भान होता है सही, किन्तु यथार्थ में वहाँ जल रहता उसी प्रकार जो वस्तु है ही नहीं, वह कैसे दूसरे को शान्ति प्रदान गी? यह जिस प्रकार असम्भव है, स्वप्नलब्ध राज्य से जिस प्रकार दरिद्रता मिटती, अश्वडिम्ब जिस प्रकार क्षुधा की निवृत्ति नहीं कर सकता, उसी प्रकार सांसारिक वस्तुएँ भी तुम्हें दुःख दूर कर शान्ति देने में र्थ नहीं होतीं। जब तक स्वप्न रहता है, तब तक ही स्वप्नलब्ध राज्य का स्तित्व है। केवल स्वप्नकाल में ही वे वस्तुएँ सचमुच ही हैं, मन में ऐसी भ्रान्त रणा होती है। ये सांसारिक वस्तुएँ भी ठीक उसी प्रकार की हैं। अर्थात् जब तुम्हारी माया-स्वप्नावस्था (अज्ञानता) दूर नहीं होती, तब तक ही वे म्हारे सामने सत्य रूप से प्रतीयमान होती हैं। इसीलिए तुम सत्य ज्ञान से ही नका व्यवहार कर रहे हो। परन्तु उससे भोग-पिपासा का ह्रास न होकर दिनों-दिन उसकी वृद्धि ही होती है, यह ध्रुव सत्य है। क्योंकि जिस वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है वह कैसे दूसरे का अभाव दूर करेगी? सिनेमा या इन्द्रजाल देखते समय जिस प्रकार लोग मोह से अभिभूत हो जाते हैं। 'यह क्या देख रहा हूँ, यह सत्य है या मिथ्या' ऐसा विचार करने की शक्ति भी उस समय नहीं रहती। इस संसार के जीव भी इस मायिक जगत् को देखकर इतना मोहाभिभूत हो जाते हैं कि—'यह जो माया-कल्पित जगत् देख रहा हूँ, यह सत्य है या मिथ्या'—ऐसा विचार करने की शक्ति भी लुप्त हो जाती है। इसीलिए लोग माया-कल्पित वस्तुओं द्वारा सुख-शान्ति पाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु शान्ति नहीं मिलती। बल्कि विषय-सम्पद् जितनी ही बढ़ती रहती है, अशान्ति की मात्रा भी उतनी ही दिनोंदिन परिवर्धित होती रहती है। आत्मनाशिनी उन्माद लाने वाली चिन्ता का परित्याग करना ही सदा कर्तव्य है। बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी इस चिन्ता-पिशाची को मन में स्थान नहीं देते। मूर्ख लोग ही चिन्ता की उपासना करते हैं। मोहमुग्ध अज्ञानी मनुष्य ही सदा अपने भाग्य को कोसते रहते हैं। वे सदा धन-सम्पत्ति और पुत्र-कलत्र की प्राप्ति के निमित्त व्याकुल रहते हैं। कैसे अतुल ऐश्वर्य के अधिपति होंगे, कब तक विधाता प्रसन्न होकर उन्हें अनुरूप पुत्र प्रदान करेंगे, कैसे प्रियतमा पत्नी प्राप्त कर सुख से कालातिपात

कर सकेंगे, ऐसी चिन्ताएँ ही उनके हृदय में सदा उथल-पुथल मचाया करती हैं, परन्तु खेद की बात है कि जीवनभर में कभी भी वे निर्मल सुख का सम्भोग करने में समर्थ नहीं होते। उनका जीवन केवल दुःखभोग में ही व्यतीत हो जाता है। हीन-बुद्धि मकड़ी की तरह वे संसार-जाल में आबद्ध होकर जीवनभर असीम यातनाराशि भोगते रहते हैं। मृत्युकाल में भी उनका ज्ञान-चक्षु उन्मीलित नहीं होता। इस संसार की अनित्यता के विषय में वे एकदम अन्धे हैं। वैसे मोहाच्छन्न गतचेतन व्यक्ति भ्रम में भी नहीं सोचते कि इसी क्षण जिसे 'मेरा' समझकर अपना आत्मीय मान रहे हैं तथा माया-पाश से बद्ध होकर जिस पर प्रगाढ़ स्नेह और अनुराग से आसक्त हो रहे हैं, दूसरे ही क्षण उसे छोड़ जाना होगा। मृत्यु-मुख में पतित होने पर संसार के सारे सम्बन्ध बिल्कुल छिन्न हो जायेंगे, यह स्वप्न में भी वे नहीं सोचते। परन्तु सुप्त-प्रबुद्ध की तरह जिनके ज्ञाननेत्र उन्मीलित हुए हैं, वे ही केवल इस संसार की अनित्यता तथा सम्बन्ध-बन्धन की अलीकता का अनुभव कर सकते हैं। अतएव वेथ! यह संसार एक प्रकार का सुदीर्घ स्वप्न है और जीव इसमें सम्भ्रान्त हो रहे हैं। इस अज्ञानमयी गाढ़ निद्रा का तुम परित्याग करो। प्रबुद्ध होकर देखो, आत्मा निर्विकल्प चेतन है। इतना कहकर महात्मा गाने लगे—

मैलो आँखि मैलो, कतो रबे अचेतन ?
मोहमयी निद्राय तुमि, काटाले जीवन॥
एइ जे देखिछो विश्श, ए सकलइ भ्रम दृश्य।
जैमन मरुभूमे जलभ्रान्ति, (सेरूप) धन-जनगन।
संगो छेड़े ऐका चल तवे पावे आत्तबल।
बिचार-शक्ति ना जन्मिले, (तार) बिफल जीवन।
ताइ बलि मन बिचार कोरे, देख ना एकबार कतो दूरे।
आसियाछो पथ छेड़े, भुले निकेतन॥

इसका आशय इस प्रकार है—

खोलो आँख खोलो, कब तक अचेतन रहोगे। मोहमयी निद्रा में तुमने जीवन बिता दिया। यह जो विश्व देखते हो, यह सभी भ्रम-दृश्य हैं। जैसे

...में जल-भ्रान्ति है, वैसे ही धन-जन भी हैं। संग छोड़कर अकेले चलो, ...ल पाओगे। विचारशक्ति के न उत्पन्न होने से, जीवन ही वृथा है। ...र कहता हूँ विचार कर देखो कि कितनी दूर पथ छोड़ तथा अपना घर ...र आये हो।

...—प्रभु! मनुष्य के सुख-दुःख या आनन्द-निरानन्द कहाँ से उत्पन्न ...है?

...हात्मा—हे सत्यकाम! यह विषय पहले भी मैंने तुम्हें बतलाया है, अब ...बतलाता हूँ। मेरी बातें सुनते समय अपने मन को बहिर्मुखी रखने से ...छ भी समझ नहीं सकोगे। अपनी अन्तर्निहित चिन्ता के साथ ...र मेरी बात के ऊपर प्रश्न करना, नहीं तो इन विषयों को अच्छी तरह ...नहीं सकोगे। मनुष्य को जो विषय-योग से क्षणिक शान्ति और उसके ...से अशान्ति होती है, वह शान्ति-अशान्ति सुख-दुःख विषयों में निहित ...है। एक मनुष्य अपने अज्ञ मन की कल्पना से सुख-दुःखादि की सृष्टि ...उसे भोगता रहता है जैसे कि, स्वप्न में मन स्वयं ही कल्पना से व्याघ्र की ...र बाद में उसीको देखकर भय से चिल्लाते हुए अशान्ति का भोग करता ...क ही विषय, जो आज सुखकर या शुभजनक प्रतीत हो रहा है कल फिर ...सुखकर या अशुभ मालूम हो सकता है। मान लो, कल जिस मिठाई के ...से तुम्हें आनन्द मिला था आज अपने पुत्र का मृत्यु-समाचार पाने से वह ...तुम्हारे लिए एकदम अरुचिकर मालूम हो रही है। आज वह मिठाई ...किसी प्रकार का खाद्य खाने में तुम्हें इच्छा ही नहीं हो रही है। क्यों कि ...भीतर अशान्ति की सृष्टि कर लेने के कारण तुम्हारे मन को सभी वस्तुओं ...रुचि उत्पन्न हो गयी है। इस समय उस मिठाई में इतनी शक्ति नहीं है ...म्हारे मन की अशान्ति मिटाकर मिठाई खाने के लिए स्पृहा उत्पन्न कराकर ...शान्ति दे सके। अतः निश्चय हुआ कि जब कोई वस्तु तुम्हारे मन को ...जनक प्रतीत होती है तभी शान्तिदायक समझकर मन उसे ग्रहण करता ...र जब उसमें अरुचि उत्पन्न होती है, तभी अशान्तिदायक समझकर उसका ...ग करता है। इस कारण मनुष्य के आनन्द-निरानन्द, शान्ति-अशान्ति अपने मन की अवस्था के ऊपर ही निर्भर हैं। जब मन में आनन्द रहता

है तब विषय-भोग करते समय मालूम होता है, मानो विषय ही आनन्ददायक है और जब मन में अशान्ति रहती है तब वही विषय भोगते समय मालूम होता है, मानो विषय ही अशान्तिदायक है। अतः शान्ति-अशान्ति, आनन्द-निरानन्द सभी मनःकल्पित हैं। अतः वे मन से ही उत्पन्न होते हैं और जब तक स्थित रहते हैं, तब तक मन में ही विद्यमान रहते हैं, तत्पश्चात् वे मन में विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार नदी की तरंग नदी से उठकर नदी में स्थित रहती है और पुनः नदी में लीन हो जाती है, यह भी ठीक उसी प्रकार है। और भी देखो, भोजन करो आनन्द, अर्थार्जन करो आनन्द, पत्नी-पुत्र को वस्त्रादि द्वारा सजाओ, उसमें भी आनन्द है। परन्तु यह आनन्द कहाँ से आया? तुम्हारे मन के भीतर से ही यह आनन्द उत्थित हुआ है, बाहर के विषय से नहीं आया है। इसी प्रकार आनन्द और निरानन्द मन के भीतर ही रहते हैं। बाहरी विषय के योग से वह बाहर प्रकट होता है। बेटा! केवल सुख का संसार या दुःख का संसार नहीं रह सकता। सुखहीन दुःख और दुःखहीन सुख कहीं नहीं रहता। क्योंकि सुख और दुःख नाम से दो वस्तुएँ नहीं हैं, यथार्थ में वह एक ही के विभिन्न विकासमात्र हैं। इस कारण यह संसार सुख और दुःख, मंगल और अमंगल का मिश्रण है। अतः संसार के दुःख-अशान्ति और अशुभ-अमंगल के निवारण करने के लिए सुख-शान्ति और शुभ-मंगल का निवारण करना ही नितान्त आवश्यक है। इसके सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है, यह बात स्वतः सिद्ध है। इस लिए सुख दुःख का मूल कारण ही तुम्हारा मन है। इस मन को शान्त कर सकने से ही तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी। आत्मतत्त्वज्ञान के बिना किसी का मन शान्त नहीं होता।

भक्त—प्रभु! अब मैं समझ गया कि विषय-भोग-वासना का त्याग किये बिना संसार-त्याग नहीं होता, परन्तु इस धन-जनादि भोग्य वस्तुओं से परिवेष्टित संसार में रहकर किस प्रकार से विषय-वासना का त्याग करके मनःप्रकृति के हाथ से मैं मुक्त हो सकूँगा, उसी पथ को मुझे दिखा दीजिये।

महात्मा—हे सत्यकाम! तुम जितना ही अपनी मनःप्रकृति के हाथ से भागने की चेष्टा करोगे वह प्रकृति भी उतना ही तुम्हारा पीछा करेगी। उस

तुम उस प्रकृति के प्रति दृष्टिपात नहीं करते हो तो वह तुम्हारी दासी होकर री सेवा में नियुक्त रहेगी। जिसके मन में विचार-शक्ति नहीं है वह कभी भोग-वासना का त्याग नहीं कर सकता। सत् असत् के विचार द्वारा ज्ञान होने से मनःप्रकृति के हाथ से मुक्ति मिलती है, उसके सिवाय अज्ञानी मन कभी शान्तभाव धारण नहीं कर सकता। केवलमात्र आत्मज्ञ महापुरुषों सत्संग से मन में विचार-शक्ति उत्पन्न होती है। अतः तुम सत्संग में रहकर में विचार-शक्ति उत्पन्न करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करते चलो। हे ! चित्त या मन के विनाश का एक दूसरा उपाय तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो। हो गया है और जो आगे होगा उनका अनुसन्धान (अर्थात् भूत और ष्य की चिन्ता) न करो, केवल क्षणभर के लिए बाह्य-बुद्धि से वर्तमान य (उपस्थित कार्य) की ही चिन्ता करते रहो। ऐसा करते करते तुम्हारा त्त क्रमशः अचित्त हो जायगा अर्थात् कल्पना-विहीन होकर क्षय-प्राप्त होगा। समय तुम जाग्रत काल में भी सुषुप्त की तरह शान्ति से रह सकोगे। अर्थात् षय-चिन्ता निरस्त हो जायगी। इस कारण उस समय तुम्हारे सामने यह सार परम सुखमय रूप से प्रतीत होने लगेगा। वराहोपनिषद् में लिखा है—

अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्।

अर्थात्—"यह संसार अज्ञ के लिए दुःखबहुल और ज्ञानी के लिए सुखप्रद है।"

भक्त—प्रभु ! बचपन से इस सुदीर्घ काल के संचित मेरी इस विपुल भोग-पिपासा केवल सत्संग और सद्गुरु के आश्रय ग्रहण से अनायास कैसे मिटेगी ?

महात्मा—इस विषय में थोड़ी चिन्ता करने से ही समझ सकोगे ! तुम्हारी इस भोगवासना का त्याग कौन करेगा ?—तुम्हारा मन। वह मन कभी दुःख या अशान्ति नहीं चाहता, वह सदा ही सुख-शान्ति का अन्वेषण करता रहता है, यही मन का स्वभाव है। तुम विचारो, कोई ऐसी कामना नहीं करता कि 'मैं दरिद्र हो जाऊँ, मेरे पैर टूट जायँ, नेत्र फूट जायँ, मेरा चेहरा कुत्सित हो' इत्यादि। बल्कि सभी इसके विपरीत इच्छा रखकर कहते हैं—'मेरी इन्द्रियाँ सबल रहें, चेहरा सुंदर हो, धन-ऐश्वर्य की वृद्धि तथा सुन्दरी पत्नी हो' इत्यादि। इससे

स्पष्ट ही समझ सकते हो कि मनुष्य का मन जिस विषय में सुख की अपेक्षा दुःख का भाग अधिक देखता है, उस विषय का त्याग करके सुखद विषय के लिए ही लालायित होता है। इस संसार में मन जितने प्रकार के कार्य करता है वह सभी सुख की आशा से ही करता है। परन्तु विचार से प्रतीत होता है कि पार्थिव विषय के भोग में दुःख ही असीम है और सुख परमाणु परिमाण-मात्र है। सदा ही सुख, दुःख का नाश करता है और दुःख, सुख का विनाश करता है। इसी कारण सुख-कामी व्यक्ति चिरदुःखी है, वह कहीं कभी शान्ति नहीं पाता। यह विषय मैंने पहले भी तुम्हें बताया है। अतः ब्रह्मज्ञ गुरु का उपदेश श्रवण करते करते तुम्हारे मन में विचार-शक्ति उत्पन्न होने पर विषय-विचार द्वारा तुम्हारा मन उस समय विषय में दुःख का अंश ही अधिक देखेगा। इसलिए उस समय मन स्वेच्छा से ही विषय-वासना का त्याग करेगा। इसके सिवाय बलपूर्वक, धमकाकर या प्रहार करके अथवा लाखों बार माला जप करके भी गुरु, शिष्य की भोग-वासना का त्याग कराने में समर्थ नहीं होते।

भक्त—हे भगवन्! विचार किसे कहते हैं, मुझे बताइये।

महात्मा—बेटा! किसी वस्तु के सत्यत्व-मिथ्यात्व, दोष-गुण या भलाई-बुराई के प्रति ध्यान रखकर चलने का नाम ही विचार है। दूसरी ओर उन विषयों पर ख्याल न करके वस्तु की आशुकारिता देखकर उसे सत्य या उत्तम समझकर ग्रहण करना ही अविचार का कार्य है। एक दृष्टान्त देखो। पाँच पथिक पिपासित होकर किसी गृहस्थ के घर उपस्थित हुए और बोले—"महाशय, हम बहुत ही अधिक प्यासे हैं। शीघ्र पीने का जल देकर हमारी प्यास बुझाइये।" तब उनकी पिपासा दूर करने के लिए गृहस्थ ने ठण्ढा जल ला दिया। उनमें से चार पथिक उस ठण्ढे जल को पीकर सामयिक शान्ति प्राप्त हुए, परन्तु पाचवें पथिक ने कहा—"महाशय, मुझे गरम जल देने की कृपा करें।" इसे सुनकर सभी चकित हुए। परन्तु गृहस्थ ने उसे गरम जल ही ला दिया। उसके बाद वह पिपासित पथिक अल्प मात्र गरम जल पीकर तृप्त होकर बैठा रहा, फिर उसे प्यास नहीं लगी। परन्तु जिन चार पथिकों ने ठण्ढा जल पिया था, उनमें बार बार पिपासा होने से वे बार बार ठण्ढा जल पीने लगे, तथापि उनकी पिपासा नहीं बुझी। बल्कि उदर में अत्यधिक जल भर जाने से वे

बेचैन हो उठे। प्यास के समय ठण्ठा जल पान करने से पहले तो अच्छा लगता है, परन्तु उससे प्यास की शान्ति न होकर वह और भी बढ़ जाती है और प्यास के समय गरम जल पीने से पहले अच्छा तो नहीं लगता परन्तु थोड़ा-सा गरम जल पीने से ही प्यास बिल्कुल बुझ जाती है। यह तत्त्व अवगत रहने के कारण ही बुद्धिमान विचारशील पथिक ने थोड़ा-सा गरम जल पीकर ही शान्तिलाभ किया था। दूसरी ओर विचारहीन अन्य चार पथिक इस प्रकार गरम जल का तत्त्व न जानने के कारण आपातमधुर ठण्ढा जल पाकर उसे बार बार पीकर भी पिपासा की शान्ति नहीं कर सके। इस संसार में भी ठीक वैसा ही दिखाई पड़ता है। धनी-दरिद्र, विद्वान-मूर्ख, सुन्दर-कुत्सित आदि जितने प्रकार के मनुष्य संसार में हैं, सभी चाहते हैं आपातमधुर विषय-सम्पद द्वारा दुःख का नितान्त नाश करके अविच्छिन्न सुख भोग करना। उन व्यक्तियों में यदि कोई बुद्धिमान व्यक्ति कहते हैं—"विवेक-वैराग्य के बिना सुख-शान्ति प्राप्ति का अन्य उपाय नहीं है" तो साधारण अज्ञानी मनुष्य— पिपासा के समय गरम जल पीने की बात सुनकर अनभिज्ञ पथिक जिस प्रकार चौंक उठे थे, उसी प्रकार—विवेक-वैराग्य का नाम सुनकर भीत और चकित हो उठते हैं। इसीलिए संसार के सर्वत्र बुद्धिमान तत्त्वज्ञ व्यक्ति धन-जनादि विषय रूप ठण्ढे जल से भोग-पिपासा की शान्ति करने की चेष्टा न करके, विवेक-वैराग्य रूप गरम जल पीकर ही भोग-पिपासा की तृप्ति कर गये और कर रहे हैं। दूसरी ओर अविवेकी मनुष्य मृत्यु-पर्यन्त विषय भोग करके भी, पिपासा में ठण्ढा जल पीने की तरह, कुछ भी शान्ति नहीं पाते। मान लो, तुम लाटरी में पचास हजार रुपये पा गये, तब तुम्हारे मन में आनन्द हुआ। उस रुपये के तुम्हारे हाथ में आने के पहले उससे तुम्हें कोई आनन्द नहीं मिला था अथवा वह रुपया खर्च या चोरी होकर दूसरे के हाथ में जाने पर भी उससे तुम्हें आनन्द नहीं मिलता। विवाह करके तुमने सुन्दरी पत्नी पायी, वह पत्नी आहार-विहार आदि में तुम्हें आनन्द देने लगी। विवाह के पहले वह स्त्री तुम्हें कुछ भी आनन्द नहीं देती थी या उसे कोई चुरा ले जाय या वह शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण कर ले तो उस समय भी वह तुम्हें आनन्द नहीं देगी। ठीक इसी रूप से धन-सम्पदादि किसी भी वस्तु की बात क्यों न कहो वह वस्तु जब प्राप्त होती है, तभी उससे आनन्द मिलता है, उसके पहले या

बाद में वह कुछ भी आनन्द नहीं देती; यह तत्त्व सभी जानते हैं। अतः इससे, स्पष्ट ही समझ सकते हो कि वैषयिक सुखमात्र ही क्षणिक है। जिन लोगों ने विषय-सुख के क्षणिकत्व में दृढ़ निश्चय कर लिया है, क्यों वे क्षणिक सुख में आसक्त होंगे? अज्ञानी ही विषय-सुख में मग्न होते हैं, ज्ञानी व्यक्ति नहीं। पीठमाला तन्त्र कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्ता वीरसा न तेषु रमते बुधः॥

अर्थात्—"विषय से जो सुख उत्पन्न होता है वह दुःख का ही हेतु है क्योंकि जिसका आदि और अन्त है उसके परिणाम में दुःख है। इसलिए विवेकी व्यक्ति उसमें आसक्त नहीं होते।" बेटा! इस रूप से विचार के बिना शान्ति-लाभ का अन्य उपाय नहीं है। ज्ञानी लोग अशुभ निवारण के लिए विचार के बिना अन्य किसी उपाय का अवलम्बन नहीं करते। वे विचार के द्वारा समस्त अशुभ विदूरित करके शुभ फल प्राप्त करते हैं और उसीसे संसार-सागर से उत्तीर्ण होते हैं। क्योंकि एकमात्र विचार से ही अज्ञान-मोह भाग जाता है। विचार द्वारा आत्मतत्त्व-परिज्ञात व्यक्ति को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सभी अनुग्रह करते हैं। 'मैं कौन हूँ और ये सब क्या हैं'—जब तक इन दो विषयों का विचार उदित नहीं होता तब तक अन्धकारमय संसार-प्रपंच विद्यमान रहता है। जिस प्रकार सूर्य-किरण से जल भाप होकर अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार विचार द्वारा संसार-कल्पना विलीन हो जाती है।

हे सुमते! यह संसार चलच्चित्र की तरह अनित्य है। यथार्थ में इस संसार के भीतर सुख कहाँ है? एक तो उदर की चिन्ता, उसके ऊपर इन्द्रियों का भीषण उपद्रव, काम की दुःसह ताड़ना, भोग-तृष्णा की भयंकर आकृति, क्रोध का प्रबल पराक्रम आदि अनिवार्य कारणों से साधारण मनुष्यों में सुख तो कुछ भी नहीं प्रतीत होता। जो थोड़ा-बहुत सुख दृष्टिगोचर भी होता है, वह स्वप्न की तरह अलीक और असार है। सभी सुख के लिए लालायित और निरन्तर प्रयत्नशील हैं परन्तु किसी के भाग्य में सुख प्रसन्न नहीं है। कदाचित् प्रसन्न होने पर भी थोड़े समय के लिए वह मनुष्य को उन्माद बना देता है। संसार में

शोक, दुःख, परिताप, निधन, बन्धन, शंका, सन्देह, मोहादि की परम्परा सदा दृष्टिगोचर होती रहती है। संसार की ऐसी विषमय दशा देखकर स्वामीजी ने कहा था—

अर्व खर्व लो लक्ष्मी, उदय अस्त लो राज।
तुलसी जो नित मरन है, आवे केही काज?

अर्थात्—"अगणित अर्थ और जन्म से मृत्यु-पर्यन्त राज्य का भोग करने वाले को ही सुख कहाँ? सुख तो किसी में दिखाई नहीं पड़ता। अतः हे तुलसी! अपनी मृत्यु निश्चित है तो राज्य और अर्थ से क्या काम?" हे सुबुद्धे! का एकान्त नाश करके अविच्छिन्न शान्ति प्राप्त करने की आशा से संसार बालक, युवक, वृद्ध सभी निरन्तर व्याकुल हो रहे हैं, परन्तु कैसे दुःख का होकर कहाँ से सुख का आविर्भाव होगा—वह कोई नहीं जानता और न जानना हता ही है। जिनमें विवेक-वैराग्य है, संसार में वही सब विषयों में बुद्धिमान चिरसुखी हैं। संसार में कैसे सुख-शान्ति का लाभ हो सकता है, एक-वही उसका तत्त्व जानते हैं। बेटा! स्मरण करके देखो नादान बच्चे या इन्द्रजाल देखकर उससे आनन्द नहीं पाते क्योंकि उन दृश्यों के से वे अवगत नहीं हैं। बल्कि वैसे स्थान में वे रो-झगड़कर दूसरे मझदार दर्शकों के आनन्द में विघ्न डालते हैं। ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञान-अज्ञानी शिशु इस संसार रूपी नाट्यशाला का नाटक या माया का इन्द्रजाल देखकर तटस्थ रहकर उससे आनन्द नहीं ले सकते। क्योंकि जगत् का र्य तत्त्व से वे अवगत नहीं हैं बल्कि वैसे अज्ञानी 'धनं देहि' 'जनं देहि' रव से लाकर तथा धन-नाश, स्वजन-वियोग आदि के कारण शोक से विलाप करके ज्ञानियों को अशान्ति देते हैं। इतना कहकर महात्मा भजन गाने लगे—

सुख तरे लालायित, सब जीव घरे घरे।
किन्तु सबे मने मने, दुक्ख-जनक कर्म करे॥
धन-जने ममता रय जार, चिरकाल अशान्ति हय तार।
आपन हृदे सुख-शान्ति हय, ममत्वहीन होले परे॥
विषये जे खनिक सुख हय, मन होते ताहार उदय।
सुख-दुक्ख मनेते स्थित, साधारण ता बुझते नारे॥

जीवन-सन्ध्या होये एलो, आर कोथा सुख खुँज्‌बे वलो।
सर्व वस्तुर आधार तुइ मन, विचार कोरे चल रे घरे॥

इसका आशय इस प्रकार है—

घर घर में सभी जीव सुख के लिए लालायित हैं। परन्तु सभी मनु दुःखजनक कर्म ही करते हैं। धन-जन से जिसे ममता है, सदा उसे अशान्ति मिलती है। ममत्व-रहित होने पर अपने ही हृदय में सुख-शान्ति मिलती है। विषय में जो क्षणिक सुख होता है, उसका उदय मन से ही है। सुख-दुःख मन में ही स्थित है, जनसाधारण उसे नहीं समझ सकते। जीवन-सन्ध्या हो आयी, अब कहाँ सुख खोजोगे बताओ। सब वस्तुओं का आधार मन है, अतः विचार करके अपने घर चलो।

भक्त—प्रभु! आप त्यागी महापुरुष हैं। हमारे जैसे गृहस्थ हम विषयों का आकर्षण तथा ममत्व-बन्धन क्यों नहीं छोड़ सकते, कृपा करके समझा दीजिये।

महात्मा—बेटा! इसका कारण यह है कि बन्धन की यातना का बोध अभी तुम्हें नहीं हुआ है। जिसे बन्धन का बोध हुआ है, उसका बन्धन कभी रह नहीं सकता। यह बन्धन क्या है? एक भ्रम ज्ञान-मात्र है जैसे कि रज्जु में सर्पभ्रम, सूखे वृक्ष में पुरुष का भ्रम या स्वप्न-दृष्ट वस्तु में सत्यत्व का ज्ञान है। मैं रज्जु में साँप देख रहा हूँ या सूखे वृक्ष में मनुष्य देख रहा हूँ अथवा स्वप्न देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान रहने से क्या कभी भ्रम रह सकता है? या भय-दुःख टिक सकता है? कभी नहीं। यह माया-बन्धन भी ठीक उसी प्रकार है। पहले भी तुमसे मैंने कहा है, एकमात्र विचार के बल विवेक-दर्शन द्वारा ही यह भ्रम या ममत्व-बन्धन विदूरित हो जाता है किन्तु इस सांसारिक वस्तुओं के सत्यत्व-मिथ्यात्व के बोध और मन के दोष-गुणों के विचार की शक्ति तुम्हारे में नहीं है। विषय रूप विष काले नाग के विष से भी तीव्र है क्यों कि नाग के डसने के पहले शरीर में विष की क्रिया आरम्भ नहीं होती परन्तु विषय-विष केवल दर्शनमात्र से ही द्रष्टा का विनाश करने में समर्थ है। इन सूक्ष्म विषयों का विचार तुम्हारे मन में उदित नहीं होता। इसलिए

विषयों क आकर्षण नहीं छोड़ सकते। इसी कारण माया-मरीचिका में पड़ मिथ्या वस्तुओं के भोग द्वारा सुख-शान्ति पाने की आशा से लालायित तुम उन मिथ्या विषयों की ओर निरन्तर धावित हो रहे हो। इसीलिए मन में सत्य-मिथ्या वस्तुओं के विचार की शक्ति उत्पन्न कराकर यदि सत्य का तत्त्व निर्णय कर सको तो उन मिथ्या विषयों में ऐसी कोई शक्ति नहीं तुम्हें मोहित कर सके। बेटा! यह संसारगति अति विचित्र है, इसका अन्त नहीं है। इसका प्रबल दोष यह है कि जब तक जीव इस ससार ता है तब तक 'यह देह ही मैं हूँ' ऐसे अभिमान का त्याग नहीं होता। देहाभिमान के त्याग हुए बिना भी आत्मतत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता। आत्म-ज्ञान के न होने से अपना महत्त्व अनुभूत नहीं होता। इसी कारण जीव होकर शान्ति भी नहीं पाता।

बेटा! तुमने जो मुझे त्यागी कहा, वह त्यागी किसे कहते हैं, जानते हो? र में सभी लोग अनाज का असार भाग चोकर का त्याग कर अन्न ग्रहण करते केले के ऊपर का छिलका छोड़कर भीतर का केला लेते हैं, नारियल का और खोली छुड़ाकर गरी को ग्रहण करते हैं। सर्वत्र ही वस्तु का असार का त्याग और सार भाग का ग्रहण किया जाता है, यही संसार का स्वाभाविक है। परन्तु इसलिए कोई किसी को त्यागी या विरागी नहीं कहते। दूसरी जो व्यक्ति वस्तु के सारांश का त्याग करता है, लोग उसको त्यागी कहते जिस प्रकार तुम्हारे सामने रुपया-पैसा ही संसार की सार वस्तु प्रतीत होती इसलिए यदि कोई अपना धन दरिद्र को देता है, तब उसे तुम दाता या कहते हो। परन्तु महात्मा लोग त्यागी नहीं हैं, क्योकि उन्होंने विचार देख लिया है कि इस संसार में एकमात्र धर्म या आत्मा ही सार वस्तु है। के सिवाय नाम-रूप असार हैं। इसलिए महापुरुष लोग संसार के नामरूप में न फँसकर, नारियल के छिलके और खोली का परित्याग कर भीतर गरी के ग्रहण की तरह, असार नामरूप का परित्याग पूर्वक भीतर के धर्म या को ही ग्रहण करते हैं और तुमलोग उसके ठीक विपरीत रूप से किसी विचार न करके, नारियल के रसरहित छिलका चूसने की तरह, भोग्य ते हो विचाररहित होकर उसके ऊपर का छिलका ही चूसने लगते हो।

इसीलिए तुम इतना दुःख-कष्ट पाते हो। हे सत्यकाम! स्वप्न-दृष्ट नारी-संभोग जिस प्रकार मिथ्या है, इस संसार की प्रतीति भी उसी प्रकार है। यह संसार भोग प्रदान करता है सही, परन्तु वह अनिष्ट साधन का ही मूल है। जिस प्रकार पट में चित्रित वाटिका देखने में सुन्दर है, परन्तु उसके फूल गन्धरहित तथा मधुशून्य और नीरस हैं। वैसे ही यह विश्व-प्रपंच भी देखने में सुन्दर है सही, परन्तु वह रसादि-परिशून्य है। जिस प्रकार चित्र लिखित अग्नि देखने में अग्नि की तरह होने पर भी दाहिका-शक्ति-रहित और निस्तेज है, उसी प्रकार यह विश्व भी देखने में प्रकाशमान परन्तु सारहीन है। यह विश्व असत् (अस्तित्वहीन) होकर भी दीप्तिमान, अरस होकर भी रसात्मक रूप से अज्ञानियों के निकट प्रतीत हो रहा है। अतः हे सुव्रत! जिस प्रकार रात्र्यन्ध रोगी रात्रि में प्रकाश को भी अन्धकार का आवर्त समझ कर डरता है, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य आत्मा में इस जगत-प्रपंच को देखकर अनन्त शोक-तापों से जर्जरित होते रहते हैं। संसारतत्त्वाभिज्ञ ब्रह्मज्ञ गुरु आकर जब इस संसार रूप नारियल फल के रूप का छिलका और नाम की खोली की असारता दिखाकर भीतर से आत्म रूप सार निकालकर संसार-भोग करने का कौशल तुम्हें दिखा देंगे तब तुम आनन्द से इस संसार-फल का भोग कर सकोगे, नहीं तो केवल दुःख से दुःखान्तर ही प्राप्त होते रहोगे।

भक्त—प्रभु! आपने जो कहा कि हम संसार के रूप का छिलका और नाम की खोली पकड़कर खींच रहे हैं, इसका भावार्थ मैं नहीं समझ सका। कृपया इसे उदाहरण देकर समझाइये।

महात्मा—मान लो, तुम्हारी पत्नी देखने में अत्यन्त सुन्दरी है और अभी यौवनावस्था में उसका रक्त-मांस-पूर्ण कपोलयुक्त मुखमण्डल पूर्ण चन्द्र की तरह शोभायमान हो रहा है। उसके उन्नत स्तन-द्वय तथा नितम्ब-द्वय देखकर तुम्हारा मन उसकी देह के रूप के मोह में मुग्ध हो रहा है। इस समय एकाएक उस स्त्री को मांसक्षय का रोग हो गया। महीने भर में ही उसके शरीर का रक्त-मांस सूख गया। वह बहुत सूख गयी। उसका शरीर ठठरीमात्र रह गया; हड्डियों के ऊपर केवल चमड़े का आवरणमात्र दिखाई पड़ने लगा, इसलिए अब उसके शरीर की मांस-पेशियों के अभाव के कारण उसके उन्नत नितम्ब, स्तन आदि रूप

के लक्षण आदि कुछ भी नहीं हैं। अब रक्त-मांस के न रहने से उसके झुलकर वृक्षपत्रों की तरह लटक रहे हैं, चमड़े शिथिल होकर सिकुड़ गये र्थात् वह सुन्दरी स्त्री अस्सी वर्ष की वृद्धा की तरह दीख रही है। अतः तुम्हारा मन पहले की तरह उस पर आकृष्ट नहीं हो रहा है। उसकी रोग व्याधि अब किसी उपाय से दूर होकर वह पुनः पूर्वावस्था प्राप्त नहीं ; जानकर तुमने फिर से किसी दूसरी युवती स्त्री से विवाह कर लिया। इस विषय का थोड़ा विचार करके देखो। यदि तुम अपनी उस पहली को सचमुच ही प्यार करते तो वह स्त्री अब भी विद्यमान है। तो अब प्यार क्यों नहीं करते? यदि सचमुच ही उस स्त्री को देखकर तुम्हारा आकृष्ट होता तो अब उसे देखकर घृणा क्यों होती है? उसके शरीर में अब भी वही स्तन-नितम्बादि सभी अंग-प्रत्यंग विद्यमान हैं। किस चीज अभाव के कारण तुम उसे घृणा की दृष्टि से देख रहे हो? प्रतीत होगा उस स्त्री के शरीर में जो रक्त और मांस-पेशियाँ थीं अब केवल उन्हीं का व हुआ है—उस स्त्री का अभाव नहीं हुआ है। उस स्त्री के शरीर में मांस का अभाव होने के कारण तुम्हारे प्यार का भी अभाव हो गया है। रक्त-मांस का भाव होने से ही तुम्हारे प्यार का भी भाव होता। अतः र्थ में तुम उस स्त्री को प्यार नहीं करते, प्यार करते हो केवल उसकी देह रक्त-मांस और मल-मूत्र पूर्ण दुर्गन्धयुक्त नश्वर वस्तुओं को। इससे स्पष्ट णित हुआ कि तुम लोग सांसारिक वस्तुओं या व्यक्तियों अर्थात् उनके र के चैतन्य को प्यार नहीं करते। प्यार करते हो, उनके बाहरी आवरण रूप के छिलके का। बेटा! पहले जो मैंने तुमसे एक अंग्रेज के नारियल की घटना कही थी, उसे याद करो। उस अंग्रेज ने नारियल के बाहरी वरण छिलके को चबाकर कोई स्वाद नहीं पाया था, बल्कि वृथा परिश्रम के दुःख ही झेला था। तुम भी ठीक उसी प्रकार जागतिक वस्तुओं के रूप के छिलके का ही भोग कर रहे हो। इस कारण शान्ति न पाकर शान्ति ही पा रहे हो। केवल ब्रह्मज्ञ गुरु ही क्या कर सकते हैं? जब तक रा मन गुरु बनकर तुम्हें इस प्रकार विचार के साथ उपदेश नहीं देगा,

तब तक सहस्रों ब्रह्मा, विष्णु, महेश आकर तुम्हें उपदेश देने पर भी सुखी नहीं होगा। शास्त्र कहते हैं—

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
तथापि तव न स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ ( अष्टावक्र संहिता )

अर्थात्—"मनुष्य जब तक सब विस्मृत नहीं होता, तब तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश उपदेष्टा होने पर भी वह सुखी नहीं हो सकता।" अर्थात् 'यह मैं हूँ, यह मेरा है'—इस प्रकार भेदभाव का त्याग करके विषय-वासना बिल्कुल विस्मृत हुए बिना कोई भी उपदेशक क्यों न हो, तुम किसी तरह सुखी नहीं हो सकते। इस विषय में पीठमालातन्त्र भी कहते हैं—

न लोकस्तारयेल्लोकः पुच्छाद् वैतरणी यथा।
इति विद्वान् सदा देवि! तस्मिन् तत्त्वे स्थिरोभवेत् ॥

अर्थात्—"जिस प्रकार गाय की दुम पकड़कर वैतरनी का पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मनुष्य दूसरे मनुष्य का उद्धार कभी नहीं कर सकता। इसे निश्चय जानकर बुद्धिमान व्यक्ति स्वयं अपनी मुक्ति के लिए आत्मतत्त्व की आलोचना में सदा मनोनिवेश करें।" बेटा! विचार करने पर समझ सकोगे कि सुख से ही दुःख की उत्पत्ति होती है। विषयभोग के द्वारा बार बार सुख की कामना ही जीव के दुःख का एकमात्र कारण है। अर्थात जो व्यक्ति जितना अधिक सुखकामी है वह उतना ही अधिक दुःखभागी होता है। किसी तरह इसकी अन्यथा नहीं होती, क्योंकि जो सुख की कामना करता है वह पहले ही अपने मन में सुख के अभाव रूप दुःख को स्थान देकर बाद में 'कहाँ सुख, कहाँ सुख' कहकर हाय हाय करता रहता है। ऐसे आदमी का मन ठीक कोल्हू के बैल की तरह है। कोल्हू का बैल जिस प्रकार अँधेरी से आँख आवृत्त रहने के कारण एक ही स्थान में बार बार घूमकर सोचता है कि 'मैं बहुत दूर का रास्ता तय कर रहा हूँ' उसी प्रकार अज्ञानावृत्त मन भी इस देह-गृह के बीच में ही रहकर कल्पना के बल सुख की आशा से बम्बई, कलकत्ता, इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा स्वर्ग, मर्त्य, पाताल आदि ब्रह्माण्ड में भटक रहा है। इसीसे उसके दुःख की मात्रा न घटकर दिनों दिन बढ़ती ही जा रही है। बेटा! संसार क्या है? मोह-वश

तिरस्कार, तृष्णा रूप शृंखल से बन्धन, काम, क्रोध, भय आदि से अभि-होना, उत्पत्ति-विनाश के अनुगामी होना, विकारी और विच्छिन्न होना, दावानल में दग्ध होना, शोक से क्लिष्ट होना, 'मैं अमुक हूँ, अब ऐसा रहा हूँ' ऐसा सोचकर विकल होना, देह के ऊपर ही आस्था स्थापित तथा उसी के अनुसार दीनता आदि का अनुभव करना, जीर्ण-शीर्ण हस्ती की तरह मोहपंक में निमग्न होना, वायु के आघात से लता की तरह अभाव की चिन्ता से चंचल होना, जलहीन मछली की तरह सदा शोक-से छटपटाते रहना —ये ही सब संसार-शब्द-वाच्य हैं। अतएव जान लेना वैराग्य के तुल्य बन्धु और वासना या संसार के समान शत्रु कोई नहीं। यहाँ तक कह कर महापुरुष ने संगीत अलापना आरम्भ किया—

दुनियार खैलाते मेतो ना।
बिचार कोरले ताते तुमि, शान्तिर लेश मात्र पावे ना॥
एम्नि मजा ए खैलाते, शास्ति हय प्रति दफाते।
केउ फकिर केउ राजार बेशे, साजा पाय सब जना॥
धन-जनके सत्य मेने, धोरेछे बन्धु-ज्ञाने।
मिथ्याके सत्य भावनाय, शोके-तापे पाय लांछना॥
तबुओ देहि देहि रबे, धन-जन मागे अज्ञ जीवे,
ऐतो दागा पेयेओ तादेर, बिचार जन्मिलो ना॥
जीवन-सन्ध्या होये एलो, मन रे! एबार घरे चलो।
(एइ) कामिनी-कांचनेर खैलाय, आत्मानन्द मिल्बे ना॥

इसका आशय इस प्रकार है—

दुनिया के खेल में मत्त न हो। विचार करने से उसमें तुम शान्ति का लेशमात्र भी न पाओगे। ऐसा मजा इस खेल है कि हर दफे सजा ही मिलती है। फकीर कोई राजा के वेश में सब सजा पाते हैं। धन-जन को सत्य मानकर समझ अपनाया है। मिथ्या को सत्य समझकर शोक-ताप से क्लेश ही है। तो भी 'देहि देहि' रव से अज्ञ जीव केवल धन-जन ही माँगते हैं। क्लेश पाकर भी उनमें विचार नहीं पैदा हुआ। जीवन की सन्ध्या

हो आयी है, मन ! अब तुम घर चलो। इस कामिनी-कांचन के खेल में कभी आत्मानन्द नहीं मिलेगा।

---

# धर्मालोचना का समय

भक्त—प्रभु ! तो क्या आप कहते हैं हमारे घर-द्वार, धन-ऐश्वर्य, पत्नी-पुत्र माता-पिता, भाई-बहन आदि घनिष्ठ आत्मीय लोग कुछ भी नहीं हैं ?

महात्मा—हाँ बेटा ! जब तक तुम्हें अपने विषय में अज्ञान रहेगा, तब तक वे सभी तुम्हारे परम आत्मीय रूप से प्रतीत होंगे। परन्तु जब तुम्हें अपना स्वरूप अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त होगा तब तुम स्पष्ट ही देखोगे कि तुम ( तुम्हारा शरीर ) इस संसार रूप नाटक में एक नट मात्र हो और वे सारे आत्मीय होकर कोई माता, कोई पिता, कोई पत्नी, कोई पुत्र, कोई भाई, कोई बहन आदि नाना प्रकार के नाम-रूपों का स्वांग रचकर तुम्हारे सामने प्रकट हुए हैं। इस प्रकार अपने को तटस्थ समझ सकने पर तुम्हारी भोग-तृष्णा रूप यह संसार चिरकाल के लिए विलुप्त हो जायगा और तभी तुम समझ सकोगे कि संसार में तुम लाखों बार जन्म ग्रहण करके अनेक माता-पिता, पुत्र-कन्या, पत्नी, बन्धु और धनैश्वर्य आदि लेकर नाना प्रकार के सुख-दुःख भोग चुके हो। वे कितनी बार तुम्हारे सामने आये और चले गये। तब तुम वर्तमान जीवन के साथियों को देखकर मन में हँसोगे और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके मृत्यु का अतिक्रमण कर मृत्युंजय हो जाओगे।

भक्त—प्रभु ! बड़ों से मैंने सुना है, भगवान ने मुझे इस संसार में भेजा है अपने कर्तव्य कार्यों के सम्पादन के लिए। इसलिए माता-पिता, पत्नी-पुत्र भाई-बन्धुओं का पालन-पोषण करना ही मेरा मुख्य कर्तव्य है। इस कारण प्रथम जीवन में धनोपार्जन द्वारा इस कर्तव्य को समाप्त करके अन्तिम जीवन में धर्मचर्चा

आलोचना और भगवान की उपासना करनी होगी। सभी लोग जीवन के मार्ग पर चल रहे हैं। अतः मुझे भी वैसे ही चलना होगा, नहीं तो जीवन कर्तव्य ही अपूर्ण रह जायगा।

महात्मा—बेटा! इस मन भूत के पल्ले पड़कर क्या तुम्हारी सारी विचार-शक्ति लुप्त हो गयी? इस संसार में कभी किसी के सारे कर्तव्य-कर्म समाप्त हुए? जिधर देखोगे तुम्हारे चारों ओर कर्तव्यों का अन्त नहीं है। इस कारण कभी कर्तव्यों की समाप्ति नहीं हो रही है। 'यह काम करना मेरा कर्तव्य है, वह काम करना ही उचित है, इस कार्य के न करने से समाज में निन्दनीय होना पड़ेगा, इस कर्तव्य कर्म को न करने से तो काम ही नहीं चलेगा, इस कर्म को सम्पन्न करना अति आवश्यक है और वह तो बहुत ही कर्तव्य है, उसे तो अभी ही करना होगा'—इत्यादि भावों से हजारों कर्तव्य कर्म हैं जिनमें एक के समाप्त होते न होते अन्य शत-शत कर्तव्य आकर तुम्हारे सामने उपस्थित हो रहे हैं और होते रहेंगे। क्या इसे कभी सोचकर देखा है? केवल तुम्हीं क्यों, तुम्हारे पिता पितामह आदि शत-शत पूर्व पुरुष इसी ढंग से अनेक कर्म करके शरीर छोड़ते समय असंख्य कर्तव्य अवशिष्ट रखकर ही चले गये हैं। अनादि काल से कोई भी मनुष्य इस मन रूप शैतान के राज्य के कर्तव्यों को समाप्त नहीं कर सका और न कर सकेगा। तुम कहते हो 'प्रथम जीवन में अर्थोपार्जन करके अन्तिम जीवन की वृद्धावस्था ही धर्मतत्त्व की आलोचना करने योग्य समय है।' किसी शास्त्र में ऐसा नियम नहीं है, बल्कि शास्त्र इसके विपरीत उपदेश देते हैं—

न मृत्युः स्थिरतां याति मृत एवेति निश्चितम्।
सदा सद्व्यवसीयेत नावसादेत् कदाचन॥ (पीठमालातन्त्र)

अर्थात्—"मृत्यु किस समय आयेगी, उसका निश्चय नहीं है। मैं मर गया हूँ, ऐसा निश्चय कर सदा सत्य-स्वरूप धर्म की आलोचना करनी चाहिये। जो मनुष्य ऐसा करता है उसे कभी विपत्ति में नहीं फँसना पड़ता।"

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना यथा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते॥
(महाभारत शान्तिपर्व)

अर्थात्—"मनुष्य के धर्मसाधन का कोई निर्दिष्ट समय नहीं है क्योंकि मृत्यु मनुष्य के समय या असमय की प्रतीक्षा नहीं करती। अतः मनुष्य जब सदा ही मृत्यु-मुख में अवस्थिति कर रहा है तब धर्मानुष्ठान क्या बचपन, क्या यौवन, क्या वृद्धावस्था सभी समय करना उचित है।" बेटा! तुम्हारे इस शरीर का नाश होने तक तुम्हारा धनोपार्जन कभी समाप्त होगा? साधारण मनुष्यों में किसी का नहीं हुआ है और तुम्हारा भी नहीं होगा। दूसरी ओर पहले परमार्थ का अर्जन करने के अनन्तर क्या धनार्जन नहीं किया जा सकता? अर्थ से परमार्थ मुख्य है या गौण? श्रेष्ठ है या निकृष्ट? इसका विचार करो। मैंने प्रत्यक्ष किया है कि पहले परमार्थ का अर्जन करने पर आगे अर्थार्जन करने में कोई क्लेश नहीं होता, बल्कि वह अधिक सहज साध्य होता है। यहाँ तक कि जिसने परमार्थ का अर्जन किया है अर्थ दास होकर सदा उसकी चरण-सेवा में नियुक्त रहता है। जीवन भर उसे किसी विषय की कमी नहीं रहती। यह कहानी मात्र नहीं है, यथार्थ सत्य बात है। शास्त्र भी कहते हैं—

अर्थकामौ तथा मोक्षो धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तस्माद् धर्मो महेशानि! एक एव विशिष्यते॥ (पीठमालातन्त्र)

अर्थात्—"अर्थ, काम और मोक्ष सभी धर्म में प्रतिष्ठित हैं। इस हेतु धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है।" तोभी अज्ञानी व्यक्ति पहले परमार्थ का अर्जन न करके विपरीत बुद्धि से जीवन के पथ पर चलते रहते हैं। सारे जीवन में भी उन मूर्खों का धनार्जन समाप्त नहीं होता। इस कारण परमार्थ का दर्शन कैसे होगा? तब उनका जीवन 'हाय अर्थ, हाय अर्थ' कहते कहते वृथा ही व्यतीत हो जाता है। कुछ यात्री किसी समय पुरीक्षेत्र के समुद्रतट पर जाकर बैठे और कहने लगे कि समुद्र की लहरों के समाप्त होते ही हम लोग स्नान करेंगे। वे अज्ञानी नहीं जानते कि समुद्र में सदा ही लहरें उठतीं हैं। कभी भी वह तरंग-रहित नहीं होता। अतः समुद्र की लहरें भी नहीं बन्द हुईं और न उनका स्नान ही हो सका। ठीक उसी प्रकार इस संसार-समुद्र में कर्तव्य कर्मों की लहरें एक पर एक लगातार आती रहती हैं, कभी उनका विराम नहीं हो रहा है। इसीलिए अज्ञानियों के अर्थोपार्जन और कर्तव्य कर्म जीवनभर समाप्त नहीं होते। फलस्वरूप उन्हें आत्मतत्त्व की आलोचना करके परमार्थ

का सुयोग ही नहीं मिल रहा है। हे महामते! इस मनोराज्य में केवल नता का ही प्रभुत्व है। लोग व्यवहारपरायण होकर पत्नी-पुत्रों के साथ र में रहते हैं। उससे वे नाना प्रकार की दुर्दशाओं में ही पतित होते हैं। त्र अज्ञान ही सारी विपत्तियों का कारण है। इसीलिए अज्ञानी नाना प्रकार की त्तियों से ग्रस्त होते हैं। ये लोग भाथी की तरह वृथा ही साँस छोड़कर जीवन ण करते हैं। ये लोग कभी तर्जन-गर्जन भी करते हैं, परन्तु वह भी वृथा ही । चिदात्मा के विषय का बोध न रहने से ये अज्ञानी मनुष्य जंगली वृक्षों की फलशून्य हैं। बहुत गरम पत्थर पर या शाखा-रहित वृक्ष के नीचे जिस र विश्राम कष्टकर है, उसी प्रकार इन लोगों का संसार में विश्राम लाभ भी रदायक है। ये लोग जो कुछ करते हैं, वह सभी विनष्ट हो जाते हैं और ये कुछ दान करते हैं, वह दान भी कीचड़ में फेंकने के समान होता है। के साथ जो बातचीत की जाती है, वह भी कुत्तों के बुलाने के समान है, कि इनके साथ तत्त्व की आलोचना की कोई सम्भावना ही नहीं है। अतः वृद्धा-था में धर्मानुष्ठान किया जायगा, ऐसी बात घोर विषयासक्त व्यक्तियों का अपने र्थसाधन के लिए रोचक वाक्यमात्र है। वृद्धावस्था में शिथिल देह के द्वारा ई भी कार्य अच्छी तरह नहीं होता—यह सभी जानते हैं। तुम्हारे वृद्ध या पितामह की उमर शायद इस समय ७० या ८० वर्ष है। इस यदि तुम उनसे पूछते हो कि 'आप धर्मतत्त्व की आलोचना और ध्यान-दि साधन-भजन का कार्य यथारीति कर सकते हैं?' उसके उत्तर में वे य ही कहेंगे 'बेटा! जीवन का मूल्यवान समय यौवनकाल चला गया है, घड़ी भर एकाग्रता के साथ माला-जप भी नहीं कर सकता। क्योंकि र की दुर्बलता, कमर का दर्द, सिर की वेदना आदि नाना प्रकार के क्लेशों शरीर ऐसा निकम्मा हो गया है कि कोई भी कार्य नहीं कर सकता। अब न अपना ले तो अच्छा है।' तिस पर भी यदि तुम अपनी यौवनावस्था २५-३० वर्ष की उमर में धर्माचरण के कार्य में प्रवृत्त होते हो तो तुम्हारे वही पिता या पितामह उनके अपने स्वार्थ-साधन के लिए तुमसे कहेंगे—'अब यौवन वयस में तुम्हें धर्माचरण करना उचित नहीं है। इस समय विवाह ना और अर्थोपार्जन करके हमारा पालन-पोषण करना ही तुम्हारा कर्तव्य

है। उसके बाद अन्तिम जीवन में धर्माचरण करने का यथेष्ट अवकाश मिलेगा।" ऐसे घोर विषयासक्त अज्ञानी अभिभावकों के उपदेश किस प्रकार युक्ति-विरुद्ध और कपटपूर्ण हैं उसे जरा सोचकर देखो। वे प्रथम जीवन में धन-जन के मोह में फँसकर यौवन गर्व में मत्त होकर जीवन व्यतीत कर चुके। इस कारण धर्माचरण का अवकाश उन्हें नहीं मिला था। उसके अनन्तर अब इस अन्तिम जीवन में वृद्धावस्था के कारण शरीर निकम्मा हो जाने से वे कोई भी धर्म करने में समर्थ नहीं हैं। यह जान-बूझ कर भी वे तुम्हारे जैसे परमात्मीय को उसी प्रकार दुर्लभ यौवनकाल में धन-जन के गर्व से मत्त रहकर बिता देने को उपदेश दे रहे हैं। अर्थात् इन अज्ञानियों के मन का भाव यह है कि जिस प्रकार हमलोग जीवन के प्रथम और अन्तिम दोनों समयों में धर्मालोचना न करके शोक-दुःख से जीवन बिता रहे हैं तुम भी उसी प्रकार शोक ताप-मय जीवन के पथ पर चलो। हम जिस प्रकार जीवन के किसी भी समय तत्त्वामृत का पान न करके केवल विषय-विष की ज्वाला से छटपटा रहे हैं, तुम भी उसी प्रकार इस यौवनकाल में तत्त्वामृत का पान न करके विषय-विष का पान करो और जीवनभर हमारी ही तरह छटपटाते रहो। अहो प्राणाधिक प्रियतम आत्मीय के प्रति वयोवृद्ध अभिभावकों का कैसा सुन्दर युक्तियुक्त हितोपदेश! और कैसा सुन्दर अमायिक प्रगाढ़ स्नेह! बेटा! एक कहानी याद आयी। एक गृहस्थ ने बीस रुपये वेतन पर एक नौकर रखा। उन्होंने उससे एक दिन कहा—"इस बगीचे को साफ कर डालो।" उसके उत्तर में नौकर ने कहा—"बाबूजी, मैं दोपहर तक भोजन के पहले कोई काम नहीं कर सकता, क्योंकि इस समय मेरा शरीर बहुत दुर्बल रहता है।" तब बाबू चुप हो रहे। दोपहर के भोजन हो जाने के बाद मालिक ने फिर नौकर से कहा—"अब तो तुम्हारा भोजन हो गया, इस समय बगीचे में जाकर घास-पातों को छील डालो।" तब नौकर ने कहा—"बाबूजी, भोजन के बाद मेरा शरीर बहुत भारी हो जाता है इसलिए इस समय मैं कुछ काम नहीं कर सकता।" इस पर बाबू कुछ नाराज होकर बोले—"तुम बिना भोजन किये काम नहीं कर सकते और खाने पर भी शरीर भारी होने के कारण काम नहीं कर सकते तो तुम काम कब करोगे?" नौकर बोला—"बाबूजी, मेरी बातचीत, चलना-फिरना, रहन-सहन आदि

विषय में आप कुछ भी दोष नहीं पाइयेगा। आप लोगों की सभी बातचीत कानों में पहुँचेगी। मैं भी अच्छी तरह बातचीत करूँगा, परन्तु मेरा एक ही दोष है कि दिन के प्रथमांश में शरीर की दुर्बलता के कारण विना मैं काम नहीं कर सकता और दूसरे अंश में भोजन के बाद शरीर के होने से काम नहीं कर सकता। इस मामूली दोष को आप माफ कर देंगा।" इतना सुनते ही बाबू के शरीर में आग-सी लग गयी, वह झल्ला —'अवे पाजी! तू सुबह और शाम किसी समय काम नहीं कर सकेगा तुझे नौकर रखूँगा केवल तेरे शरीर का रूप देखने के लिए? निकल जा यहाँ से।' इतना कहकर उन्होंने उसे निकाल दिया। बेटा! तुम्हारी भी ठीक इसी तरह है। तुम लोग जीवन के प्रथमांश में अर्थात् यौवनकाल धन-जन के लोभ में मत्त रहकर तत्त्वालोचना नहीं कर सकते और अन्तिम काल में शरीर के अपटु हो जाने के कारण तत्त्वालोचना नहीं कर सकते। तत्त्वालोचना करके उस तत्त्वामृत को पीकर इस संसार-ज्वाला को करोगे? तुम्हारी ऐसी अल्प बुद्धि देखकर ही साधक ने गाया था—

दुर्लभ जौबन काल, कोरो ना बृथा खेपन,
बलो तबे आर कबे, करिबे धर्म अर्जन?
बाल्ये बाल्यक्रीड़ा छले, गैछे रे दिन बिफले,
तेमनि जौबन काले, करिबे कि बिसर्जन?
होले देहो जराजीर्ण, बार्धक्ये फुराले दिन,
ओरे मन अर्बाचीन, बिफले जावे जोवन॥

इसका आशय इस प्रकार है—

दुर्लभ यौवन-काल न करो वृथा क्षेपण, बोलो तो फिर कब करोगे धर्म अर्जन? बाल्य में बालक्रीड़ा से वृथा दिन नष्ट हुए, वैसे यौवनकाल भी क्या करोगे विसर्जन? होने से देह जीर्ण और समाप्त गिने दिन, अरे मन बुद्धिहीन, विफल जीवन?

इसीलिए कहता हूँ बेटा! आत्मज्ञान-विहीन व्यक्ति गर्दभ के समान है। गर्दभ बोझ ढोते हैं, उसी प्रकार मूढ़ लोग भी वृथा ही शरीर का बोझ ढोते फिरते हैं। जिस प्रकार बोझ ढोने से मनुष्य थक जाते हैं और सदा दुःख उठाते हैं,

उसी प्रकार मूढ़ लोग जीवन भर दुःख झेलते रहते हैं। ज्ञानहीन अशान्तचित्त मनुष्य की कामना विपत्ति का ही कारण है, शरीर रोग का आधार और आयु क्लेश का आकर बन जाती है। अतः वयस में वृद्ध, ज्ञान में शिशु, बुद्धिहीन, विषयासक्त, स्वार्थी, लोगों की बात पर ध्यान न देकर ब्रह्मज्ञ गुरु के आदेशानुसार इस सुदुर्लभ यौवन काल में ही तुम आत्मतत्त्वालोचना में प्रवृत्त होकर उस तत्त्वामृत के पान द्वारा अमरत्व प्राप्त करो। याद रखना, समय अल्प है, कार्य अनेक हैं, विघ्न भी अनन्त हैं। अतः समय संक्षिप्त समझ कर बहुत शीघ्रता के साथ काम करते चलो। जितने आत्मीय-कुटुम्बी इष्ट-मित्र हैं, उनमें किसी से धर्म-पथ पर चलने की सहायता की आशा न रखो। अपनी तीव्र चेष्टा के ऊपर ही सम्पूर्ण निर्भर रहना होगा। अमुक मुझे कुमार्ग में ले गया और नरक में डुबाया, ऐसा कहकर दूसरे पर दोषारोपण करना वृथा है। बेटा। मैं जो तुम्हें माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि के पोषण करने में निषेध कर रहा हूँ, ऐसा नहीं। परिवार-पोषण में संलग्न और विपत्तियों में फँसे रहने पर भी बुद्धिमान व्यक्ति यत्नपूर्वक गुरु-वाक्य का श्रवण, मनन आदि के साथ—'मैं कौन हूँ? संसार किसका है' आदि चिन्ता अर्थात् विचार करें, यही विधान है। इसीलिए कहता हूँ तुम्हें भी विचार-परायण होना उचित है। बेटा! विचार कर देखो, धर्मशाला में जितने दिन रहना होता है, उतने दिन वहाँ घर को साफ करके ही रहना पड़ता है और वहाँ के अन्य यात्रियों को बाबूजी, भैयाजी, माताजी, बहनजी आदि सम्बोधन ही किये जाते हैं। परन्तु 'यह घर मेरा नहीं है और ये सब माता-पिता, भाई-बहन भी मेरे नहीं हैं, दो दिन के बाद ही यह स्थान छोड़ जाना होगा,' ऐसा बोध तुम्हारे मन में दृढ़ रूप से रहता है। इसी कारण धर्मशाला का इतना सुन्दर भवन तथा उन माता-पिता, भाई-बहनों को छोड़कर चले जाने में तुम्हें कोई भी कष्ट नहीं होता; ठीक उसी प्रकार 'मैं इस संसार-रूपी धर्मशाला में हूँ,' ऐसा बोध दृढ़ रूप से मन में रखकर, उस धर्मशाला के मकान तथा माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि की तरह, अपने घर का रक्षण तथा उन कुटुम्बियों का पालन-पोषण करना चाहिये। सदा मन में ऐसी भावना रखकर चलने से मनुष्य को कभी शोक-ताप से जर्जरित नहीं होना पड़ता। बेटा! 'अब रहने दो, बाद को होगा' ऐसा कहकर जो लोग समय बिता देते हैं, ऐसे दीर्घसूत्री होना

…ा नहीं है। क्योंकि दीर्घसूत्रियों को आत्मक्षय के अतिरिक्त और कुछ सुसिद्ध …होता। अतः यदि तुम सुचतुर और बुद्धिमान व्यक्ति हो तो इन सब बाहरी …के अगणित कर्तव्यों में भी तुम अपना जो महान कर्तव्य आत्मतत्त्वालोचना उसे ही सबसे पहले समाप्त कर लो। शास्त्र कहते हैं—

निजात्मपरलाभश्च तच्चातुर्यमुदाहृतम्। (पीठमालातन्त्र)

अर्थात्—"जिस चतुरता से आत्मा, परमात्मा और ईश्वर, इन तीनों का …न होता है वही यथार्थ में चतुरता है।" वेदान्त, भागवत आदि शास्त्र …ही उपदेश देते हैं। बेटा! केवलमात्र इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य-कुल में जन्म लिया करते हैं।"

बेटा! अपनी बुद्धि ही अपना मित्र है। इस कारण अपनी बुद्धि के द्वारा ही …ने को संसार रूपी कीचड़ से उद्धृत करना होगा। कभी अहंकार आदि …िमान के वश होकर अपने को संसार-पंक में नहीं डाल देना चाहिये। …मित्र, शास्त्र, बान्धव आदि कोई भी अपने उद्धार को सहायता नहीं करता। …सदा-सहचर मन यदि सुहृद् अर्थात् विचार से परिशुद्ध हो जाता है उसीसे आत्मोद्धार किया जा सकता है। तुम स्वयं वैराग्य का अभ्यास शास्त्रोक्त पुरुषकार, इन दोनों के द्वारा तत्त्वज्ञान रूप महान नौका में सवार …भवसागर का पार कर सकोगे, नहीं तो तुम यदि अपने को पूर्वकथित नियम …चलाते हो तो तुम स्वयं ही अपना शत्रु हो जाओगे। इस विषय में शास्त्र …ा कहा है—

आत्मा मित्रं चरेद्धर्मं यदि शत्रुर्न वाचरेत्।
इति विद्वान् महेशानि! लोकः सुखमवाप्नुयात्॥ (पीठमालातन्त्र)

अर्थात्—"संसार में वास्तविक शत्रु और मित्र कोई भी नहीं है। मनुष्य …ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु होता है। अर्थात् जो मनुष्य …नुष्ठान करता है, वही अपना मित्र है और जो वैसा नहीं करता वही अपना …है—यह जो जानता है वही सुखी है।" श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात्—"जीवात्मा स्वयं ही संसार से अपना उद्धार करे, अपने को कभी

खेद-युक्त न करे। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।" इतना कहकर महात्मा भजन गाने लगे—

(आमि) निजे निजेर शत्रु होये बोसिये आछि,
ए वार बुझ्ते पेरेछि।
बहु जन्म मनेर धाँधाय, काटिये दियेछि॥
धूर्त मनेर शठताय, कि आश्चर्य जगत देखाय।
ए सब स्वप्न-दृश्य वटे, (मनेर) कल्पनाय गोड़ेछि॥
स्वप्नेर दृश्य देखाय जेमन, एइ धन-जन तेमन।
(तबु) मिछे तादेर शोक-तापे, जेनो मोरे आछि॥
मनके घेरले शक्तो कोरे, एइ मायार बांध जाय रे छिंड़े।
देखि तखन आत्मा रूपे, आमि आमातेइ आछि॥

इसका आशय इस प्रकार है—

मैं अपना शत्रु बन बैठा हूँ, इस बार इसे मैं समझ गया। अनेक जन्म मन की भूलभुलैया में बिता दिये हैं। धूर्त मन की छलना से कैसा आश्चर्य जगत दीखता है। ये सब स्वप्नदृश्य हैं, मन की कल्पना से मैंने गढ़ लिये हैं। स्वप्नदृश्य की तरह यह धनजन भी हैं। (तो भी) वृथा अनेक शोकतापों से मानो मरा पड़ा हूँ। मन को दृढ़ता से पकड़ने पर माया का बन्धन टूट जाता है। तब देखता हूँ, आत्मा रूप में मैं ही अपने में विराजमान हूँ।

महात्मा फिर से कहने लगे—हे सुबुद्धे! विषय-भोग-वासना में आसक्त मूढ़ लोग इतना ही मोहाच्छन्न रहते हैं कि देह-त्याग के समय, देह की स्थिति के समय, सुख-दुःख भोगते समय या धन-जनादि विषयों का भोग करते समय आत्मा को कभी नहीं देखते। इस जगत रूप जंगल में ऐसे अनेक छोटे-छोटे अज्ञान-हस्ती विचरण करते हैं, किन्तु उन्हें पराजित करने के लिए तुम्हें सिंह-वृत्ति का अवलम्बन करना होगा। जिनके मन असंयत और विचार-शक्ति-हीन हैं, वे कभी आत्मा का दर्शन नहीं कर सकते। क्योंकि दस आदमियों को प्रसन्न करना जो आवश्यक समझता है, परमेश्वर के प्रति मन रखने का उन्हें अवसर और योग्यता कहाँ है? केवल मात्र ध्यानाभ्यास में यत्नशील व्यक्ति ही बुद्धि में प्रति-फलित इस आत्मा को ज्ञान-नेत्र से देख सकते हैं।

हे महामते ! इन सारे मनुष्यों के तथा तुम्हारे और हमारे अनेक जन्म बीत हैं, परन्तु मैं उसे जानता हूँ और तुम नहीं जानते। जो कीटाणु अति सूक्ष्म [illegible]ीट के रूप में तुम्हारे शरीर में था वही शुक्रकीट तुम्हारी पत्नी के जरायु [illegible]विष्ट होकर उत्पन्न हुआ है और वह आज पचीस वर्ष के देह-धारी मानव [illegible] दिखाई पड़ रहा है। विचार कर देखो, ठीक इसी भाव से, तुम जो सदा [illegible]देह ही मैं हूँ,' इस प्रकार अभिमान से गर्वित होकर चलते हो, तुम्हारी यह [illegible] देह भी किसी समय अति सूक्ष्म शुक्रकीट के रूप में तुम्हारे पिता की देह [illegible]। उसके बाद माता के जठर में प्रविष्ट होकर वह मनुष्य रूप में उत्पन्न और क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वही सूक्ष्म शुक्रकीट रूप तुम देहाभिमान से संसार [illegible]चरण कर रहे हो। उस शुक्रकीट की अवस्था में जीव के भीतर देहाभिमान [illegible] से ही विद्यमान रहता है। इस तरह तुम्हारे जैसे साधारण मनुष्य [illegible]दिकाल से मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि अगणित देहों में देहाभिमान [illegible]लीत होकर चलते आ रहे हैं और जब जहाँ जन्म लेते हैं, तब वहीं माता-[illegible], भाई-बहन, पत्नी-पुत्र रूप से अन्यान्य जीवों के साथ नये नये सम्बन्ध [illegible]ित करके मम व-बुद्धि के द्वारा बद्ध होकर शोक-ताप से जर्जरित हो रहे हैं। [illegible] 'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया, क्यों आया, फिर देह छोड़कर कहाँ चला [illegible]ऊँगा, इस प्रियतम देह को क्यों छोड़ जाऊँगा' इस प्रकार का कोई भी प्रश्न [illegible]रे मन में उदित नहीं हो रहा है। और भी सूक्ष्म विचार कर देखो, वर्तमान [illegible] की तरह पूर्व-पूर्व जन्मों में तुम्हारे जो माता-पिता, पत्नी-पुत्र या धन-सम्पत्ति [illegible] अब वह कहाँ है ? उन जन्मों के पत्नी-पुत्रों के प्रति तुम्हारा जो प्रगाढ़ प्रेम और तुम्हारे मकान और धन-सम्पत्ति के ऊपर जो तुम्हें तीव्र ममत्व-बुद्धि थी [illegible] प्रकार के मनोभाव अब किस विस्मृति-महा-समुद्र के अतल गह्वर में डूब हैं ? क्या उसे अब याद आता है ? अथवा उस पूर्व-जन्मार्जित धन-[illegible]त्ति और पत्नी-पुत्रादि किसी को साथ लेकर इस जन्म में आ सके हो ? [illegible] भी नहीं ला सके हो। ठीक उसी प्रकार वर्तमान जन्म के पत्नी-पुत्र, [illegible] मान या धन-सम्पत्ति के प्रति ममत्व-भाव का बन्धन तोड़कर हृदय में [illegible]ंचित अतृप्त भोगवासना लेकर तुम्हें यह देह छोड़ देना पड़ेगा। फिर [illegible] नंगे शरीर को लेकर तुम इस संसार [illegible]सबों को भूल जाओगे।

में आये थे, इतने दिनों तक जिसे दूध, घी, पूड़ी, मिठाई आदि खिलाकर, सुगन्धित साबुन से धोकर उत्तम वसन-भूषणों से सुसज्जित किया था, सदा 'मैं मैं' कहकर अहंकार करके जिस देह के द्वारा अब तक संसार के सारे कार्य कर रहे थे, उस प्राण से प्रिय देह को भी यहीं रखकर खाली हाथ अकेला इस भव-धाम को छोड़ कर चला जाना होगा और तुम्हारे ये आत्मीय लोग भी दो दिनों के बाद तुम्हारे लिए शोक-ताप करना भी भूल जायेंगे। यह तो दिन रात ही प्रत्यक्ष देखते आ रहे हो। फिर चक्षु के रहते अन्धे क्यों बने बैठे हो? इन धन-जन, गृह क्षेत्र, भाई-बन्धु आदि के साथ केवल दैहिक व्यवहारिक सम्बन्धमात्र है—पारमार्थिक कुछ भी नहीं है, इसे निश्चय जान लो।

बेटा! रुपये के साथ मनुष्य का जो सम्बन्ध है, एक जीव के साथ दूसरे जीव का भी ठीक वैसा ही सम्बन्ध है। रुपया जब घर में आता है, तभी वह 'मेरा रुपया, मेरा रुपया' ऐसा कहकर लोग उस पर दृढ़ रूप से ममत्व-बुद्धि स्थापित कर आनन्द का अनुभव करते हैं। बाद में जब वह रुपया खर्च हो जाता है या चोर चुरा ले जाता है तब वे उस रुपये के शोक से दग्ध होते हैं। परन्तु रुपया कभी एक स्थान में बद्ध नहीं रहता। वह स्वतन्त्र रूप से कभी इस घर में, तो कभी उस घर में, इसी तरह असंख्य घरों में घूमता-फिरता रहता है। और वही रुपया जब जिसके घर में जाता है, तभी उसे आनन्दित करता है, फिर कुछ दिनों के बाद उसे दुःख-समुद्र में डालकर दूसरे के घर चला जाता है तथा उसी को आनन्दित करता है। तुम्हारे पत्नी-पुत्र आदि जीव भी उस रुपये की तरह दूसरी जगह से आकर तुम्हारे सामने उपस्थित हुए हैं। अब तुम्हारा विचार-विहीन मन दृढ़ भावना के द्वारा उन पर ममत्व-बुद्धि स्थापित करके 'मेरी पत्नी, मेरा पुत्र' आदि सम्बोधन करके आनन्दित हो रहा है। कुछ दिनों के बाद उस रुपये की तरह वे पत्नी-पुत्रादि जब स्थूल देह छोड़कर तुम्हारे पास से अन्यत्र चले जायेंगे तभी तुम्हारा मन 'मर गया, मर गया' कह कर उनके शोक से छटपटाता रहेगा। असल में जीव कभी नहीं मरते और न उनमें कोई परिवर्तन ही होता है। वे रुपये की तरह केवल एक शरीर से दूसरे शरीर में घूमते-फिरते हैं। जो जीव तुम्हारे पास रहकर पति, पिता, पुत्र आदि सम्बोधनों से तुम्हें आनन्द दे रहे थे, अब वे ही जीव इस देह को छोड़कर अन्यत्र अन्य-

करके नये माता-पिता के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें आनन्द दे हैं। रुपये के जिस प्रकार एक व्यक्ति के हाथ से दूसरे के हाथ में जाने पर रुपया नहीं है या उसका नाश हो गया है'—ऐसा कहा नहीं जा सकता, भी एक व्यक्ति से नाता तोड़कर दूसरे के घर में जा उत्पन्न होने पर जीव नहीं है या मर गया है,'—ऐसा कहा नहीं जा सकता; केवल स्थूल देह ही परिवर्तन मात्र होता है। इसी प्रकार तुमने भी अनेक बार जन्म लेकर जीवों को आनन्दित किया है। फिर स्थूल देह छोड़कर अन्यत्र जाते ते) समय उन्हें शोक-ताप से व्याकुल भी किया है। दूसरी ओर अन्य अनेक ों ने भी इसी प्रकार अनेक बार तुम्हारे घर में आकर नाना प्रकार के सम्बन्ध पित करके तुम्हें आनन्दित किया है और देह छोड़कर अन्यत्र जाते समय हें शोक-सागर में निमग्न कर दिया है। इसी रीति से अनादि काल से अज्ञानी संसार में आवागमन कर रहे हैं और अपने मन में विचार-शक्ति के न से कभी 'मेरा मेरा' कहकर आनन्द में मग्न हो रहे हैं और कभी शोक-र में डूब रहे हैं, परन्तु किसी तरह अविच्छिन्न शान्ति नहीं पा रहे हैं। वान शंकराचार्य ने कहा है—

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः, संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥ (मोहमुद्गर)

अर्थात्—"तुम्हारी पत्नी कौन है, तुम्हारा पुत्र ही कौन है, इस संसार व्यापार ही विचित्र है। तुम किसके हो और कहाँ से आये हो। हे भाई, तत्त्व का चिन्तन करो।' इतना कहकर महात्मा अपने भाव में डूबकर न गाने लगे—

वहु जन्म बाँधले बाड़ी, कोथाओ स्थिति होलो ना।
ए जगत जे धर्मशाला, विचार कोरे ताइ दैखो ना॥
तिन दिनेरइ तरे रे मन! स्त्री, पुत्र, मा, सम्बोधन।
तबु तोमार धन-जनेते, 'आमार' बुलि दूर होलो ना॥
दुनियाते सवइ आमार, जावार समय केउ नय काहार।
तबु तोमार 'आमार आमार,' ए कुबुद्धि छाड़िले ना॥

(ऐखन) 'आमार' छेड़े 'आमि' खोंजो, तवे जगत हवे जाना।
'निजे के' ता ना जानिले, शान्ति कोथाओ पावे ना ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

अनेक जन्मों में तुमने घर बनाये, पर कहीं स्थिति नहीं हुई। यह संसार धर्मशाला है, विचार कर देखो! तीन दिनों के लिए ही अरे मन! पत्नी, पुत्र, माता का सम्बोधन। तो भी तुम्हारा धन-जनों में 'मेरा' कहना नहीं छूटा। दुनिया में सभी मेरे हैं, पर जाते समय कोई किसीका नहीं। तो भी तुमने 'मेरा मेरा' की कुबुद्धि नहीं छोड़ी। अब 'मेरा' छोड़ 'मैं' को खोजो, तो जगत ज्ञात होगा। 'तुम कौन हो' उसे न जानने से, कहीं शान्ति नहीं पाओगे।

फिर से वे कहने लगे—वेटा! यह जो संसार रूप मरुभूमि है यह आपत्ति का आधार है और यही अज्ञ मनुष्यों को सदा मुग्ध किये रखती है। अतः यत्नपूर्वक अज्ञता और मूर्खता का विनाश करने की चेष्टा करना अवश्य कर्तव्य है। संसार एक प्रकार का विषम विष है। इसके आक्रमण से जो विसूचिका रोग उत्पन्न होता है, उससे अनेक यन्त्रणाओं का भोग होता है, जिसे सहन करना दुःसाध्य है। परन्तु आत्मतत्त्व-योग उस विष के नाश का पवित्र मन्त्र है। मैं इसीलिए कहता हूँ तुम संसार-क्लेश-विनाशार्थ गुरुवाक्य और शास्त्रप्रमाण का आश्रय लेकर आत्मतत्त्व ज्ञात होकर सुख से विचरण करो।

वेटा! यह संसार एक कारागार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जेल के कैदियों की प्रवृत्ति कभी तुमने देखी है? जो लोग बहुत दिनों के पुराने कैदी हैं वे जेलखाने में रहना ही पसन्द करते हैं और जेलखाने का काम ही उन्हें अच्छा लगता है। उनकी मुक्ति के दिन आने पर दूसरे कैदियों का साथ छूट जायगा फिर उनसे भेंट नहीं होगी, ऐसा सोचकर वे रोने लगते हैं और जो भद्र तथा विचारशील होते हैं, वे जेल जाते ही कब मुक्ति होगी, सदा केवल यही चिन्ता करते रहते हैं। जेल की उन्नति-अवनति या वहाँ के किसी कार्य की ओर उनका ध्यान ही नहीं रहता। जितने दिन वे जेल में रहते हैं, उतने दिन बहुत कष्ट से बिताकर अवधि पूरी होने पर वे आनन्द के साथ कारागार से छूटकर चले आते हैं। ठीक इसी प्रकार इस संसार कारागार के पुराने कैदी घोर विषयासक्त मनुष्य

[दीर्घ]काल तक जीवितावस्था में इस संसार-कारागार में ही रहना चाहते हैं इस संसार की उन्नति के लिए कठोर अध्यवसाय और अदम्य उद्यम करते हैं, परन्तु उन्हें जेल के पुराने कैदियों की तरह ही अन्त में दुःख भोगना [पड़ता] है। जेल के कैदी जैसे दीर्घकाल दण्ड भोग करके उस दीर्घकाल के कठोर [श्रम] की सारी कमाई जेल में ही छोड़ जाते हैं, कुछ भी साथ ले नहीं जा [सकते]; इस संसार-कारागार के कैदी (विषयासक्त व्यक्ति) भी शरीर छोड़ते [समय] पत्नी-पुत्र आदि के साथ फिर भेंट नहीं होगी, ऐसा सोचकर आँसू बहाते [संसार] छोड़ते हैं। अनेक कष्टों से जीवनभर के उपार्जित धन-सम्पत्ति उन्हें छोड़ जाना पड़ता है, एक दमड़ी भी साथ नहीं ले जा सकते। इसीका नाम [का]टकर वन में रखना है'। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी अपने शिष्यों [को] उपदेश देते थे—

हम जाने थे खायेंगे, बहुत जमी बहु माल।
ज्यों का त्यों ही रह गया, पकड़ ले गया काल॥
खाय पकाय लुटाय दे, कर ले अपना काम।
चलती बिरियाँ रे नरा, संग न चले छिदाम॥

इसीलिए कहता हूँ बेटा! मोहमय संसार में इन सब माता-पिता पत्नी-पुत्र [आदि] के साथ आमोद-प्रमोद में रत रहकर और कितने दिन खेलते रहोगे? [तुम्हा]रे या तुम्हारे पत्नी-पुत्रादि के शरीर के नाश के साथ ही साथ यह जो भवरंग [चल] रहा है, इसकी भी समाप्ति हो जायगी। क्या उसे कभी सोचकर देखा है? [स्व]जनों से परिवेष्टित यह संसार किसी एक रोज तुम्हें छोड़ देगा और तुम्हारी [देह] का त्याग करेगा। अतः विचारपूर्वक हृदय में यह धारणा दृढ़ करके तुम [इस] देह में विद्यमान रहते हुए ही इस संसार (सांसारिक वस्तुओं में ममत्व-बुद्धि [तथा] उसके सम्बन्धी चिन्ता) का त्याग क्यों नहीं करते? अति सहज और पूर्ण [शान्ति] देने वाले इस कार्य में किसी भी युक्ति से तुम्हें कोई आपत्ति नहीं रह[नी चाहि]ये। इतना कहकर महात्मा गाना गाने लगे—

तोमार जीबन-सन्ध्या एलो, एबार आपन घरे चलो।
सारा जीबन खेला खेले, ताते तोमार कि फल होलो?

हाड़-मांसे तैयारी पुतुल, धन-जने हइलि आकुल।
निजे पुतुल होये पुतुल खेले, बृथाइ तोर जनम गैलो॥
खैला छेड़े एक्खने, विचार कोरे देख आपन मने।
कोथा होते कि भावेते, ए सब खैला एलो गैलो॥
आपनार खोंज ना करिलि, खैलार धाँधाय पोड़े रलि।
आत्ततत्त ना जानाते, (तोमार) 'नरपशु' नाम हइलो॥

इसका आशय इस प्रकार है—

तुम्हारी जीवन-सन्ध्या आ गयी, अब अपने घर चलो। जीवनभर खेल खेलने से तुम्हें क्या लाभ हुआ? हड्डी-मांस की बनी पुतली, धन-जन में तू व्याकुल रहा। स्वयं पुतली होकर पुतलियों से खेलते हुए वृथा ही तेरा जीवन बिता। खेल छोड़कर अब अपने मन में विचार कर देख। कहाँ से और कैसे, ये सब खेल आये और गये। अपनी खोज नहीं की, खेल की भूलभुलैया में ही तू पड़ा रहा। आत्म-तत्त्व न जानने से तुम्हारा 'नर-पशु' नाम हुआ।

भक्त—प्रभु! आज आपके सामने अपने हृदय की कोई भी बात नहीं छिपाऊँगा। सचमुच ही मैं पत्नी-पुत्रादि स्वजनों की ममता का त्याग नहीं कर सकता। इसीलिए आपके कहे हुए उपदेश मेरे हृदय में प्रविष्ट नहीं होते। क्यों कि देखिये, माँ मुझे प्राण से भी अधिक प्यार करती है, हिन्दू-शास्त्रानुसार पत्नी अर्धांगिनी है। वह पत्नी भी मेरी कितनी अधिक भक्ति-श्रद्धा करती है तथा आहार-विहार आदि सब विषयों में मुझे कितनी शान्ति देती है कि उसकी वर्णना भी नहीं की जा सकती। पुत्र-कन्याएँ जब मेरे पास आते हैं, तब मुझे अत्यन्त आनन्द मिलता है। उनके शिशुकण्ठ की अस्पष्ट बोली सुनकर मेरा हृदय पिघल जाता है। इस कारण मैं देखता हूँ कि वे सभी मुझे अपने प्राण से भी अधिक चाहते हैं और अपने उपार्जित धन से भी मैं सब प्रकार के सुख का भोग करता हूँ तथापि आप कैसे कहते हैं कि ऐसे प्रेम और सुख पूर्ण संसार में कुछ भी नहीं है?

महात्मा—पूर्वोक्त जेलखाने के पुराने कैदियों की तरह तुम जो इस संसार को प्रेम और सुख से पूर्ण समझते हो, वह तुम्हारा सम्पूर्ण भ्रम है। केवल कपट के ऊपर ही इस संसार का मूल स्थापित है। यदि कोई हृदय खोलकर

प्रकट करता तो संसार कहने का कुछ भी नहीं रहता, सारा प्रेम-सम्बन्ध जाता। अच्छा कहो तो क्या तुम सचमुच ही अपनी पत्नी से प्यार करते ?

भक्त—हाँ प्रभु ! आपसे मिथ्या नहीं बोलूँगा, यथार्थ में ही मैं अपनी पत्नी से प्यार करता हूँ।

महात्मा—यदि तुम्हारी पत्नी भ्रष्टा हो जाय, दूसरे पुरुषों का संग करे, तुम्हारी सेवा न करे और घर के लोगों से सदा झगड़ती रहे और इसी तरह सब कार्यों में तुम्हें केवल अशान्ति ही देती रहे तो क्या तुम उसे प्यार करोगे ?

भक्त—पत्नी यदि मुझे न चाहे और सदा मुझे अशान्ति देती रहे तो मैं ही क्या ऐसी स्त्री को संसार में कोई नहीं चाहेगा।

महात्मा—बेटा ! अब तुम अपनी बात से ही विचार कर देखो कि संसार में जो तुम्हें प्यार नहीं करता और शान्ति नहीं देता, तुम भी उसे नहीं चाहते। तुम्हारी पत्नी यदि दूसरे पुरुषों का संग करके और लोगों के साथ झगड़ा करके ही शान्ति पाती है और यदि तुम उसे प्यार करते तो उसके सुख-शान्ति भोग करने के लिए उसकी इच्छा के अनुसार उस प्रकार कार्य करने देना तुम्हें उचित है। किन्तु तुम ऐसा नहीं करने देते। अतः प्रतीत होता है कि अपनी सुख-शान्ति के लिए ही तुम अपनी पत्नी को चाहते हो और पत्नी की सुख-शान्ति के लिए तुम कभी उसे नहीं चाहते। तुम जो अपनी पत्नी को उत्तमोत्तम गहने-वस्त्रों से सजाते हो, वह भी उसकी शान्ति के लिए नहीं। पत्नी को उस ढंग से सजाने पर वह तुम्हारी दृष्टि में बहुत सुन्दर मालूम होगी, तब तुम्हारा मन भी उस रूप में मोहित होकर आनन्द से उत्फुल्ल हो उठेगा। दूसरी ओर यदि तुम परायी स्त्री में आसक्त हो जाओ और अपनी पत्नी को भोजन-वस्त्रों से सुख-शान्ति न दो तो वह भी तुम्हारे द्वारा सुखी न होने के कारण तुम्हें कभी नहीं चाहेगी। ठीक इसी प्रकार यदि तुम्हारा पुत्र तुम्हारा कहना न माने और अपने कुकर्मों से तुम्हें कष्ट देता रहे तो उस पुत्र को तुम नहीं प्यार करते। जो माता-पिता सन्तान को विष-दृष्टि से देखते हैं वह सन्तान भी उस माता-पिता को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखती, सर्वत्र सर्वदा ऐसी ही घटना हुआ करती है। अब तुम स्पष्ट ही समझ सकते हो कि संसार में सभी अपने अपने सुख के लिए दूसरों को प्यार करने का ढोंग रचते

हैं । यथार्थ में वैसा प्यार दूसरे के सुख के लिए नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के ही वह अपनी सुख-शान्ति के लिए है । महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नी से कहा था—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ।
न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति ।
न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति ।
न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति ।
न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति ।
न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति ।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥ (बृहदारण्यक उपनिषद्)

अर्थात्—"अरे मैत्रेयी ! यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि पत्नी पति के लिए उसे प्यार नहीं करती, किन्तु वह केवल अपने ही प्रयोजन से पति को प्यार करती है । इसी प्रकार पति जो पत्नी को प्यार करता है, वह भी पत्नी के सुख के लिए नहीं, केवल अपने ही मन के प्रीति-साधन के लिए । पुत्रों के सुख के निमित्त

पिता के स्नेहभाजन नहीं होते। पिता का प्रीति-सम्पादन करने से ही पुत्र पिता प्रेमपात्र होते हैं। लोग जो धन-रत्नाति को चाहते हैं वह उन धन-रत्नादि के के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए। ब्राह्मण को सन्तुष्ट करने के लिए कोई ब्राह्मण की सेवा नहीं करता। अपने स्वार्थ के लिए ही निम्न वर्ग के लोग ब्राह्मण सेवा करते हैं। क्षत्रिय के स्वार्थ के लिए उसका कोई आदर नहीं करता, अपना कार्य सिद्ध करना ही उसका उद्देश्य है। स्वर्गादि लोक जो मनुष्य के सुख कारण होते हैं, वह उन स्वर्गादि लोकों के प्रयोजन से नहीं, अपनी तृप्ति-साधन के उद्देश्य से ही स्वर्गादि लोक मनुष्य के प्रिय होते हैं। लोग जो देव-पूजादि करते हैं, वह भी देवताओं के सुख के लिए नहीं, उपासक की अपनी अभीष्ट-सिद्धि ही उसका मुख्य उद्देश्य है। अन्यान्य प्राणियों का जो पालन-पोषण किया जाता है, वह भी उनके सुख के लिए नहीं। वह भी मनुष्य के अपने स्वार्थ-साधन के ही उद्देश्य से है। और अधिक क्या बताऊँ, संसार के सारे पदार्थ या व्यक्ति किसी दूसरे के लिए प्रिय नहीं होते। अपने अपने जीवात्मा (आत्मन) की प्रीति के लिए ही वे सब प्रीति के पात्र बनते हैं।" अतः बेटा! जब तक तुम अपने परिवार के मनुष्यों को दिन-रात परिश्रम करके धनोपार्जन आदि द्वारा शान्ति दे सकोगे, केवलमात्र उतने ही दिन वे तुमसे प्यार करेंगे। सद्गुरु आचार्य शंकर भी कहते थे—

> यावद्वित्तोपार्जनशक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः।
> तदनु च जरया जर्जरदेहे, वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे॥
> (मोहमुद्गर)

अर्थात्—"जब तक तुम वित्त के उपार्जन में समर्थ रहोगे, तब तक ही तुम्हारे परिवार के लोग तुमसे अनुरक्त रहेंगे। उसके अनन्तर वृद्धावस्था में जब तुम्हारा शरीर जरा-जीर्ण होकर अपटु हो जायगा, तुम धनोपार्जन नहीं कर सकोगे, तब तुम्हारी कोई खबर भी नहीं लेगा।" अतः जान लेना कि इस संसार में हरएक मनुष्य अपने मन का स्वार्थ साधित करने के लिए सत्य छिपाकर रहस्य में पत्नी कहती है 'मैं पति को प्यार करती हूँ,' पति कहता है 'मैं पत्नी को प्यार करता हूँ' माता कहती है 'मैं पुत्र से स्नेह करती हूँ' और पुत्र कहता है 'मैं माता की भक्ति करता हूँ' और भाई कहता है 'मैं भाई को हृदय से भी

अधिक चाहता हूँ' इत्यादि। परन्तु यदि वे सभी कपट छोड़कर हृदय की सत्य बात प्रकट करके कहते हैं कि 'मैं अपनी ही शान्ति के लिए दूसरे को प्यार करता हूँ' तो इस विश्व में संसार नाम से कुछ नहीं रह जाता। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में विभोर होकर गाना गाने लगे—

उलंग वेशेते, एसे रिक्त हस्ते,
जुटायेछो जगते कतो 'आपनार'।
तुमि कार, के तोमार, भेवे देखले ना,
तुमि बुझे बोझो ना, मन! बुझे बोझो ना॥
सबे आपन स्वार्थ, साधिबार तरे, ×
स्त्री-पुत्रादि रूपे सम्पर्क करे।
परस्परे भालोबासा, देखाय बाहिरे।
केउ तोर साथी हबे ना, तोर साथी हबे ना॥
खेटे सारा जीवन, अवसर ना पेले कखन,
आरओ सबे करे वञ्चना।
तबु अज्ञ नरे इहा, बुझे ओठे ना,
ए सब मायार छलना, ए सब मायार छलना॥
जीबन-सन्ध्या एलो आपन घरे चलो,
बाहिरेते खुँजे, शान्ति पावे ना।
ऐतो देखेओ मन तोमार, बिचार एलो ना,
मिछा ए दुनिया, मिछा ए दुनिया॥

इसका आशय इस प्रकार है—

उलंग वेश में खाली हाथ आकर (तुमने) संसार में अनेक 'अपने' को जुटा लिया है। तुम किसके हो, कौन तुम्हारा है, इसे सोचकर नहीं देखा, तुम समझकर भी नहीं समझते, मन! समझकर भी नहीं समझता। सभी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए, पत्नी-पुत्रादि रूप से सम्पर्क बना लेते हैं। सभी आपस में अपना प्रेम बाहर दिखाते हैं। परन्तु कोई तेरा साथी नहीं होगा, साथी नहीं होगा। जीवनभर परिश्रम करके कभी अवसर नहीं मिला, अपितु सभी दूसरे को ठगते

तो भी अज्ञानी मनुष्य इसे समझ नहीं सकते। ये सब माया की छलना है, माया की छलना है। अब जीवन-सन्ध्या आ गयी, अपने घर (लौट) ...। बाहर खोजने से कभी शान्ति नहीं मिलेगी, अरे मन! इतना देखकर भी ... विचार नहीं आया। मिथ्या है यह दुनिया, मिथ्या है यह दुनिया।

पुनः महात्मा कहने लगे—बेटा! इस संसार रूपी जम्बू-द्वीप के जंगल में ...मुग्ध अनेक नर-पशु विचरण करते हैं, परन्तु तुम उनकी तरह विचरण न ...। सूअरी अपने बच्चों के साथ पोखरे के कीचड़ में रहना ही पसन्द करती है, ...तु तुम उसकी तरह संसार रूप कीचड़ में डूबे न रहो। उठो, जागो और ...ने मन में विचार उत्पन्न करो।

तुम इस संसार में जन्म ग्रहण करते समय जिस प्रकार किसीसे कुछ न ...कर या आदेश-उपदेश न लेकर अथवा किसी की भलाई-बुराई, हिताहित, ...कार-अपकार के प्रति कुछ भी ध्यान न देकर स्वेच्छा से ही यहाँ आये हो; ...यु के समय भी ठीक उसी प्रकार भाई-बन्धु, पत्नी-पुत्र, घर-द्वार, धन-सम्पत्ति ...दि के प्रति कुछ भी ध्यान न देकर या किसी का मुँह न देखकर अथवा ...सीके अनुरोध-उपरोध की ओर ख्याल न करके स्वतन्त्र रूप से ही चले ...ओगे। केवल तुम्हीं क्यों, संसार के सारे मनुष्यों से लेकर कीट-पतंगादि ...भी जीवों के इसी प्रकार स्वेच्छा से या स्वतन्त्र रूप से जन्म-मरण होते रहते ...। तब किसी तरह भी एक दूसरे के लिए क्षणभर भी प्रतीक्षा नहीं करता और ...ष्य की कमायी हुई धन-सम्पत्तियों के सम्बन्ध में भी तुम सदा देख रहे हो ...धनी व्यक्तियों के बहुत कष्ट से अर्जित धन-सम्पत्ति किसी उपाय से दूसरे ...न या दूसरे के हाथ में चले जाने के कारण वे धनी भिक्षुक हो जाते और ...ने ही गरीब नये धनी बनते हैं। अतः यदि वह धन-सम्पत्ति यथार्थ में धनियों ...प्यार करती तो धनियों के दुःख-कष्टों की बात सोचकर वह उन्हीं धनियों ...घर में ही रह जाती। अतः धन-सम्पत्ति भी किसीके दुःख-कष्ट के प्रति ...ल न करके स्वतन्त्र रूप से जब जहाँ चाहे चली जाती है। इन दृष्टान्तों ...द्वारा तुम समझ गये हो कि संसार के धन और जन किसी के लिए प्रतीक्षा ...हीं करते। ये एक दूसरे की सुख-शान्ति या शुभाशुभ के प्रति ध्यान न देकर ...एक अपनी ही सुख-शान्ति खोजकर अपने अपने योग्य समय के अनुसार

इस संसार में आवागमन करता रहता है। अतः इन सबको प्रत्यक्ष देखकर भी तुम किस बुद्धि से किस युक्ति के बल इन सब धन-जनों के ऊपर ममत्व-बुद्धि स्थापित कर वृथा ही शोक-ताप भोग रहे हो? पतंग जिस प्रकार अँधेरी रात में अग्नि के सुन्दर रूप के मोह में पड़कर उस अग्नि को आलिंगन करते हुए प्राण खो देता है, तुम लोग भी ठीक उसी प्रकार अज्ञानान्धकार में विषय के नाम-रूप के मोह में फँसकर संसार के वृथा आडम्बर की आग में जल मर रहे हो। अन्तिम समय में सभी कहते हैं, 'सुख कहाँ है, सुख कहाँ है, ये सभी मरुभूमि हैं, जल कहाँ है, मैं कैसा मूर्ख हूँ, इतने दिनों तक मरुभूमि में कुआँ खोदा पर जल नहीं मिला, खोदने का परिश्रम ही वृथा गया, जल कहाँ है, जल कहाँ है, परिश्रम करते करते शरीर निर्बल हो गया, मन की शक्ति घट गयी, मरण-समय उपस्थित है, अब मेरा कौन है? कितने ही व्यक्तियों को मैंने अपनाया, परन्तु कहाँ, एक भी तो मेरा नहीं हुआ!' इस विषय में एक कहानी कहता हूँ, सुनो।

सेमल के फूल का तत्त्व न जाननेवाला एक अज्ञानी व्यक्ति एक दिन किसी सेमलके वृक्ष के सुन्दर लाल फूलों को देखकर सोचने लगा—'वे फूल देखने में जब इतने सुन्दर हैं तो न मालूम इनकी सुगन्ध कितनी अच्छी होगी। ऐसा सोचते-सोचते उसने उस सेमल के वृक्ष के काँटों को झेलते हुए ऊपर चढ़कर एक फूल तोड़कर सूँघा और देखा, उसमें कुछ भी सुगन्ध नहीं है, केवल रूप का ही आडम्बर है। अतः उसके उस वृक्ष के चढ़ने का परिश्रम वृथा ही गया! तथापि वह विचारहीन अज्ञानी व्यक्ति सोचने लगा—'सम्भवतः इस फूल से फल होने पर वह बहुत ही स्वादिष्ट होगा—अतः इसी वृक्ष के नीचे प्रतीक्षा की जाय। फल होने पर उसे खाकर मैं अपना परिश्रम सार्थक करूँगा।' इस आशा से हृदय बाँधकर वह अज्ञ व्यक्ति उस वृक्ष के नीचे प्रतीक्षा करने लगा। कुछ दिनों के बाद उसने देखा—उस सेमल के फूलों में बड़े-बड़े फल लगे हैं और वे फल दिन पर दिन पुष्ट हो रहे हैं। इसे देखकर उस अज्ञानी व्यक्ति के मन में उन फलों को खाने की आशा भी दिन पर दिन पुष्ट होने लगी। वह सोच रहा था कि 'उन फलों के पक जाने पर खाने का प्रबन्ध करूँगा।' इस आशा से वह आनन्द में मग्न होकर और भी कुछ दिनों तक उसी वृक्ष के नीचे प्रतीक्षा करने लगा। उसके बाद उस मूर्ख ने देखा—वे सेमल के फल फटकर उसके अभिलषित

वस्तु ( अर्थात् उन फलों के भीतर की रूई ) हवा में उड़ती चली जा है। इसीलिए उसकी उन फलों के खाने की आशा भी उस वायु के साथ उड़ गयी। बेटा ! तुम लोग भी इस संसार रूपी सेमल-वृक्ष के फूल-फलों रूप-रस के मोह में फँसकर उस अज्ञानी की तरह इकटक पत्नी-पुत्र, गृह-आदि की ओर देखते रहते हो और सोच रहे हो कि भविष्य में इन्हींके सुख-शान्ति का भोग करोगे। उसके बाद अन्तिम समय में तुम्हें पता गा कि उस सेमल की रूई के उड़ जाने के समान काल-प्रवाह में पड़कर धन-जन आदि कहाँ उड़ गये हैं और तुम भी 'हा हतोऽस्मि' कहकर अतृप्त नाओं के साथ इस देह को छोड़कर चले जाओगे। अतएव तुम विचारशील वैराग्यवान होकर इस संसार-रूप सेमल-वृक्ष के फूलों की मोहिनी मूर्ति कर मोहित न हो, बल्कि निर्मम और निष्काम रहकर परम शान्ति में स्थित रहो।

भक्त--हे भगवन् ! आपकी असीम करुणा से और आपके अकाट्य युक्ति-यों के द्वारा अब मेरे मन के सामने से मोह का पर्दा हट गया है। इस रणीय संसार-मरुस्थल के विषय में मेरे सन्देह दूर हो गये हैं। आपकी कृपा अब मैंने निःसन्दिग्ध रूप से शान्ति प्राप्त की है। हे दयामय ! आप सर्वज्ञ हैं, कारण मैं फिर से पूछता हूँ, सदा ही हम विषयों के द्वारा शोक-दुःख पाकर शित होते हैं तो भी इतने दुःख-कष्टों का भोग करके भी फिर से मन क्यों विषय के भोग में लिप्त रहना चाहता है ?

महात्मा—बेटा ! तीव्र विचार और वैराग्य के न रहने के कारण ही मन की दशा होती है। कुत्ते का जिस प्रकार विष्ठा भक्षण करना ही जन्मगत स्वभाव उसी प्रकार मन का भी विषयों में लिप्त रहना ही मज्जागत स्वभाव है। सैकड़ों पीटे जाने पर भी जैसे कुत्ता विष्ठा-भक्षण नहीं छोड़ता, वैसे ही गुरु-वाक्य वेद-वाक्य के सैकड़ों अकाट्य युक्ति-प्रमाणों के द्वारा तथा प्रत्यक्ष दिखाकर को विषयों की हानिकारकता दिखाने पर भी मन किसी तरह भी, विषय-वासना ना नहीं चाहता। विषयों से असंख्य बार टक्कर खाकर भी, लांछना-यातना भी मन को किसी तरह अपमान-बोध नहीं हो रहा है। जैसे किसी एक में किसी एक आदमी ने एक दूसरे विपक्षी व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए

कहा था—'मैं बहुत जगह जूते से पीटा गया हूँ, परन्तु आज तक कोई भी मुझे अपमानित नहीं कर सका। इसलिए अब गाली-गलौज से तुम फिर मेरा अपमान क्या करोगे ?' तुम्हारा यह मन भी ठीक उसी प्रकार है। इतना कहकर महात्मा भजन गाने लगे—

तबु मन तोर लज्जा होलो ना।
बहु जन्म घुरे-घुरे, पेलि लाञ्छना ॥
बारे-बारे दुःख पेये, कतो जन्म एलि धेये।
(तबु) ए बारेओ तोमार घटे विचार एलो ना ॥
ऐतो दागा पेयेओ तोर 'आमार आमार' होलो ना दूर।
(ऐखन) 'आमि आमार, तुमि तोमार' ए वुलि छाड़ो ना।
बिबेक-हीनेर शान्ति कोथाय ? ए दृष्टान्त जथा तथाय।
दुनियाते तोर न्याय अन्ध, काउके देखि ना ॥
ए बार मानब जन्म पेलि, ताहाओ बृथा खोयालि।
भोग-पिपासाय आर कतो काल, सइबि जातना ॥
ज्ञानगुरुके सम्बल कोरे, ए बार चल निज अन्तःपुरे।
(नइले) त्रिभुबने परम शान्ति, कोथाओ पाबे ना ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

तो भी मन तुझे लज्जा नहीं आयी। बहु जन्म घूम-घूमकर लांछना पायी। बार-बार दुःख पाकर कितने जन्म (तू) दौड़ता आया तो भी इस बार भी तुम्हारे मन में विचार-बुद्धि नहीं आयी। इतना कष्ट पाने पर भी तेरा 'मेरा मेरा' कहना दूर न छूटा। अब तो 'मैं, मेरा, तुम, तुम्हारा' कहना छोड़ो। विवेकहीन को शान्ति कहाँ ? यह दृष्टान्त जहाँ-तहाँ। दुनिया में तेरे समान अन्धा किसीको नहीं देखता हूँ। अब की मानव-जन्म पाया, उसे भी वृथा गँवाया। भोग-प्यास में और कितने दिन तू सहेगा यातना। ज्ञान-गुरु का आश्रय लेकर अब चल अपने अन्तःपुर। (नहीं तो) विश्व में परम शान्ति कहीं नहीं मिलेगी।

भक्त—प्रभु ! संसार में आकर हमारे जैसे अज्ञ जीवों को सदा क्या सोचना चाहिए ?

महात्मा—बेटा ! सदा यही मन में विचारना चाहिये कि—"यह जो जगत्-
र देख रहा हूँ, यह क्या है ? यह कहाँ से आया ? मैं कौन हूँ ? यह जो सुख
ह क्या है ? इस चराचर विश्व की वस्तुएँ स्वप्न-तुल्य मिथ्या और नाशवान
था विपत्ति के मूल हैं और पाप तथा क्लेश के कारण हैं। संसार में ऐसी
दृष्टि है क्या, जिसमें दोष का सम्पर्क नहीं है ? ऐसा कोई विषय है क्या,
से दुःख का दाह नहीं उत्पन्न होता ? ऐसा कोई उत्पन्न पदार्थ है क्या,
का विनाश नहीं है ? ऐसी कोई क्रिया भी है क्या, जो माया से संलिप्त न
? किस स्थान से मैं आया, परिणाम में कहाँ मुझे जाना होगा ? क्या मैं
र इसी तरह संसार में रह सकूँगा ? मेरे ये सहायक, मित्र, धन, सम्पत्ति,
, विभव कहाँ से आये ? कैसे हुए ? क्या बराबर ही ये ऐसे रहेंगे, या
कहीं लुप्त हो जायेंगे ? मेरे पहले कितनी बार लाखों मनुष्य इस संसार
आये थे, क्या वे अभी हैं, या किसी दूसरे स्थान में चले गये हैं ? अहो !
नादि काल से इसी तरह आवागमन चल रहा है, जो जाता है वह फिर
कर नहीं आता। कहाँ जाता है ? क्या मैं भी वहीं जाऊँगा ? सभी के लिए
नियम निर्दिष्ट है, मेरे लिए भी क्या वही नियम लागू होगा ? यदि सभी
मरना है तो मैं ही क्यों न मरूँगा ? प्रत्यक्ष देख रहा हूँ प्रतिदिन शत-शत
क काल के गाल समाते जा रहे हैं और समाते रहेंगे तो मैं ही क्यों न
गा—अवश्य ही मरना पड़ेगा।" इन सब विचारों को मन में लाना और
दिन प्रतिक्षण अपनी देह के नश्वरत्व का पर्यवेक्षण करना कर्तव्य है। हे
मते ! पूर्वोक्त रूप विचार जिसके अन्तर में नहीं उठता, मुक्त होना
दूर की बात है जीव-भ्रान्ति रूप दीर्घ ज्वर का भोग करके वह क्रमशः
र्ण-शीर्ण होता रहता है। जो भोगलिप्सु नहीं है उसीके हृदय में
विचार उत्पन्न होता है और वह सफलीभूत भी हो जाता है। इन
षयों की पर्यालोचना करने से ही मरुभूमिगत पथिक की तरह
सार के प्रति एकान्त वितृष्णा उपस्थित होती है। उस समय तत्त्वज्ञ
हापुरुष से इन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर जान लेना अत्यन्त आवश्यक होता
। क्योंकि यह जगत्-संसार ऊपरी दृष्टि से जिस प्रकार प्रतीत होता है वह
का यथार्थ स्वरूप नहीं है। तथापि 'ऐसा क्यों प्रतीत होता है ?' इसका

प्रत्युत्तर यह है कि रज्जु को सर्प की तरह, शाखाहीन वृक्ष को मनुष्य या भूत की तरह लोग क्यों देखते हैं ? अज्ञान ही इसका कारण है और ज्ञान-दृष्टि से सत्य रज्जु और वृक्ष ही दिखाई पड़ता है। ठीक उसी प्रकार सत्य ज्ञान के अभाव से ही जगत् का रूप प्रतीत होता है; ज्ञान-दृष्टि से देखने पर सर्वत्र ब्रह्मस्वरूप या आत्मस्वरूप ही उपलब्ध होता है, संसार का रूप नहीं अनुभूत होता। हे महाबाहो ! इस संसार में धर्म के बिना कोई भी यथार्थ बन्धु या सहायक नहीं है। आत्मतत्त्व रूप धर्म ही एकमात्र प्रिय सुहृत् तथा यह धर्म ही परम हितैषी बन्धु है। इस ज्ञान-धर्म के पथ का पथिक होकर साधुओं का सत्संग प्राप्त करके कल्याणकारी विषयों की आलोचना में शरीर-पात करना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है। इतना कहकर महात्मा अपने भाव में विभोर होकर गाना गाने लगे—

सकल चिन्ता छाड़िये, करो निज अनुसन्धान।
कोथा होते आसियाछो, जाइबे कोथाय, आछो कोन् स्थाने ?
सुखेर आशा भुरि भुरि, ए सकल जे दुःखेर काँड़ि।
धन-जनेते सुख पेले ना, ( तबे ) आशा छाड़ो ना कैने ?
ए भबे जाहा दैखो सार, विचार कोरले सकल असार।
भ्रमे बलूछो 'आमार आमार' ( तोमार ) साथी नाइ एखाने॥
मानब-देहे एसेछिले, ( बृथा ) पर-चर्चाय दिन काटाले।
आपन तत्त ना जानिले, शान्ति नाइ त्रिभुबने॥

इसका आशय इस प्रकार है—

सब चिन्ताओं को छोड़कर अपनी खोज करो। कहाँ से आये, कहाँ जाओगे और हो कहाँ ? ( तुम जो ) सुख की अनेक आशाएँ करते हो ये सभी दुःखमय हैं। धन-जनों में सुख नहीं पाया, तो आशा क्यों नहीं छोड़ते ? इस संसार में जो सार देखते हो, विचार करने से वह सभी असार हैं। भ्रम से कहते हो 'मेरा मेरा,' ( तुम्हारा ) साथी यहाँ कोई नहीं है। मानव-देह में आये थे, ( वृथा ) परचर्चा में दिन बिता दिया। अपना तत्त्व न जानने से त्रिभुवन में शान्ति नहीं मिलेगी।

भक्त—प्रभु ! मैं सभी से सद्व्यवहार पाकर, सबका प्रिय बनकर कैसे सुखपूर्वक जीवन बिता सकूँगा, उसीका उपदेश मुझे दीजिये।

महात्मा—बेटा ! इस संसार को एक दर्पण-सा जानना। दर्पण के सामने खड़े होकर तुम जिस प्रकार अंग-भंगी करोगे, दर्पण के भीतर का प्रतिबिम्ब भी वैसी ही अंग-भंगी तुम्हें दिखायेगा। यदि तुमने उस प्रतिबिम्ब को आँखें दिखायीं तो वह भी तुम्हें ठीक उसी प्रकार आँखें दिखायेगा। यह संसार भी इसी प्रकार प्रकृति के एक दर्पण के समान है। तुम्हारी मनःप्रकृति जब जिस प्रकार का रूप धारण करेगी, जगत्-रूप दर्पण में भी ठीक वैसा ही रूप प्रत्यक्ष होगा। यदि तुमने कटु वचन सुनाये तो उत्तर में तुम्हें भी कटु वचन ही सुनने पड़ेंगे। इसी तरह क्रोध के बदले क्रोध, हिंसा के बदले हिंसा तथा प्रेम-प्यार के बदले प्रेम पाओगे। बिजली-शक्ति जिस प्रकार अपने उत्पादक यन्त्र (dynamo) से निकलकर फिर घूमकर उसी यन्त्र में समा जाती है, ठीक उसी प्रकार माया-प्रकृति की सारी शक्तियों के सम्बन्ध में भी यही नियम है। सारी शक्तियाँ घूम-फिरकर जहाँ से निकली थीं, उसी स्थान में आकर मिल जाती हैं। इस हेतु किसीसे घृणा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह शक्ति या घृणा जो तुम्हारे भीतर से निकली है वह किसी समय किसी दूसरे के द्वारा तुम्हारे ही भीतर लौट आयेगी (अर्थात् किसी समय कोई तुमसे घृणा करेगा)। यह बात अत्यन्त सत्य है कि मनुष्य के अन्तःकरण से जो घृणा या हिंसा का बीज निर्गत होता है वह घूम-फिरकर उसी पर पूर्ण पराक्रम से अपना प्रभाव का विस्तार करता है। कोई भी इस नियम को रोक नहीं सकता। प्रेम, भक्ति, प्यार आदि के विषय में भी ठीक ऐसा ही जानना। यह बात याद रहने से ही मन कुकर्म से निवृत्त रहता है। बेटा ! जो दिया जाता है, वही मिलता है। यदि दूसरे का प्रेम चाहते हो तो पहले स्वयं दूसरों से प्रेम का बर्ताव करो। संसार में यदि तुम सबसे सद्व्यवहार पाकर सुख से रहना चाहते हो तो पहले तुम्हें सदाचारी बनना पड़ेगा। यदि कोई तुम्हें मारता या धमकाता है या किसी प्रकार का बुरा बर्ताव करता है तो तुम्हें दुःख होता है। अतः तुम भी किसी को न मारो, न धमकाओ और न किसीसे बुरा बर्ताव ही करो। पितामह भीष्म जब बाणों की शय्या पर लेटे हुए ये तब पाँचों

पाण्डव, कुन्ती, द्रौपदी श्रीकृष्ण के साथ उनके पास जाकर धर्म का तत्त्व जानने के लिए प्रश्न पूछने लगे। उसके उत्तर में भीष्म ने कहा था—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। (महाभारत)

अर्थात्—"अपने प्रतिकूल व्यवहार दूसरों से न करो, यही धर्म है।" आशय यह है कि अपना मन जिस प्रकार व्यवहार दूसरों से पाना नहीं चाहता, जो तुम्हारे मन के अनुकूल नहीं है, वैसा व्यवहार दूसरों से न करो। अंग्रेजों के धर्मग्रन्थ में भी लिखा है—Do to others as you would be done by—"तुम दूसरों से जैसा व्यवहार पाना चाहते हो, उनसे भी वैसा ही व्यवहार करो।" अतः दूसरों से सद्व्यवहार या प्रेम का बर्ताव पाना भी तुम्हारे मन की क्रिया के ऊपर ही निर्भर है। विचारशक्ति से मन में ज्ञान उत्पन्न हुए बिना जगत् के साथ सद्व्यवहार करने में भी मन असमर्थ होता है।

ऐसे समय सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये। इसीलिए महात्मा भी मौन हो रहे। तब वह भक्त तथा अन्य श्रोतृवर्ग यथाशक्ति स्वर्णमुद्रा, वस्त्र, फल मूलादि के द्वारा उन ब्रह्मज्ञ महात्मा की अर्चना करके प्रणाम करते हुए अपने अपने स्थान को प्रस्थित हुए।

---

# उपसंहार

दूसरे दिन वह भक्त तथा श्रोतृवर्ग आकर महात्मा को प्रणाम करते हुए बैठ गये। भक्त ने कहा—प्रभु! बहुत दिनों से परमार्थ तत्त्व के विषय में आपके निकट अनेक प्रकार के उपदेश पाकर मैं परमानन्द का भोग कर रहा हूँ। आज और भी कुछ प्रश्नों के उत्तर आपसे सुनकर स्वदेश लौटने की

इच्छा हो रही है। भगवन्! मैं जानता हूँ, साधु लोग अवनत शिष्य को उपदेश देने में क्लेश-बोध नहीं करते।

महात्मा—बेटा! तुम्हारा प्रश्न क्या है?

भक्त—हे दयामय! मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है?

महात्मा—स्वयं अपने को जानना या आत्मस्वरूप प्राप्त होना है।

भक्त—प्रभु! मैं तो देखता हूँ, शान्ति प्राप्त करना ही सब का ध्येय है।

महात्मा—बेटा! स्वयं अपने को जानना अर्थात् आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व प्राप्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है, जिससे शान्ति लाभ हो सकता है। इस कारण संसार में यदि कुछ जानना हो तो पहले अपने (आत्मा) को जानो; यदि कुछ देखना हो, तो पहले अपने (आत्मा) को देखो; यदि कुछ सुनना हो तो पहले अपनी (आत्मा की) बात सुनो; यदि किसी प्रकार की चिन्ता करनी हो तो पहले अपने (आत्मा के) रूप की चिन्ता करो; यदि कुछ समझना हो तो पहले अपने (आत्मा) को समझो; यदि कोई बात कहनी हो तो सदा अपनी (आत्मा की) बात कहो; और यदि किसी रस का स्वाद लेना हो तो सब से पहले अपने (आत्मा के) रस का स्वाद लो। एक-मात्र इसीके द्वारा मानव माया-बन्धन से मुक्त होकर चिरशान्ति प्राप्त कर सकता है। इस विषय में वेदान्त कहते हैं—

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यथा तथा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम्? (वराहोपनिषद्)

अर्थात्—"जो लोग अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व (अपना तत्त्व या आत्मतत्त्व) नहीं जानते, वे भ्रान्त हैं। इस जीवन में उनको मुक्ति कहाँ? सुख ही कहाँ? अद्वितीय ब्रह्म का स्वरूप न जानने से भ्रान्ति रह जाती है। भ्रान्त पुरुष की मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है। मुक्ति न होने से निरवच्छिन्न शान्ति नहीं हो सकती।"

ऐसा कहकर महात्मा गाना गाने लगे—

लोके सदा शान्ति खुँजिये बेड़ाय,
शान्ति कोथा ताहा, देखिते ना पाय।
धन-जन भोगेतेओ, अशान्ति पाय,
काली, कृष्ण, गड, खोदा, शान्ति नाहि दैय॥

सर्व चिन्ता छाड़िये, आपनार खोंजे,
मन जबे प्रबेश करे, अन्तर राज्ये।
अबिच्छिन्न शान्ति-सुख, मिले सेथाय,
साधारणे एइ तत्त, बुझिते ना पाय ॥
आपनार दर्शन, मिलिबे जबे,
तखनेइ मनेते, पूर्णानन्द पाबे।
मनेर धाँधाय, पोड़े मनेरइ धाँधाय,
सबार भाग्ये से आनन्द, घोटे ओठा दाय ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

लोग सदा शान्ति खोजते फिरते हैं। शान्ति कहाँ है, उसका वे पता नहीं पाते। धन-जन के भोग में भी वे अशान्ति ही पाते हैं। काली कृष्ण गाड खुदा शान्ति नहीं देते। सब चिन्ता छोड़ अपनी खोज में जब मन अन्तर राज्य में प्रवेश करता है, तो वहाँ अविच्छिन्न शान्ति-सुख मिलता है। साधारण मनुष्य यह तत्त्व नहीं समझ सकते। जब अपना दर्शन मिलेगा, तभी मन में पूर्णानन्द प्राप्त होगा। मन के धोखे में, मन की भूलभुलैया में पड़कर, सब के भाग्य में वह आनन्द प्राप्त होना कठिन है।

भक्त—महात्मन्! आपने कहा है कि 'सद्गुरु की कृपा के बिना किसी तरह अपने को स्वयं नहीं जाना जा सकता।' मैं स्वयं अपने को जानूँगा, इसमें एक दूसरे गुरु की क्या आवश्यकता है?

महात्मा—बेटा! तुम जो अपने को जानोगे, उसकी शक्ति तुम्हारे भीतर ही है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के भीतर ही सम्पूर्ण ज्ञान विद्यमान है। ज्ञान कभी बाहर से नहीं आता। वर्तमान समय के दार्शनिक लोग भी कहते हैं, 'मनुष्य का ज्ञान अपने भीतर से ही उत्पन्न होता है', परन्तु एक दूसरे ज्ञान के द्वारा उसे उत्तेजित कर लेना होगा; नहीं तो तुम्हारा अज्ञानावृत ज्ञान किसी प्रकार से चेतनायुक्त या प्रकाशित नहीं होगा। क्योंकि ज्ञान की शक्ति से ही ज्ञान का प्रकाश हुआ करता है। हमारे भीतर जो ज्ञान है, उसे उन्मेषित करने के लिए दूसरे ज्ञानी का प्रयोजन है। इसीलिए ऐसे ज्ञानी गुरु की सदा आवश्यकता

संसार में कभी कोई व्यक्ति ज्ञानी गुरु के बिना कुछ भी सीख नहीं सका न सीख सकेगा; क्योंकि गुरु की सहायता के बिना कोई भी ज्ञान प्रकाशित हो सकता। तुम जिस परिमाण में साधन करोगे, उतने ही परिणाम में देव की शक्ति प्राप्त कर सकोगे, नहीं तो नहीं। तुम अपने को नहीं जानते न पहचानते, इस कारण देख भी नहीं सकते। गुरुजी आकर जब दिखा देंगे तब तुम अपने को जान और देख सकोगे। एक कहानी कहता सुनो।

सुरेन्द्र बहुत तमाखू पीने का आदी था। वह रात को भी ३-४ बार उठ कर तमाखू पीता था। इस कारण रात भर उसके घर में लालटेन जलती और दियासलाई, तमाखू, टिकिया, हुक्का, चिलम आदि उसके पास ही थे। एक दिन रात्रि के दो बजे उसे तमाखू पीने की इच्छा हुई, तब उसने टिकिया सुलगाने के लिए दियासलाई हाथ में लेकर देखा, उसमें एक भी सींक नहीं है। इस कारण वह पड़ोसी देवेन्द्र के घर से दियासलाई लेने गया। उस समय पानी बरस रहा था। इस कारण वह लालटेन और टिकिया लिये जाते हुए देवेन्द्र के घर पहुँच कर उसे जगाने के लिए चिल्लाने लगा। देवेन्द्र उस समय गहरी नींद सो रहा था। इतनी रात में चिल्लाहट सुनकर वह चौंक उठा। उसने सोचा शायद किसी पर कोई आफत आ गयी है। वह आकर दरवाजा खोलते ही देखा—सुरेन्द्र लालटेन और टिकिया लेकर उसके दरवाजे के सामने खड़ा है। तब देवेन्द्र ने पूछा—"क्या भाई, इतनी रात को क्यों बुला रहे हो?" उत्तर में सुरेन्द्र ने कहा—"मेरे घर में आग नहीं है। तुम अपनी दियासलाई से इस टिकिया को सुलगा दो। मैं तमाखू पीऊँगा।" इतना सुनते ही देवेन्द्र चिढ़कर बोला—"तुम ऐसे मूर्ख हो कि अपने पास आग रखे हुए टिकिया सुलगाने के लिए आग खोजते हुए मेरे पास आये और मेरी नींद तोड़कर अशान्ति उत्पन्न कर रहे हो। दो, तुम्हारी टिकिया सुलगा देता हूँ।" इतना कहकर उसने सुरेन्द्र से टिकिया और उसकी लालटेन ले ली और उसके सामने बैठकर उस लालटेन की आग से ही उसकी टिकिया सुलगा दी। इसे देखकर सुरेन्द्र बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और सोचने लगा—'मुझे कैसा असम्भव भ्रम हो गया था। मेरे साथ ही आग थी, तो भी अपने अज्ञान के

कारण आग प्राप्त करने के लिए बेचैन होकर मैंने इस गहरी रात में पानी में भींगते हुए खुद भी अनेक कष्ट सहे और देवेन्द्र को जगाकर उसे भी कष्ट दिया।

बेटा ! तुम भी ठीक उसी सुरेन्द्र की तरह हो। सुरेन्द्र जिस प्रकार अपने पास आग रहते हुए भी अज्ञान के कारण उसे न जान सकने से आग प्राप्त करने के लिए अनेक कष्ट सहकर देवेन्द्र के पास गया था, तुम भी उसी प्रकार अपनी अज्ञानता के कारण अपना ब्रह्मभाव न जान सकने से अर्थात् ब्रह्माग्नि तुम्हारे ही भीतर प्रज्वलित है, उसे न जान सकने के कारण तुम 'कहाँ भगवान, कहाँ ईश्वर' कहकर नाना प्रकार की मूर्तियाँ बना कर उनमें खोज रहे हो। फिर कभी अनेक धन-व्यय तथा अनेक कष्ट सहकर विविध तीर्थों में घूम-फिरकर परमात्मा परमेश्वर को खोजते रहते हो। जिस प्रकार देवेन्द्र ने सुरेन्द्र की अपनी लालटेन की आग से ही उसकी टिकिया सुलगा दी थी, अन्य कहीं से कुछ नहीं ला दिया था, तुम्हारे गुरुजी आकर भी ठीक उसी प्रकार तुम्हारी मन-बुद्धि के द्वारा ही तुम्हारा अपना स्वरूप अर्थात् आत्मस्वरूप दिखा देंगे। गुरुजी तुम्हारे शरीर के बाहर से कुछ नहीं ला देंगे। तब गुरुजी की अलौकिक शक्ति देखकर तुम भी सुरेन्द्र की तरह आश्चर्य-चकित होगे और तुम्हारी अपनी अज्ञानता तुम स्वयं ही समझ सकोगे। बेटा ! यदि कोई अपनी धोती के किनारे में मोती बाँधकर थोड़ी देर बाद वह भूल जाय और 'मोती कहाँ' कहकर राख में कीचड़ में उसे खोजने लगे तो उसका सारा परिश्रम ही वृथा होगा, उल्टे उसका शरीर राख और कीचड़ से भर जायगा। उसी प्रकार तुम्हारे शरीर और मन के आवरण से 'अहं-ज्ञान-गम्य' सूक्ष्म आत्मा को आवृत रखकर तुम्हारा बहिर्मुखी मन-रूप जीव उसे भूलकर अनेक देव देवियों की मूर्ति में 'आत्मा कहाँ, ईश्वर कहाँ, ब्रह्म कहाँ' आदि कहकर बाहर खोजते रहते हो और उन जड़ मूर्तियों की पूजा से मन में कीचड़-मिट्टी ही लग रही है अर्थात् मन की दुर्बलता ही बढ़ रही है।

भक्त—प्रभु ! अपने को जानने का सहज मार्ग क्या है ?

महात्मा—बेटा ! स्वयं ही अपना भक्त हुए बिना आत्मा को किसी तरह नहीं जाना जा सकता। मनुष्यमात्र की ही मनःप्रकृति बहिर्मुखी है। जब तक मन 'सांसारिक विषयों के द्वारा ही सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं', कह कर केवल विषयों को ही दोष देखता है तब तक मन को बहिर्मुखी ही जानना चाहिये।

में जब वह मन 'स्वयं ही अपने सुख-दुःख का मूल कारण है' यह जानकर ही अपना दोष देखने लगता है, तभी उस मन को अन्तर्मुखी जानना चाहिये। बहिर्मुखी मन सदा ही दुःख देता है। इस बहिर्मुखी मनः-प्रकृति को अन्तर्मुखी करना ही साधना है। एकमात्र इसी साधना के द्वारा ही स्वयं अपने को जाना जा सकता है। इसका और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यह प्रकृति जब अन्तर्मुखी हो जाती है, तभी शान्ति प्राप्त होती है। यही शान्ति यथार्थ सुख या ब्रह्मानन्द है। परन्तु तुम्हारा विषयासक्त बहिर्मुखी मन चाहता है, बहिर्मुखी रहकर ही अन्तर्जगत् के विषय अर्थात् आत्मतत्त्व जान ले, परन्तु वह सर्वथा असम्भव है। क्योंकि जितने दिनों तक मन अन्तर्मुखी नहीं होता, उतने दिनों तक वह मन किसी तरह अन्तर्जगत् का कोई समाचार नहीं पा सकता या किसी के द्वारा अन्तर्जगत् का समाचार बताये जाने पर भी वह उसे नहीं समझ सकता। जिसका मन जिस परिमाण में अन्तर्मुखी हुआ है, वह केवल उतने ही परिमाण में भीतर का समाचार जान सका है। मन में विचार न आने तक वह भी अन्तर्मुखी नहीं होता और अन्तर्मुखी हुए बिना भी मन शान्त नहीं होता। मन के शान्त हुए बिना भी लोग शान्ति नहीं पाते। मन अन्तर्मुखी होकर शान्त निरंजन आत्मा का दर्शन करके ही शान्त होता है और तभी मन चिरशान्ति प्राप्त करता है।

वत्स ! ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त सांसारिक सभी आनन्द विषयानन्द हैं। इसीलिए खण्ड जीव-चैतन्य के अखण्ड परम शान्त परम स्थान में प्रतिष्ठित होकर स्थिति लाभ न करने तक किसी तरह भी शान्ति प्राप्त नहीं होगी। इसीलिए इस जीव और ब्रह्म का अभेदज्ञान ही मुक्ति का साधन है। सब आश्रम धर्मों के व्यवस्थापक सर्वज्ञ-वेद-शास्त्र का यही आदेश है। अतः सद्गुरु का आश्रय लेकर उनका सत्संग करना ही इसका एकमात्र सहज उपाय है। इन सब विषयों के सदा अभ्यास के द्वारा स्वयं ही अनुभव करना होगा, नहीं तो केवल मेरे मुख से व्याख्या और उपदेश सुनने से काम नहीं चलेगा। क्योंकि ये सब केवल व्याख्यान के विषय नहीं हैं। साधन के द्वारा जब तक अपरोक्ष रूप से अनुभूति नहीं होगी, तब तक तुम इन बातों को ठीक से भी नहीं समझ सकोगे।

भक्त—प्रभु ! आप जो ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान की बात कह रहे हैं, इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान तो संसार में सभी को है। क्योंकि 'मैं हूँ' यह ज्ञान जीवमात्र में ही है। अतः सभी ब्रह्मज्ञानी हैं। तो इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए इतना कष्ट क्यों करना पड़ेगा ?

महात्मा—बेटा ! ज्ञान तीन प्रकार के हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। साधारण मनुष्यों में जो इस शरीर पर 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान है, वह अज्ञान से भी अज्ञान या तामसिक ज्ञान है। यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है, यह भ्रम ज्ञान है। परमात्मा जो सर्वगत हैं, वह तो तुम्हारे अनुभव में नहीं आ रहा है; केवल तुमने इसका अनुमान मात्र कर लिया है। ऐसा अनुमान भी एक प्रमाण ही है सही; परन्तु अपरोक्ष उपलब्धि के समान नहीं। अतः 'मैं ही आत्मा हूँ,' ऐसा अनुभव न होने से उसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं कहा जाता। 'मैं ही आत्मा हूँ,' ऐसी उपलब्धि को ही यथार्थ ज्ञान कहते हैं और 'मैं मन या जीव' हूँ ऐसे अनुभव को ही अज्ञान कहते हैं। और 'मैं देह हूँ,' ऐसे अनुभव को अज्ञान से भी अज्ञान कहते हैं।

किसी सियार के गढ़े में एक सिंह का बच्चा पाला-पोसा जाकर सियारों के साथ रहते-रहते अपने निडरपन और बल-विक्रम आदि सिंह के गुण भूल गया और डर, घबड़ाहट आदि के द्वारा सियारों का-सा बन गया था। कुछ काल के बाद किसी दूसरे सिंह ने जब उसे देख लिया तब उसे बुलाकर किसी कुएँ के पास ले गया और जल के भीतर दोनों की परछाइयों को दिखाकर उसे बताया कि 'जिस प्रकार मैं सिंह हूँ, उसी प्रकार तुम भी सिंह हो। वह देखो, मेरे और तुम्हारे चेहरों में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए अब तुम अपने मन का सियारों का-सा मिथ्या डरपोकपन छोड़ दो।' तब वह सिंह का बच्चा चौंक उठा और अपने मन के भय-भ्रम आदि सियारों की-सी कायरता छोड़कर 'मैं सिंह हूँ' यह निश्चय रूप से जानकर प्रबल विक्रम से आनन्द के साथ वन में विचरण करने लगा। उसी प्रकार तुम भी मन रूप सियार के गढ़े में पाले-पोसे जाकर मन रूप सियार का संग करते-करते अपना ब्रह्मस्वरूप भूलकर 'मैं मन या जीव हूँ या मैं देह हूँ' इस प्रकार का बोध कर रहे हो। जब ब्रह्मज्ञ गुरु आकर 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ही ब्रह्म हूँ,' 'तत्त्वमसि' 'तुम ही ब्रह्म हो' ऐसा

द्वार तुम्हें उपदेश देते रहेंगे, तभी तुम्हारा अज्ञानान्ध मन चौंक उठेगा। के अनन्तर क्रमशः अपनी मन-भ्रान्ति या जगत्-भ्रान्ति दूर होगी और तभी अपना ब्रह्मस्वरूप जानकर निर्भय होकर आनन्द से ब्रह्मानन्द में विचरण ते रहोगे।

भक्त—प्रभु ! उन तीन प्रकार के ज्ञानों के लक्षण कैसे हैं?

महात्मा—तुम प्रतिदिन जिस श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ करते हो उस ता मे ही भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्ष्यते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥

(१८ अ० २०–२२ श्लोक)

अर्थात्—"असंख्य नाम-रूपों के द्वारा सांसारिक पदार्थ पृथक पृथक रूप से दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जिस ज्ञान के द्वारा इन नाम-रूपों का लोप होकर अभिन्न एक अव्यय, नित्य ब्रह्मवस्तु उपलब्ध होती है उसे ही सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। केवल इसी ज्ञान से अद्वैत दर्शन होता है; जैसे सोने से बने हार, हार, कुण्डल, कंकण आदि भिन्न भिन्न वस्तुओं के नाम-रूप पृथक पृथक होने पर भी सब में एक कांचन ही दृष्ट होता है, ठीक उसी प्रकार। जिस ज्ञान से सांसारिक वस्तुओं में एकत्व का बोध नहीं होता, सदा ही पृथक पृथक बोध होता है, प्रतीत होता है मानो प्राणियों में कोई सुखी और कोई दुःखी है, अतः पृथक पृथक शरीर में पृथक पृथक आत्मा सुख-दुःख भोग रहे हैं, यदि यथार्थ में ही आत्मा एक होता तो सभी प्राणी एक ही प्रकार सुख-दुःख का अनुभव करते। ऐसा भेद-बोध या चंचलता ही रजोगुण का धर्म है। सत्त्वगुण भेदभाव का लोप कराकर एकत्व-ज्ञान उत्पन्न करता है और रजोगुण उसके विपरीत एकत्व-ज्ञान का लोप कराकर भेद-ज्ञान उत्पन्न करा देता है। अतः इस ज्ञान में द्वैत दर्शन

की ही प्रबलता रहती है। इसीको राजसिक ज्ञान कहते हैं। इसके बाद तामसिक ज्ञान सब से निकृष्ट है। इस कारण उसे अज्ञान कहने पर भी अत्युक्ति न होगी। जिस ज्ञान से एक वस्तु को ही पूर्ण समझकर तथा निश्चय मानकर उसीमें आसक्ति उत्पन्न होती है, उसी को तामसिक ज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान मनुष्य को यह कहता है कि 'इस एक नाम के सिवाय और कोई गति नहीं है। यह एक व्यक्ति या मूर्ति ही सब कुछ है, यह मूर्ति ही परित्राण करने वाली और मुक्ति देने वाली है', परन्तु वह व्यक्ति या मूर्ति किसी एक स्थान में ही सीमाबद्ध है, जो ज्ञान कहता है कि 'यही सर्वान्तर्यामी है' और जिस ज्ञान से कभी ऐसा अनुभव नहीं होता कि अन्तर्यामी मेरा ही नाम है; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, काली, कृष्ण, राम आदि देव देवियों के जितने नाम या मूर्तियाँ हैं, वे सभी मेरे ही नाम और मेरी ही मूर्तियाँ हैं, यहाँ तक कि जितने पदार्थ हैं—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सौर जगत् तथा पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि सभी मैं हूँ; जिस ज्ञान से ऐसी धारणा नहीं होती और जो ज्ञान मन को दुर्बल से भी दुर्बल बना डालता है, वही तामसिक ज्ञान है। यह ज्ञान युक्तिरहित, प्रमाणरहित नितान्त असार और तत्त्वहीन है।" बेटा! अब जरा विचार कर देखो कि तुम्हारे जैसे साधारण मनुष्यों का ज्ञान अति निकृष्ट तामसिक ज्ञान है। तुम लोग अभी राजसिक ज्ञान तक भी नहीं पहुँच सके हो उल्टे बाह्यिक मूर्ति-पूजादि करके समझते हो कि 'हम सात्त्विक ज्ञानी हैं।'

भक्त—भगवन्! अपने जो आत्मज्ञान की बात कही है, पहले अज्ञान का सम्पूर्ण नाश होने पर ज्ञान उत्पन्न होगा? अथवा आत्मज्ञान पूर्ण रूप से उत्पन्न होने पर तब अज्ञान का नाश होगा?

महात्मा—बेटा! खाली घड़े में जल भरना देखा है? यहाँ उस विषय का स्मरण कर देखो, तभी समझ सकोगे। खाली घड़ा पहले वायु से भरा ही रहता है; उसके बाद जल भरते समय घड़े के भीतर की समस्त वायु के एक ही साथ निकल जाने के बाद क्या जल घड़े में प्रविष्ट होता है? या समस्त जल एक ही साथ घड़े में प्रविष्ट होकर समस्त वायु को निकाल देता है? वास्तव में जब थोड़ा-थोड़ा करके जल घड़े में प्रविष्ट होने लगता है तब साथ ही साथ थोड़ी थोड़ी करके वायु घड़े में से बाहर निकलती रहती है। अर्थात् जितना जल घड़े में प्रविष्ट होगा उतनी ही वायु घड़े से निकल जायगी। ठीक उसी प्रकार ज्ञान

तुम्हारे मन रूप घड़े में अज्ञान रूप वायु सदा ही भरी हुई है। अब ज्ञान
जल ज्यों ज्यों मन रूप घड़े में प्रविष्ट होगा उसके साथ-साथ त्यों त्यों
न रूप वायु भी मन रूप घड़े से निकलती जायगी। एकाएक जिस प्रकार
जल घड़े में नहीं प्रविष्ट हो सकता या वायु भी निकल नहीं सकती, उसी
एकाएक एक ही समय मन में सम्पूर्ण आत्मज्ञान की उत्पत्ति या सम्पूर्ण
न की निवृत्ति नहीं हो सकती।

भक्त—प्रभु! ज्ञान कहने से जिस प्रकार आत्मज्ञान 'ज्ञान'-पदवाच्य है
प्रकार विषयों का 'ज्ञान' यानी जड़विज्ञान भी तो 'ज्ञान'-पदवाच्य है। अतः
ज्ञ व्यक्ति के मन में विषय-ज्ञान की प्रबलता क्यों नहीं रहती? अर्थात्
ज्ञान विषयज्ञान को क्यों नष्ट कर देता है?

महात्मा—बेटा! जब तक सूर्योदय नहीं होता तब तक ही आकाश में नक्षत्र
ते रहते हैं, उसी प्रकार जब तक मनुष्य के अन्तर में आत्मज्ञान प्रकाशित
होता तब तक ही उसके अन्तःकरण में विषय चमकते रहते हैं अर्थात्
ज्ञान कार्यकर होता है। फिर जब सूर्योदय होता है तब आकाश के नक्षत्र
हो जाते हैं, ऐसी बात नहीं है। उस समय भी आकाश में नक्षत्र-माला
मान रहती है, परन्तु उन नक्षत्रों की क्षीण ज्योति सूर्य की प्रखर ज्योति में
भूत हो जाती है। उसी प्रकार आत्मज्ञ व्यक्ति के मन में विषय-ज्ञान के
पर भी वह ज्ञान परमश्रेष्ठ आत्मज्ञान के भीतर डूब जाता है।

भक्त—प्रभु! आपने जो विचार-वैराग्य की बात बतायी है उससे तो
रिक सभी सुखों का नाश हो जाता है। अतः हमारे सांसारिक सुखों का
करने के लिए हम स्वेच्छा से क्यों विचार और वैराग्य को खींच लायेंगे?

महात्मा—बेटा! वैराग्य को किसी अन्य स्थान से खींच नहीं लाना पड़ता।
य मन का स्वाभाविक धर्म है। इसी कारण वह मन में ही निहित है और
मात्र ही उस वैराग्य को सबसे अधिक अपनाते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण
—प्रतिदिन ही मन में विषय-वैराग्य के उदय हुए बिना किसी को सुषुप्ति
हो सकती। अग्नि के स्पर्श से समस्त देशों का ध्वंस होता जा रहा है,
त्यक्ष देखकर भी जिस प्रकार लोग अग्नि का प्रयोग करना नहीं छोड़ते,
क को प्रत्येक के घर में ही विशेष आवश्यक समझकर वह सुरक्षित

रखी जाती है ; ठीक उसी प्रकार विचार-वैराग्य के द्वारा सांसारिक सुखों की विशेष हानि होने पर भी महामानव ( आत्मज्ञ ) लोग सब प्रकार के प्रयत्नों से उस विचार-वैराग्य को हृदय में धारण किये रहते हैं। क्योंकि वैषयिक सुख कभी सुख नहीं है—वह दुःख का ही नामान्तर मात्र है। विचार-वैराग्य के द्वारा जो परम शान्ति प्राप्त होती है, वही यथार्थ 'सुख'-शब्दवाच्य है।

भक्त—हे ब्रह्मन्! आपने पहले कहा है कि 'सब प्रकार की कामनाओं और कर्मों का परित्याग हुए बिना किसी तरह मन की उन्नति या आत्मदर्शन नहीं होता।' परन्तु मुमुक्षु व्यक्ति के मन में तो सदा ही यह कामना रहती है कि 'मैं साधुसंग करूँगा, सद्गुरु का आश्रय लूँगा, वेदान्ततत्त्व का श्रवण करूँगा तथा आत्मज्ञान लाभ करके मुक्त हो जाऊँगा।' और इस प्रकार का सत्संग करते के लिए उसे साधुसेवा, गुरुसेवा आदि अनेक प्रकार के शारीरिक कर्म भी करने पड़ते हैं। अतः इन सब कर्मों और कामनादि के मुमुक्षु के मन में विद्यमान रहते कैसे उसके मन की उन्नति होकर आत्मदर्शन होगा?

महात्मा—बेटा! कर्म और कामना दो प्रकार के हैं—एक सत् यानी अन्तर्मुखी और दूसरा असत् यानी बहिर्मुखी। आत्मतत्त्व-लाभ के सहायक जितने कर्म और कामनाएँ हैं, वे सत् या अन्तर्मुखी हैं। उनके सिवाय और सभी असत् और बहिर्मुखी हैं। मन के इन अन्तर्मुखी कर्मों और कामनाओं के द्वारा मनुष्य के मन के बहिर्मुखी कर्म और कामनाएँ क्रमशः ह्रास प्राप्त होकर निर्वाण प्राप्त हो जाती हैं। और मन के बहिर्मुखी कामनादि द्वारा कर्मादि क्रमशः बढ़ जाने से जीव की अधोगति ही होती है। अतः इन दोनों कर्मों का नाम कर्म होने पर भी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी होने के कारण प्रकाश और अन्धकार की तरह वे भिन्न हैं। किसी एक स्थान में दो व्यक्तियों को हैजा हो गया, एक विज्ञ चिकित्सक ने आकर एक रोगी को रोग दूर करने के लिए 'स्प्रिट कैम्फर' पिला दिया और उस औषधि की शक्ति से वह रोगी क्रमशः आराम हो गया और एक मूर्ख चिकित्सक ने आकर दूसरे रोगी को 'जायफल' नामक औषधि खिला दी। फलस्वरूप उस रोगी का रोग बढ़ जाने से उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार उन दोनों रोगियों को औषधि तो दी गयी थी परन्तु औषधियों का गुणागुण चिकित्सकों को अवगत रहने और न रहने के कारण

आराम हो गया और दूसरा मर गया। ठीक उसी प्रकार आत्मज्ञ गुरु आश्रय ग्रहण कर वेदान्ततत्त्व की आलोचना के बल मनुष्य का मन अन्तर्मुखी होकर भव-व्याधि (माया-बन्धन) से मुक्त होता है। दूसरी अज्ञानी के आदेश से अनेक आदमी इकट्ठे होकर कीर्तनादि में गाने, नाचने आदि के द्वारा तुम लोग जो हलचल मचाकर वाहरी धर्मानुष्ठान हो, उससे मन संयत और अन्तर्मुखी न होकर उसकी चंचलता बढ़ के कारण मन का अधःपतन ही होता है। बेटा! अरोपत्व आत्म-ज्ञानी के रिक्त एकदम सब कर्मों या सब कामनाओं का त्याग कोई भी नहीं सकता। परन्तु कर्म और वासना का त्याग किये बिना आत्मदर्शन नहीं होता। अतः जो लोग उन कर्मों और वासनाओं का बिल्कुल त्याग कर सकते वे अन्तर्मुखी शुभ कर्म-वासना रखें, वह उनके लिए मंगल-क ही है। क्योंकि उनसे ही क्रमशः उनके उन कर्मादि का त्याग होता जायगा।

भक्त—हे दयामय! तो मन की किस स्थिति में आत्मदर्शन होगा? अर्थात् प्रकार का विचार उत्पन्न होने पर ब्रह्मोपलब्धि होगी या ब्रह्मज्ञान होगा? तो मैं समझ नहीं सका।

महात्मा—बेटा! इस समय तुम्हें कौन सा ज्ञान है? अब तुम क्या देख हो? किस वस्तु की उपलब्धि कर रहे हो? पहले उसे मुझको बताओ।

भक्त—भगवन्! अब तो अपनी देह तथा गृह-क्षेत्र आदि संसार का ज्ञान अतः केवल इस दृश्य जगत् को ही देख रहा हूँ तथा प्रत्यक्ष रूप से इसकी लब्धि कर रहा हूँ।

महात्मा—बेटा! जिस प्रकार सांसारिक किसी वस्तु का ज्ञान रहने तक तुम्हें की तरह सुषुप्ति नहीं आती, समस्त वस्तुओं का ज्ञान लुप्त होने से ही सुषुप्ति ती है; जिस प्रकार रज्जु में सर्पभ्रम के समय सर्प के अस्तित्व का ज्ञान रहते भी रज्जु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता; उसी प्रकार जगत् के अस्तित्व ज्ञान विद्यमान रहते ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं होता। जगत्-ज्ञान का लोप पर ब्रह्मज्ञान उदित होने से ही मोक्ष होता है। अतः जब तुम्हारा मन दृश्य जगत् के अस्तित्व-ज्ञान का सम्पूर्ण रूप से त्याग करके जगत्दर्शन

नहीं करेगा अर्थात् मन में जगत् के अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होगी, ठीक उसी समय तुम्हारे मन में ब्रह्मज्ञान उदित होकर आत्मदर्शन या ब्रह्मोपलब्धि होगी। हे सुमते ! एक प्रचलित बात है 'मधुरेण समापयेत्' अर्थात् भोजन के अन्त में मीठी वस्तु खानी चाहिये। इसलिए किसी के भोजन पर बैठने से कड़ुवा, तीता आदि सब प्रकार के स्वाद वाले खाद्यों के खाने के बाद तब उसके सामने स्वादिष्ट मीठी वस्तु मिठाई आदि ला दी जाती है। सब प्रकार के भोजन समाप्त हुए बिना कभी वह सर्वोत्तम मीठी वस्तु प्राप्त नहीं होती (परोसने वाला नहीं देता); यह भी ठीक उसी प्रकार है जगत् का भोजन (भोग) करने वाले जीवों में जब जिसका सांसारिक सब वस्तुओं के विचार द्वारा निःशेष रूप से भोजन (भोग) करना समाप्त होगा, ठीक उसी समय उसके सामने आत्मामृत आ उपस्थित होगा। परन्तु भोजन (विषय-भोग) में मन को पूर्ण तृप्ति न होने (मन में वैराग्य न आने) तक किसी तरह कोई वह आत्मामृत पा नहीं सकता। यह आत्मामृत पाकर तथा उसे पीकर ही लोग अमरत्व प्राप्त करते हैं।

बेटा ! जब तुम्हारा मन इस बहिर्दृष्टि को छोड़कर अन्तर्मुखी होगा अर्थात् मन अपने भीतर के मनोराज्य के ऊपर दृष्टि डालेगा तभी तुम मन की ऐसी अवस्था प्रत्यक्ष देखोगे और तभी तुम कहते रहोगे—"अहो ! मन कैसा अदमनीय और चंचल है। बार बार लौटाने पर भी मन विषय छोड़कर नहीं आता। यदि कदाचित् आता भी हो तो उसी समय फिर वह विषय में भटकने लगता है। लहरों के तृण के समान मन अत्यन्त चंचल है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ निरन्तर उसके सामने रूप, रस आदि विषय ला देती हैं और मन भी उससे या उसके दर्शन मात्र से ही उन्मत्त की तरह नाच रहा है। मन पूर्व पूर्व वृत्तियों का छोड़ता जाता है सही, परन्तु फिर उसी प्रकार की नयी वृत्तियों को प्राप्त करने के लिए धावित हो रहा है। क्या आश्चर्य है ! मैं मन को जिस विषय से निवृत्त करने की चेष्टा करता हूँ वह अधिक उन्नत होकर उसी विषय में धावित होता है। वह घट छोड़कर पट में जाता है, पट छोड़कर मठ में जाता है। उसी समय फिर वह मठ छोड़कर दूसरी जगह चला जाता है। यह मन बन्दर-सा बड़ा ही चंचल है। हमारी चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ ही मन के विषयों में आने जाने के लिए द्वार हैं। अरे इन्द्रियो ! क्या मुझे समाधि द्वारा आत्मदर्शन का अवसर नहीं मिलेगा !

मैं क्षणभर के लिए भी ज्ञानार्जन का अवकाश नहीं पाऊँगा। मैं देखता हूँ लोग तरंगों के समान चंचल हो। अब तुम अनर्थ-जनक चांचाल्य का त्याग करो। अतीत दुःखजाल का स्मरण करो। रे अधमो! तुम जड़ तथा मन के अंश हो। जड़ को घमण्ड किस बात का? मैं जान गया, जड़ दृश्य वस्तुओं की तरह मिथ्या है। तुम असार हो, तुम्हारे रूप या स्वरूप था है। इसलिए तुमलोग आत्मज्ञान-शून्य हो। तुम्हारे विषय में जाना अन्धे विपथ में जाने के समान है। अरे अज्ञान इन्द्रियों! तुम्हारी व्याकुलता और चलता निरर्थक है। पथिक जिस प्रकार साँप के डर से दूर रहता है, चिन्मय आत्मा भी उसी प्रकार इन्द्रियों से दूर अवस्थित हैं। अरे चित्त! तेरा विचरण ते के विचरण की तरह व्यर्थ है। कुत्ता जिस प्रकार अपवित्र वस्तु खाकर पेट ता है और जहाँ-तहाँ घूमता-फिरता है परन्तु उससे भी उसकी आशा पूर्ण से सिद्ध नहीं होती। तेरा विचरण भी ठीक उसी प्रकार है। तू सोचता है चेतन या चिन्मय हूँ', परन्तु वह तेरा भ्रम है। तू जड़ है तेरे साथ चिदात्मा सम्बन्ध भी नहीं है। तू जो यह अहंकार करता है कि 'मैं जीवित हूँ', वह भी भ्रम है। चेतन परमात्मा ही एकमात्र वस्तु है। वह आद्यन्त वर्जित हैं, नके सिवाय और कुछ नहीं है। अरे मूर्ख! तू वृथा ही इस देह में चित्त नाम रण कर रहा है। तेरा कर्तृत्व या भोक्तृत्व पहले अमृत के समान प्रतीत होता परन्तु परिणाम में वह विषतुल्य है। अरे मूर्ख मन! तू इन्द्रियों का आश्रय र अपनी हँसी न करा। तू कर्ता भी नहीं, भोक्ता भी नहीं; कुछ भी नहीं; कि तू जड़ है, दूसरे का बोध्य है। तू भोग का कौन है? और भोग ही तेरा न है? जब तू जड़ है तब तेरे साथ भोग्य वस्तुओं का कोई साक्षात् सम्बन्ध हीं रह सकता। जो जड़ है वह नहीं है, यही स्थिर सिद्धान्त है। तू जो मिथ्या र्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान करता है, उसे मैं आज प्रमाणित कर दूँगा। तू स्वयं ड़ है, इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं है। जड़ में फिर कर्तृत्व ही क्या है? थर का टुकड़ा नाचेगा कैसे? तू वृथा ही सोचता है कि 'मैं जीवित हूँ, मैं करता मैं मारता हूँ' आदि। जिसकी शक्ति से कार्य होता है लोग उसे ही कर्ता ते हैं। जैसे तलवार पुरुष की शक्ति से हत्या करती है, तो पुरुष को हत्यारा ते हैं, जैसे हँसुआ पुरुष की शक्ति से ही घास काटता है, इसीलिए पुरुष को

लोग काटने वाला कहते हैं; ऐसे स्थलों में उन अस्त्रों को कोई हत्यारा या काटने वाला नहीं कहता। ईश्वर के अंश रूप चिदाभास की शक्ति से ही सारे कार्य होते रहते हैं, उसमें तेरा इतना घमण्ड क्यों? तू यथार्थ में जड़ है, तेरा जो कुछ ज्ञान है, वह सभी चेतन ईश्वरांश के अधीन है। परम पिता परमेश्वर तुम्हें निरन्तर बोध प्रदान कर रहे हैं इसीसे तू समझता है 'मैं ही बोद्धा हूँ'।

वेटा! मानव मनोराज्य में प्रविष्ट होकर पहले जब मन के वैसे दोष प्रत्यक्ष देखता है, तभी वह अति द्रुत मनोराज्य की विजय करके आत्मदर्शन या परमपद प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस मनोराज्य में प्रविष्ट होकर क्रमशः अग्रसर होते रहने से जब मन में ज्ञान अज्ञान कुछ भी नहीं रहेगा, जब सब प्रकार के ज्ञान लुप्त हो जायेंगे, उस ज्ञानातीत अवस्था में ही आत्मानुभूति होती है।

भक्त—भगवन्! आपने ही कहा है, 'सुषुप्तिकाल में भी ज्ञान रहता है अतः ज्ञान सदा ही विद्यमान है।' अतः मन में ज्ञान नहीं रहेगा, वह फिर कैसी अवस्था है?

महात्मा—वेटा! हम जिसे ज्ञान कहते हैं, वह उस ज्ञानातीत अवस्था से अति निम्नतर अवस्था मात्र है। तुम विशेष रूप से स्मरण रखना कि किसी विषय की सर्वोच्च और सर्वनिम्न सीमा प्रायः एक ही प्रकार की प्रतीत होती है। एक दृष्टान्त देखो—प्रकाश का स्पन्दन जब अति मृदु होता है, तब वह अन्धकार का ही स्वरूप धारण करता है अर्थात् हम जिसे अन्धकार कहते हैं वह प्रकाश का ही निम्नतम अवस्था है। फिर प्रकाश का उच्च स्पन्दन भी अन्धकार सा ही प्रतीत होता है। इसलिए क्या उन दो प्रकार के अन्धकार को एक कहा जायगा? कभी नहीं। उनमें एक यथार्थ अन्धकार और दूसरा तीव्र प्रकाश है; तथापि वे दोनों देखने में एक ही समान हैं। जिस प्रकार मनभर जल में एक तोला चीनी घोल देने से उस चीनी का कोई स्वाद ही नहीं अनुभूत होता। फिर मिठास की उच्चतम अवस्था अर्थात् घनीभूत सारांश 'सैकरिन' में भी मीठा स्वाद अनुभूत ही नहीं होता। बल्कि बहुत तिक्त स्वाद का ही अनुभव होता है। परन्तु मिठास का मध्यमावस्था गुड़, चीनी, मिश्री आदि का स्वाद मीठा ही मालूम होता है। ठीक उसी प्रकार अज्ञान, ज्ञान की सबसे निम्नतम अवस्था है, ज्ञान मध्यमावस्था है और उस ज्ञान से अतीत और भी एक

म अवस्था है। साधारणतया जिसे हम ज्ञान कहते हैं, वह एक मिश्रित उत्पन्न भावमात्र है। इसीलिए वह मन का ही एक संस्कारमात्र है—र्थ सत्य नहीं है। उच्चतर एकाग्रता का अभ्यास करते करते मन की पहली रता तथा आलस्य के पुराने संस्कार तथा शुभ प्रवृत्तियों के संस्कार भी प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार सदा ऐसे संयम की शक्ति से ही पहले की असत् त्तियाँ तथा उनके साथ साथ सत् प्रवृत्तियाँ भी नाशप्राप्त हो जायेंगी। अर्थात् इन दोनों प्रकार की सत् और असत् प्रवृत्तियाँ एक दूसरे को विनष्ट कर हैं। केवल उसी समय आत्मा सत् या असत् किसी प्रकार की शक्ति द्वारा वित न होकर अपनी महिमा में ( स्वे महिम्नि ) अवस्थित रहता है। अतः उसी समय आत्मज्ञ व्यक्ति आत्मा का सर्वव्यापित्व और सर्वज्ञत्व की नुभव करते हैं।

भक्त—प्रभु! आपने कहा है कि 'मन अचेतन है', तो अचेतन मन कैसे त्मा का दर्शन करेगा?

महात्मा—हे सत्यकाम! सूर्यकिरण के पृथ्वी में पड़ने पर जिस प्रकार उसी श से जीवों में सूर्यदर्शन की शक्ति उत्पन्न होती है, किसी दूसरे प्रकाश की यता से नहीं, मन में प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्य के प्रकाश से मन या बुद्धि भी उसी प्रकार आत्मदर्शन की शक्ति उत्पन्न होती है। अर्थात् आत्मा अपने पूर्ति-स्वभाव में ही परिदृष्ट होता है,—मन के द्वारा नहीं। जिस प्रकार अन्ध-के द्वारा प्रकाश प्रतीत नहीं होता उसी प्रकार जड़-स्वरूप मन के द्वारा भी न आत्मा के दर्शन की सम्भावना नहीं है। अन्धकार प्रकाश के निकट आते स्वयं विनाश-प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार अज्ञान से उत्पन्न मन भी आत्म-न के लिए जाते ही लुप्त हो जाता है; इसलिए मन आत्मा का द्रष्टा नहीं। मन के विनष्ट हो जाने पर स्वयं-प्रकाश आत्मा स्वयं ही प्रकाशित होता है।

भक्त—प्रभु! शुचि और अशुचि किसे कहते हैं?

महात्मा—मन की कामना या संकल्प-विकल्प ही अशुचि है और मन के मनाशून्य या संकल्प-विकल्प-रहित होने से ही उसे शुचि कहते हैं।

भक्त—प्रभु! मिथ्यावादी किसे कहते हैं?

महात्मा—बेटा! रज्जु में सर्पभ्रम होने पर जिस प्रकार वहाँ यथार्थ में

रज्जु है और सर्प नहीं है, यही बात सत्य है; यहाँ भी उसी प्रकार सर्वसाधारण को ब्रह्म में जगत्-भ्रम हो रहा है। अतः ब्रह्म है और जगत् नहीं है, यही सत्य सिद्धान्त है। इसे मैंने तुमसे पहले ही कहा है। अतः इस सत्य-स्वरूप ब्रह्म या आत्मा के तत्त्व की आलोचना न करके जो मनुष्य सदा केवल मिथ्या संसार तत्त्व या विषयतत्त्व की ही सत्यज्ञान से आलोचना करता है, वही यथार्थ मिथ्यावादी है।

भक्त—प्रभु! बहरा किसे कहते हैं?

महात्मा—बेटा! आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व के कानों में प्रविष्ट होने पर भी जो मनुष्य उसे हृदयंगम न करके उसे छोड़कर सांसारिक विषयों में ही मन लगाता है, वही यथार्थ बहरा है।

भक्त—दयामय! अन्ध किसे कहते हैं?

महात्मा—'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या'—यही स्वतः सिद्ध बात है। तो भी जो मनुष्य ज्ञान-नेत्र के न रहने के कारण उस आत्मा या ब्रह्म का दर्शन नहीं कर सकता, बल्कि मायिक चर्मचक्षु से इस संसार को ही सत्य रूप से देखता है तथा सत्य बोध से व्यवहार करता है, वही यथार्थ में अन्ध है। उसे मोहान्ध या अज्ञानान्ध भी कहते हैं।

भक्त—हे करुणामय! संसार में अभाव की ताड़ना से मुझे आत्मचिन्तन का अवकाश ही नहीं मिलता; इसलिए संसार के इन अभावों की पूर्ति कैसे होगी?

महात्मा—बेटा! मन में अभाव-बोध का अभाव होने पर ही संसार में तुम्हें और किसी बात का भी अभाव नहीं रहेगा, केवल विचार के द्वारा ही उस अभाव-बोध का अभाव होता है।

भक्त—प्रभु! त्यागी पुरुष का निर्णय कैसे करूँगा? बहुत लोग घर-द्वार पुत्र-परिवार छोड़कर हरिद्वार, हृषिकेश आदि स्थानों में जाकर समय समय पर कथा-प्रसंग में कहते हैं—'देखो, मैं इतनी सम्पत्ति का त्याग करके भगवान की उपासना के लिए कितने कष्ट से यहाँ जीवन बिता रहा हूँ।' क्या वे ही यथार्थ त्यागी पुरुष हैं?

महात्मा—वेटा ! 'मैं त्यागी हूँ' यह बात मुख से कहना तो दूर की बात है त्यागी हूँ,' ऐसा अभिमान जिसके मन में है, वह भी त्यागी नहीं है। यथार्थ मनुष्य के अनजान में ही हुआ करता है; इसलिए वह नहीं जानता कब किस विषय का त्याग हो गया। अतः डुगडुगी पिटवाकर लोगों में जाहिर ना नहीं होता कि मैंने विषयों का त्याग किया है। सुषुप्ति के समय तुम्हारा किस क्षण में किस प्रकार से सुषुप्ति में निमग्न हो जाता है, क्या उसे तुम झ सकते हो ? ठीक उसी प्रकार जिसका जब विषय त्याग होता है, अनजान ही होता है। और भी देखो, तुमने इस समय गुड़ियों के साथ खेलना छोड़ा है, उसे देशभर के सभी आदमियों को क्या डुगडुगी पिटवाकर जता देना है ? तुम्हारी उमर तथा उसीके अनुसार काम-काज देखकर ही लोग जान हैं कि इस समय तुम फिर गुड़ियों से नहीं खेलते, उसे तुमने छोड़ दिया । ठीक उसी प्रकार जो त्यागी हैं, उनके निर्विकार भाव, चाल-चलन, चीत, भाव-भंगी से तथा चेहरे से ही प्रकट होगा कि वह त्यागी हैं।

भक्त—भगवन् ! त्यागी ब्रह्मज्ञ जीवन्मुक्त का लक्षण क्या है ?

महात्मा—वेटा ! अपने में दृष्टि-शक्ति के न रहने से जिस प्रकार सूर्यदर्शन किया जा सकता, उसी प्रकार अपनी कुछ विचार-शक्ति या ज्ञान के न रहने ज्ञानी महात्मा को भी पहचाना नहीं जा सकता; केवल बाह्यिक लक्षण के द्वारा पुरुष का निर्वाचन करना असम्भव है। तथापि अधिकांश महापुरुषों के र में जिस प्रकार के निर्मल लक्षण प्रकट होते हैं, तुम्हारे हितार्थ उनके में मैं संक्षेप से कुछ वर्णन करता हूँ—ध्यान देकर सुनो। ऐसे महा- का निर्णय करने के लिए लोग प्रायः भ्रम में पड़ जाते हैं। बहुत सोचते हैं, जिसने विवाह किया है या जिसके पत्नी-पुत्र आदि अभी वित हैं अथवा जो मछली-मांस आदि आमिष भोजन करता है वह कभी या ब्रह्मज्ञ संन्यासी नहीं हो सकता; जीवनभर जिन्होंने विवाह नहीं किया जो केवल फल-मूल खाकर जीवन धारण करते हैं, ऐसे संन्यासी ही सर्वोच्च कोटि के महापुरुष हैं, यथार्थ में यह उन लोगों का महान भ्रम है। शास्त्र है—"इस जन्म में ही संसार के विषयों का भोग करके जिन्होंने उसे दिया है, वही यथार्थ ज्ञानी हैं। इसलिए उन्हें कोटि कोटि बार नमस्कार

करता हूँ।" इस विषय में थोड़ा विचार करने पर अति सहज में ही तुम इसका तात्पर्य समझ सकोगे। संसार में माया, मोह, ममता की साँकल से बाँधने के ती... आकर्षण की वस्तु पत्नी-पुत्र, धन-जन आदि कुछ भी जिनके सामने नहीं है... ऐसे व्यक्ति तो स्वतः ही बन्धन-रहित अवस्था में हैं। इस कारण उनके लिए संसार का त्याग या ग्रहण समान मूल्य रखता है, क्योंकि जहाँ कोई ... वस्तु नहीं है वहाँ त्याग या ग्रहण कुछ भी सम्भव नहीं हो सकता। दूसरी ओर जो व्यक्ति पत्नी-पुत्र, धन-जन आदि भोग्य विषयों से परिवेष्टित हैं और उन विषयों ने जिन्हें माया, मोह या ममता की साँकल के द्वारा दृढ़ रूप से बाँध डाला है; विवेक और विचार रूप तेज धार वाले अस्त्र से उन्हें सिंह के समान पराक्रम से उस माया-ममता की साँकल को काटकर वीर की तरह संसार-त्याग करना पड़ा है। जिन्होंने इस प्रकार ममता की साँकल काट डाली है... केवल वही जानते हैं कि इस प्रकार की साँकल काटने के लिए कितनी ... अधिक मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रसववेदना कैसा क्लेशदायक ... है, केवल सन्तानवती माता के सिवाय कोई बाँझ उसकी उपलब्धि कभी नहीं कर सकती। ठीक उसी प्रकार धन-जन आदि के द्वारा परिवेष्टित व्यक्ति ... सिवाय विषय-सम्पत्ति-रहित दीन भिक्षुक भोग्य विषयों में मायामोहजनित ... आकर्षण-शक्ति कितनी प्रबल है, कभी नहीं जान सकते। विचार करने ... प्रतीत होता है संसार में जितने महापुरुष हो गये हैं, सभी मध्यवित्त श्रेणी ... घर से; उनमें कोई भी दीन, भिक्षुक नहीं थे। और उनमें अधिकांश ... विवाहादि करके धन-जनों से परिवेष्टित थे। रुपये में से दूध निकाल सके, ... को चीनी बना दे आदि नाना प्रकार के जादू दिखाने वाले और सब प्रकार ... शारीरिक रोगों को आराम कर सके या भूत-भविष्य बता सके, ऐसे साधु ... वेशधारी व्यक्तियों को देखकर प्रायः उच्च शिक्षित व्यक्ति और धनी लोग ... अपनी बुद्धि के भ्रम से उन्हें अद्वितीय महापुरुष समझकर उनसे दीक्षा-म... ले लिया करते हैं, परन्तु यथार्थ महापुरुष साधारण मनुष्यों को उस प्रकार का जादू दिखाकर अपना प्रभाव दिखाने या धन कमाने के लिए कभी भी चेष्टा नहीं करते, क्योंकि उन्हें उस प्रकार मिथ्या कपट दिखाने में कभी रुचि नहीं हो सकती। यह विषय सभी को सदा उत्तम रूप से स्मरण में रखना आवश्यक है।

पुरुष उपदेश देते समय हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि किसी भी सम्प्रदाय पर द्वेषभाव न रखकर सब सम्प्रदायों में समन्वय करके ही आत्मज्ञान प्रदान करते हैं। यही लक्षण महापुरुष का मुख्य परिचायक है। महापुरुष का मुख सुन्दर होगा, उनके चेहरे में ऐसा एक निर्मल शान्तभाव रहेगा जिससे उन्हें देखते ही दूसरे मनुष्य की अपेक्षा उनमें कुछ विशेषता है ऐसा ज्ञान होगा, इसलिए उन पर लोगों की भक्ति होगी। उनकी आँखें छोटीं और ललाट में कुंचित भ्रू या विषाद का भाव कभी नहीं होगा, उनके नेत्र बड़े बड़े, भौंहें लम्बी, मुखमण्डल प्रशान्त तथा हास्यपूर्ण रहेगा, उनके शरीर पर वैष्णव, शाक्त, शैव आदि किसी साम्प्रदायिक धर्म के चिह्न अर्थात् बाहरी माला-तिलक आदि नहीं रहेगा। वह लम्बा चिमटा धारण, गाँजा, मदिरा आदि का सेवन, ऐसे बाहरी आडम्बर कुछ भी नहीं करते। यहाँ तक कि वह कभी किसी प्रकार की अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन भी नहीं करते। उनमें बाहरी पूजा, सन्ध्या-वंदन, जप-तप, ध्यान-धारणादि कुछ भी साधारण मनुष्यों को दिखाई नहीं पड़ते। वह अल्पभाषी और मिष्टभाषी हैं तथा चलते समय उनके शरीर में किसी प्रकार की अंगभंगी नहीं होती। उनका गमन धीर, स्थिर और गम्भीर है। दूसरे के द्वारा उनकी स्तुति या निन्दा होने पर भी सब अवस्थाओं में वह सन्तुष्ट और प्रसन्न-चित्त रहते हैं। आमिष या निरामिष खाद्य के प्रति किसी प्रकार का द्वेषभाव न रखकर, किसी भी ब्राह्मण या साम्प्रदायिक भेदाभेद के प्रति ध्यान न देकर वह अपनी रुचि के अनुसार शरीर-रक्षार्थ परिमित भोजन करते हैं। वह निष्ठुरता तथा दया से रहित और चंचलताहीन होते हैं। जो इस संसार में साधुओं से पूजित और दुर्जनों से तिरस्कृत होकर भी एक ही भाव में रहते हैं, सुखी या दुःखी नहीं होते अर्थात् सुख या दुःख दोनों अवस्थाओं में जिनकी मुख-प्रभा समान रहती है, वही जीवन्मुक्त हैं। बेटा! आत्मज्ञ व्यक्ति शयन, भोजन, गमन, उपवेशन में सर्वत्र और सदा विचार-परायण होकर, स्वस्थ और उद्वेगरहित रहकर वैसे कर्म किया करते हैं। उनके मन में अहंकार और मद-मात्सर्य आदि नहीं रहते। उन मुक्त पुरुष की चिन्ता और बुद्धि बहुत निर्मल होती है, उनमें आनन्द सदा प्रतिष्ठित है। इसीलिए सदा ही वह आनन्द में मग्न रहते हैं। उनका वैदिक या लौकिक व्यवहार भी सरलता से सम्पादित होता है; इसलिए वह इस लोक तथा इस शरीर

में परमानन्द से विराजमान रहते हैं। लोग देखते हैं सही, कि वह कर्म करते हैं परन्तु उनका अन्तर ( मन ) कर्तृत्व-वर्जित रहता है। वह अन्तर में सर्वपरित्यागी तथा इच्छा-रहित होकर भी बाहरी कर्मों में विमुख नहीं होते। वह भक्त के प्रति अनुग्रह, धूर्त के प्रति निग्रह, बालक के प्रति वात्सल्य, युवक के प्रति यौवन बात, दुःखी के प्रति दुःख-प्रकाश करते हैं सही, परन्तु अनुरंजित होकर करते। वह बाहर प्रयोजनवान व्यक्ति के समान, परन्तु अन्तर (मन) प्रयोजनशून्य हैं। वेदान्त भी कहते हैं—

य: समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि शीतलः।
परार्थेष्वेव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
चैत्यवर्जित-चिन्मात्रे पदे परमपावने।
अक्षुब्धचित्तो विश्रान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (वराहोपनिषद्

अर्थात्—"समस्त विषय सम्बन्धी व्यवहार करके भी जो शान्त भाव से अवस्थित रहते हैं, जो दूसरे के प्रयोजन-साधन में पूर्ण-शक्ति-सम्पन्न हैं, वही जीवन्मुक्त कहलाते हैं। चित्त का धर्म जिनमें नहीं है, जो परम पवित्र हैं तथा मिलनसार और चैतन्य-स्वरूप हैं, जिनका चित्त प्रशान्त और आत्मा में विश्राम-प्राप्त वही जीवन्मुक्त पुरुष हैं।" श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थात्—"हे पार्थ ! योगी पुरुष जब अपने मन की कामनाओं का परित्याग करके आत्मा में परितृप्त रहते हैं, तभी वह स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त नाम से कथित होते हैं। जो दुःख में उद्विग्न नहीं होते, सुख के लिए भी अभिलाषा नहीं रखते और जो आसक्ति, क्रोध, भय से रहित हैं, वे ही 'मुनि' और 'स्थितप्रज्ञ' ( जीवन्मुक्त ) हैं। जो सर्वत्र स्नेहशून्य अर्थात् जिनमें अपनी देह या पत्नी पुत्रादि के प्रति किञ्चिन्मात्र भी प्रेम नहीं है, जो शुभाशुभ फल की प्राप्ति से सुखी

दुःखी नहीं होते, वही स्थितप्रज्ञ (जीवन्मुक्त) कहलाते हैं।" ब्रह्मज्ञ के आचरण के विषय में स्मृति-शास्त्र में भी लिखा है—

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढ़धर्माश्रितो विद्वान् अज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवत् जड़वच्चापि मूकवच्च महीञ्चरेत्॥
अव्यक्तलिंगोऽव्यक्तचरः॥

अर्थात्—"जिन्हें अपना कुलीनत्व, अकुलीनत्व, पाण्डित्य, अपाण्डित्य, सदाचारित्व, असदाचारित्व आदि ज्ञात नहीं हैं, ऐसे महापुरुष ही 'ब्राह्मण' अर्थात् ब्रह्मज्ञ' हैं। ब्रह्मज्ञानी कभी अपने कौलीन्यादि का गर्व नहीं करते, वे सब रहते भी नहीं, अनुष्ठान-योग्य भी नहीं। ज्ञानी लोग रहस्य का अवलम्बन- अज्ञातचर्या में विचरण करते हैं, उनकी गतिविधि या स्वभाव दूसरों ज्ञेय हैं। वे इस संसार में अन्धों, जड़ों और गूँगों की तरह विचरण हैं। वे चक्षुरिन्द्रिय के वशीभूत नहीं होते और न रसना आदि ज्ञानेन्द्रियों वागादि कर्मेन्द्रियों के भी वशीभूत ही होते हैं। तत्त्वज्ञ व्यक्ति अव्यक्त-लिंग धर्मचिह्न-रहित होते हैं। उनके आचार-व्यवहार नितान्त दुर्बोध्य हैं।"

। जो दर्शन और अदर्शन का परित्याग करके केवल आत्मस्वरूप अवस्थित रहते हैं, वही ब्रह्मवित् तथा ब्रह्मस्वरूप हैं। मुक्त को सांसारिक सुख-दुःखादि किसी तरह अभिभूत नहीं कर सकते, कि जिन्होंने सब प्रकार के सुखभोगों की कामना का त्याग कर दिया है, उन्हें देखकर भय से भाग जाता है। जिन्होंने सब सुखों के भोग की ना को त्याग दिया है, नरक का भय उन्हें कैसे होगा? जो ख्याति और मान पाने की आशा से दूसरों का मुँह नहीं ताकते, क्या कभी वह निन्दा के से भीत होते हैं? जो विषय के त्याग और ग्रहण का मर्म उत्तम रूप से कर आसक्ति और विरक्ति से रहित होकर पूर्ण वैराग्यवान हो गये हैं, नी-कांचनादि सभी भोग्य विषय सदा उनकी चरण-सेवा में नियुक्त रहते जो अखण्ड, अव्यक्त, अचिन्तनीय परमपुरुष, परमात्मा या ब्रह्मा, विष्णु, की सत्ता सर्वदा अपने में अनुभव करते हैं, मायाकल्पित इस मिथ्या

सृष्टि में ऐसी कौन वस्तु है जो उनके मन को विचलित कर सके ? गीली मिट्टी को जैसे साँचे में डाल दोगे उसमें वैसा ही रूप बन जायगा, परन्तु उस मिट्टी को जलाकर पक्की बना देने पर उसे किसी दूसरे साँचे में डालने पर भी वह अपने ही रूप में विद्यमान रहती है, कभी दूसरे साँचे के रूप में परिणत नहीं हो जाती। ज्ञानी, विरागी, त्यागी महापुरुष का मन भी ज्ञानाग्नि के द्वारा पुटित हो जाने के कारण लाखों प्रकार की भोग्य वस्तुओं के भीतर रहने पर भी ईंटे की तरह वह भुना हुआ मन कभी किसी वस्तु का आकार ग्रहण नहीं करता ; अर्थात् विषयभोग की इच्छा नहीं करता। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर दिखाई पड़ने पर भी मिथ्या है, उसी प्रकार इस प्रतीयमान विश्व को जो मिथ्या रूप से जानते हैं, वह महापुरुष ही जीवन्मुक्त कहलाते हैं। जो कर्तव्य-बोधरहित तथा जाग्रत काल में भी सुषुप्त की तरह निर्विकार हैं, वही जीवन्मुक्त हैं। जिनको देह में 'अहंबोध' नहीं है और जो कर्तव्याकर्तव्य या पाप-पुण्यादि में लिप्त नहीं होते, उन्हीं को जीवन्मुक्त कहते हैं। ऐसे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कमलपत्र में जल के समान निर्लिप्त रहते हैं अर्थात् कमलपत्र का जल जिस प्रकार उस पत्र में रहकर भी उसके साथ लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह भी विषयों के साथ संलिप्त नहीं होते। उनसे यदि कोई कुछ पूछता है तो वह उसका यथार्थ उत्तर देते हैं और न पूछने से वह वृक्ष की तरह अवस्थित रहते हैं। अर्थात् आत्मज्ञ व्यक्ति कभी अयाचित भाव से किसी को कुछ नहीं बतलाते। वह मनोराज्य में उतरकर दूसरे को आत्मतत्त्व का उपदेश देते हैं सही, परन्तु किसी से कोई सम्पर्क नहीं रखते। जैसे नर्तकी सभा में नृत्य गीतादि करके ओट में चली जाती है, किन्तु सभा के दर्शकों में किसी के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखती, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति भी ठीक उसी प्रकार हैं। बेटा! महापुरुष के जो लक्षण मैंने तुम्हें बताये, ये सभी लक्षण एकाधार में नहीं मिलेंगे ; तथापि इनमें अधिकांश लक्षण जिस व्यक्ति में मिलें, उन्हीं को तुम महापुरुष रूप से जानना। यहाँ तक कहकर महात्मा अपने भाव में विभोर होकर भजन गाने लगे—

संसारके से भय करे ना, मानव हय जे जन।
(तिनि) आपन तत्त स्मरन कोरे, चलेन अनुक्षन ॥

धन-सम्पद् स्त्री-पुत्र, सुख-दुःख शत्रु-मित्र ।
ए सब मनेर कल्पना जेने, आपन वशे राखेन मन ॥
मन जाँहार बशेते आछे, जगते ताँर कि भय आछे ?
ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर ताँर, अनुगत सर्वक्खन ॥
आत्माय जार अनुभव आछे, पूर्णानन्द से पेयेछे ।
सकल बन्धन मुक्त होये, तिनि ब्रह्मस्वरूप हन ॥

इसका आशय इस प्रकार है—

संसार को वह नहीं डरता जो यथार्थ मनुष्य है। वह अपना तत्त्व स्मरण सदा चलते हैं। धन-सम्पद् पत्नी-पुत्र, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, इन सबको कल्पना जानकर मनको अपने वश में रखते हैं। जिनका मन वश में जगत् में उन्हें भय क्या है ? ब्रह्मा विष्णु महेश उनके सदा अनुगत रहते आत्मा में जिसको अनुभव है, वह पूर्णानन्द पा गया है। सब बन्धनों से होकर वह ब्रह्म-स्वरूप हो जाते हैं।

भक्त—प्रभु ! ब्रह्मज्ञ महापुरुष का कोई बाहरी कर्म न रहने से वह ब्रह्मो-पासना के कार्य कैसे करेंगे ? उपासना आदि कार्य देखकर ही तो हम उन्हें उपासक और धार्मिक समझते हैं।

महात्मा—बेटा ! जब तक किसी साधक में उपासना करने के लिए मन की इच्छा रहती है, तब तक समझना चाहिये कि उसे सम्यक् आत्मज्ञान नहीं हुआ है और न अद्वैत ज्ञान ही सिद्ध हुआ है। यदि साधक का मन देवियों या मूर्तियों की पूजा-अर्चना आदि के प्रति या योगस्थ होकर ज्योति-दर्शन आदि के प्रति किसी प्रकार भी आकृष्ट होता हो तो समझना चाहिये कि आत्मज्ञान सिद्ध नहीं हुआ है। उस ज्ञान के सिद्ध होने पर उस प्रकार के भजन-भजन पर किसी तरह रुचि नहीं रहेगी, क्योंकि उस समय वह उपासनादि से परे पहुँच गये हैं। इस विषय में पीठमालातन्त्र भी कहते हैं—

ब्रह्मज्ञानं परं ज्ञानं यस्य चित्ते विराजितम् ।
किन्तस्य जपयज्ञाद्यैस्तपोभिर्नियमव्रतैः ॥
ज्ञानेनैव भवेज्ज्ञेयं विदित्वा तत्क्षणेन तु ।
ज्ञानमात्रेण मुच्येत किं पुनर्योगधारणम् ॥

अर्थात्—"ब्रह्मज्ञान रूप परम ज्ञान जिनके चित्त में विराजमान है, उन्हें जप, यज्ञ, तपस्या, नियम, व्रत आदि अनुष्ठानों की कोई आवश्यकता नहीं है। तत्त्वज्ञान के उदित होने पर ही ज्ञेय-स्वरूप परमात्मा को जाना जा सकता है और परमात्मा को जान सकने से ही वह उस ज्ञान मात्र की सहायता से ही मुक्त हो जाते हैं। इसलिए तब उन्हें योग-धारणादि किसी प्रकार के साधनानुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं रहती।" श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

अर्थात्—"जिन्हें आत्मा में ही रति, आत्मा में ही तृप्ति और आत्मा में ही सन्तोष है, उनके लिए बाह्यिक धर्मकर्मानुष्ठान अनावश्यक है।" वेदान्त कहते हैं—

ज्ञानामृतेन् तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिन:।
न चास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥
लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किञ्चिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्।
(जाबालदर्शनोपनिषद्)

अर्थात्—"ज्ञानामृत से तृप्त, कृतकृत्य योगी को कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि रहे तो वह तत्त्वज्ञ नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति को त्रिलोक में कुछ भी कर्तव्य नहीं है।" इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते थे—

कहिय तात सों परम विरागी।
तृणमय सिद्धि तीन गुन त्यागी॥

अर्थात्—"जो परम योगी ब्रह्मज्ञ पुरुष हैं, वे अष्टसिद्धियों तथा सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों का तृण के समान विसर्जन करते हैं और निष्काम होकर समस्त ब्रह्माण्ड को ब्रह्ममय देखते हैं।" बेटा! मुक्ति की इच्छा नहीं है और मुक्ति भी नहीं है—ऐसी बुद्धि ही सत्यार्थ ज्ञान का हेतु है अर्थात् यही आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। जभी जीव ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है तभी वह मुक्त हो जाता है। इसलिए वेदान्त भी कहते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ (माण्डुक्योपनि

अर्थात्—"द्वैत का मिथ्यात्व-निश्चय हो जाने पर ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के मन में रोध नहीं है, उत्पत्ति नहीं है, बद्ध नहीं है, साधक नहीं है, मुमुक्षु भी नहीं है र न मुक्त ही है। यही पारमार्थिक सत्य भाव है।" बेटा! ऐसे ब्रह्मज्ञ व्यक्ति स समय शास्त्र का भी परित्याग कर देते हैं, क्योंकि अत्यन्त प्रगाढ़ मेघतुल्य कार-समन्वित वासना ही जीव को पुनर्जन्म देती है। अतः पुनर्जन्म के रण रूप मलिन वासना का परित्याग करके जो (जीवनी-शक्ति-रहित भुने र बीज की तरह) वर्तमान रहते हैं बार बार शास्त्रालोचना में उनको कोई योजन नहीं रहता। इसी कारण उनके लिए शास्त्र भी परित्याज्य हैं। शास्त्र र भी कहते हैं—

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः॥ (ब्रह्मविन्दूपनिषद्)

अर्थात्—"जैसे धान्यार्थी व्यक्ति तृण सहित धान्य का ग्रहण करके उसमें से न लेकर तृण (पुआल) का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार मेधावी व्यक्ति न्थों का अध्ययन कर उनमें से ब्रह्मसाक्षात्कार-प्रापक ज्ञान का पूर्ण अधिकार स करके ग्रन्थों का परित्याग कर देते हैं।" परन्तु हे साधो! तुम इसे भी दृढ़ प से स्मरण रखना कि विचारशास्त्र काष्ठलोष्ट्र के समान अज्ञानी और तत्त्व-नी इन दोनों के लिए नहीं है, केवल अल्पज्ञ व्यक्तियों के लिए ही विचार-स्त्र का उदय है। अज्ञ, अबोध व्यक्तियों के उद्धार के लिए अर्थात् उन्हें त्त्वज्ञान प्रदान करने के निमित्त आत्मज्ञ महात्माओं के द्वारा जिन शास्त्रों की रिकल्पना हुई है, आजतक संसार में उन्हींका प्रचार हो रहा है।

भगवान शंकराचार्य भी शिष्यों को उपदेश दिया करते थे—"अनिच्छैव परं पदम्"—अनिच्छा ही परमपद अर्थात् ब्रह्मपद-स्वरूप है।" इसका आशय यह कि जीव के लिए 'कुछ भी न माँगने की जो अवस्था है', वही 'ब्रह्मावस्था' कहलाती है। जिस समय मनुष्य के मन के भीतर से 'कुछ भी नहीं चाहता, कुछ भी नहीं चाहता,' ऐसी ध्वनि निरन्तर निकलती रहती है, तभी समझना चाहिये कि उनको ब्रह्मावस्था प्राप्त हुई है, परन्तु केवल मुख की ध्वनि से नहीं। बेटा! जब 'नेति-नेति' करके सारे पदार्थों का निरसन करके तत्त्व-निर्णय करते हुए

बुद्धि इस प्रकार स्थिर होगी कि 'इसके आगे और कुछ नहीं है' और जिनमें ऐसी बुद्धि स्थिर होगी, वही परमात्मा हैं। इस रूप में 'अव्यक्त' से लेकर 'विशेष' पर्यन्त विकारों का निर्णय हो जाने पर चेतन और अचेतन के बाहर अन्य रूप जो ज्ञान होता है, उसे तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान कहते हैं।

भक्त—प्रभु! आप जो आत्मज्ञान की बात कहते हैं, वह ज्ञान एक का राज्य है; वहाँ और कुछ नहीं है। अतः उस वाक्यातीत स्थान की स्तवस्तुति हम कैसे पाठ करेंगे? और फूल, चन्दन आदि के बिना उस आत्मा की पूजा ही कैसे करेंगे।

महात्मा—बेटा! कल्पना के बिना परमेश्वर का निर्दिष्ट आकार असम्भव है। अतः मैं पूजक हूँ, यह पूजा है और वे पूज्य हैं, ये सभी केवल कल्पना अर्थात् मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वाक्यातीत और कल्पनातीत यह आत्मदेव या 'मैं' ज्ञान के द्वारा ही पूजित होते हैं, फूल आदि उपहार के द्वारा नहीं। इस देव की पूजा में धूप, दीप, पुष्प, अलंकार, अन्न, चन्दन, कुंकुम, कपूर, इत्र, चामरादि कुछ भी दिया नहीं जाता, केवल ध्यान ही उनका श्रेष्ठ पूजोपहार है। ध्यान ही अर्घ्य, ध्यान ही पाद्य और ध्यान ही पुष्प है; अधिक क्या कहूँ, जान लेना कि ये सभी ध्यानात्मक हैं। इस ब्रह्मावस्था की स्तव-स्तुति असम्भव है। तथापि किसी की स्तुति करने की इच्छा होने पर कहा जाता है कि—

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षीभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

भक्त–प्रभु! आपने जो स्थितप्रज्ञ, आत्मज्ञ की बात कही है, ऐसे लक्षणयुक्त व्यक्तियों को संन्यासी क्यों कहते हैं?

महात्मा— सं + न्यास = संन्यास अर्थात् भीतर और बाहर के मानापमान, आसक्ति-विरक्ति, संस्कार-वासनादि सब प्रकार के विषयों का न्यास (त्याग) जिनको हो गया है, उन्हीं को संन्यासी कहते हैं। इस प्रकार सम्यक् त्याग हुए बिना केवल गेरुआ वस्त्र पहनने या सिर मुड़ाने अथवा जटा रखाने से संन्यासी नहीं कहा जा सकता।

भक्त—भगवन्! ब्राह्मण गले में जनेऊ धारण न करने से सन्ध्या-पूजन ध्यान-धारणादि किसी कार्य में अधिकारी नहीं होते, ऐसा ही हमने सुना। अतः संन्यासी महापुरुष ब्राह्मण होकर भी गले में जनेऊ, सिर में शिखा और त्रिसन्ध्या का त्याग करके भी ब्राह्मण कैसे कहला सकते हैं?

महात्मा—हे सुव्रत! जिन लोगों ने आत्मज्ञान रूप शिखासूत्र को ही हृदय धारण किया है, उन्हें बाहरी सूत्र धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती और वे ही यथार्थ में ब्राह्मण हैं। जो ब्रह्मज्ञ हैं, उन्हें बाहरी सन्ध्या-पूजन से क्या काम? क्योंकि इन्द्रियाधिष्ठित ब्रह्मादि देवता सदा उनके हृदय में निवास करते हैं। उनके हृदय में अर्थात् आत्मचैतन्य में चराचर विश्व के सभी तत्त्व प्रतीयमान होने से वे बाहरी पूजा में विरत रहते हैं। वेदान्त में भी कहा गया है—

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥
सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत् सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत् सूत्रं धारयेद् योगी योगवित् तत्त्वदर्शिवान्॥
बहिःसूत्रं त्यजेद् विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमयं सूत्रं धारयेद् यः स चेतनः॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्॥
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानशिखी ज्ञाननिष्ठो ज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुत्तमम्।
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः॥ (ब्रह्मोपनिषद्)

अर्थात्—"विप्र संन्यास के समय शिखा सहित मस्तक का मुंडन करके बाहरी सूत्र (जनेऊ) का परित्याग पूर्वक अविनाशी परब्रह्म स्वरूप सूत्र को

अन्तर में धारण करते हैं। वह परम प्रेमास्पद सूत्र वेदान्त-वाक्य द्वारा सूचित होने से वह 'सूत्र' है, वह सूत्र ही परम पद है। जो उस परब्रह्म रूप सूत्र को जान सके हैं, वे ही वेदवित् हैं। जिस प्रकार सूत्र में मणि ग्रथित रहते हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्मसूत्र में निखिल ब्रह्माण्ड ग्रथित हैं। जिन्होंने इस सूत्र को जान लिया है वे सूत्र में ग्रथित मणियों की तरह चराचर ब्रह्माण्ड और उसका कारण सभी जान गये हैं, इसीसे उन्हें तत्त्वदर्शी कहते हैं। जो विद्वान व्यक्ति इस उत्तम योग का आश्रय लेकर बाहरी कल्पित सूत्र का परिहार करके ब्रह्ममय सूत्र को हृदय में धारण कर सके हैं, वही चैतन्यज्ञान हुए हैं। वह कभी दोषदुष्ट या अपवित्र नहीं होते। जिनके हृदय में ज्ञानमय सूत्र अन्तर्निहित है, वे ही इस लोक में सूत्रज्ञ तथा यथार्थ में सूत्रधारी कहलाते हैं। जिन्होंने ज्ञान रूप शिखा का धारण किया है, जिन्हें ज्ञान में निष्ठा है और जिन्होंने यथार्थ ज्ञान-सूत्र का धारण कर लिया है, वे ही परम पवित्र ज्ञान लाभ करने के योग्य अधिकारी होते हैं। जिस प्रकार शिखा रहने के कारण अग्नि को शिखी कहते हैं, उसी प्रकार जिन्होंने ज्ञानमयी शिखा का धारण किया है, वही यथार्थ 'शिखी' कहलाते हैं। इसके सिवाय जो केवल सिर में बहुत से बाल रखाते हैं, वे कभी शिखी नहीं कहला सकते।"

भक्त—महात्मन्! तो बाहरी यज्ञसूत्र कौन धारण करेंगे और कौन नहीं धारण करेंगे?

महात्मा—वह भी कहता हूँ, सुनो। ब्रह्मोपनिषद् कहती है—

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः।
तैः संधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्॥

अर्थात्—"ब्राह्मणादि वर्ण वेद-प्रतिपादित यज्ञ संन्ध्या-बन्दन आदि कर्मों के अधिकारी हैं अर्थात् कर्म में अनुरक्त हैं, वे ही बाहरी यज्ञ सूत्र धारण करेंगे। क्योंकि यह यज्ञसूत्र, कर्मांग रूप है, इसके बिना कर्म में अधिकार ही नहीं हो सकता। इस कारण वीतस्पृह होकर जिन्होंने कर्मों का परित्याग कर दिया है, उन्हें फिर बाहरी यज्ञसूत्र धारण करने की आवश्यकता नहीं होती।"

भक्त—प्रभु! तो क्या सर्वकर्मपरित्यागी को यज्ञसूत्र के परित्याग से कोई पाप नहीं होता?

महात्मा—बेटा ! वेदान्त क्या कहते हैं, सुनो।

शिखा ज्ञानमयो यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः॥ (ब्रह्मोपनिषद्)

अर्थात्—"जिन वेदज्ञ व्यक्ति ने ज्ञानमयी शिखा तथा ज्ञानमय यज्ञसूत्र का धारण किया है, उनके पास समस्त ब्राह्मण्य धर्म विद्यमान हैं अर्थात् वही यथार्थ ब्राह्मण हैं, वेदज्ञ सुधी लोग ऐसा जानते हैं।"

इदं यज्ञोपवीतं तु पवित्रं यत् परायणम्।
स विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात् स यज्ञः स च यज्ञवित्॥ (ब्रह्मोपनिषद्)

अर्थात्—"यह श्रेष्ठतम ज्ञानरूप यज्ञसूत्र जिनका अवलम्बन हो गया है, ऐसे विद्वान व्यक्ति को ही यथार्थ यज्ञोपवीतधारी कहते हैं। वही 'विष्णु' या आत्मस्वरूप हैं। अतः वही आत्मज्ञ हैं।' जाबालोपनिषद् कहती है—'किसी समय अत्रि मुनि ने योगी याज्ञवल्क्य से पूछा था—'हे याज्ञवल्क्य ! आपसे पूछता हूँ, यज्ञसूत्र का परित्याग करने वाले को कैसे ब्राह्मण कहा जायगा?' तब योगीन्द्र याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'जो हमारी बुद्धि के साक्षी स्वयं-प्रकाशमान आत्मा हैं, वही परमहंसों का यज्ञसूत्र-स्वरूप हैं अर्थात् आत्मध्यान में ही सारे धर्मफल निहित हैं। अतः आत्मध्यान करने वाले के धर्मसाधन में यज्ञसूत्र की आवश्यकता नहीं है।' अत्रि ने कहा—'हे भगवन् ! यज्ञसूत्ररहित व्यक्ति कैसे ब्राह्मण होंगे?' याज्ञवल्क्य ने कहा—'हाँ, उस प्रकार के परमहंस बाहरी यज्ञसूत्र के बिना भी ब्राह्मण रहेंगे। संन्यासियों में निम्नलिखित परिव्राजक लोग ही श्रेष्ठ हैं—प्रजापतिपुत्र संवर्तक, अरुणि-पुत्र, औद्दालक श्वेतकेतु, महादेव के अंशभूत अत्रि-पुत्र दुर्वासा, ब्रह्मा के पुत्र ऋभु, पुलस्त्य-तनय निदाघ, राजा ऋषभ के पुत्र जड़भरत, मुनि दत्तात्रि के पुत्र दत्तात्रेय, विख्यात परिव्राजक रैवतक आदि। इनमें यज्ञसूत्र आदि का कोई चिह्न नहीं था। इनके कार्य या तप आदि भी दूसरे देख नहीं पाते थे, क्योंकि वे उस समय आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके अलौकिक-ज्ञान-सम्पन्न हुए थे। इस कारण उनमें अविद्या या माया से उत्पन्न मत्तता नहीं थी। तथापि वे उन्मत्त के समान आचरण करते थे अर्थात् सदा लोकसंग से तप में विघ्न होता है जानकर कभी कभी उन्मत्त-सा बर्ताव करते थे। ये सभी परमहंस थे।" बेटा ! 'मैं ही वह प्रसिद्ध-कर्तृत्वादि-

अभिमान-शून्य तथा सत्य-ज्ञान-लक्षणयुक्त जगत्कारण-स्वरूप ब्रह्म हूँ'—ऐसा ज्ञान ही सूत्र है। यही सूत्र संसार रूप वस्त्र का उत्पादक है। अतः जो ब्रह्मज्ञ योगी हैं, उनके लिए बाहरी नव गुण वाले यज्ञसूत्र का धारण करना वृथा बाह्य शोभामात्र है। वे उसे छोड़कर 'मैं नित्य और अनित्य सभी से पृथक हूँ'—ऐसे ज्ञान में आत्मस्थ रहते हैं।

भक्त—प्रभु ! संन्यासी सम्प्रदाय में कोई कोई एक बाँस का दण्ड हाथ में लिये क्यों घूमा करते हैं ?

महात्मा—बेटा ! वह संन्यासियों का प्रथम स्तर है, इन्हें दण्डी संन्यासी कहते हैं। तत्त्व की आलोचना करते करते जब वे इस बाँस के दण्ड का रहस्य जानकर केवल ज्ञान-दण्ड ही हृदय में धारण करेंगे तब वे उस बाँस के दण्ड को छोड़कर परमहंस हो जायेंगे। वेदान्त भी कहते हैं—

सर्वान् कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते॥
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशीर्ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसञ्ज्ञकान्॥
इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः॥ (परमहंसोपनिषद्)

अर्थात्—"जो इस लोक तथा परलोक के विषयभोग की अभिलाषा का परित्याग कर निखिल-द्वैत-रहित आनन्दमय आत्मा में सदा अवस्थित रहते हैं और 'मैं ही ब्रह्म हूँ', उनमें और मुझमें कोई भेद नहीं है'—ऐसा ज्ञानदण्ड हृदय में धारण करते हैं, उन्हीं को पंडित लोग एकदण्डी या ज्ञानदण्डी कहते हैं। जो परमहंसाश्रम का आश्रय करके भी सम्यक् ब्रह्मज्ञान से रहित होकर केवल लकड़ी का दण्ड हाथ में धारण करते हैं तथा परमहंसाश्रम के विरोधी अशन-वसन आदि का ग्रहण करके स्वेच्छाचारी होते हैं, वे महा-रौरव नामक अनन्त दुःखकर भीषण नरक में पतित होते हैं। इस प्रकार ज्ञानदण्ड और काष्ठदण्ड दोनों का भेद जानकर जो ज्ञानदण्ड का ग्रहण करते हैं, वही यथार्थ परमहंस हैं।"

भक्त—प्रभु ! सन्ध्या किसे कहते हैं ?

महात्मा—हे सत्यकाम ! आत्मध्यान का नामान्तर ही सन्ध्या है। अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के अभिन्न रूप से मिलन का ही नाम सन्ध्या है। परम-हंसोपनिषद् कहती है—

तदेव शिखा च तदेवोपवीतं च परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सन्ध्या ।

अर्थात्—"वह परमात्मा ही मेरी शिखा है, वही मेरा यज्ञसूत्र है अर्थात् परमात्मा से मैं सम्पूर्ण अभिन्न हूँ"—इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के अभेदज्ञान के द्वारा योगी का अविद्याकल्पित जीवात्मा और परमात्मा का भेदज्ञान विनष्ट हो जाता है। ऐसा अभेदज्ञान ही जीवात्मा और परमात्मा की सन्धि है अर्थात् एकत्व-बोध से निष्पन्न होने के कारण परमहंसों के उस सन्धि या अभेदज्ञान का नाम हीं सन्ध्या है।" आशय यह है—दिन और रात्रि की सन्धि में अनुष्ठान-योग्य क्रिया का नाम जिस प्रकार सन्ध्या है, उसी प्रकार परमहंसों के जीव-ब्रह्म की सन्धि या एकत्व-बोध का नाम भी सन्ध्या है।

भक्त—प्रभु ! मन के साथ इतना युद्ध करके मन को इतने कष्ट से संयत करके हम आत्मा की उपासना क्यों करें ? इसकी इतनी आवश्यकता ही क्या है ?

महात्मा—बेटा ! मनुष्य का मन किसी एक वस्तु का आश्रय किये बिना क्षणभर भी नहीं ठहर सकता। यही मन अनेक जन्मों से विषय-भोग करते हुए जब उसे भोग्य वस्तुओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, तभी मन को आत्मतत्त्वालोचना की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि विषय-तत्त्व के त्याग करने से आत्मतत्त्व के अतिरिक्त दूसरा अन्य कोई तत्त्व ही नहीं रहता कि मन उसे लेकर आलोचना में तन्मय रहे। इस प्रकार आत्मतत्त्व की आलोचना ही आत्मा की उपासना है। पहले मन विषयों की उपासना करता था, उसके अनन्तर उसी मन में विषय-वैराग्य उत्पन्न होकर मन स्वेच्छा से ही आत्मा की उपासना में प्रवृत्त होता है। अतः इसमें बलप्रयोग करने या मन को कष्ट देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। बेटा ! उपासना के नाम से तुम लोग समझते हो—उपास्य मूर्ति का रूप-चिन्तन और उसकी खुशामद। इसलिए यदि इस आत्मो-पासना या ब्रह्मोपासना के नाम से ब्रह्म का रूप-ध्यान या उनकी खुशामद समझते हो तो उस उपासना में कोई भी लाभ नहीं है, वैसा कभी न करो। वह

वृथा कर्म या परिश्रम मात्र है। ब्रह्मोपासना का अर्थ ब्रह्मज्ञान है, यह जानकर ही ब्रह्मोपासना करने से वह सार्थक होगी। किसी वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार उस वस्तु की खुशामद नहीं करनी पड़ती, ब्रह्मोपासना या आत्मोपासना के विषय में भी ठीक वैसा ही जानना। इसमें आत्मा या ब्रह्म की किसी प्रकार खुशामद नहीं करनी पड़ती।

भक्त—प्रभु ! आपने कहा है 'जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश भी है।' अतः जीव का इस प्रकार अनेक कष्टों से अर्जित 'ब्रह्मत्व' क्या किसी समय नष्ट नहीं होगा ?

महात्मा—बेटा ! तुम्हें जो रज्जु में सर्प-भ्रम हुआ था, यहाँ उस बात को याद करो। तुम्हारे सर्पज्ञान के पहले जो रज्जु थी सर्पज्ञान के समय भी वही रज्जु विद्यमान थी। रज्जु कभी भी सर्प में परिणत नहीं हो सकती। उसके बाद जब तुम्हारा सर्पभ्रम दूर होकर रज्जु का ज्ञान हुआ उस समय भी ठीक वही रज्जु है अर्थात् तुम्हारे में रज्जु-ज्ञान के अभाव या भाव के कारण रज्जु में से रज्जुत्व का कभी लोप नहीं हुआ है। सत्य रज्जु पहले और बाद को ठीक एक ही भाव से विद्यमान थी। यहाँ भी ठीक वैसा ही है। मनुष्य का यह ब्रह्मत्व कोई नयी प्राप्य वस्तु नहीं है कि इसका नाश होगा अर्थात् जीव पहले भी ब्रह्म ही था और अब भी है और आगे भी वह ब्रह्म ही रहेगा। केवल ऊपर-कथित रज्जु में सर्पभ्रम की तरह सत्य ब्रह्म में जीव-भ्रम हुआ था। श्रुति ने भी कहा है—

स यो ह वै तत परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

अर्थात्—"जो इस परब्रह्म को जानते हैं, वह परब्रह्म हो जाते हैं। उपासक जीव पहले भी ब्रह्म था, अब भी ब्रह्म को जानकर ब्रह्म हुआ। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म अज्ञात था, ज्ञान होने से वह अज्ञता दूर हुई और जीव ब्रह्म एक हुए।" बेटा ! ब्रह्मत्व-प्राप्ति से जीव मुक्त हो जाता है, परन्तु इस मुक्ति में कुछ नया प्राप्त नहीं होता; मुक्ति अपने स्वरूप का ही साक्षात्कार है। जैसे किसी व्यक्ति का अँगोछा अपने ही कन्धे पर रहते हुए भी भ्रम से अप्राप्त की तरह

उस अँगोछे को हर जगह खोजता-फिरता है। बहुत थक जाने के बाद बैठकर उसी कन्धे पर के अँगोछे से मुँह का पसीना पोंछने लगा, तब उसे कर समझ गया कि अँगोछा खोया नहीं गया था, अपने कन्धे पर ही था। लोग कहेंगे कि उसे अँगोछा मिल गया, परन्तु वास्तव में वह मिला ही उसके विषय में अज्ञान के कारण वह खोजते-खोजते क्लान्त हो गया था। प्रकार मुक्ति या ब्रह्मत्व-प्राप्ति को भी तुम नित्य-प्राप्त ही जानना। क के द्वारा मुक्ति अनायास-लभ्य होने पर भी अविवेक उसे दुर्लभ बना है।

बेटा ! दृश्य प्रपंच बाहर रहने से हानि नहीं है, परन्तु अन्तर में उसका रूप से दर्शन होना ही दुःख का कारण है अर्थात् वह मोक्ष का बाधक है। रे सामने यह जो दृश्य रूप में जगत् दिखाई पड़ रहा है तथा अन्तर में , मम आदि भाव उपलब्ध हो रहे हैं वह सभी व्यवहारिक दशा में जगत् है , परन्तु पारमार्थिक स्थिति में ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त यथार्थ में जगत्-शब्द वाच्य अन्य कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ दृश्य दिखाई पड़ता है, सभी अजर, र और अव्यय ब्रह्म है और कुछ नहीं है। केवल ब्रह्म में ब्रह्म की ही स्थिति है। रज्जु में सर्प-भ्रम के स्थल में जैसे रज्जु में रज्जु की ही अवस्थिति उसी प्रकार ब्रह्म में जगत्-भ्रम के स्थल में ब्रह्म में ब्रह्म की ही अवस्थिति । बेटा ! यह संसार ब्रह्म से उत्पन्न होता है, अविवेक के द्वारा उसीमें स्थित ता है और विवेक के द्वारा फिर उसमें लयप्राप्त होता है। ब्रह्म रूप समुद्र में तक कितनी जगत् रूप लहरें उत्पन्न हुई हैं, उनकी सीमा नहीं हैं। जिस र जगत् की स्थिति का कारण अज्ञान है, उसी प्रकार जगत् की शान्ति निवृत्ति ) का कारण आत्मतत्त्वज्ञान है।

भक्त—हे महात्मन् ! आपने कहा है कि 'सभी कर्म-फल नाश-प्राप्त हो ते हैं' अतः योगी महापुरुष लोग जो अनेक कष्टों से मन को समाधिस्थ ते हैं उस कष्टसाध्य कर्मफल जो समाधि है, वह किस प्रकार स्थायी होगी ?

महात्मा—बेटा ! यह समाधि अवस्था मनुष्य किसी कर्म के द्वारा उत्पन्न

नहीं करता। स्वप्नावस्था से सुषुप्ति में जाने के पहले स्वप्न और सुषुप्ति का जो अति सूक्ष्म सन्धिस्थल है, वही तुरीय या समाधि की अवस्था है। इस कारण प्रतिदिन ही जीव को समाधि होती है, परन्तु अज्ञानी मनुष्य उसका अनुभव नहीं कर सकता। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तरह समाधि या तुरीय अवस्था भी जीव की स्वाभाविक अवस्था है। कोई नयी उत्पन्न प्राप्य अवस्था नहीं है। अतः इसके नाश की कोई सम्भावना नहीं है। श्रुति भी कहती है—

न द्वैतं भासते नापि निद्रा। तत्रास्ति यत् सुखं स ब्रह्मानन्दः॥

अर्थात्—"जब मन में किसी प्रकार की द्वैत वस्तु प्रकाशित नहीं होती ( स्वप्न की अन्तिम सीमा ), परन्तु निद्रा ( सुषुप्ति ) भी नहीं, इन दोनों अवस्थाओं की सन्धि के समय जो आनन्दानुभव होता है, वही ब्रह्मानन्द या निर्विकल्प समाधि है।" श्रुति और भी कहती है—

इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्तीमं ब्रह्मलोकम्।
न विन्देयुः अनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः॥

अर्थात्—"जीव प्रतिदिन इस ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं, परन्तु अज्ञान में आच्छादित रहने के कारण वे नहीं जानते अर्थात् इसकी उपलब्धि नहीं कर सकते।"

बेटा! मन के शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा तथा विचार, वैराग्य, समाधि आदि जिन विषयों का साधन करने के लिए पहले मैंने तुमसे कहा था, वे सब तुम्हारे मन की ही अवस्थाएँ हैं। अतः हरएक के मन में ही वे सब विद्यमान हैं, इस कारण किसी को कहीं से उनका अर्जन नहीं करना पड़ता। यहाँ तक कि किसी किसी समय वह तुम्हारे मन में उदित भी होते हैं, परन्तु तुम लोग उसका अनुभव नहीं करते, इसलिए इतने शोक-ताप का भोग करते हो। जैसे किसी व्यक्ति के पूर्वजों का कमाया हुआ प्रचुर धन-रत्न अपने ही घर में गाड़ा रहने पर भी उसका ज्ञान न रहने से वह भिक्षा माँगता

कर अपना जीवन व्यतीत कर रहा था। कालान्तर में किसी जानकार पुराने मी के द्वारा उस गुप्त धन का पता उसे मिल गया। तब उस प्रचुर धन के होने से उसकी दरिद्रता मिट गयी और वह सुख से अपना जीवन बिताने गा। उसी प्रकार तुम्हारी मनोभूमि के भीतर आत्मज्ञान रूप धन-रत्न निहित है, किन्तु उस विषय में तुम्हारी अज्ञानता के कारण ही तुम लोग दुःख-कष्टों से लिष्ट होकर सदा ही अभावों की ताड़ना से नाना प्रकार के देवताओं या मूर्तियों सामने 'धन देहि, जनं देहि' कहकर रोते हुए भिक्षा माँगते फिरते हो। ज्ञानरत्न के विषय में अभिज्ञ किसी गुरु के उपदेशानुसार जब तुम अपनी नोभूमि पर विवेक रूप फावड़े के आघात से उस आत्मतत्त्व-रत्न को बाहर काल सकोगे, तभी तुमलोग सब विषयों में धनैश्वर्य प्राप्त करके परमानन्द जीवन बिता सकोगे।

भक्त—प्रभु! यदि प्रत्येक जीव के भीतर आत्मा हो तो क्या जीवों के न्म-मरण के साथ-साथ इस आत्मा का भी जन्म-मरण नहीं होता? तः आत्मा अनेक होने के कारण तथा जन्म-मृत्यु का ग्रहण करने से कैसे एक, असीम, जन्मरहित, क्षयशून्य और अव्यय होगा?

महात्मा—बेटा! एक दृष्टान्त ले लो। किसी बड़े कमरे की दीवालों में चास बड़े-बड़े दर्पण लगे हुए हैं और तुम उस कमरे के बीच में खड़े हो। अब न पचासों दर्पणों में तुम्हारे पचास प्रतिबिम्ब पड़े हैं। इस प्रकार प्रतिबिम्ब ड़ने से ही क्या तुम पचास हो गये? ऐसा कभी नहीं हो सकता। उन प्रतिबिम्बों पड़ने के पहले भी तुम अकेले ही थे और अब उन प्रतिबिम्बों के पड़ने के बाद भी तुम अकेले ही हो। उन पचासों दर्पणों में जो तुम्हारी ही तरह मनुष्य के प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, वह दृष्टि का भ्रम मात्र है। उन दर्पणों के प्रतिबिम्बों के विषय में तुम्हें पूर्ण ज्ञान रहने से यथार्थ में ही तुम पचास व्यक्ति नहीं हो गये हो, इसे तुम स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहे हो। परन्तु किसी अज्ञान शिशु को उन दर्पणों के देखते ही विश्वास हो जायगा कि यथार्थ में ही उन दर्पणों में बहुत से आदमी हैं। आत्मा के विषय में भी ठीक उसी

प्रकार है। तुम्हारे जैसे अनात्मज्ञ व्यक्ति ही इस जगत् रूप दर्पण को देखकर आत्मा के अनेक आकारों के विषय में सत्यता का बोध कर रहे हैं। परन्तु आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति उस आत्मा की एक अद्वितीय स्वरूप में उपलब्धि कर रहे हैं। और भी देखो, उन दर्पणों को यदि कोई एक एक करके तोड़ डालता है तो उससे उन दर्पणों के प्रतिबिम्बों का नाश होगा सही, परन्तु क्या उससे तुम्हारा भी नाश होगा या तुम्हारी कुछ ह्रास-वृद्धि होगी ? उन दर्पणों के टूट जाने से या और भी दस-बीस दर्पण वहाँ लाने पर जिस प्रकार तुम्हारी कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जीवों के जन्म-मरण से आत्मा की कोई भी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। जिस प्रकार तुम दर्पण में संलिप्त नहीं हो, बल्कि दर्पणों से निर्लिप्त हो ; आत्मा भी ठीक उसी प्रकार सृष्टि, स्थिति, प्रलय में लिप्त नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण निर्लिप्त हैं। जिस प्रकार स्फटिक के सामने लाल फूल लाने पर उसमें लाली छा जाती है, उस समय यदि वह स्फटिक सैकड़ों टुकड़ों में तोड़ दिया जाता है तो उस लाल फूल में कुछ भी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। इन अगणित जीवों के जन्म-मरण से उसी प्रकार आत्मा में भी कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती।

भक्त—प्रभु ! यदि मैं ही ब्रह्म या परमात्मा हूँ और प्रतिदिन ही यदि मुझे तुरीयावस्था होती हो तो फिर किसकी साधना करूँगा और किस लिए करूँगा ? बिना प्रयोजन के कोई कुछ काम नहीं करता।

महात्मा—अब की तुमने बहुत उत्तम प्रश्न किया है। सोचकर देखो, तुम लोग बात करते समय 'यदि,' 'किन्तु', 'अथवा' आदि शब्दों के योग से जो बात कहते हो वह निश्चयात्मक नहीं है। उसमें कुछ सन्देह रह जाता है, इसी कारण उस प्रकार के सन्देहात्मक वाक्य कहा करते हो। मान लो, किसी ने तुमसे कहा कि 'भाई, मेरे लिए बाजार से एक आने का पान लाना' तब तुमने कहा—'यदि बाजार जाऊँ तो लाऊँगा।' अतः इसमें बाजार जाने के विषय में तुमको सन्देह है, तुम जा भी सकते हो, न भी जा सकते। तुम्हारे ब्रह्मत्व के विषय में भी ठीक इसी प्रकार सन्देह है। दृढ़ता के साथ निःसन्दिग्ध

से तुम्हारा मन अभी तक नहीं कह सकता कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। इसलिए कह रहे हो कि 'यदि मैं ही ब्रह्म हूँ।' तुम्हारी इन बातों से ही स्पष्ट प्रमाणित रहा है कि तुम अभी तक ब्रह्म नहीं हुए हो। अतः यदि तुम ब्रह्म हो तब हैं किसी साधन की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। तुम्हारा नाम देवेन्द्र है। देवेन्द्र शब्द बचपन से सुनते सुनते उसके मनन के फलस्वरूप वह अब प्रकार प्रगाढ़ निदिध्यासन में परिणत हो गया कि तुम्हारा नाम जो देवेन्द्र उसके विषय में तुम्हारे मन में अब कोई सन्देह ही नहीं रह गया है। इस र 'यदि मैं देवेन्द्र हूँ,' ऐसा सन्देहात्मक वाक्य कभी भी तुम्हारे मुख से निकलता। यहाँ तक कि तुम जो देवेन्द्र हो, यह तुम्हारे मन में ऐसी ता के साथ निश्चित हो गया है कि तुम्हारे निद्रितावस्था में भी यदि कोई वेन्द्र' कह कर पुकारता है तो तुरन्त तुम जाग्रत होकर उत्तर देते हो। निदिध्यासन के प्रभाव से 'मैं ही देवेन्द्र हूँ' इसकी जिस प्रकार तुम प्रत्यक्ष रूप से लब्धि कर रहे हो, विचारशील ज्ञानी व्यक्ति भी 'मैं ब्रह्म हूँ,' 'मैं विष्णु हूँ' दि वाक्य सुनते सुनते मनन और निदिध्यासन के प्रभाव से ब्रह्म या विष्णु र जो अपना ही विशेषण है, इसकी निःसन्दिग्ध रूप से उपलब्धि कर हैं। ऐसा निदिध्यासन ही आत्मस्वरूप में स्थिति है। तुम्हारे ब्रह्मत्व के षय में भी इसी प्रकार निःसन्दिग्ध भाव से जिस दिन 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस र अपरोक्ष रूप से उपलब्धि कर सकोगे, उसी दिन से फिर किसी प्रकार के धन-भजन का तुम्हें प्रयोजन ही नहीं रहेगा। अतः तुम्हारे इस सन्देहात्मक दि' शब्द को तिरोहित करके निःसन्दिग्ध होने के लिए ही तुम्हें साधन-जन करने की आवश्यकता है। अनुमान करना और अनुभव करना एक त नहीं है। तुमने शास्त्रीय प्रमाण और मेरे युक्ति-प्रमाण द्वारा अनुमान र लिया है कि 'तुम ब्रह्म हो' परन्तु यह विषय अभी तक तुम्हारे अनुभव या पलब्धि में नहीं आया है। इस प्रकार के अनुमान को ही परोक्ष ज्ञान र स्वानुभव को अपरोक्षानुभूति कहते हैं। परोक्ष ज्ञान के द्वारा कभी म्हारी अज्ञानता दूर होकर मन के शोक-ताप निवृत्त नहीं हो सकते और न शान्ति ही प्राप्त कर सकते हो। इसी कारण अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा

निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा मनुष्य 'मैं ब्रह्म हूँ' यह निःसन्दिग्ध रूप से जानकर इस भवसागर से उत्तीर्ण हो सकता है। इस विषय में भगवद्गीता के वचन हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात्—"संशय और विपर्यय से रहित अर्थात् आत्मा के विषय में संशय-भावना और विपरीत-भावना से रहित बुद्धि के साथ युक्त होकर तथा धीरे धीरे शरीर आदि को नियमित करके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन पाँच विषयों का परित्याग, राग-द्वेष का त्याग, जनशून्य पवित्र गिरिगुहादि में निवास, लघु भोजन, शरीर, मन, वाणी का संयम, सदा आत्मस्वरूप का ध्यान, योगानुष्ठान अर्थात् आत्मा में मन की स्थिति और वैराग्य का आश्रय ग्रहण करके अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का परित्याग पूर्वक ममतारहित तथा शान्त होकर मनुष्य ब्रह्मीभूत होने में अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।" वेदान्त भी कहते हैं—

एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्माहमस्मीति
संशयसम्भावनाविपरीतभावनाराहित्येन यस्तु
जानाति, स जीवन्मुक्तो भवति।

अर्थात्—"संशय-भावना और विपरीत भावना से रहित होकर जो 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव परब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष उपलब्धि द्वारा ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान-सम्पन्न हो जाते हैं, वही जीवन्मुक्त हैं।"

भक्त—हे भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं, इसीसे मैं आपसे पूछता हूँ, जीवन्मुक्त के अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मानन्द प्राप्त करके किस प्रकार आनन्द का अनुभव करते हैं ?

महात्मा—बेटा ! वह आनन्द, आनन्द नहीं है। वह आनन्द और निरानन्द दोनों से परे है। इसीलिए वह 'अवाङ्मनसगोचरम्' अर्थात् वाक्य और मन के अगोचर है। रसगुल्ला का स्वाद केवल वही जान सकता है जिसने रसगुल्ला खाया है। अब वह इस रसगुल्ले का स्वाद कैसे दूसरे को समझायेगा ? सम्भवतः वह कहेगा कि वह बहुत ही मीठे स्वाद का है, यह ब्रह्मानन्द भी ठीक उसी प्रकार है। एक कहानी सुनो—

एक विवाहिता राजकन्या अपनी कुमारी सहेलियों से कहा करती थी कि "पति बहुत ही उत्तम वस्तु है। पति के संग का सुख संसार में श्रेष्ठ सुख है। इससे बढ़कर शान्ति और आनन्द संसार में और कुछ नहीं है।" राजकन्या की इसी सुख की बात सुनकर उस सुख का स्वाद उपलब्ध करने के लिए वे कुमारी सहेलियाँ बहुत व्यग्र होकर प्रायः राजकन्या से पूछा करती थीं—"बहन ! पति-संग-सुख कैसा है ? जरा खोलकर बताओ न। तुम्हारे उस सुख के स्वाद का कुछ अंश हमें भी मिल जाय। क्या स्वादिष्ट मिठाई खाने से जैसा सुख होता है, वह भी ठीक वैसा ही सुख है; या सिनेमा देखने से जैसा सुख होता है वैसा ?" उत्तर में राजकन्या कहती थी—"तुम इसे नहीं समझोगी। तुम लोग जिस प्रकार के आनन्द की बात कह रही हो, उससे भी हजारों गुणा श्रेष्ठ आनन्द है।" इस तरह सहेलियाँ नाना प्रकार के आनन्दों की बातों का उल्लेख कर उस राजकन्या से बार बार पूछने लगीं, परन्तु किसी तरह वह राजकन्या उन कुमारी सहेलियों को पति-संग-सुख का स्वाद समझा नहीं सकी, क्योंकि पतिसंग किये बिना केवल सुख की बात से कोई किसी प्रकार से उस सुख का स्वाद नहीं पा सकती। कुछ दिनों के बाद उनमें से एक सहेली का विवाह हो गया। तब वह सहेली पति-संग-सुख का रसास्वाद करने के कारण राजकन्या के साथ आपस में पति-संग-सुख की आलोचना करते हुए परमानन्द में मग्न हुई।

इस प्रकार जब दूसरी सहेलियों का भी विवाह हो गया तब वे भी पति-संग-सुख का स्वाद समझ गयीं। पति-संग-सुख की बात बार बार सुनकर भी पतिसंग न करने तक जिस प्रकार सहेलियाँ पति-संग-सुख का स्वाद नहीं पा सकीं, ठीक उसी प्रकार यह निर्विकल्प समाधि भी है। अपरोक्षानुभूति या निर्विकल्प समाधि जिसे कभी नहीं हुई हैं, लाखों वेद-वेदान्त, शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन करने या कान से दूसरों के उपदेश सुनकर किसी तरह वह उस समाधि-सुख का स्वाद नहीं पा सकता। राजकन्या जिस प्रकार अनेक प्रकार से कहकर भी सहेलियों को पति-संग-सुख नहीं समझा सकी, समाधिनिष्ठ व्यक्ति भी ठीक उसी प्रकार अन्तर में पुरुष-प्रकृति के संयोग से समाधि का जो अपार आनन्द है, वह दूसरे को नहीं समझ सकता। अतः सखियों के विवाह की तरह मुमुक्षुओं में जिसको जब अपरोक्षानुभूति होगी तभी वह उस आत्मानन्द की उपलब्धि कर सकेगा। बेटा ! जिस प्रकार स्त्री का वयस कितना ही अधिक क्यों न हो, वह पति-संग-सुख की उपलब्धि किये बिना वह आनन्द नहीं पा सकती और न सन्तान प्रसव करने को शक्ति ही होती है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारी मनःप्रकृति अनेक बार शरीर ग्रहण करके भी कितने ही अधिक विषयों का भोग क्यों न करे, परमात्मा रूप पुरुष के साथ रमण न करने तक किसी तरह भी परमानन्द की उपलब्धि नहीं कर सकती और न उसमें समदर्शन, निर्विकार भाव, मृत्यु-भय का नाश आदि शक्ति ही उत्पन्न हो सकती है। यहाँ तक कह कर महात्मा अपने भाव में डूबकर भजन गाने लगे—

मनेर बाहिरे जखने जाइ आमि,
जागे शुधु ऐक चेतना।
ए बिश्श तखन नीरब होये जाय,
तुमि आमि सेथा किछुइ रहे ना॥
तखने ए बिश्श आमाते हय लय,
देखिते पाइ तुमि आमि भिन्न नय।

द्वैताद्वैतो ज्ञान रहे ना तखन,
मनातीतो स्थान ( तार ) ना हय वर्णना।
सुख-दुःखातीतो बाक्केर अतीतो,
तबु साधारण करिछे कल्पना।
सेइ सत्य शान्त, ज्ञानातीतो स्थाने,
अज्ञेर जल्पना कभुओ पौंछे ना॥

इसका आशय इस प्रकार है—

मैं जब मन के बाहर जाता हूँ, तब केवल एक चेतना ही जागती है। यह व तब नीख हो जाता है, तुम-मैं वहाँ कुछ भी नहीं रहता। तब यह विश्व मुझ लय प्राप्त हो जाता है; देखता हूँ—तुम और मैं भिन्न नहीं। तब द्वैताद्वैत का नहीं रहता, उस मनातीत स्थान का वर्णन नहीं होता। ( वह ) सुख-दुःखा- तथा वाक्य से अतीत है, तो भी साधारण लोग कल्पना करते हैं। उस शान्त ज्ञानातीत स्थान में अज्ञानी की कल्पना कभी नहीं पहुँचती।

भक्त—दयामय ! कैसे मैं निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मानन्द की उपलब्धि सकूँगा, कृपापूर्वक अब मुझे उसी का उपदेश करें।

महात्मा—हे महामते ! विवेक और विचार के बल जिसके मन से घन, , जाति, वर्णाश्रम, खाद्याखाद्य, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक तथा मनःकल्पित क ईश्वर आदि सब प्रकार के संस्कार विदूरित हो गये हैं अर्थात् जिसने मन इस मायिक प्रपंच के अस्तित्व को सम्पूर्ण रूप से विदूरित कर दिया है, ऐसे तीव्र वैराग्यवान व्यक्ति निर्जन और नीरव स्थान में सुखपूर्वक बैठकर श्री गुरु के उपदेशानुसार ध्यानमग्न होने पर अनायास आत्मस्थ हो जाते । ऐसे उत्तमाधिकारी को लय या विक्षेप की शक्ति कभी विचलित नहीं कर सकती। इसलिए वह उस समय उस एक के राज्य में पहुँच कर निर्वाण समाधि ब्रह्मानन्द में मग्न हो जाते हैं।

भक्त—प्रभु ! मेरे जैसे निम्नाधिकारी को क्या करना चाहिये ?

महात्मा—तुम्हारे जैसे अल्पाधिकारी व्यक्ति को किसी निर्जन और नीरव प्रदेश में अकेले सुखासन में उपविष्ट होकर श्रीगुरु के आदेशानुसार प्रणव (ॐ) का उच्चारण करते रहना चाहिये तथा सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करके मन का द्रष्टा होकर रहना चाहिये अर्थात् तुम अपने मन से पृथक रूप में रहकर केवल देखते रहोगे कि तुम्हारा दुष्ट चंचल मन किस विषय की ओर किस दिशा में धावित हो रहा है। मन जिस समय जिस विषय में धावित होगा, उस समय उस विषय से बलपूर्वक मन को लौटा लाकर उसे अपने ही ऊपर अवस्थित रखना होगा। इस तरह प्रथम अभ्यास के समय किसी किसी के मन में आलस्य और अरुचि आकर बाधा उत्पन्न कर सकते हैं अर्थात् प्रथम अवस्था में साधक ध्यानधारणा करके कुछ भी स्वाद न पा सके तो उसके मन में निराशा छा जाती है। तब उसे ऐसा भान होता है कि इस साधन से कोई फल नहीं है, विशेष कर यह मेरे लिए एकदम असाध्य है। ऐसी अवस्था में शिष्य को गुरु के समीप दीर्घकाल तक रह कर गुरुसेवा करते हुए उनका उपदेश सुनना ही प्रधान कर्तव्य है, क्योंकि उस समय समझना होगा कि वह शिष्य इस प्रकार ध्यान-धारणा के अनधिकारी है। इसलिए गुरु से तत्त्वोपदेश सुनते-सुनते कुछ काल के अनन्तर उसके मन में अधिकारित्व उत्पन्न होगा। और यदि तुम्हारे भीतर वैसा आलस्य या अरुचि उत्पन्न न भी हो तो पुनः पुनः ही तुम्हारा चित्त विषयों में विक्षिप्त होगा, इसी को मन की विक्षेपावस्था कहते हैं। इस अवस्था में बार-बार मन को बलपूर्वक आकर्षण करके लौटा लाकर अपने ऊपर चिन्ताशून्य अवस्था में स्थित रखना होगा। अपने मन को इस प्रकार चिन्ता-शून्य करना पड़ेगा कि अपनी देह की चिन्ता अर्थात् मैं ध्यान में बैठा हूँ, ऐसी चिन्ता तक को मन से हटा देना होगा। अर्थात् उस समय मन को ऐसा चिन्ताशून्य करना चाहिये कि उस समय मन में केवल मात्र मन ही रहे। मन के सिवाय वहाँ कोई दूसरी वस्तु न रहने पावे। इस प्रकार से विषय-चिन्ता से मन को बार बार आकर्षण करने पर भी यदि यह मालूम हो कि वह किसी विशेष विषय में इस प्रकार आसक्त हो गया है कि किसी तरह भी उस

य को छोड़ना नहीं चाहता तब मन जिस वृत्ति के द्वारा उसको आकर्षण कर है, केवल उसी वृत्ति को मन के सामने रख कर सूक्ष्म विचार द्वारा उस वृत्ति दोष-गुणों की आलोचना करते रहना होगा। तब विचार द्वारा उस मनो-वृत्ति का दोष प्रत्यक्ष होने पर तुम्हारा मन अपने-आप ही संकुचित हो जायगा। स प्रकार मन के एकदम विषय-शून्य अर्थात् निरालम्ब होने पर वह तुम्हारे नजान में ही निद्रा में अभिभूत हो जायगा। बहुत लोग कुछ काल तक प्रविष्ट रहने पर निद्राविष्ट होकर पुनः सचेत होने पर सोचने लगते हैं कि मैं सम्भवतः ध्यानस्थ ही था'। इस निद्रा को मन की 'लयावस्था' कहते हैं। स निद्रा से भी मन को बल पूर्वक आकर्षण करके सचेत रखना होगा। जो ोग अधिक भोजन करते हैं अथवा अधिक ठण्ढी चीज खाते हैं या जो लोग द्ध हैं, उन्हीं का मन इसी प्रकार निद्रा में अभिभूत हो जाता है। सुदीर्घ ाल तक उपरोक्त रूप से अभ्यास के बल विषय-चिन्ता और निद्रा से मन को म्पूर्ण रूप से मुक्त रखने से ही तुम्हारा मन स्वतन्त्र हो जायगा। परन्तु मन किसी विषय की चिन्ता छोड़ क्षणभर भी नहीं ठहर सकता। पहले से ही आत्म-तत्त्व के विषय में श्रवण, मनन आदि के रहने के कारण अब तुम्हारा वह स्वतन्त्र न मानो विवश होकर आत्म-ध्यान ही करता रहेगा। इस प्रकार से मन के आत्म-ध्यान करते रहने पर बाहरी इन्द्रियाँ भी फिर बाहरी विषयों में लिप्त नहीं गी। उस समय वे मन की आज्ञा से ही शान्त हो जायेंगी। इस प्रकार से बाहरी इन्द्रियों और अन्तरेन्द्रिय मन को विषय रहित करके जो निर्विषय ध्यान होता है, उसे ही 'ब्रह्म-ध्यान' या 'ध्यान-योग' कहते हैं। अर्थात् आत्म-तत्त्व के श्रवण द्वारा मनन होने लगता है, उस मनन की अवस्था जब क्रमशः निदिध्यासन में आकार परिणत हो जाती है, तभी यथार्थ ध्यान सिद्ध होता है। यही 'निर्विकल्प समाधि' तथा एक का राज्य अथवा ब्रह्मानन्द है तथा यही मन-वाणी के अगोचर 'कैवल्य धाम' है।

भक्त—प्रभु! जो लोग उस प्रकार कठोर भाव से आत्मध्यान नहीं कर सकते, उनका उपाय क्या है?

महात्मा—बेटा ! जो सब से निम्नाधिकारी हैं, उनके लिए ब्रह्मज्ञ गुरु का आश्रय लेना ही परम कर्तव्य है। यह ब्रह्मज्ञ गुरु ही उनके सगुण साकार ब्रह्म हैं। उन्हें शरीर, मन और वाणी से केवल ब्रह्मज्ञ गुरु की सेवा में रत रहकर आत्मतत्त्व का श्रवण करते रहना चाहिये। यही उनके लिए एकमात्र साधन-भजन है, उनका कोई अन्य कर्तव्य ही नहीं है। गीता के मुख से श्रीकृष्ण कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

अर्थात्—"कोई कोई इस प्रकार ध्यानादि के द्वारा आत्मा का दर्शन करने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए वे आचार्य (गुरु) के समीप तत्त्वोपदेश का श्रवण कर उन्हीं गुरु की उपासना करते हैं। वे भी उन आचार्य के उपदेश श्रवण करते हुए संसार अथवा मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं।"

भक्त—प्रभु ! यह आत्मदर्शन या ब्रह्मज्ञान एक का राज्य जिस प्रकार से होगा ? क्योंकि आपने कहा है—'देह, मन और आत्मा—ये तीन वस्तुएँ हैं'। उसके बाद आपने सर्वत्र ही आत्मदर्शन या ब्रह्मज्ञान बताया है। अतः आत्म-दर्शन कहते ही तो मन वहाँ द्रष्टा और आत्मा दृश्य रूप से अथवा ब्रह्मज्ञान कहते ही मन वहाँ ज्ञाता और ब्रह्म ज्ञेय रूप से अवश्य ही रहेंगे।

महात्मा—बेटा ! जो द्रष्टा, दृश्य का दर्शन करता है वह द्रष्टा आत्मदर्शन करने में समर्थ नहीं होता। हे महामते ! द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों में दृश्य पदार्थ का सभी लोग दर्शन करते हैं, परन्तु कोई भी द्रष्टा का दर्शन नहीं कर पाता। जिस प्रकार तुम्हारा चक्षु बाहरी सब वस्तुओं का रूप देखता है और उन रूपों का वर्णन भी मुँह से करता है, परन्तु वह (चक्षु) कभी अपने को नहीं देखता ; अपने रूप का वर्णन भी नहीं कर सकता। ठीक उसी प्रकार दृश्य वस्तुओं का दर्शन करके सभी उन वस्तुओं के नामों और रूपों का वर्णन किया करते हैं। परन्तु यदि किसी से यह पूछा जाय कि 'आप दृश्य पदार्थों

तो देख रहे हैं, किन्तु द्रष्टा रूप आप कौन हैं, कभी उसे देखा है क्या ? द्रष्टा कहाँ तथा कैसे है ? उसका नाम-रूप भी कैसा है ? अब उसी का वर्णन जिये।' तभी वह चौंक उठेगा और कहेगा—'मैं द्रष्टा को नहीं जानता, र न पहचानता हूँ।' परन्तु उसी समय यदि उस व्यक्ति से पूछा जाय कि 'यह आप दृश्य के नाम-रूपादि की व्याख्या कर रहे हैं, इनका दर्शन किया है किसने ?' उसके उत्तर में वह उसी समय स्पष्ट रूप से कहेगा—'मैंने दर्शन किया ।' यहाँ सूक्ष्म विचार करके देखो, 'मैं अपने को नहीं जानता, नहीं पहचानता नहीं समझता' ऐसी बातें कहने से लोग उसे पागल ही कहेंगे। इस विश्व-ह्माण्ड के सभी मनुष्य उसी प्रकार से पागल की तरह बातें किया करते हैं। सुमते ! उस द्रष्टा को दर्शन करने का नाम अर्थात् अपने को स्वयं पहचानने जानने का नाम ही ब्रह्मज्ञान या आत्मदर्शन है। आत्मज्ञ व्यक्ति केवल अज्ञा-यों को समझाने के लिए ही 'इसका नाम अविद्या और इसका नाम जीव इसी प्रकार के काल्पनिक भेद-बोधक वाक्यों का अवलम्बन करके उपदेश या करते हैं। जब तक तुम जैसे अज्ञानियों का मन अबोध रहता है तब तक प्रकार शास्त्र-कल्पित व्यवहार का आश्रय लेने के बिना अन्य किसी उपाय उन्हें समझाया नहीं जा सकता। युक्ति के द्वारा लोगों की असम्भावना और परीत-भावना निवृत्त हो जाती है। उसके बाद मन बोध प्राप्त होकर परमात्मा संयोजित हो जाता है। नहीं तो अज्ञानी व्यक्ति को पहले ही 'सर्वं ब्रह्म' का पदेश देना वृक्ष के सामने अपने दुःख का वर्णन करने के समान निरर्थक । युक्ति-प्रमाणों के न देने पर मूढ़ लोग नहीं समझते। जब वे अज्ञानी लोग क्तियों के द्वारा समझाये जाते हैं, तभी प्राज्ञ होते हैं। इस कारण उस समय वे त्व की बात कहने पर समझ सकते हैं। इस कारण जब तक तुम अबुद्ध थे, तब क मैंने तुम्हें युक्तियों से समझाया है। अब तुम कुछ प्रबुद्ध हुए हो, इस रण तुमको तत्त्व की बातें बताता हूँ। परमात्मा के साथ जगत का जो भेद दिखाई इ रहा है वह व्यवहारिक मात्र है, सत्य नहीं है। अतः द्वैत के मिथ्या होने पर व्यवहारिक दशा में अर्थात् तत्त्व-बोध के पहले प्रयोजन होने के कारण; देश के निमित्त उसका ग्रहण करना पड़ता है। जिस प्रकार मिथ्या रज्जु-

सर्प के दर्शन से सत्य भय, कम्प आदि उद्भुत होते हैं, उसी प्रकार मिथ्या द्वैत का अनुवाद करके उपदेष्टा सत्य ब्रह्म को समझाया करते हैं। व्यवहार-सिद्ध द्वैत का अवलम्बन किये बिना अद्वैत समझाया नहीं जा सकता। 'प्रपंच मिथ्या तथा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है अर्थात् केवल मैं ही सत्य हूँ' इस विषय में वेदान्त-तात्पर्य की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ, गुरु और ब्रह्मज्ञ महापुरुषों का अनुभव ही प्रमाण है। ब्रह्म ही ब्रह्म का दर्शन करते हैं। जो ब्रह्म नहीं है वह कभी ब्रह्म का दर्शन नहीं कर सकता अर्थात् अपना ब्रह्मत्व-ज्ञान ही ब्रह्म दर्शन है। ब्रह्म-भिन्नत्व ज्ञान अर्थात् मैं अन्य हूँ और ब्रह्म अन्य हैं, इस प्रकार का ज्ञान ब्रह्मदर्शन नहीं है। वह दृश्य हैं, उन्हें देखना है, इस प्रकार से देखने की चेष्टा करने पर ब्रह्म दूर भाग जाते हैं। क्योंकि उस भाव के दर्शक ब्रह्म के विशुद्ध चैतन्य-भाव का अनुभव नहीं कर सकते। अतः अपना या आत्मा का स्वरूप जानना अथवा आत्मदर्शन प्राप्त करना किंवा ब्रह्मज्ञान लाभ करना या ब्रह्मदर्शन करना—ऐसी ऐसी बातों से यहाँ द्वैत या दो वस्तुएँ न समझना। क्योंकि ब्रह्म या आत्मा को जानना और ब्रह्म या आत्मा हो जाना एक ही बात समझनी चाहिये। सर्वसाधारण को समझाने के लिए ही 'जानना' 'दर्शन करना' आदि द्वैत-भाव-बोधक शब्द व्यवहृत हुआ करते हैं।

वेटा! आत्माज्ञान के प्राप्त होने पर उस व्यक्ति के मन में फिर इस प्रकार के द्वैत-बोधक प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होते। क्योंकि उस समय वह व्यक्ति सब पदार्थों का आत्मा हो जाता है अर्थात् तब वह शून्यवादी का शून्य, ब्रह्मवादी का ब्रह्म, विज्ञानवादी का विज्ञान, सांख्य का पुरुष, योगी के ईश्वर, शैवों के शिव, वैष्णवों के विष्णु, कालवादियों का काल, आत्मवादी का आत्मा, माध्यमिकों का निरात्मा, मुसलमानों के खुदा, ईसाइयों के गाड आदि के रूप में परिणत हो जाता है। अर्थात् जो सारे शास्त्रों का अन्तिम सिद्धान्त है, जो जीवों के हृदय-निहित आत्मा है, जिसे सर्वव्यापी और सर्वमय कहा जाता है, वह तब वही हो जाता है। इसीलिए श्रुति भी कहती है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

अर्थात्--"ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाते हैं।"

इतना सुनकर भक्त कुछ क्षण तक ध्यानस्थ हो रहा। उसके अनन्तर वह कहने लगा—"हे महात्मन्! आपकी असीम करुणा से मेरा मोह-जाल छिन्न हो गया है, मेरा संशय सम्पूर्ण रूप से निरस्त हो गया है, दुस्तर समुद्र की तरह माया-समुद्र से उत्तीर्ण होकर इस समय मैं अपने हृदय में चिरशान्ति का अनुभव कर रहा हूँ। मैं बहुत दिनों तक अप्रबुद्ध अवस्था में भ्रान्तिजाल में आबद्ध था, अब मैं प्रबुद्ध होकर अक्षय स्थान में प्रतिष्ठित हो गया हूँ। इस समय मुझे परम ब्रह्मज्ञान का लाभ हुआ है।"

इस समय सूर्यदेव अस्ताचल की ओर गये। तब महात्मा भी मौनावलम्बन पूर्वक आत्मस्थ हुए। इसे देखकर भक्त तथा अन्यान्य श्रोतृवर्ग यथाशक्ति स्वर्णमुद्रा, वस्त्र तथा फल-मूलादि के द्वारा उन आत्मज्ञ महात्मा की अर्चना करके दण्डवत् प्रणाम करते हुए अपने अपने स्थान को चले गये।

समाप्त

---



मुद्रक : श्री परेशनाथ घोष,
सरला प्रेस, वाराणसी।

